निरुक्तम्

श्रीगणेशाय नमः ॥

तत्त्वं किमप्यखिलभेदमुपेतमेकं, ध्यात्वा करोमि विवृतिं विशदां निरुक्ते।
काण्डेऽत्र दैवत इमां सुतरां निरीक्ष्य ज्ञानाय, सा भवतु मन्दजनस्य शीघ्रम् ॥

अथ निरुक्तोत्तरषट्कप्रारम्भ ॥

तत्र सप्तमाध्यायस्य प्रथमः खण्ड ॥

तृतीय दैवत काण्डम् ॥

उपोद्घात ।

अथातो दैवतम् ।

अथ = ऐकपदिक के अनन्तर, अत = नैघण्टुक तथा नैगम नामक काण्डद्वय के अनन्तर दैवतम् = दैवत नामक तृतीय काण्ड का आरम्भ होता है। अर्थात् मूलग्रन्थ निघण्टु है। उसके तीन काण्ड हैं। नैघण्टुक, नैगम और दैवत। नैगम को ऐकपदिक भी कहते हैं। उसके भाष्य का नाम निरुक्त है। दो काण्ड का भाष्य समाप्त हुआ। अब तृतीयकाण्ड के भाष्य का प्रारम्भ होता है।

दैवत का लक्षण—

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते।

प्राधान्यस्तुतीनाम् = प्रधानता से स्तुति वाले, देवतानाम् = अग्नि से लेकर देवपत्नी पर्यन्त देवताओं के, यानि नामानि = जो नाम हैं, तत् = वह, दैवतम् = दैवत काण्ड है, इति = यह आचार्य लोग, आचक्षते = कहते हैं। अर्थात् जिन नामों मे प्रधानरूप से देवताओं का निरूपण है उनका समूह दैवत कहलाता है। इस प्रकरण मे यह निरूढा सञ्ज्ञा समझनी चाहिये।

सैषा देवतोपपरीक्षा।

सा = जो प्रथमाध्याय के अन्त म कहा था कि, तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्याम = उसको आगे व्याख्यान करेंगे, एषा = वही यह, देवता उपपरीक्षा = देवता पदार्थ की विचार पूर्वक परीक्षा का प्रारम्भ होता है। अर्थात् इस काण्ड मे देवताओं का वर्णन होगा।

प्रकरण प्रतिपाद्य मन्त्रदेवतालक्षण—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

यत्काम ऋषि = जिस अर्थ की कामना वाला ऋषि, यस्याम् देवतायाम् = जिस देवता म, आर्थपत्यम् = अपने स्वामित्व को, इच्छन् = इच्छा करता हुआ, स्तुतिम् प्रयुङ्क्ते = स्तुति का प्रयोग

करता है, तद्दैवतः = उस देवता वाला, सः मन्त्रः = वह मन्त्र, भवति = होता है। अर्थात् किसी मन्त्र में कोई कामना ले कर कोई ऋषि जिस देवता का प्रधान अर्थ चाहता हुआ स्तुति करता है उसी देवता का वह मन्त्र होता है। जिस किसी मन्त्र में देवता जानना हो उस मन्त्र में इसी लक्षण से देवता जानना चाहिये।

देवता की स्तुति स्थानभूत ऋचाके भेद—

तास्त्रिविधा ऋचः।

जिनमें कहा हुआ देवता का लक्षण अच्छी तरह घट जाता है, ताः ऋचः = वे ऋचाएँ, त्रिविधा = तीन प्रकार की होती हैं। जैसे—

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ ७-१ ॥

परोक्षकृताः, = परोक्षकृत कही गई, प्रत्यक्षकृताः = प्रत्यक्षकृत कही गई, च = और, आध्यात्मिक्यः = आध्यात्मिकी कही गई। जो परोक्ष रूपसे किसी अर्थका प्रकाश करती हैं वे परोक्ष कृत, जो प्रत्यक्षरूप से किसी अर्थका प्रकाश करती हैं वे प्रत्यक्षकृत और जो जीवात्मा या परमात्मा रूप अर्थ का प्रकाश करती हैं वे ऋचायें आध्यात्मिकी कहीं जाती हैं।

परोक्षकृता ऋचा का लक्षण—

तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य।

तत्र = उन तीनों में, परोक्षकृताः = परोक्षकृत ऋचाएं वे हैं, जिन में देवतापद, सर्वाभिः नाम विभक्तिभिः = प्रथमा से सप्तमी तक सब नाम विभक्तियोंसे, च = और, आख्यातस्य प्रथमपुरुषैः = आख्यात अर्थात् तिङन्त के प्रथम पुरुषों से, युज्यन्ते = युक्त हैं।

यास्क सातों विभक्तियों में क्रमशः उदाहरण देते हैं। उन में प्रथमा में जैसे—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

"इन्द्रो॑ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्याः"

इन्द्रः = इन्द्र, दिवः = द्यु लोक का, ईशे = शासन करता है, इन्द्रः = इन्द्र, पृथिव्याः = पृथिवी लोक का, ईशे = शासन करता है। सम्पूर्ण मन्त्र—

इन्द्रो॑ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्या इन्द्रो॑ अ॒पामिन्द्र॒ इत्पर्व॑तानाम्।
इन्द्रो॑ वृ॒धामिन्द्र॒ इन्मेधि॑राणा॒मिन्द्रः॒ क्षेमे॒ योगे॒ हव्य॒ इन्द्रः॑ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र का पुत्र रेणु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्रः = इन्द्र, दिवः = द्युलोक का, ईशे = शासन करता है। इन्द्रः = इन्द्र, पृथिव्याः = पृथिवी लोक का, ईशे = शासन करता है। इन्द्रः = इन्द्र, अपाम् = जलों का, ईशे = शासन करता है। इन्द्रः = इन्द्र, पर्वतानाम् = मेघों का भी, ईशे = शासन करता है। इन्द्रः = इन्द्र, वृधाम् = वृद्धों का भी, ईशे = शासन करता है। इन्द्रः = इन्द्र, मेधिराणाम् = मेधावि विद्वानों का भी, ईशे = शासन करता है। इन्द्रः = इन्द्र, क्षेमे = प्राप्त धन के परिपालन मे और, योगे = अप्राप्त धन के लाभ मे, हव्यः = आह्वान करनेवाला है। यह उदाहरण ऋचा परोक्षकृत है क्योंकि प्रथमा विभक्ति तथा प्रथम पुरुष आख्यात से युक्त है। 'इन्द्र' यह प्रथमा विभक्ति और 'ईशे' यह प्रथमपुरुष का एकवचन आख्यात से युक्त है। 'ईष्टे' होना था किन्तु छान्दसत्वात् तकार का लोप हुआ है। इसी से परोक्षकृत है।

द्वितीया में जैसे—

"इन्द्रमिद्गाथिनो बृहत्"

गाथिनः = साम के गान करनेवालो ने, इन्द्रम् इत् = इन्द्र की ही, बृहत् = बृहत् साम से स्तुति की है। सम्पूर्ण मन्त्र—

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।

इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ऋ. सं. १-१-१३-१ ॥

इस मन्त्र का मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—गाथिनः = साम के गान करने वाले उद्गाताओं ने, बृहत् = बृहत्साम से, इन्द्रम् इत् = इन्द्र की ही, अनूषत = स्तुति की है। अर्किणः = अर्चन हेतु ऋग्वेदमन्त्र युक्त होताओं ने, अर्केभिः = ऋग्वेद के मन्त्रों से, इन्द्रम् इत् = इन्द्र की ही, अनूषत = स्तुति की है। अवशिष्ट अध्वर्युगण ने, वाणीः = यजुर्वेद के मन्त्रो से, इन्द्रम् इत् = इन्द्र की ही, अनूषत = स्तुति की है। यह ऋचापरोक्षकृत् है क्योंकि 'इन्द्रम्' द्वितीया विभक्ति और 'अनूषत' प्रथम पुरुष बहुवचन आख्यात से युक्त है। 'णुस्तुतौ' नत्व, लुङ् व्यत्यय से आत्मनेपद, और झ को अद् आदेश।

तृतीया में जैसे—

"इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः"

जो पहले उच्च गति वाले, वेविषाणाः = युद्ध के लिये संगत हुए असुर थे, एते = ये सब, इन्द्रेण = इन्द्र के द्वारा, तृत्सवः = विदीर्ण होते हुए। सम्पूर्ण मन्त्र—

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः ।

दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे ॥

ऋ. सं. ५-२-१६-१५ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—जो पहले उच्च गति वाले, वेविषाणाः = युद्ध के लिये सगत हुए असुर थे, एते = वे सब, इन्द्रेण = इन्द्र के द्वारा, तृत्सव. = विदीर्ण होते हुए, दुर्मित्रासः = दुष्ट मित्र, प्रकलवित् = वणिक् के समान तथा, आपः न = जल के समान, सृष्टाः = विलीन तथा, मिमाना. = बाध्यमान होते हुए, नीचीः = नीचे की ओर, अवपन्त = भाग गये। तब इन्द्र ने, विश्वानिभोजना = सारी योग्य वस्तुएँ, सुदासे = सुदास नामक राजा को, जहुः = दे दी थी। परोक्ष कृत मन्त्र इस मे 'इन्द्रेण' यह तृतीया विभक्ति है और 'जहुः' यह प्रथम पुरुष बहुवचन है।

चतुर्थी मे जैसे—

"इन्द्राय साम गायत"

हे उद्गाताओ!, इन्द्राय = इन्द्र के लिये, साम = साम को, गायत = गाओ। सम्पूर्ण मन्त्र—

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।

धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ऋ स. ६-७-१-१ ॥

इस मन्त्र का नृमेधा ऋषि, उष्णिक् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—हे उद्गातोओ! आप लोग, विप्राय = मेधावी, बृहते = विशाल, धर्मकृते = शुभ कर्म कर्ता, विपश्चिते = विद्वान् और, पनस्यवे = स्तोत्राभिलाषी, इन्द्राय = इन्द्र के लिये, बृहत् साम = बृहत्साम नामक स्तोत्र का, गायत = गान करो। इस मे 'इन्द्राय' चतुर्थी विभक्ति और 'गायत' यह प्रथम पुरुष आख्यात है।

पञ्चमी मे जैसे—

"नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन"

इन्द्राद् ऋते = सोम इन्द्र को छोडकर, किञ्चन धाम = किसी दूसरे देवता को, न पवते = नही जाता है। सम्पूर्ण मन्त्र—

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते।

तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन ॥

ऋ. सं. ७-२-२२-६ ॥

इस मन्त्र का अङ्गिरा के पुत्र हिरण्यस्तूप ऋषि, जगती छन्द और पवमान सोम देवता है। मन्त्रार्थ—सूर्यस्य = सूर्य की, रश्मयः इव = रश्मियो के समान, द्रावयित्नवः = सर्वत्र बहने वाले, मत्सरास. = मदकर, प्रसुप = शत्रुघातक, आशवः = ग्रह नामक पात्र और चमसो मे व्याप्त,

सर्गास = बनाये जाने वाले सोम, तन्तुम् = सूत्र से बने, ततम् = विस्तृत वस्त्रो के, साकम् = साथ, परि ईरते = चारो ओर जाते हैं। वे सोम, इन्द्रात् ऋते = इन्द्र को छोडकर किञ्चन धाम = अन्य किसी देवता को लक्ष्य करके, न पवने = नही जाते हैं, किन्तु केवल इन्द्रधाम के प्रति ही जाते हैं। इस मे इन्द्रात् पञ्चमी विभक्ति और 'पवते' यह प्रथम पुरुष आख्यात हे।

षष्ठी मे जैसे—

"इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्रवो॑च॒म्"

इन्द्रस्य नु = इन्द्र के, वीर्याणि = पराक्रम को; प्रवोचम् = कहता हू। सम्पूर्ण मन्त्र—

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री ।

अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम् ॥

ऋ स १-२-३६-१ ॥

इस मन्त्र का आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—वज्री = वज्रधारी इन्द्र ने, प्रथमानि = पहले, यानि = जो, वीर्याणि = पराक्रम का कार्य, चकार = किया था इन्द्रस्य = इन्द्र के, तस्य = उसी, वीर्याणि = कार्य का हम, नु = शीघ्र वर्णन करते हैं। इन्द्र ने, अहिम् = मेघ का, अहन् = वध किया था, अनु = उसके पश्चात् उन्हो ने, अपः ततर्द = जल वृष्टि की थी; और फिर उन्हो ने, पर्वतानाम् = पर्वतो की, वक्षणाः = नदियों का मार्ग, अभिनत् = भिन्न किया था। इस मे 'इन्द्रस्य' यह षष्ठी और 'अभिनत्' यह प्रथम पुरुष आख्यात है।

सप्तमी मे जैसे—

"इन्द्रे कामा अयंसत" इति।

कामाः = ऐहिक पारलौकिक सभी काममान पदार्थ, इन्द्रे = इन्द्र मे, अयसत = उपनिबद्ध हैं। सभी काम इन्द्र के आश्रित हैं। यह मन्त्र कहा का है पता नही। दुर्गाचार्यने सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार दिया है—

इन्द्रे कामा अयंसत दिव्यासः पार्थिता उतात्यमू पु गृणता नरः ॥

इस मन्त्र का ऋषि अन्वेषणीय है। गायत्री छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—हे स्तोताओ!, दिव्यास. = पारलौकिक दिव्य पदार्थ, उत = और, पार्थिवाः = ऐहलौकिक अदिव्य पार्थिव पदार्थ, इन्द्रे = इन्द्र मे, अयसत = सम्बद्ध हैं, अत., नरः = हे मनुष्यो! तुम लोग, त्यम् नु = उसी की, सुगृणत = भली प्रकार स्तुति करो। इस मे 'इन्द्रे' यह सप्तमी और 'गृणत' प्रथमपुरुष आख्यात है। अत परोक्षकृत है।

इस प्रकार परोक्षकृत मन्त्र का लक्षण कह कर अब प्रतिज्ञानुसार प्रत्यक्षकृत मन्त्र का लक्षण कहते है—

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।

अथ = उस के पश्चात् कहीं कही, मध्यमपुरुषयोगाः = मध्यमपुरुष से युक्त, च = और, त्वम् इति एतेन सर्वनाम्ना युक्ताः = त्वम् इस सर्वनाम से युक्त जो मन्त्र हैं वे, प्रत्यक्षकृताः = प्रत्यक्षकृत कहे जाते हैं। प्रत्यक्षकृत मन्त्र का प्रथम उदाहरण—

"त्वमिन्द्र बलादधि"

इन्द्र = हे इन्द्र !, त्वम् = तुम. बलात् = बल से, अधि = अधिजात हो। सम्पूर्ण मन्त्र—

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।

त्वं वृषन्वृषेदसि ॥ ऋ सं. ८-८-११-२ ॥

इस मन्त्र का इन्द्र-माता ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र !, त्वम् = तुमने, सहसः बलात् = बल वीर्य और तेज से, अधि जातः = जन्म ग्रहण किया है। वृत्रादि-वध करने से तुम बल तथा तेज से प्रख्यात हो और तुम, ओजसः = धैर्य से उत्पन्न हुए हो। वृषन् = हे अभिलाष की वृष्टि करने वाले इन्द्र !, त्वम् = तुम, वृषा इत् असि = कामनाओं की वृष्टि करने वाले हो। इस मन्त्र मे 'त्वम्' यह पद और 'अधिजायसे' यह मध्यमपुरुष की क्रिया दोनों का देवता के लिये योग हैं। अतः यह मन्त्र प्रत्यक्षकृत है।

प्रत्यक्षकृत मन्त्र का द्वितीय उदाहरण—

"वि न इन्द्र मृधो जहि"

इन्द्र = हे इन्द्र !, नः मृधः = हमारे साथ युद्ध करने वाले शत्रुओं का, वि जहि = वध करो। सम्पूर्ण मन्त्र—

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ऋ सं. ८-८-१०-४ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज-पुत्र शास ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र, नः मृधः = हमारे साथ युद्ध करनेवाले शत्रुओं का, वि जहि = वध करो। पृतन्यतः = सेना मे युद्धार्थी विपक्षियों को, नीचा यच्छ = नीचा दिखाओ अर्थात् हीनबल करो।

यः = जो, अस्मान् = हमें, अभिदासति = दु:ख देता है उसको, अधरम् तमः = निकृष्ट अन्धकार में, गमय = डाल दो । इस मन्त्र में 'जहि' इस मध्यमपुरुष का 'अध्याहृत' 'त्वम्' पद के साथ योग है । अतः यह मन्त्र प्रत्यक्षकृत है । 'गमया' में छान्दसत्वात् दीर्घ हुआ है ।

स्तोता के प्रत्यक्षकृत या परोक्षकृत होने से मन्त्र प्रत्यक्षकृत या परोक्षकृत नही होता, किन्तु मन्त्र के प्रत्यक्षकृत या परोक्षकृत होने से होता है । इस बात के स्पष्टीकरण के लिये कहते हैं—

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि ।

अथ अपि = और भी कुछ विशेष ज्ञातव्य है कि, कही कही, स्तोतारः = स्तुति करनेवाले स्तोतृगण, प्रत्यक्षकृताः = त्वम् आदि पद से कहे जाने के कारण प्रत्यक्ष कृत अर्थात् प्रत्यक्ष, भवन्ति = होते हैं और, स्तोतव्यानि = स्तोतव्य वस्तुएँ (देवता), परोक्षकृतानि = परोक्षकृत । जैसे—

"मा चिदन्यद्वि शंसत" "कण्वा अभि प्र गायत" "उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्"

हे स्तोताओ ! आप लोग, अन्यत् चित् = दूसरे किसी देवता की मा विशंसत = स्तुति न करें। कण्वाः = हे कण्ववंश वाले आप लोग, अभिप्रगायत = देवों की स्तुति करो। कुशिकाः = हे कुशिको ! आप लोग, उप प्र इत = गच्छत = जानिये और, चेतयध्वम् = चेतिये । यहां प्रथम मन्त्र मे 'यूयम् विशंसत' इन पदों से स्तोता प्रत्यक्ष और देवता बोधक पद न होने से स्तोतव्य देवता परोक्ष है। द्वितीय मन्त्र में भी 'कण्वाः' और 'अभिप्रगायत' इन पदों से स्तोता प्रत्यक्ष और देवता बोधक पद न होने से स्तोतव्य देवता परोक्ष है और तृतीय मन्त्र में 'कुशिकाः' 'उप प्र इत' और 'चेतयध्वम्' इन पदों के प्रयोग से स्तोता प्रत्यक्ष और देवता बोधक पद के प्रयोग न होने से स्तोतव्य देवता परोक्ष है । पहला सम्पूर्ण मन्त्र—

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥

ऋ. सं. ५-७-१०-१ ॥

इस मन्त्र का प्रगाथ ऋषि, बृहती छन्द और इन्द्र देवता है । मन्त्रार्थ—सखायः = हे सखा स्तोताओ !, अन्यत् मा चित् विशंसत = इन्द्र के सिवाय दूसरे की स्तुति नहीं करना, मा रिषण्यत = हिंसित न होना, सुते = सोमाभिषव होने पर, सचा = एकत्र हो कर, वृषणम् = अभीष्टवर्षी, इन्द्रम् इत् = इन्द्र की ही, स्तोत = स्तुति करो, च = और, मुहुः = बार बार, उक्था = उक्थ शास्त्र का, शंसत = उच्चारण करना । दूसरा सम्पूर्ण मन्त्र—

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम् ।
कण्वा अभि प्र गायत ॥ ऋ सं. १-३-१२-१ ॥

इस मन्त्र का कण्व ऋषि, गायत्री छन्द और मरुद्देवता है। मन्त्रार्थ—कण्वाः = हे कण्वगोत्रोत्पन्न ऋषिगण !, वः = आप लोग, क्रीळम् = क्रीडाशील, अनर्वाणम् = शत्रुरहित, शर्धः = बलवान्, रथेशुभम् = अपने रथ पर सुशोभित, मारुतम् = मरुतो को उद्देश्य करके, अभि प्र गायत = गाओ। तीसरा सम्पूर्ण मन्त्र—

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः ।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः ॥

ऋ. सं. ३-३-२१-१ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—कुशिकाः = हे कुशिकगोत्रोत्पन्नपुत्रो ! तुम लोग, उप प्रेत = अश्व के समीप जाओ और उसको (अश्व को), चेतयध्वम् = उत्तेजित करो। राये = धन के लिये, सुदासः = सुदास नामक राजा के, अश्वम् = अश्व को, प्रमुञ्चत = छोड दो। राजा = देवताओ के स्वामी राजा इन्द्र ने, वृत्रम् = विघ्नकारक वृत्र का, प्रागपागुदक् = पूर्व, पश्चिम और उत्तर देश मे, जङ्घनत् = वध किया है। अथ = अत एव सुदास राजा, पृथिव्याः = पृथिवी के, वरे = उत्तर देवयजन स्थान मे, आ यजाते = यज्ञ करें।

प्रकरण के प्रारम्भ मे तीन प्रकार की ऋचायें कही गई हैं। परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिकी। उन में परोक्षकृत तथा प्रत्यक्षकृत ऋचाओ के लक्षण बता कर अब आध्यात्मिकी ऋचा का लक्षण बताते हैं—

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।

उत्तमपुरुषयोगाः = जो ऋचा उत्तम पुरुष के साथ युक्त हों वे, आध्यात्मिक्यः = आध्यात्मिकी कही जाती हैं। क्योंकि, वे आत्मविषयक स्तुतिपरक, च = और, अहम् इति एतेन सर्वनाम्ना = 'अहम्' इस सर्वनाम से युक्त होती हैं। भाव यह है कि, जिन ऋचाओ में देवता के लिये उत्तम पुरुष की क्रिया और 'अहम्' (अस्मद्) यह सर्वनाम पद हो वे आध्यात्मिकी ऋचाएँ होती हैं। इस में देवता और ऋषि एक ही होता है।

यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो लवसूक्तं वागाम्भृणीयमिति ।

यथा = जैसे, इन्द्र वैकुण्ठ = इन्द्र वैकुण्ठ सूक्त, लवसूक्तम् = लवसूक्त और, वागाम्भृणीयम् = वागाम्भृणीय सूक्त, इति = ये हैं। प्रथम उदाहरण—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥

ऋ सं ८-१-५-१ ॥

इस मन्त्र का इन्द्र ऋषि, जगती छन्द और इन्द्र ही देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र कहता है कि, अहम् = मैं ही, वसुन = धन का पूर्व्य = मुख्य, पति. = स्वामी, भुवम् = हूँ। शश्वतः = शत्रुओ के बहुत, धनानि = धनो का, सम् जयामि = जीतने वाला, अहम् = मैं ही हू। जन्तव = प्राणी अर्थात् यजमान लोग, माम् = मुझे ही, हवन्ते = बुलाते हैं। पितरम् न = जैसे पुत्र पिता को धन देते हैं वैसे ही, अहम् = मैं भी, दाशुषे = हविर्दाता यजमान को, भाजनम् = अन्न, विभजामि = देता हूँ। इस ऋचा मे 'अहम्' इस सर्वनाम के साथ 'जयामि' भजामि आदि का प्रयोग है। अत यह ऋचा आध्यात्मिकी है। इन्द्र ही इन्द्र को कहता है, अर्थात् आत्मप्रशसा करता है अत इन्द्र ही ऋषि और इन्द्र ही देवता भी है। द्वितीय उदाहरण—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति ।

कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ऋ० स ८-६-२६-१ ॥

इस मन्त्र का लवरूपापन्न इन्द्र ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र ही देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र कहता है कि, इति वै = यह निश्चय है कि, इति = इस प्रकार, मे मन = मेरा मन है अर्थात् इस प्रकार मेरी इच्छा है कि गाम् च अश्वम् = गौ और अश्व आदि का, सनुयाम् = दान करू। स्तोताओ को दू। इति = इस कारण कि, मैं ने इन का दिया हुआ, कुवित् = बहुत बार, सोमस्य अपाम् = सोम का पान किया है। इस मन्त्र मे, 'मे'-इस सर्वनाम के साथ 'सनुयाम्' इस उत्तम पुरुष का प्रयोग है। अत यह मन्त्र आध्यात्मिक है। इन्द्र ही इन्द्र से कहता है। आत्मप्रसशा करता है। इन्द्र का ही वर्णन है। इसी लिये इन्द्र ही ऋषि और देवता दोनो है। तृतीय उदाहरण—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

ऋ स ८-७-११-१ ॥

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वितीय खण्ड. ॥ ७-२ ॥

इस मन्त्र का अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और परमात्मा देवता है। मन्त्रार्थ—महर्षि अम्भृण की पुत्री वाग्देवी ब्रह्मभाव को प्राप्त होती हुई कहती है कि, अहम् = मैं ही, रुद्रेभि वसुभि. = रुद्रो और वसुओ के साथ, चरामि = विचरण करती हू। अहम् = मै ही, आदित्यै उत विश्वदेवै = आदित्यो और सर्व देवो के साथ, चरामि = विचरण करती हू। अहम् = मैं ही, मित्रावरुणा उभा = मित्र और वरुण दोनो को, बिभर्मि = धारण करती हू। अहम् = मैं ही, इन्द्राग्नी = इन्द्र और अग्नि, उभा = दोनो को भी, बिभर्मि = धारण करती हू। अहम् = मै ही, अश्विनाउभा = अश्विद्वय को भी बिभर्मि = धारण करती हू। इस ऋचा में भी 'अहम्' इस सर्वनाम के साथ 'चरामि' तथा 'बिभर्मि' इस उत्तम पुरुष का प्रयोग है। अत यह ऋचा भी आध्यात्मिकी है। वाग्देवी आत्मप्रशसा करती है। अपना वर्णन आप करती है। अत एव यही ऋषि और यही इस ऋचा का देवता भी है। इसी लिये यह ऋचा आध्यात्मिकी कही जाती है।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः । अल्पश आध्यात्मिकाः ।

परोक्षकृताः = परोक्षकृत, च = और, प्रत्यक्षकृताः = प्रत्यक्षकृत, मन्त्राः = वेद में मन्त्रो, भूयिष्ठाः = बहुत हैं । परन्तु आध्यात्मिकाः = आध्यात्मिक मन्त्र, अल्पशः = बहुत थोडे हैं । भाव यह है कि, वेदो में पदार्थज्ञान परोक्ष रूप तथा प्रत्यक्षरूप में तो अधिक पाये जाते हैं, किन्तु आध्यात्मिक रूप में अर्थात् अहम्भाव में बहुत थोड़े हैं ।

परोक्षकृत प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक मन्त्रो के लक्षण प्रतिपादन कर अब लक्षणहीन मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय बताते हैं—

अथापि स्तुतिरेव भवति । नाशीर्वादः ।

अथ अपि = और किसी किसी मन्त्रो मे, स्तुतिः एव = स्तुति ही, भवति = होती है, आशीर्वादः न = आशीर्वाद नहीं = अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना = कामना नही । उदाहरण—

"इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" इति यथैतस्मिन् सूक्ते ।

इन्द्रस्य नु = इन्द्र के वीर्याणि = पराक्रम को, प्रवोचम् = कहता हूँ । सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या इसी अध्याय के द्वितीय खण्ड मे किया गया है । इस मन्त्रमें इन्द्र की स्तुति ही की गई है । किसी को आशीर्वाद नही दिया गया है ।

अथापि आशीरेव न स्तुतिः ।

अथ अपि = और किसी किसी मन्त्रों में इस से विपरीत, आशीः एव = आशीर्वाद ही होता है । स्तुतिः न = स्तुति नहीं, जैसे—

"सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासम्, सुवर्चामुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्" इति । तदेतद्बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु ।

यह मन्त्र किस शाखा का है यह ज्ञात नही । अर्थ इस प्रकार है—अहम् = मै, अक्षीभ्याम् = नेत्रों से, सुचक्षाः = सुन्दर दर्शनशक्ति वाला, भूयासम् = हो जाऊ । मुखेन = मुख से, सुवर्चाः = सुन्दर तेजवाला, भूयासम् = हो जाऊ और कर्णाभ्याम् = कानो से, सुश्रुत् = सुन्दर श्रवणशक्तिवाला, भूयासम् = हो जाऊं । इस मन्त्र में अपने लिये आशीर्वाद ही है । स्तुति नही । इति = इस प्रकार । तद् एतद् = सो यह, बहुलम् = बहुत करके, आध्वर्यवे = यजुर्वेद में, च = और, याज्ञेषु मन्त्रेषु = यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों में हैं ।

अथापि शपथाभिशापौ ।

अथ अपि = और कही, शपथाभिशापौ = शपथ तथा अभिशाप होता है । जैसे—

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥

ऋ सं. ५-७-७-५ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र और सोम दोनो देवता है। मन्त्रार्थ—महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि, यदि = यदि मैं, यातुधान = राक्षस, अस्मि = हू, वा = अथवा, यदि = यदि मैं राक्षस हो कर, पुरुषस्य = पुरुष को, आयु ततप = आयु नष्ट करता हू. अद्य = तो मैं, अद्य = आज ही अर्थात् अभी ही, मुरीय = मर जाऊ । यह कथन शपथ है । अथवा, मा = माम् = मुझे जो, मोघम् = वृथा, यातुधान. = राक्षस, इति = ऐसा कह कर, आह = सम्बोधन करता है, स = वह, दशभिः वीरैः = दश वीर पुत्रो के साथ अर्थात् सारा परिवार के साथ वि यूया = वियुक्त हो जायँ । नष्ट हो जायँ । यह कथन अभिशाप है । इस प्रकार यह मन्त्र पूर्वार्धसे शपथ और उत्तरार्ध से अभिशाप कथन करता है।

अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा ।

अथ अपि = और भी मन्त्रो मे कही, कस्यचित् भावस्य = किसी अर्थ के, आचिख्यासा = कहने की इच्छा होती है। जैसे—

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे"

तर्हि = सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व, मृत्युः = यमराज, न आसीत् = नही था । अमृतम् = अमृत नामक प्राणियों की स्थिति भी, न आसीत् = नही थी । अग्रे = सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व प्रलयदशा मे भूतभौतिक सम्पूर्ण जगत, तम = रात्रि के अन्धकार के समान, तमसा गूळहम = माया रूपी अन्धकारसे ढका हुआ, आसीत् = था । इन दोनों मन्त्रों में इन के प्रतिपाद्य विषय परमात्मा को कहने की इच्छा है। प्रथम सम्पूर्ण मन्त्र—

न मृत्युरासादमृतं न तर्हि न राव्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

ऋ सं. ८-६-६-२ ॥

इस मन्त्र का प्रजापति ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और परमात्मा देवता है। मन्त्रार्थ—तर्हि = तब अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व, मृत्यु = यमराज, न आसीत् = नही था । अमृतम् = अमृत नामक प्राणियो का अवस्थान भी, न आसीत् = नहीं था । रात्र्या = रात्रि का, च = और, अह्न = दिन का प्रकेत = प्रज्ञान, न आसीत् = नही था । तत् एकम् = वह सकल वेदान्त प्रसिद्ध एक ब्रह्म रूप परमात्मा हीं, स्वधया = स्वभावत , अवातम् = वायु के विना, आनीत् = प्राण धारण के समान

चेष्टा कर रहा था। तस्मात् = पूर्वोक्त माया सहित ब्रह्म से, परः = उत्कृष्ट, अन्यत् किञ्चन = दूसरा कुच्छ, न आस = नहीं था।

द्वितीय सम्पूर्ण मन्त्र—

तम॑ आसीत्तम॑सा गूळ्हमग्रे॑ऽप्रकेतं स॑लिलं सर्व॑मा इ॒दम् ।
तुच्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑यतैक॑म् ॥

ऋ सं. ८-७-१७-३ ॥

इस मन्त्र का पूर्ववत् प्रजापति ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और परमात्मा देवता है। मन्त्रार्थ— अग्रे = सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व प्रलयदशा में भूतभौतिक सम्पूर्ण जगत्, तमः = रात्रि के अन्धकार के समान, तमसा = मायारूपी अन्धकार से, गूळ्हम् = ढका हुआ, आसीत् = था। इदम् सर्वम् = यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत्, अप्रकेतम् = अप्रज्ञायमान अर्थात् अज्ञात और, सलिलम् = जलमय, आः = आसीत् = था। आभु तुच्छ्येन = तुच्छ के समान सत् असत् से विलक्षण भावरूप अज्ञान से, अपिहितम् = आच्छादित, यत् आसीत् = जो था, तत् एकम् = वही एक तत्त्व, तपसः महिना = तपस्या के प्रभाव से, अजायत = उत्पन्न हुआ।

अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात् ।

अथ अपि = और भी, कस्माच्चिद्भावात् = किसी कारण से मन्त्रों में, परिदेवना = विलाप भी होता है। जैसे—

"सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्" "न विजानामि यदि वेदमस्मि"

सुदेवः = सुन्दर देव प्रिया उर्वशी से वियुक्त होकर, अद्य = आज ही, प्रपतेत् = गिरे और ऐसा गिरे कि, अनावृत् = फिर न लौटे। इस में पुरूरवा की परिदेवना है। न विजानामि = मैं वह कारण ब्रह्म हूं और उस ब्रह्म का कार्य जगत है। यहां संशय प्रयुक्त परिदेवना = विलाप है। प्रथम सम्पूर्ण मन्त्र—

सुदेवो॑ अ॒द्य प्र॒पते॒दना॑वृत्परा॒वतं॑ पर॒मां गन्त॒वा उ॑ ।
अधा॒ शया॑त॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थेऽधै॑नं॒ वृका॑ रभ॒सासो॑ अ॒द्युः ॥

ऐसा गिरे कि, अनावृद् = फिर न लौटे । परमाम् परावतम् = दूर से दूर देश को, गन्तवै = जाने के लिये महाप्रस्थानगमन करे । अध = अथवा दूसरे स्थान मे जाने मे असमर्थ होता हुआ, निर्ऋते = पाप देवता के, उपस्थे = गोद मे, शयीत = सो जाय । अध = अथवा, एनम् = इस को, रभसात्. = शीघ्रता से, वृका. = जगली कुत्ते, अद्यु = खा जायें ।

द्वितीय सम्पूर्ण मन्त्र—

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

ऋ स २-३-२१-३७ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वेदेवा देवता है । मन्त्रार्थ—यद् इव इदम् अस्मि = मै यह हू कि, नही, न विजानामि = यह नही जानता, क्योकि, निण्य = मै मूढचित्त हूँ । मनसा सनद्ध = मनसे सनद्ध हू अर्थात् अच्छी तरह आबद्ध होकर विक्षिप्तचित्त रहता हू । यदा = और जिस समय, प्रथमजा मागन् = ज्ञान का प्रथम उन्मेष होता है, आदित् = उसी समय, ऋतस्य = सत्य स्वरूप ब्रह्म का अथवा, अस्या वाच. = इस एकात्म प्रतिपादक उपनिषद वाणी का भागम् = भजनीय शब्द ब्रह्म से व्याप्त परब्रह्मपद को, अश्नुवे = प्राप्त होता हू । इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध मे ज्ञाना भाव एव मढता आदि के कारण परिदेवना है ।

अथापि निन्दाप्रशंसे भवतः ।

अथ अपि = और भी, निन्दाप्रशसे = मन्त्रो मे कही निन्दा और कही प्रशसा, भवतः = होती हैं । जैसे—

" केवलाघो भवति केवलादी " " भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म " ।

केवलादि = अकेले खानेवाला, केवलाघ. = केवल पापी, भवति = होता है । भोजस्य = दाता के लिये, पुष्करिणी इव = पुष्करणी के समान पवित्र इदम् वेश्म = यह गृहादि होता है । प्रथम मन्त्र मे अदाता की निन्दा और द्वितीय मन्त्र मे दाता की प्रशसा है ।

प्रथम मन्त्र सम्पूर्ण—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ स ८-६-२२-६ ॥

इस मन्त्र का आङ्गिरस भिक्षु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और दान देवता है । मन्त्रार्थ—अदाता की निन्दा—अप्रचेता = जिस का मन उदार नही है, स = वह, मोघम् = व्यर्थ, अन्नम् = अन्न, विन्दते =

लाभ करता है । यह मैं, सत्यम् ब्रवीमि = सत्य कहता हूं । केवल व्यर्थ ही नहीं किन्तु, तस्य = उस पुरुष का, सः वध इति = यह अन्न वध ही है। अर्थात् उसका भोजन उसकी मृत्यु के समान है । अर्यमणम् = जो अर्यमा आदि सब देवों को, न पुष्यति = हवि के द्वारा पोषण नहीं करता है और जो, सखायम् न पुष्यति = मित्रवर्ग अभ्यागत अतिथि आदि को अन्न द्वारा पोषण नहीं करता है, केवलादी = वह अकेला खानेवाला, केवलाघः = केवल पाप भक्षण करने वाला, भवति = होता है।

द्वितीय मन्त्र सम्पूर्ण—

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३ शुम्भमाना ।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ॥

ऋ. सं. ८-६-४-१० ॥

इस मन्त्र का आङ्गिरस दिव्य ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और यजमान देवता है । मन्त्रार्थ—भोजाय = दाता के लिये, परिचारकगण, आशु अश्वम् = शीघ्रगामी अश्व, समृजन्ति = अलकृत करते हैं। भोजाय = दाता के लिये, शुम्भमाना कन्या = सुन्दर स्त्री, आस्ते = उपस्थित रहती है। भोजस्य = दाता के लिये, पुष्करिणी इव = पुष्करणी के समान निर्मल और, परिष्कृतम् = अलकृत देवमानेव = देवभवन के समान, चित्रम् = मनोहर, वेश्म = गृह होते हैं। इस मन्त्र मे इस प्रकार दान दाता की प्रशंसा है।

एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च ।

एवम् = इसी प्रकार, अक्षसूक्ते = अक्ष सूक्त मे, द्यूतनिन्दा च = द्यूत की निन्दा, च = और, कृषिप्रशसा = कृषि की प्रशसा हुई है।

इनका उदाहरण यास्काचार्यने नही दिया है। अतः दिया जाता है—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥

ऋ. स. ७-८-५-१० ॥

इस मन्त्र का कवष ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और द्यूतकार देवता है। मन्त्रार्थ—क्वस्वित् चरतः कितवस्य = एक ओर तो कहीं मारे मारे फिरते हुए जुआरी की, जाया = स्त्री, हीना = दीन हीन अवस्था को प्राप्त होती हुई, तप्यते = सतप्त होती रहती है और दूसरी ओर, माता = जुआरी की माता, पुत्रस्य = अपने जुआरी पुत्र की दुरवस्था को देख कर, तप्यते = संतप्त रहती है। ऋणावा = फिर वह ऋणी जुआरी, धनम् इच्छमानः = धन की इच्छा करता हुआ, अन्येषाम् = दूसरो के, अस्तम् = घरो मे, नक्तम् = रात्रि के समय, बिभ्यद् = डरता हुआ, उपएति = चोरी करने के लिये जाता है। इस मन्त्र मे द्यूत निन्दा है। कृषिप्रशंसा—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

ऋ सं. ७-८-५-१३ ॥

इस मन्त्र का भी कवष ऋषि, त्रिष्टुम् छन्द और कृषि देवता है। मन्त्रार्थ—ऋषि कहते हैं कितव = हे जुआ खेलनेवाले जुआरी । बहु मन्यमानः = मेरी थोडी बात को बहुत मानने अर्थात् मेरे वचन पर विश्वास करते हुए, तुम, अक्षैः मा दीव्यः = जुआ मत खेलो । कृषिम् इत् = खेती को ही, कृषस्व = विलेखन करो, कृषि कार्य को ही करो । वित्त रमस्व = कृषि मे प्राप्त जो धन उसी मे रमण करो, उसी से सन्तुष्ट रहो । तत्र गावः = कृषि करने से अनेक गायें प्राप्त होती हैं। और तत्र जाया = कृषि करने से स्त्री प्राप्त होती है । तत् = इस धर्म-रहस्य को, सविता = सर्वप्राणियो के उत्पादक, अयम् अर्यः = इस अर्थ को लोक वेद प्रसिद्ध ईश्वर ने, विचष्टे = कहा है। इस प्रकार इस मन्त्र मे कृषिप्रशंसा है ।

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ७-१ ॥

एवम् = इस प्रकार, मन्त्र के विषय मे उच्चावचैः अभिप्रायैः = भिन्न भिन्न अभिप्राय से, ऋषीणाम् = ऋषियो की मन्त्रदृष्टयः = मन्त्रदृष्टियाँ, भवन्ति = होती हैं। अर्थात् आर्षज्ञान के प्रभाव से (योग ज्ञान प्रभाव से) ऋषियों को पूर्वकल्प के वेद मन्त्रो के आकार तथा अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न भिन्न प्रकार से होते है । इस कथन से यास्क यह कह रहे हैं कि, ऋषिगण मन्त्र के द्रष्टा होते हैं, कर्ता नहीं । कर्ता तो परमेश्वर ही हैं ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा ॥

तद् ये = जो, अनादिष्टदेवता. = अनुक्त देवताक, मन्त्राः = मन्त्र हैं, तेषु = उनमे, देवता उपपरीक्षा = देवता का निर्णय करते हैं—

भाव यह है कि, मन्त्र के देवता अग्नि इन्द्र आदि देव विशेष ही होते हैं ऐसा नही । क्योकि, किसी मन्त्र का निन्दा देवता और किसी मन्त्र का द्यूत देवता आदि भी देवता होते हैं। जो देव नहीं हैं । अतः देवता का अर्थ देव नही किन्तु विषय है । जिस मन्त्र का जो विषय होता है वही उस का देवता होता है । अत एव विषय रूप देवता का ज्ञान होने पर ही मन्त्र का अर्थ किया जा सकता है । मन्त्रों मे देवता ज्ञान के लिये 'यत्काम ऋषिः' इत्यादि लक्षण बताया गया है। जिन मन्त्रो मे यथोक्त लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते हैं उन मे लक्षण मे देवता का ज्ञान प्राप्त करके मन्त्र का अर्थ किया जा सकता है। परन्तु जिन मन्त्रो मे लक्षण के अभाव से तथा देवता अनुक्त होने से देवता का ज्ञान न होने पाता है वहा क्या करना ? इस का विचार यहा से प्रारम्भ होता है—

यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तद्देवता भवन्ति ।

वा = अथवा, यद् देवतः = जिस देवता का, सः = वह, यज्ञः = यज्ञ हो, वा = अथवा, यज्ञाङ्गम् = जिस देवता का वह यज्ञाङ्ग हो, तद् देवताः = उस देवता के वे मन्त्र, भवन्ति = होते हैं। अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ और यज्ञ के साधन जो द्रव्यादि वे यज्ञाङ्ग कहलाता हैं। जिस मन्त्र में जिस यज्ञ का या यज्ञाङ्ग का वर्णन प्रतीत हो उस मन्त्र का वही देवता समझना चाहिये। जैसे प्रातः सवन में जो विनियुक्त होता है वह अग्नि देवताक, माध्यन्दिन सवन में जो विनियुक्त होता है वह इन्द्र देवताक और तृतीय सवन अर्थात् सायंसवन में जो विनियुक्त होता है वह आदित्य देवताक मन्त्र है ऐसा समझना चाहिये।

अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः ।

अथ = और, यज्ञात् अन्यत्र = यज्ञ से भिन्न स्थल में, प्राजापत्याः = प्रजापति देवताक मन्त्र होते हैं, इति = यह, याज्ञिकाः = याज्ञिक लोग मानते हैं। अर्थात् जहां किसी यज्ञ या यज्ञाङ्ग का स्पष्ट रूप से परिज्ञान न हो यहां वे मन्त्र प्रजापति देवताक हैं यह याज्ञिक लोक कहते हैं। क्योंकि 'अनिरुक्तो हि प्रजापतिः' अर्थात् जिस मन्त्र में देवता अनुक्त हो उसका प्रजापति देवता होता है यह मान लेना चाहिये यह नियम है।

नाराशंसा इति नैरुक्ताः ।

जिस मन्त्र में देवता का उल्लेख न हो उस मन्त्र का देवता, नाराशंसाः = नाराशंस है, इति = यह, नैरुक्ताः = निरुक्तशास्त्र के जानने वाले आचार्य लोग कहते हैं। नाराशंस के विषय में आचार्यों का भिन्न भिन्न मत हैं। कात्थ नामक आचार्य के मत में 'नाराशंस' का अर्थ यज्ञ है और शाकपूणि नामक आचार्य के मत में अग्नि।

अपि वा सा कामदेवता स्यात् ।

अपि वा = अथवा, सा = जिस में किसी देवता का उल्लेख न हो वह ऋचा, कामदेवता = ऐच्छिक देवताक, स्यात् = है। अपनी इच्छा के अनुसार उस ऋचा के देवता की कल्पना कर लेनी चाहिये। क्योंकि, किसी देवता विशेष का नाम न होने से देवता का समूह उसका देवता है।

प्रायो देवता वा ।

वा = अथवा, प्रायः देवता = प्रायो देवता उस ऋचा का समझना चाहिये। भाव यह है कि प्रायः कहते हैं अधिकार को और अधिकार कहते हैं प्रकरण को। जिस देवता के प्रकरण में अनादिष्ट देवताक ऋचा का पाठ हो उसका वही देवता होता है। प्रकरणानुसार देवता की कल्पना करनी चाहिये।

अथवा 'प्रायो बहुलम्' इस अमर कोप के कथनानुसार 'प्रायः' का अर्थ बहुल अर्थात् बहुत होता है। ऐसी स्थिति में प्रायोदेवता का अर्थ होगा बहुत देवताक अर्थात् जिस ऋचा में देवता का उल्लेख न हो उस के बहुत देवता होते हैं। इस में हेतु देते हैं—

अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके, देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम् ।

हि = क्योंकि, लोके = लोक में, बहुलम् = बहुत प्रकार का, आचारः = आचार (रीत), अस्ति = है। जैसे = देवदेवत्यम् = देवदेवताक, अतिथिदेवत्यम् = अतिथि देवताक और, पितृदेवत्यम् = पितृदेवताक। अर्थात् यह वस्तु देव देवता के लिये है, यह वस्तु अतिथि देवता के लिये है और यह वस्तु पितृदेवता के लिये है। इस से यह सिद्ध हुआ कि, जिस मन्त्र में देवता-बोधक पद न हो उस अनादिष्ट देवताक मन्त्र के देव अतिथि, पितृ आदि बहुत देवता हैं। अपने इष्ट के अनुसार मन्त्र का अर्थ कर लेना चाहिये।

याज्ञदैवतो मन्त्र इति ।

'विष्णुर्वै यज्ञः' इस श्रुति के कथनानुसार यज्ञ का अर्थ विष्णु है। और नैरुक्तों के मत में विष्णु का अर्थ आदित्य होता है। यज्ञ देवताक अर्थात् आदित्य देवताक मन्त्र याज्ञ कहा जाता है एवं 'अग्निर्वै सर्वा देवता' इस श्रुति के कथनानुसार देवता शब्द का अर्थ अग्नि होता है। देवता देवताक अर्थात् अग्निदेवताक मन्त्र दैवत कहा जाता है। मन्त्रः = जिस मन्त्र में देवता का लिङ्ग स्पष्ट प्रतीत न होता हो वह मन्त्र, याज्ञ दैवतः = आदित्य देवताक अथवा अग्निदेवताक है, इति = ऐसा समझना चाहिये।

अपि ह्यदेवता देवतावत्स्तूयन्ते, यथाऽश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि। स न मन्येतागन्तूनिवार्थान्देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यमेतद् भवति ।

'अपि हि' इतना अंश प्रश्नार्थ है। अर्थात् प्रश्न होता है कि, कहीं कहीं मन्त्रों में, अ देवता= जो देवता नहीं हैं वे भी, देवतावत् = देवताओं के समान, स्तूयन्ते = स्तुति किये जाते हैं। यथा = जैसे, अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि = अश्व से लेकर ओषधि तक। ये सब देवता नहीं हैं तो भी देवता के समान स्तुत होते है। अथ अपि = और भी, अष्टौ = आठ, द्वन्द्वानि = द्वन्द्व (जोड़े) हैं। आठ द्वन्द्व ये हैं-१ उलूखलमुसले, २-हविर्धाने, ३-द्यावापृथिवी, ४-विपाट्छुतुद्री, ५-आर्त्नी, ६-सुनासीरौ, ७-देवीजोष्ट्री, ८-देवीउर्जाहुती। सः = यह (शिष्य) न मन्येत = नहीं मानेगा कि, आगन्तून् अर्थान् = अश्व आदि आगन्तुक पदार्थ को, देवतानाम् इव = देवता के समान स्तुति की जाती है। अर्थात् इस बात को कोई मानने के लिये तैयार नहीं है कि, देवताओं के अश्व आदि देवता के समान स्तुति किये जाते हैं वह योग्य ही है। क्योंकि, अश्व आदि में पूर्वोक्त 'यत्काम ऋषिः' इत्यादि देवता-लक्षण घटते नहीं हैं। एतद् = यह, प्रत्यक्षदृश्यम् = प्रत्यक्ष ही देखने योग्य, भवति = है। अर्थात् यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, मनुष्यों के अश्व आदि देवता नहीं हैं तो देवताओं के अश्व आदि देवता कैसे होंगे ?।

उत्तर—महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।

देवतायाः = देवताओं के, महाभाग्याद् = महाभाग्य अर्थात् अलौकिक = दिव्य सामर्थ्य होने से एकः आत्मा = एक आत्मा, बहुधा = बहुत प्रकार से, स्तूयते = स्तुति किया जाता है। भाव यह

है कि, देवताओं में महान् ऐश्वर्य रहता है। जिसके प्रभाव से वे कभी द्युत रूप आदि हो जाते हैं। अत: जैसे इन्द्रादि देवता हैं वैसे ही अश्व द्युत आदि भी देवता हो हैं। क्योंकि, इन्द्रादि देवता ही अपने ऐश्वर्य के प्रभाव से, अश्वादि रूप हो जाते हैं। अत: अश्व द्युत आदि भी देवता हो सकते हैं यह सिद्ध हुआ। इस में हेतु देते हैं—

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

एकस्य आत्मनः = एक ही आत्मा के, अन्ये देवाः = अन्य सब देव, प्रत्यङ्गानि = प्रत्यङ्ग, भवन्ति = होते है। भाव यह है कि, अङ्ग अङ्गी का अभेद होने से जैसे शरीर रूप अङ्गी से हस्त-पादादि अङ्ग भिन्न नही वैसे ही देवता रूप अङ्गी से अश्व तथा द्यूत आदि अङ्ग भिन्न नहीं, किन्तु ये सब भी देवता ही हैं। अथवा एकस्य आत्मन = एक परमेश्वर रूप आत्मा के, अन्ये देवाः = अन्य इन्द्र, अग्नि, आदित्य, अश्व, द्यूत आदि सभी देव, प्रत्यङ्गानि = प्रत्यङ्ग, भवन्ति = होते हैं। अर्थात् ईश्वर रूप देवता के, अग्नि अश्व आदि अङ्ग होने से अग्नि अश्वादि भी देवता हैं। अत: ये भी देवता रूप स्तुति किये जाते हैं। परमात्मा अङ्गी इन्द्र आदित्य अग्नि आदि अङ्ग और अश्व द्यूत आदि प्रत्यङ्ग समझना चाहिये। इसी को और स्पष्ट करते हैं—

अपि च सत्त्वानां प्रकृति भूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।

अपि च = और भी देखिये—सत्त्वानाम् = अश्व आदि प्राणी तथा द्यूत आदि अप्राणी द्रव्यों के, प्रकृतिभूमभिः = प्रकृति बहुत्व से, ऋषयः = ऋषिगण, स्तुवन्ति = स्तुति करते हैं, इति = यह, आहुः = आचार्य लोग कहते हैं। अर्थात् सकल पदार्थ का कारण परमात्मा रूप देवता है। कार्यकारण का अभेद होता है। अत: प्रकृतिरूप परमात्मा की इन्द्र अग्नि अश्व द्यूत आदि रूप से वेदों में ऋषिगण स्तुति करते हैं। देवता रूप परमात्मा के कार्य होने से अश्व द्यूतादि भी देवता हैं।

प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च।

च = और, प्रकृति सार्वनाम्न्याच्च = प्रकृति महानात्मा परमात्मा की सर्वनामता से अर्थात् सब नाम परमात्मा के ही होने से वेदों में ऋषिगण अश्व द्यूतादि तत् तत् नामों से परमात्मा की ही स्तुति करते हैं और परमात्मा देवता हैं। अत: अश्व द्यूतादि भी देवता के ही नाम है।

प्रश्न होता है कि, सभी नाम जब परमात्मा के ही हैं तब मनुष्यो मे और देवताओं में भेद क्या? इसका उत्तर देते हैं—

इतरेतरजन्मानो भवन्ति, इतरेतरप्रकृतयः।

देवता, इतरेतरजन्मानः = इतरेतरजन्मा भवन्ति = होते हैं। अर्थात् परस्पर से देवताओं का जन्म होता है और, इतरेतरप्रकृति अर्थात् आपस में एक दूसरे का कारण, भवन्ति = होते हैं। यही उन मे ऐश्वर्य है। मनुष्यो मे यह ऐश्वर्य नही। अत: ये देवता नही। इतना मनुष्यों में और देवताओं में भेद हैं।

कर्मजन्मानः ।

देवता, कर्मजन्मानः = कर्मजन्मा होते हैं । अर्थात् देवता के बिना कोई कर्म न होने से मनुष्योंको कर्म कराने के लिये देवताओंका जन्म होता है । उदाहरणार्थ—देवतोद्देशेन द्रव्यत्याग कर्म कहा जाता है । देवता न हो तो किस को उद्देश्य करके कर्म किया जायगा ? ।

आत्मजन्मानः ।

देवता, आत्मजन्मानः = आत्मजन्मा होते हैं । अर्थात् अपने से ही आप उत्पन्न होते हैं । इनका उत्पन्न करने वाला कोई नहीं । देवता महाभाग्य = महा ऐश्वर्य हैं । अतः इनका जन्म इनके संकल्प से होता है ।

आत्मैवैषां रथो भवति । आत्मा अश्वः । आत्मा आयुधम् । आत्मेषवः । आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ७-४ ॥

एषाम् = इन देवताओं का, आत्मा एव = आत्मा ही, रथः = रथ है । आत्मा = आत्मा ही, अश्वः = घोड़ा है । आत्मा = आत्मा ही, आयुधम् = आयुध = अस्त्र है । आत्मा = आत्मा ही; इषवः = बाण हैं । आत्मा = आत्मा ही, देवस्य = देवका, सर्वम् = सब कुछ है । 'देवस्य देवस्य' यह द्विरुक्ति खण्ड समाप्ति का सूचक है।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः ।

तिस्रः एव = तीन ही, देवताः = देवता हैं, इति = यह, नैरुक्ताः = निरुक्त शास्त्रके जानने वाले आचार्य लोग कहते हैं । अग्निः = अग्नि, पृथिवीस्थानः = पृथिवीस्थान अर्थात् पृथिवी पर रहनेवाला देवता है । वायुः वा इन्द्रः वा = वायु अथवा इन्द्र, अन्तरिक्षस्थानः = अन्तरिक्षस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष में रहनेवाले दो देवता हैं और, सूर्यः = सूर्य, द्युस्थानः = द्युस्थान अर्थात् द्युस्थान = द्युलोक में रहनेवाला देवता हैं । इस प्रकार तीन ही देवता हैं ।

प्रश्न होता है कि, जब पूर्वोक्त अग्नि आदि तीन ही देवता हैं तो जातवेदा वैश्वानर आदि देवताओ के बहुत नाम जो सुने जाते हैं सो कैसे ? इसका उत्तर देते हैं—

तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ।

तासाम् = उन देवताओं के, महाभाग्यात् = महद् ऐश्वर्य होने से, एकैकस्य अपि = एक एक देवता के भी, बहूनि नामधेयानि = बहुत नाम, भवन्ति = होते हैं ।

अपि वा कर्मपृथक्त्वात् ।

वा = अथवा, कर्मपृथक्त्वात् = पृथक् पृथक् कर्म (क्रिया) होने से, अपि = भी, एक एक देवता के बहुत नाम हो जाते है ।

यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गाता इत्यपि एकस्य सतः ।

यथा = जैसे, होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गाता = होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, और उद्गाता, इति = ये सब नाम, एकस्य सतः अपि = एक होते हुए भी अनेक नाम है । अर्थात् जैसे एक ही ब्राह्मण के होतृकर्म करते समय होता, अध्वर्युकर्म करते समय अध्वर्यु, ब्रह्मा के कर्म करते समय ब्रह्मा और उद्गातृकर्म करते समय उद्गाता नाम हो जाते है वैसे ही देवता भी जिस जिस समय जो जो कर्म करते हैं उस उस समय उस उस नाम से प्रसिद्ध होते है । इस लिये यथोक्त तीन ही देवता के बहुत नाम हो जाते है ।

अपना नैरुक्त मत दिखाकर याज्ञिक मत दिखाते है—

अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति ।

अपि वा = अथवा, पृथक एव = पृथक् पृथक् ही, स्युः = हो । हि = क्योकि, पृथक् = पृथक् पृथक्, स्तुतय = स्तुतिएँ, भवन्ति = है । अर्थात् न एक और न तीन देवता है, किन्तु मन्त्रो मे जितने देवता के नाम आते है उतने ही अलग अलग देवता हो सकते हैं। क्योकि, स्तुतिएँ पृथक् पृथक् हैं वैसे ही नाम भी पृथक् पृथक् है ।

तथाभिधानानि ।

जैसे स्तुतिएँ पृथक् पृथक् है, तथा = वैसे ही, अभिधानानि = देवताओ के नाम भी पृथक् पृथक् हैं। अर्थात् जैसे स्तुति के भेद से स्तुत्य का भेद है वैसे अभिधान (नाम) के भेद से अभिधेय + (नामी) का भी भेद हो सकता है। अत वेदमन्त्रो मे जितने देवता के नाम हैं उतने ही देवता भी हैं। एक या तीन ही नही ।

यथो एतत्—कर्मपृथक्त्वादिति ? । बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः ।

यथो एतत् = और जो यह कहा गया है कि, कर्मपृथक्त्वात् = पृथक् पृथक् कर्म होने से एक एक देवता के बहुत नाम हो जाते है। वस्तुत देवता तीन ही हैं ? सो समीन नही । क्योकि, बहव अपि = बहुत लोग भी एक ही कार्य को, विभज्य = विभाग करके (बाटकर), अलग अलग, कर्माणि = कर्म, कुर्यु = कर सकते हैं। भाव यह है कि एक ही देवता अलग अलग कार्य करने से अनेक नामवाले हो जाते है यह मानना ठीक नही। क्योकि, देवता अनेक हैं। अपना अपना कार्य आप सब करते हैं। यह मानने पर जब काम चल सकता है तब तीन ही या एक ही देवता मानना निर्युक्तिक है ।

यदि यह कहें कि, देवताओ को नाना मानने पर उन मे एकत्व व्यवहार जो होता हैं। सो कैसे ? । इसका उत्तर देते हैं—

तत्र सस्थानैकत्वं संभोगैकत्वञ्चोपेक्षितव्यम् ।

तत्र = उस मे अर्थात् देवताओ के नाना पक्ष में, सस्थानैकत्वम् = स्थान की एकता, च = और, संभोगैकत्वम् = सभोग की एकता (खानपान की एकता), उपेक्षितव्यम् = समझना चाहिये। जैसे 'इस बात को सारी पृथिवी कहती है, इस बात को सारी पृथिवी पर रहने वाले अनेक मे एकत्व व्यवहार गौण है वैसे ही अनेक देवताओ मे कही कही एकत्व व्यवहार होना भी गौण है। वस्तुतः देवता नाना हैं। एक या तीन ही नही। इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वञ्च संभोगैकत्वञ्च दृश्यते ।

यथा = जैसे, पृथिव्याम् = पृथिवी पर, मनुष्याः = मनुष्य, पशव. = पशु, देवा = देव हैं। इति = इन सब का, स्थानैकत्वम् च = एक स्थान, च = और, सभोगैकत्वम् = एक सभोग, दृश्यते = देखा जाता है। इसी लिये इन अनेक मे एकत्व व्यवहार गौण होता है वैसे ही अनेक देवताओ मे एकत्व व्यवहार गौण है। वस्तुत. देवता अनेक हैं। एक या तीन ही नही। अन्य उदाहरण—

यथा पृथिव्याःपर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यांच संभोगः। अग्निना चेतरस्य लोकस्य ।

यथा = जैसे, पृथिव्या = पृथिवी को, पर्जन्य अर्थात् मध्यम देव इन्द्र से और, वाय्वादित्याभ्यां च = वायु तथा आदित्य से, सभोग. = सभोग है, च = और, इतरस्य लोकस्य = दूसरे अ तरिक्ष लोक को, अग्निना = अग्नि से, सभोग. = सभोग है। अथवा मेघ द्वारा पृथिवी का भोग वायु और आदित्य के साथ और अन्तरिक्ष लोक का अग्नि के साथ सभोग देखा जाता है।

दोनो पक्षो मे समान दृष्टान्त—

तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चम. खण्ड ॥ ७-५ ॥

तत्र = उन एक के अनेक नाम मानने वालों मे और अनेक के अनेक नाम मानने वालो मे, एतत् = यह, नरराष्ट्रम् इव = नर के समान और राष्ट्र के समान समझना चाहिये। अर्थात् जैसे, 'राष्ट्रम्' यहा अभेद और 'नरा' यहा भेद वैसे ही 'पृथिव्याम्' यहा अभेद और 'जातवेदा' 'वैश्वानर' यहा भेद। ऐसा ही आगे समझना चाहिये। 'आत्मा' यहा अभेद और 'लोका' 'लोकिनः' यहा भेद। भाव यह है कि, एक ही अर्थ मे विवक्षाधीन एक तथा अनेक समझा जाता है। एक मानने वालों के मत मे एक मुख्य और अनेक गौण। एवं अनेक मानने वालो के मत मे अनेक मुख्य और एक गौण समझना चाहिये।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षष्ठः खण्ड. ।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम् ।

अथ = देवताओ के एकत्व अनेकत्व विषयक विचार की समाप्ति के अनन्तर (बाद), देवतानाम् = देवताओ के, आकारचिन्तनम् = आकार विषयक विचार का प्रारम्भ होता है।

पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ।

पुरुषविधा = पुरुष के समान, देवता, स्यु = होगे। अर्थात् देवताओ का आकार मनुष्यो के आकार के समान है इति = यह एकम् = एक मत है। करचरणादि विग्रह वाले देवता होते हैं यह किसी का मत है। इस मे हेतु देते हैं—

चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति ।

हि = क्योकि, चेतनावत् = चेतनावालो की जैसी, स्तुतय = स्तुतिएँ, भवन्ति = होती हैं। इस लिये पुरुष के समान आकारवाले देवता होते है।

तथाभिधानानि ।

जैसे पुरुषविधता मे स्तुति हेतु है, तथा वैसे ही, अभिधानानि = सवाद सूक्तो मे परस्पर का नाम ले कर शब्द उच्चारण भी हेतु है। अर्थात् यदि पुरुष के आकार के समान देवताओ के आकार न हो तो सवाद सूक्तो मे परस्पर का सवाद देखने मे आता है सो नही आना चाहिये और आता तो है। अत मनुष्य के आकार के समान देवताओ के भी आकार होते हैं यह निश्चय होता है। दूसरा हेतु देते हैं—

अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ।

अथ अपि = और दूसरा भी हेतु है कि, पौरुषविधिकै अङ्गै = पुरुषो के जैसे अङ्गो से, सस्तूयन्ते = स्तुति किये जाते हैं। यदि देवताओ के पुरुष के आकार के समान आकार न हो तो पुरुष के अङ्गो के समान अङ्गो से स्तुति कैसे किये जा सकते है। अत देवता पुरुषाकार होते हैं यह सिद्ध हुआ। स्तुति जैसे—

"ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू" "यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते"

इन्द्र = हे इन्द्र ! हम, स्थविरस्य ते = वृद्ध तुम्हारे, ऋष्वा = दर्शनीय, बाहू = बाहुओ के ऊपर, आश्रित हैं। प्रथम सम्पूर्ण मन्त्र—

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥

ऋ स ४-७-३१-८ ॥

इस मन्त्र का गर्ग ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र ! तुम, विद्वान् = विद्वान् हो । नः = हमें, उरुम् = विस्तीर्ण, लोकम् = लोक में, अनुनेषि = ले जाना । और स्ववंत् = सुखमय, अभयम् = भय रहित, ज्योतिः = आलोक में, स्वस्ति = कुशल पूर्वक, अनुनेषि = ले जाना । स्थविरस्य ते = सब से प्राचीन अर्थात् वृद्ध तुम्हारे, ऋष्वा = दर्शनीय, बृहन्ता = महान्, बाहू = बाहुओं के ऊपर, शरणा = रक्षा के लिये हम, उप स्थेयाम = आश्रित हैं । इस मन्त्र में पुरुष के समान बाहु अङ्ग वाले इन्द्र की स्तुति है । अतः देवता पुरुषाकार होते हैं । द्वितीय सम्पूर्ण मन्त्र—

उताभये पुरुहूत अवोभिरेको दृळहमवदो वृत्राहा सन् ।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते ॥

ऋ सं. ३-२-१-५ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र ! तुम बहुत लोगों के द्वारा, पुरुहूत = आहूत और, अवोभि. = वीर्ययुक्त हो। एकः सन् = अकेले ही तुमने, वृत्रहा = वृत्र का वध करके, अभये यद्वाक्यम् = देवो को-जो अभय वाक्य उसको-अवदः = प्रदान किया था वह, दृळहम् = सत्य है। मघवन् = हे इन्द्र ! तुम, अपारे चित् इमे रोदसी = अपार द्यावापृथिवी को, यत्संगृभ्णा = जो संयोजित करते हो, ते = वह तुम्हारी महिमा, काशिः इत् = प्रकाशित अर्थात् प्रख्यात ही है। इस मन्त्र मे मनुष्य के आकार समान इन्द्र की स्तुति है। अतः मनुष्य के आकार के समान आकार वाले देवता होते हैं यह प्रतीत होता है

अथापि पौरुषेयविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः ।

'देवता मनुष्यकार होते हैं' इस में तीसरा हेतु देते हैं—अथ अपि = और भी, पौरुषेयविधिकैः = पुरुषों के समान, द्रव्यो के समान, द्रव्यसंयोगैः = द्रव्यो के संयोगो से देवताओ की स्तुति बहुत हैं। जैसे—

"आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" "कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते"

इन्द्र = हे इन्द्र ! तुम, द्वाभ्याम् हरिभ्याम् = दो हरि नाम अश्वों के द्वारा, आयाहि = आओ। इन्द्र = हे इन्द्र !, ते गृहे = तुम्हारे घर में, कल्याणी जाया = मङ्गलकारिणी स्त्री और, सुरणम् = सुन्दर गीत आदि की ध्वनि है। प्रथम सम्पूर्ण मन्त्र—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥

ऋ सं. २-६-२१-४ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र !, आहूयमान = बुलाये जाने पर तुम, द्वाभ्याम्, चतुर्भि, षड्भि, अष्टाभि, दशभि· = दो, चार, छः, आठ अथवा दश, हरिभ्याम् = हरि नामक अश्वों के द्वारा, सोमपेयम् = सोमपान के लिये, आयाहि = आओ। सुमख = हे शोभन यज्ञ वाले इन्द्र !, अयम् = यह, सुत. = अभिपूत सोम, तुम्हारे लिये प्रस्तुत है, इस को, मृध मा क. = नाश न करो। द्वितीय सम्पूर्ण मन्त्र—

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥

ऋ स. ३-३-१९-६ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र ! यहीं ठहर कर, सोमम् अपा· = सोमपान करो और सोमपान करके, अस्तम् प्रयाहि = अपने घर जाओ। ते गृहे = तुम्हारे घर मे, कल्याणी जाया = मङ्गलकारिणी शची नामक स्त्री और, दक्षिणावत् = सप्रयोजन, सुरणम् = सुन्दर गीत आदि की ध्वनि है। यत्र बृहत = जिस महद् गृह मे, रथस्य विधानम् = रथ की बडी शाला है। यहां जा कर, वाजिन, विमोचनम् = रथ से अश्वों को छोडो। यथोक्त दोनो मन्त्रो मे पुरुष के द्रव्यों के समान द्रव्यों के सयोग से इन्द्र की स्तुति है। इस से यह सिद्ध है कि देवताओं के आकार मनुष्य सदृश है। चतुर्थ हेतु—

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः ।

अथ अपि = और भी, पौरुषविधिकै = पुरुष के सदृश, कर्मभि = कर्मों से देवताओं की स्तुति है। जैसे—

" अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य " " आश्रुत्कर्णश्रुधी हवम् ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षष्ठ खण्ड ॥ ७-६ ॥

इन्द्र = हे इन्द्र ! तुम, प्रस्थितस्य = प्रस्तुत पुरोडाश को, अद्धि = भक्षण करो, च = और अभिषुत सोम को, पिब = पान करो। आश्रुत्कर्ण = हे सर्व तरफ सुनने योग्य कानवाले इन्द्र ! तुम, हवम् = हमारे आह्वान को, श्रुधी = सुनो। इन दोनो मन्त्रो मे खाना पीना तथा सुनना आदि कर्म पुरुष के सदृश देवताओं के देखे जाते हैं। अत देवता पुरुषाकार हैं यह प्रतीत होता है। प्रथम सम्पूर्ण मन्त्र—

इदं हविर्मघवन् तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानो गृभाय ।
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यं पक्वोऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य ॥

ऋ स ८-६-२१-७ ॥

इस मन्त्र का स्थूलपुत्र अग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता हैं॥ मन्त्रार्थ—सम्राट् मघवन् = हे सम्राट तथा धनी इन्द्र !, तुभ्यम् = तुम्हारे लिये रातम् = हमारे द्वारा दिया हुआ इदम् हवि. = यह हव्य द्रव्य, अहृणान = क्रोध न करते हुए, प्रतिगृभाय = ग्रहण करो। मघवन् = हे इन्द्र !, तुभ्यम् = तुम्हारे लिये सोम, सुतः = आभिषुत है और, तुभ्यम् = तुम्हारे लिये पुरोडाश, पक्तः = परिपक्व है। इन्द्र = हे इन्द्र ! उसको तुम, अद्धि = भक्षण करो। प्रस्थितस्य = तुम्हारे लिये प्रस्थापित सोम का, पिब = पान करो। द्वितीय सम्पूर्ण मन्त्र—

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नूचिद्दधिष्व मे गिरः ।

इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ॥ ऋ सं. १-१-२०-९ ॥

इस मन्त्र का मधुच्छन्दा ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—आश्रुत्कर्ण इन्द्र = हे सर्व तरफ सुनने योग्य कर्ण वाले इन्द्र ! तुम हमारे, हवम् = आह्वान को, नु = क्षिप्रम् शीघ्र, श्रुधि = सुनो। मे = हमारी, गिर. चित् = स्तुति रूप वाणी को, दधिष्व = चित्त में धारण करो। मम = हमारे, इमम् स्तोमम् = इस स्तोत्र को और हमारे, युजश्चित् = मित्र के स्तोत्र को, अन्तरम् = पास, कृष्व = रखो।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तम. खण्डः ।

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम् ।

अन्य मत—अपुरुषविधा: = पुरुषों से भिन्न प्रकार के आकारवाले देवता, स्यु· = होते हैं, इति = यह, अपरम् = दूसरा मत है। *अर्थात् मनुष्यो के आकार के समान आकार वाले देवता नही* हैं किन्तु मनुष्य के आकार से भिन्न आकारवाले देवता होते हैं। इस मे हेतु देते हैं—

अपि तु यद्दृश्यते अपुरुषविधं तत् । तद्यथा—अग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति ।

अपि तु = क्योंकि, यद्दृश्यते = जो कुछ देखा जाता है, तत् = वह, अपुरुषविधम् = अपुरुष के समान है। तद् यथा = वह जैसे-अग्निः = अग्नि, वायु. = वायु, आदित्य. = आदित्य, पृथिवी = पृथिवि, चन्द्रमा = चन्द्रमा, इति = यह। भाव यह है कि अग्नि आदि का अङ्गारादि आकार प्रत्यक्ष दृष्ट है। उन को पुरुषाकार मानने पर दृष्ट हानि होगी। अतः अग्नि आदि देवता अपुरुषविध हैं। इसी प्रकार अदृष्ट इन्द्रादि भी अपुरुषविध ही हैं। जैसे सभी मनुष्य तुल्य होने पर कोई आकारी और कोई आकार विना का नही होता है। वैसे हो सभी देवता तुल्य होने पर इन्द्रादि आकारी और अग्नि आदि आकार विना का नही हो सकता है किन्तु अग्नि आदि को अनाकारी देखने से इन्द्रादि भी अनाकारी होगें यही कहना समुचित है। अत अपुरुषविध देवता हैं।

यथो एतत् – "चेतनावद्वद्धिस्तुतयो भवन्ति" इति — अचेतनान्यप्येवंस्तूयन्ते, यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, चेतनावद्वद्धि = चेतनावानो की, स्तुतयः = स्तुतिएँ, भवन्ति = होती हैं, इति = यह, अचेतनानि अपि = अचेतन भी, एवम् = वैसे ही, स्तूयन्ते = स्तुति किये जाते है यथा = जैसे, अक्षप्रभृतीनि = अक्ष अर्थात् पासा ले कर, ओपधिपर्यन्तानि = ओषधि पर्यन्त। भाव यह है कि, याज्ञिको ने यह जो कहा कि चेतनावानो की स्तुति होती है, अचेतन की नही। अत स्तुति देखे जाने से देवता चेतन ही होना चाहिये, अचेतन नही। इस का उत्तर यह है कि, यह नियम नही कि, चेतन की ही स्तुति होती है, किन्तु अचेन अक्ष ओपधि आदि को भी स्तुतिएँ देखी जाती हैं तो यह कैसे कह सकते हैं कि देवता सब चेतन ही होते हैं ?।

यथोएतत्–"पौरुषविधिकरङ्गैः संस्तूयन्ते" इति, अचेतनेष्वप्येतद्भवति–"अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः" इतिग्रावस्तुतिः।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, 'पौरुषविधिकैरङ्गै सस्तूयते = पुरुषो के समान अङ्गो से स्तुति किये जाते हे, इति = यह, यह हेतु भी समर्थ नही क्योकि, अचेतनेषु अपि = अचेतनो मे भी, एतत् = यह, भवति = है। जैसे–'हरितेभि आसभि = हरेहरे मुखो से पाषाण, अभिक्रन्दति = बुलाते हैं,' इति = यह, ग्रावस्तुति = ग्राव अर्थात् पाषाण को स्तुति है, जो चेतन नही है। भाव यह है कि, 'स्तुति केवल चेतन की ही होती है' यह नियम नही, किन्तु अचेतन (जड) ग्रावण आदि की भी स्तुति देखी गई है तो यह कैसे कह सकते है कि चेतन की ही स्तुति होती है और देवताओ की स्तुति देखी जाती है, अत देवता चेतन ही होते है ?। सम्पूर्ण मन्त्र—

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत

ऋ स ८-४-२९-२॥

इस मन्त्र का अर्बुद ऋषि, जगती छन्द और ग्रावाण (प्रस्तर) देवता है। मन्त्रार्थ—एते = ये ग्रावाण, शतवत्सहस्रवत् = सौ वा सहस्र व्यक्तियो के समान, वदन्ति = बोलते हैं अर्थात् शब्द करते हैं। हरितेभि आसभि = ये सोमसंसर्ग से हरितवर्ण मुखो से, अभिक्रन्दन्ति = सोमपान के लिये देवो को बुलाते हैं। सुकृत ग्रावाण = शोभनकर्मा ये पत्थर, विष्ट्वी = यज्ञ को पाकर, होतु = देवो को आह्वान करने वाले अग्नि से, पूर्वेचित् = पर्व ही, अद्यम् हवि = भक्षणीय हवि को, आशत = पाते हैं।

अथो एतत्–"पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः" इति, एतदपि तादृशमेव "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्" इति नदी स्तुतिः।

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, "पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः = पुरुषों के द्रव्यों के समान, द्रव्यसंयोगैः = द्रव्यों के संयोगों से देवताओं की स्तुति है। अतः देवता पुरुषाकृति हैं। इति = यह, एतत्अपि = यह हेतु भी, तादृशम् एव = वैसा ही दुर्बल है। जैसे—'सिन्धुः = सिन्धु नदी ने, सुखम् = लोकसुखकर, अश्विनम् रथम् = अश्वयुक्त रथ को, युयुजे = जोड़ा था' इति = यह, नदी-स्तुति = नदी की स्तुति है। सम्पूर्ण मन्त्र—

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ ।
महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥

ऋ. सं. ८-३-७-९ ॥

इस मन्त्र का प्रियमेघ-पुत्र सिन्धुक्षित् ऋषि, जगती छन्द और नदी देवता है। मन्त्रार्थ—सिन्धु देवता, सुखम् = सुखकर और, अश्विनम् = अश्व वाले, रथम् = रथ को, युयुजे = जोतता है। तेन = उस रथ से यह, वाजम् = अन्न, सनिषद् = दे। अस्मिन् आजौ = इस संग्राम में अथवा यज्ञ में, यस्य = इस सिन्धुरथ की, महान् महिमा = महामहिमा, पनस्यते = गाई जाती है। हि = क्योंकि, सिन्धु का रथ, अदब्धस्य स्वयशसः विरप्शिनः = अहिंसित कीर्तिकर और महान् है। इस मन्त्र में नदी की स्तुति है जो मनुष्याकार नहीं। अतः अपुरुषविध देवता है। पुरुषविध नहीं।

अथो एतत्—'पौरुषविधिकैः कर्मभिः' इति, एतदपि तादृशमेव—"होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत"। इति ग्रावस्तुतिरेव।

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, पौरुषविधिकैः कर्मभिः = पुरुषों के समान कर्मों से, देवताओं की स्तुति है। अतः देवता पुरुषाकार हैं, इति = यह, एतदपि = यह भी, तादृशम् एव = वैसा ही असमर्थ है। क्योंकि, 'होतुश्चित्', इति = यह मन्त्र, ग्रावस्तुतिः एव = पत्थर की स्तुति है। इस मन्त्र की व्याख्या समीप में ही कर आये हैं। भाव यह है कि, यदि स्तुति केवल चेतन की ही होती हो तो स्तुति देखने से देवता पुरुषाकार हैं यह कह सकते थे। सो तो है, नहीं, किन्तु प्रस्तर आदि जड की भी स्तुति देखी जाती है। अतः देवता पुरुषाकार नहीं।

अपि वा उभयविधाः स्युः ।

अपि वा = अथवा, उभयविधाः = दोनों प्रकार के देवता, स्युः = हैं। अर्थात् दोनों प्रकार के प्रमाण प्राप्त होने से पुरुषाकार और अपुरुषाकार दोनों प्रकार के देवता होते हैं।

अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः ।

अपि वा = अथवा, पुरुषविधानाम् एव सताम् = पुरुषाकार रहने वाले के ही, एते = ये, कर्मात्मानः = कर्मरूप, स्युः = हों। भाव यह है कि, पुरुषविध और अपुरुषविध, ये दोनों ही

यथो एतत् – "चेतनावद्धद्धिस्तुतयो भवन्ति" इति — अचेतनान्यप्येवंस्तूयन्ते, यथाक्षप्रभृतीन्योपधिपर्यन्तानि ।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, चेतनावद्वद्धि = चेतनावानो की, स्तुतय = स्तुतिएँ, भवन्ति = होती है, इति = यह, अचेतनानि अपि = अचेतन भी, एवम् = वैसे ही, स्तूयन्ते = स्तुति किये जाते हैं, यथा = जैसे, अक्षप्रभृतीनि = अक्ष अर्थात् पासा ले कर, ओपधिपर्यन्तानि = ओपधि पर्यन्त। भाव यह है कि, याज्ञिको ने यह जो कहा कि चेतनावानो की स्तुति होती है, अचेतन की नही। अत स्तुति देखे जाने से देवता चेतन ही होना चाहिये, अचेतन नही। इस का उत्तर यह है कि, यह नियम नही कि, चेतन की ही स्तुति होती है, किन्तु अचेन अक्ष ओपधि आदि की भी स्तुतिऐं देखी जाती हैं तो यह कैसे कह सकते हैं कि देवता सब चेतन ही होते हैं ? ।

यथोएतत्–"पौरुपविधिकरङ्गैः संस्तूयन्ते" इति, अचेतनेष्वप्येतद्भवति–"अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः" इतिग्रावस्तुतिः ।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, 'पौरुपविधिकैरङ्गै सस्तूयते = पुरुषो के समान अङ्गो से स्तुति किये जाते है, इति = यह, यह हेतु भी समर्थ नही क्योकि, अचेतनेपु अपि = अचेतनो मे भी, एतत् = यह, भवति = है। जैसे–'हरितेभि आसाभि = हरेहरे मुखो से पाषाण, अभिक्रन्दति = बुलाते हैं,' इति = यह, ग्रावस्तुति = ग्राव अर्थात् पाषाण की स्तुति है, जो चेतन नही है। भाव यह है कि, 'स्तुति केवल चेतन की ही होती है' यह नियम नही, किन्तु अचेतन (जड) ग्रावण आदि की भी स्तुति देखी गई है तो यह कैसे कह सकते है कि चेतन की ही स्तुति होती है और देवताओ की स्तुति देखी जाती है, अत देवता चेतन ही होते है ? । सम्पूर्ण मन्त्र—

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः ।

विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत

ऋ स ८-४-२९-२ ॥

इस मन्त्र का अर्बुद ऋषि, जगती छन्द और ग्रावाण (प्रस्तर) देवता है। मन्त्रार्थ—एते = ये ग्रावाण, शतवत्सहस्रवत् = सौ वा सहस्र व्यक्तियो के समान, वदन्ति = बोलते हैं अर्थात् शब्द करते हैं। हरितेभि आसभि = ये सोमसंसर्ग से हरितवर्ण मुखो से, अभिक्रन्दन्ति = सोमपान के लिये देवो को बुलाते हैं। सुकृत ग्रावाण = शोभनकर्मा ये पत्थर, विष्ट्वी = यज्ञ को पाकर, होतुः = देवों को आह्वान करने वाले अग्नि के, पूर्वेचित् = पूर्व ही, अद्यम् हवि = भक्षणीय हवि को, आशत = पाते हैं।

अथो एतत्–"पौरुपविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः" इति, एतदपि तादृशमेव "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्" इति नदी स्तुतिः ।

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, "पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः = पुरुषों के द्रव्यों के समान, द्रव्यसयोगै. = द्रव्यों के सयोगो से देवताओं की स्तुति है। अतः देवता पुरुषाकृति हैं। इति = यह, एतत्अपि = यह हेतु भी, तादृशम् एव = वैसा ही दुर्बल है। जैसे—'सिन्धुः = सिन्धु नदी ने, सुखम् = लोकसुखकर, अश्विनम् रथम् = अश्वयुक्त रथ को, युयुजे = जोड़ा था' इति = यह, नदी-स्तुति = नदी की स्तुति है। सम्पूर्ण मन्त्र—

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ ।

महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥

ऋ. स. ८-३-७-९ ॥

इस मन्त्र का प्रियमेघ पुत्र सिन्धुक्षित् ऋषि, जगती छन्द और नदी देवता है। मन्त्रार्थ—सिन्धु देवता, सुखम् = सुखकर और, अश्विनम् = अश्व वाले, रथम् = रथ को, युयुजे = जोतता है। तेन = उस रथ से वह, वाजम् = अन्न, सनिषत् = दे। अस्मिन् आजौ = इस सग्राम मे अथवा यज्ञ मे, यस्य = इस सिन्धुरथ की. महान् महिमा = महामहिमा, पनस्यते = गाई जाती है। हि = क्योंकि, सिन्धु का रथ, अदब्धस्य स्वयशसः विरप्शिनः = अहिंसित कीर्तिकर और महान् है। इस मन्त्र मे नदी की स्तुति है जो मनुष्याकार नही। अत. अपुरुषविध देवता है। पुरुषविध नही।

अथो एतत्–'पौरुषविधिकैः कर्मभिः' इति, एतदपि तादृशमेव–"होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत"। इति ग्रावस्तुतिरेव।

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, पौरुषविधिकैः कर्मभिः = पुरुषों के समान कर्मों से, देवताओं की स्तुति है। अतः देवता पुरुषाकार हैं. इति = यह, एतदपि = यह भी, तादृशम् एव = वैसा ही असमर्थ हैं। क्योंकि, 'होतुश्चित्', इति = यह मन्त्र, ग्रावस्तुति. एव = पत्थर की स्तुति है। इस मन्त्र की व्याख्या समीप मे ही कर आये हैं। भाव यह है कि, यदि स्तुति केवल चेतन की ही होती हो तो स्तुति देखने से देवता पुरुषाकार हैं यह कह सकते थे। सो तो है नहीं, किन्तु प्रस्तर आदि जड की भी स्तुति देखी जाती है। अतः देवता पुरुषाकार नही।

अपि वा उभयविधाः स्युः।

अपि वा = अथवा, उभयविधाः = दोनों प्रकार के देवता, स्युः = हैं। अर्थात् दोनों प्रकार के प्रमाण प्राप्त होने से पुरुषाकार और अपुरुषाकार दोनो प्रकार के देवता होते हैं।

अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः।

अपि वा = अथवा, पुरुषविधानाम् एव सताम् = पुरुषाकार रहने वाले के ही, एते = ये, कर्मात्मानः = कर्मरूप, स्युः = हो। भाव यह है कि, पुरुषविध और अपुरुषविध, ये दोनो ही

स्वरूपो वाले देवता हैं। क्योंकि, दोनों प्रकार के देवताओं का वर्णन पाया जाता है। परमात्मा, इन्द्र तथा मनुष्यों से सम्बन्ध रखनेवाले देवता पुरुषविध और अश्वादि पशु, द्यूत, पृथिवी तथा चन्द्रमा आदि से सम्बन्ध रखने वाले देवता अपुरुषविध हैं।

यथा यज्ञो यजमानस्य ।

यथा = जैसे, यजमानस्य = यजमान का, यज्ञ: = यज्ञ। भाव यह है कि, यजमान के दो रूप होते हैं। एक पुरुष और दूसरा यज्ञ। क्योंकि, वर्तमान शरीर से कर्म का अनुष्ठान करता है और कर्म से प्राप्त शरीर से स्वर्ग जाता है। शरीर पुरुषविध और यज्ञ अपुरुषविध।

एष चाख्यानसमयः ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७-७ ॥

च = और, एषः = यही, आख्यानसमय = कथा में प्रवीणों का पक्ष (मत) है। स्पष्टीकरण— प्रथम पक्ष पुरुषाकार, द्वितीय पक्ष अपुरुषाकार, तृतीय पक्ष कर्म के लिये उभयाकार और चतुर्थ पक्ष सदा उभयाकार देवता होते हैं। इन में तृतीय और चतुर्थ दोनों पक्ष अच्छे हैं। इन दोनो में भेद केवल इतना ही है कि, तृतीय पक्ष में जब देवता चाहता है तब पुरुषाकार हो जाता है। और जब नहीं चाहता है तब अपुरुषाकार ही रहता है। और चतुर्थ पक्ष में अधिष्ठाता के रूप में देवता सदा पुरुषाकार ही रहता है। इन में तृतीय पक्ष नैरुक्तों का और चतुर्थ आख्यान पक्ष है। भारत में आख्यान—पृथिवी ने स्त्री के आकार (रूप) से अपने ऊपर से भार उतारने के लिये ब्रह्माजी से प्रार्थना की। अग्निने ब्राह्मण के रूप से श्रीकृष्ण और अर्जुन से खाण्डव वन मांगा और पुरुष तथा अग्नि के रूप से खाण्डव वन का दाह किया। देवता महाभाग्य होते हैं। समय समय पर जैसा चाहें वैसा रूप धारण करते हैं।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् । तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।

तिस्रः एव = तीन ही, देवता. = देवता हैं, इति = यह, पुरस्तात् = पहले, उक्तम् = कहा गया है। तासाम् = उन तीनो देवताओं के, भक्तिसाहचर्यम् = भक्ति अर्थात् भाग और साहचर्य अर्थात् साथ रहने को, व्याख्यास्याम. = व्याख्या करेंगे। अर्थात् जो जो उन का भाग है और उन के साथ रहते हैं उन की चर्चा का प्रारम्भ यहां से होता है।

अथैतान्यग्निभक्तीनि ।

अथ = यहां से, एतानि = ये सब, अग्निभक्तीनि = अग्नि के भाग हैं। इनको अग्नि की अपनी वस्तु है। इन से अग्नि का नित्य सम्बन्ध है। इत्यादि।

अयं लोकः, प्रातः सवनम्, वसन्तः, गायत्री, त्रिवृत्स्तोमः, रथन्तरं साम।

अयम् = यह, लोकः = पृथिवी लोक है। प्रातः सवनम् = प्रात-सवन, वसन्तः = वसन्त ऋतु, गायत्री = गायत्री छन्द, त्रिवृत्स्तोमः = त्रिवृत् नामक स्तोम, रथन्तरम् साम = रथन्तर नामक साम।

ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने।

च = और, ये = जो, देवगणाः = देवगण, प्रथमे स्थाने = प्रथम स्थान में, (नि. अ. ५, ख. १=२-३) *समाम्नाताः = गिनाए हैं। उन के नाम—*

अग्नायी-पृथिवी-इला-इति स्त्रियः।

अग्नायी, पृथिवी और इला, ये अग्नि की स्त्रियें हैं।

अथास्य कर्म—वहनञ्च हविषाम्, आवाहनञ्च देवतानाम्, यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैव तत्।

अथ = अब, अस्य = इस अग्नि का, कर्म-हविषाम् = हवियों का, वहनम् = वहन करना अर्थात् देवताओ के पास पहुचना, च = और, देवतानाम् = देवताओ का, आवाहनम् = आवाहन करना अर्थात् 'बुलाना। च = और यत् किञ्चित् = जो कुछ, दार्ष्टिविषयिकम् = दृष्टि विषयक पदार्थ है, तत् = वह, अग्निकर्म एव = अग्नि का ही कर्म है।

अथास्य संस्ताविका देवाः। इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः।

अथ = अब, अस्य = इस अग्नि के, संस्ताविकाः देवा. = संस्तविक देवता हैं। अर्थात् जिन के साथ इस अग्नि की स्तुति होती है वे देवता हैं। जैसे-इन्द्र = इन्द्र, सोमः = सोम, वरुणः = वरुण, पर्जन्यः = पर्जन्य और, ऋतवः = ऋतुएँ। इन इन्द्रादि के साथ अग्नि की स्तुति होती है। अतः इन्द्रादि अग्नि के संस्ताविक देवता कहे जाते हैं। इन्द्र के साथ संस्तव-उदाहरण—

अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोप यातम्।
अमर्धन्ता सोमपेयाय देवा॥ ऋ सं. ३-१-२५-४॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, विराडनुष्टुप् छन्द और अग्नि और इन्द्र दोनो देवता हैं। मन्त्रार्थ—अग्ने = हे अग्नि देव! तुम, च = और, इन्द्रः = इन्द्र दोनो, देवा = देवता, अमर्धन्ता = यज्ञ की हिंसा न करते हुए, सुतवतः = सोम अभिषवकर्ता, दाशुषः = हविर्दाता, यजमान के, इह दुरोणे = इस गृह, यज्ञम् = यज्ञ को लक्ष्य करके, सोमपेयाय = सोमपान के लिये, उप यातम् = आओ। सोम के साथ संस्तवोदाहरण—

अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्।

प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मयः ॥ ऋ स. १-६-२८-१ ॥

इस मन्त्र का गोतम ऋषि अनुष्टुप् छन्द और अग्नि तथा सोम देवता है। मन्त्रार्थ—वृषणा अग्नीषोमौ = हे अभीष्टवर्षी अग्नि और सोम!, मे इमम् हवम् = मेरे इस आह्वान को, सुशृणुतम् = ध्यान देकर सुनो। सूक्तानि प्रतिहर्यतम् = स्तुति ग्रहण करो। दाशुषेमय = भवतम् = हव्यदाता को सुखप्रदान करो। वरुण के साथ सस्तवोदाहरण—

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः।

यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मात् ॥

ऋ स. ३-४-१२-४ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप छन्द और वरुण देवता है। मन्त्रार्थ—अग्ने = हे अग्निदेव! तुम, विद्वान् = सम्पूर्ण पुरुषार्थ के साधनो को जानते हो। त्वम् = तुम, नः = हमारे प्रति, वरुणस्य देवस्य = वरुण देव के, हेल = क्रोध का अव यासिसीष्ठा = अपनोदन करो। तुम सब की अपेक्षा अधिक, यजिष्ठः = याज्ञिक, वह्नितम = हविर्वाही और, शोशुचानः = अतिशय दीप्तिमान हो। तुम, अस्मत् = हम लोगो को, विश्वाद्वेषांसि = सर्व प्रकार के पापो से, प्रमुमुग्धि = विशेषरूप से मुक्त करो। पर्जन्य के साथ सस्तव उदाहरण—

अग्नीपर्जन्याववतं धियं मेऽस्मिन्हवे सुहवा सुष्टुतिं नः।

इळामन्यो जनयद्गर्भमन्य प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे ॥

ऋ स. ४-८-१६-१६ ॥

इस मन्त्र का भारद्वाज ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि एवं पर्जन्य देवता हैं। मन्त्रार्थ—अग्निपर्जन्यौ = हे अग्नि और पर्जन्य!, मे = हमारे, धियम् = यज्ञ-कार्य की, अवतम् = रक्षा करो। सुहवा = हे अनायास आह्वान के योग्य!, अस्मिन् हवे = इस यज्ञ मे, नः = हमारे, सुष्टुतिम् = स्तोत्र को सुनो। अन्य. = तुम मे से एक जो पर्जन्य है वह, इळाम् = अन्न, जनयत् = उत्पन्न करता है। अन्य = दूसरा जो अग्नि है वह, गर्भम् = गर्भ, जनयत् = उत्पन्न करता है। इस लिये तुम, अस्मे = हमे, प्रजावतो = सन्तति के साथ, इष. = अन्न, आधत्तम् = अवस्थापन करो अर्थात् अन्न दो। ऋतुओ के साथ सस्तव उदाहरण—

अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु।

परि भूष पिब ऋतुना ॥ ऋ सं. १-१-२८-४ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि एवं ऋतु देवता है। मन्त्रार्थ—अग्ने = हे अग्निदेव!, देवान् = देवों को, इह = यहां, आवह = बुलाओ और उन्हें त्रिषुयोनिषु = प्रातः सवन, मध्याह्न सवन और सायंसवन नामक तीनों यज्ञ स्थानों में, सादय = बैठाओ। परिभूष = उन्हें अलंकृत करो। और तुम, ऋतुना = ऋतु के साथ, पिब = सोमपान करो।

आग्नावैष्णवं च हविः।

आग्नावैष्णवम् च = अग्नि और विष्णु को संयुक्त, हविः = हवि देते हैं। जैसे—

अग्नाविष्णू सजोषसे मा वर्धन्तु वां गिरः।

द्युम्नैर्वाजेभिरागतम् ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि तथा विष्णु देवता है। मन्त्रार्थ–अग्नाविष्णू = हे अग्नि और विष्णु!, सजोषसा = समान प्रीति के साथ, वाम् = कर्म स्वरूप तुम दोनों, इमा गिरः = हमारी इन स्तुतियों को, वर्धयन्तु = बढावें। वृद्धि होने के बाद, द्युम्नैः वाजेभिः = दिव्य अन्न के साथ, आगतम् = हमारे यहां आओ। इस मन्त्र में अग्नि और विष्णु इन दोनों देवताओं को साथ हवि तो देखी जाती है—

नत्वृक्संस्तविकी दाशतयीषु विद्यते।

तु = किन्तु दाशतयीषु = दश मण्डल ऋग्वेद में, संस्तविकी ऋक् साथ स्तुति की ऋचा, न विद्यते = कहीं नहीं है। अर्थात् अग्निदेव विष्णु के साथ हवि का भोजन तो करते हैं परन्तु किसी ऋचा में एक साथ स्तुति नहीं देखी जाती है।

अथाप्याग्नापौष्णं हविर्न तु संस्तवः।

अथ अपि = और भी, आग्नापौष्णम् = अग्नि और पूषा का, हविः = हवि है। तु = किन्तु, संस्तवः = संस्तव, न = नहीं।

तत्रैतां विभक्तस्तुतिमृचमुदाहरन्ति।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥ ७-८ ॥

तत्र = वहां, एताम् = एक यह, विभक्तस्तुतिम् ऋचम् = अलग स्तुति की, ऋचा, उदाहरन्ति = उदाहरण देते हैं—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य नवमः खण्डः।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥

ऋ सं. ७-६-२३-३ ॥

इस मन्त्र का यमपुत्र देवश्रवा ऋषि त्रिष्टुप् छन्द और पूषा नामक आदित्य देवता है। मन्त्रार्थ—हे मृत मनुष्य ! विद्वान् = ज्ञानी, अनष्ट पशुः = अविनष्टपशु, भुवनस्य गोपाः = संसार के रक्षक, पूषा = पूषा नामक अदित्य देव, त्वा = तुम्हें, इतः = इस मनुष्य लोक से, उत्तम लोक में, प्रच्यावयतु = ले जायें । सः = वह पूषा देव, त्वा = तुम्हे, एतेभ्यः पितृभ्यः = इन पितरों के लिये, परिददत् = दे देवें । अग्निः = अग्निदेव, सुविदत्रियेभ्यः = धन वाले, देवेभ्यः = देवताओं के लिये, पितृलोक से भी तुझे देवलोक में पहुंचा दें ।

यास्क मन्त्रार्थ करते हैं—

पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा इत्येष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिताऽऽदित्यः । सत्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्य इति सांशयिकस्तृतीयः पादः ।

हे मृत मनुष्य !, पूषा = आदित्य, त्वा = तुम्हें, इतः = इस मनुष्य लोक से, उत्तम लोक में प्रच्यावयतु = ले जायें, विद्वान् = वह पूषा ज्ञानी है । अनष्टपशुः = अविनष्टपशु है, और, भुवनस्य गोपाः = संसार के रक्षक है। हि = क्योंकि, इति एष आदित्यः = यह आदित्य, सर्वेषां भूतानाम् = सर्व प्राणियों के, गोपायिता = रक्षक है । सः = वह, त्वा = तुम्हे, एतेभ्यः पितृभ्यः = इन पितरों के लिये, परिददत् = दे देवें । इति = यह, तृतीयः पादः = मन्त्र के तीसरा पाद, सांशयिकः = संशय युक्त हैं ।

पूषा पुरस्तात् ।

पूषा = पूषा यह, पुरस्तात् = पहले 'पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु' इस वाक्य में आ चुका है ।

तस्यान्वादेश इत्येकम् ।

तस्य = इस में उसीका अन्वादेशः = अन्वादेश अर्थात् बाद में दूसरी बार सः शब्द से प्रयोग हुआ है, इति = यह, एकम् = एक मत है।

अग्निरुपरिष्टात्तस्य प्रकीर्तना—इत्यपरम् ।

अग्निः = अग्नि यह, उपरिष्टात् = बाद में अर्थात् चतुर्थ पाद में, प्रकीर्तना = कथित हुआ है, इति = यह, अपरम् = दूसरा मत है । भाव यह है कि, मन्त्र में 'सः' पद आया है वह पूर्व आया हुआ पूषा का परामर्शक हैं यह एक मत है और दूसरा यह है कि, उत्तर में 'अग्नि' पद आया है उसी का परामर्शक 'स' पद है ।

चतुर्थ पाद की व्याख्या करने के लिये पुनः उल्लेख करते हैं—

अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ।

अग्नि = अग्निदेव, सुविदत्रियेभ्य = धन देने वाले, देवेभ्य = देवों के लिये ।

ऋचा मे आये हुऐ पदो की व्याख्या करते हैं—

"सुविदत्रं धनं भवति । विन्दतेर्वैकोपसर्गात् । दधातेर्वा स्याद् द्विपुपसर्गात् ॥

इति निरुक्ते सप्तमाध्यास्य नवम खण्ड ॥ ७-९ ॥

सुविदत्रम् = सुविदत्र, धनम् भवति = धन होता है । अर्थात् सुविदत्र शब्द का अर्थ धन है । एकोपसर्गात् वा = एक 'सु' उपसर्ग से अर्थात् 'सु' उपसर्ग पूर्वक, विन्दते = विद् धातु से 'सुविदत्र' शब्द बना है । अर्थात् 'सुखेन विन्दति इति सुविदत्रम् धनम्' इस विग्रह मे सु उपसर्ग पूर्वक 'विद्लृ लाभे' धातु से 'अभिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' इस उणादि सूत्र से बाहूलकात् अत्रन् (अत्र) प्रत्यय होने पर सुविदत्र शब्द बना है । धन का नाम है । क्योंकि, धन सुख से या सुख के लिये प्राप्त होता है । वा = अथवा, द्विपुपसर्गात् = दो 'सु' 'वि' उपसर्ग से अर्थात् सु और वि दो उपसर्ग पूर्वक 'दा' धातु से 'सुविदत्र' शब्द बना है । अर्थात् 'सुखेन विशेषेण दीयते इति सुविदत्रम् धनम्' इस विग्रह मे सु वि पूर्वक 'उदाञ् दाने' धातु से, पूर्वोक्त उणादि सूत्र से अत्रन् प्रत्यय, सुविदा अत्र, आ लोप, सुविदत्र । सुविदत्रम् येषाम् अस्ति इति सुविदत्रिया तेभ्य सुविदत्रियेभ्य ' इस विग्रह मे सुविदत्र शब्द से मत्वर्थीय घ प्रत्यय, इय् आदेश होने पर 'सुविदत्रिय' शब्द बना है । धनी का नाम है । 'सुविदत्रियेभ्य ' यह चतुर्थी बहुवचन का रूप है ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य दशम खण्ड ।

अथैतानीन्द्रभक्तीनि ।

अथ = अग्नि की भक्ति के कथन के बाद अब, एतानि = ये, इन्द्रभक्तीनि = इन्द्र की भक्ति का (भाग का) कथन किया जाता है—

अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनम्, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप्, पञ्चदशस्तोमः, बृहत्साम । ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रियः ।

अन्तरिक्षलोक = अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवनम् = माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म = ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदशस्तोम = पञ्चदश स्तोत्र, बृहत्साम = बृहत्साम, च = और, ये = जो, देवगणा = देवगण, मध्यमेस्थाने = मध्यम स्थान मे, समाम्नाता = समाम्नान किये गये हैं, च = और, या = जो, स्त्रिय = आदितिआदि स्त्रियें हैं वे सब इन्द्र के भाग हैं । अर्थात् इतनी इन्द्र की अपनी वस्तु हैं । इन से इन्द्र का नित्य सम्बन्ध है । इत्यादि ।

यथास्य कर्म-रसानुप्रदानम्, वृत्रवधः, याच काच बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् ।

अथ = इस के पश्चात्, अस्य = इस इन्द्र का, कर्म—रसानुप्रदानम् = जल वरना, वृत्रवधः = वृत्र का वध, या च का च = और जो कुछ, बलकृतिः = बलकर्म, तत् = वह सब, इन्द्रकर्म एव = इन्द्र का ही कर्म है।

अथास्य संस्तविका देवाः। अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः।

अथ = इस के पश्चात्, अस्य = इस इन्द्र के, संस्तविकाः देवाः = संस्तविक देव (जिन के साथ ये स्तुति किये जाते हैं) ये हैं—अग्निः = अग्नि, सोमः = सोम, वरुणः = वरुण, पूषा = पूषा आदित्य, बृहस्पतिः = बृहस्पति, ब्रह्मणस्पतिः = ब्रह्मणस्पति, पर्वतः = पर्वत, कुत्सः = कुत्स, विष्णुः = विष्णु और, वायुः = वायु। ये सब इन (इन्द्र)के संस्तविक देव हैं। इन के साथ ये स्तुति किये जाते हैं।

अग्नि के साथ इसका संस्तव उदाहरण जैसे—

इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः ।

तद्वां चेति प्र वीर्यम् ॥ ऋ सं. ३-१-१२-९ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र तथा अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्राग्नी = हे इन्द्र देव! और हे अग्नि देव! तुम, दिवः रोचना = स्वर्ग के प्रकाशक हो। अतः तुम, वाजेषु = संग्राम मे सर्वत्र, परिभूषथ = परिभूषित होओ। वाम् = तुम्हारी, वीर्यम् = सामर्थ्य, तत् = उस युद्ध विजय को, प्रचेति = भलीभाँति विदित करती है। इस ऋचा मे अग्नि के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

सोम के साथ इसका संस्तव-उदाहरण—

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।

परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥

ऋ सं. ५-७-५-१ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, जगती छन्द और इन्द्र तथा सोम देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्रासोमा = हे इन्द्र! और हे सोम! तुम, रक्षः = राक्षसों को, तपतम् = तपाओ = दुःख दो। उब्जतम् = मारो। वृषणा = हे अभीष्टवर्धक!, तमोवृधः = अन्धकार में बढे हुए राक्षसों को, न्यर्पयतम् = नीचे कर दो। अचितः = ज्ञान हीन राक्षसो को, पराशृणीतम् = विमुख करके हिंसित

करो। न्योषतम् = जला दो। हतम् = मार फेंको। नुदेथाम् = हमारे यहाँ से दूर कर दो। अत्रिणः = भक्षक राक्षसों को, निशिशीतम् = जर्जर करके फेंक दो। इस मन्त्र मे सोम के साथ इन्द्र की स्तुति है।

वरुण के साथ इसका संस्तव-उदाहरण—

इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्।
दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः॥

ऋ सं. ५-६-२-१॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, जगती छन्द और इन्द्र एव वरुण देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्रावरुणा = हे इन्द्र! और हे वरुण!, युवम् = तुम, नः = हमारे, विशे जनाय = परिचारक जन को, अध्वराय = यज्ञ के लिये, महि शर्म = महागृह अथवा महासुख, यच्छतम् = दो और, य = जो शत्रु, दीर्घ प्रयज्युम् = दीर्घकाल तक यज्ञ कर्ता यजमान को, अति वनुष्यति = मारता है, पृतनासु = युद्ध मे, *वयम् = हम उसी, दुढ्य. = दुर्बुद्धि शत्रु को, जयेम = जीतेंगे। इस ऋचा मे वरुण के साथ* इन्द्र की स्तुति है।

पूषा के साथ इसका संस्तवोदाहरण—

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
हुवेम वाजसातये॥ ऋ स. ४-८-२३-१॥

इस मन्त्र का भरद्वाज ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र तथा पूषा दोनो देवता हैं। मन्त्रार्थ—इन्द्रा पूषणा = हे इन्द्र! और हे पूषन्!, नु = आज, वयम् = हम, स्वस्तये = अपने कल्याण के लिये, सख्याय = तुम्हारी मित्रता के लिये और, वाजसातये = अन्न प्राप्ति के लिये, हुवेम = तुम्हें बुलाते हैं। इस ऋचा मे पूषा के साथ इन्द्र की स्तुति है।

बृहस्पति के साथ इन्द्र की स्तुति—

इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती।
उक्थं मदश्च शस्यते॥ ऋ सं ३-७-२५-१॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र तथा बृहस्पति देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्राबृहस्पती = हे इन्द्र! और हे बृहस्पते!, वाम् = तुम दोनों के, आस्ये = मुख मे हम, इदम् प्रियम् हविः = इस प्रिय सोम रूप हवि का, प्रक्षिपामि = प्रक्षेप करते हैं। उक्थम् = उक्थ अर्थात्

शश्च, च = और, मदः = मदजनक सोम रस, शस्यते = प्रदान करते है। इस मन्त्र में बृहस्पति के साथ इन्द्र की स्तुति है।

ब्रह्मणस्पति नामक देव के साथ इन्द्र की स्तुति—

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम् ।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम् ॥

ऋ सं. २-७-३-१२ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र तथा ब्रह्मणस्पति देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्राब्रह्मणस्पती = हे इन्द्र! और हे ब्रह्मणस्पते! तुम, मघवाना = धनवान् हो। विश्वम् सत्यम् = सारा सत्य, युवोरिद् = तुम्हारा ही है। वाम् = तुम्हारे, व्रतम् = व्रत को, आपः = जल, न प्र मिनन्ति = नही मार सकता। युजा = रथ मे जुते हुए, वाजिना = अश्व, अन्नम् इव = अपने खाद्य घास आदि के अभिमुख हो कर जैसे दौड़ते है वैसे ही तुम भी, नः = हमारे, हविः = हव्य के, अच्छ = अभिमुख हो कर, जिगातम् = दौड़ो। इस मन्त्र मे ब्रह्मणस्पति के साथ इन्द्र का संस्तव है।

पर्वत के साथ इन्द्र का संस्तवोदाहरण—

इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः ।
वीत हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता ॥

ऋ सं. ३-३-१९-१ ॥

इस मन्त्र के विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र तथा पर्वत देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्रापर्वता = हे इन्द्र! और हे पर्वत!, बृहता रथेन = महान् रथ पर, वामी = वननीय अर्थात् मनोहर, सुवीरा = सुन्दरः पुत्रादि से युक्त, इषः = अन्न, आवहतम् = लाओ। देवा = हे द्योतमान देव!, अध्वरेषु = हमारे यज्ञों में तुम दोनो, हव्यानि = हव्यो का वीतम् = भक्षण करो। इळया = हमारे दिये हुए हवि से, मदन्ता = प्रसन्न होते हुए तुम दोनों, गीर्भिः = हमारे स्तुति रूप वचनों से वर्धेथाम् = वर्द्धित होओ। इस ऋचा मे पर्वत के साथ इन्द्र का संस्तव है।

कुत्स के साथ इन्द्र का संस्तव जैसे—

इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि कर्णे वहन्तु ।
निः षीमद्भ्यो धमथो निः षधस्थान्मघोनो हृदो वरथस्तमांसि ॥

ऋ. सं. ४-१-३१-९ ॥

इस मन्त्र का अत्रि के पुत्र अवस्यु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र तथा कुत्स देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्राकुत्सा = हे इन्द्र ! और हे कुत्स !, रथेन = एक रथ पर आरूढ वाम = तुम दोनो को, अत्या: = अश्वगण, वर्णे अपि = यजमानो के निकट, आवहन्तु = आनयन करे। तुम दोनों ने, सीम् = उस शुष्णासुर राक्षस को, सधस्थात् = उसके आवासभूत, अद्भ्य. = जल से, नि: धमथ: = दुर किया था। तुम दोनो ने, मघोन: = धनवान् यजमानो के, हृद. = हृदय से, तमांसि = अज्ञान रूप अन्धकार को, नि. वरथ: = निवारण किया था, दूर किया था। इस मन्त्र में कुत्स के साथ इन्द्र का संस्तव है।

विष्णु के साथ इन्द्र का संस्तव, जैसे—

इन्द्राविष्णू दृंहिता शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।

शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥

ऋ. सं. ५-६-२४-५ ॥

इस मन्त्र के वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र तथा विष्णु देवता है। मन्त्रार्थ— इन्द्राविष्णू = हे इन्द्र ! और हे विष्णो ! तुमने, शम्बरस्य = शम्बर नाम के असुर की दृंहिता. = दृढीकृत, नव नवतिम् = निनान्वे (९९), पुर: = पुरियो को, श्नथिष्टम् = नष्ट किया था। च = और, तुमने, वर्चिन: असुरस्य = वर्चि नाम के असुर के, शतम् च सहस्रम् = सौ और हजार, अप्रति = प्रतिद्वन्द्वी, वीरान् = वीरो को, साकम् = एक साथ ही, हथ: = नष्ट किया था। इस मन्त्र में विष्णु के साथ इन्द्र संस्तव है।

वायु के साथ इन्द्र का संस्तव—

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम् ।

इन्दवो वामुशन्ति हि ॥ ऋ स १-१-३-४ ॥

इस मन्त्र के मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र तथा वायु ये दोनों देवता हैं। मन्त्रार्थ—इन्द्रवायू = हे इन्द्र ! और हे वायो ! तुम्हारे लिये, इमे = ये सोम, सुता: = अभिषुत हैं। तुम दोनो, प्रयोभि: = हमे धन देने योग्य अन्न के साथ, उप आगतम् = आओ। हि = क्योकि, इन्दव: = ये सोम, वाम् = तुम दोनो का, उशन्ति = अभिलाष करते हैं। इस ऋचा मे वायु के साथ इन्द्र का संस्तव है।

अथापिमित्रो वरुणेन संस्तूयते ।

अथ अपि = और भी, मित्र: = मित्रनामक देवता, वरुणेन = वरुण नामक देवता के साथ, संस्तूयते = स्तुति किया जाता है। जैसे—

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूंतिमुक्षतम् ।

मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ ऋ सं. ३-४-११-१६ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द और मित्रावरुण देवता है। मन्त्रार्थ—सुक्रतू मित्रावरुणा = हे शोभन कर्मकारी मित्र और वरुण !, नः = हम लोगो के, गव्यूतिम् = गोष्ठ को, घृतै. = दूध से, आ उक्षतम् = पूर्ण करो। रजांसि = हम लोगो के आवासस्थानों को, मध्वा = मधुर रस से, आ उक्षतम् = पूर्ण करो। इस मन्त्र मे वरुण के साथ मित्र की स्तुति की गई है।

पूष्णा रुद्रेण च सोमः ।

पूष्णा च रुद्रेण = पूषा और रुद्र के साथ, सोमः = सोम की, संस्तूयते = स्तुति की जाती है। उनमे पूषा के साथ जैसे—

सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः ।

जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ॥

ऋ सं. २-८-६-१ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द है और सोम तथा पूषा अर्थात् चन्द्र तथा सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—सोमा पूषणा = हे सोम ! और हे पूषन् ! तुम, रयीणाम्–सर्व धन के, जनना = उत्पन्न करने वाले, दिवः = द्युलोक के, जनना = उत्पन्न करने वाले और, पृथिव्याः = पृथिवी लोक के, जनना = उत्पन्न करने वाले हो। जातौ = उत्पन्न होते ही, विश्वस्य भुवनस्य = समस्त चतुर्दश भुवनो के, गोपौ = रक्षक हुए हो। देवाः = देवो ने तुम्हे अमृतस्य = अमरता का, नाभिम् = हेतु, अकृण्वन् = बनाया है। इस मन्त्र मे पूषा के साथ सोम की स्तुति है।

रुद्र के साथ सोम की स्तुति जैसे—

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥

ऋ सं. ५-१-१८-३ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सोम तथा रुद्र देवता है। मन्त्रार्थ—सोमारुद्रा = हे सोम ! और हे रुद्र !, युवम् = तुम दोनो, अस्मे = हमारे, तनूषु = शरीर मे, एतानि = ये सब प्रसिद्ध, विश्वा = समस्त, भेषजानि = औषधो को, धत्तम् = धारण करो। च = और, नः = हमारे, तनूषु = शरीर मे, कृतम् = हमारा किया हुआ, यद् = जो, एनः = पाप, बद्धम् = निबद्ध, अस्ति = है,

उस को अव स्यतम् = शिथिल करो और उस से मुझे, मुञ्चतम् = मुक्त करो। इस मन्त्र में रुद्र के साथ सोम की स्तुति की गई है।

अग्निना च पूषा ।

च = और, अग्निना = अग्नि के साथ, पूषा = पूषा की स्तुति की जाती है। मध्यम स्थान और द्युस्थान के साथ संस्तव है। इस लिये पार्थिव के प्रतिषेध होने से व्याख्याकारो ने ऋचा उदाहरण नही दिया है।

वातेन च पर्जन्यः ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य दशमः खण्ड ।। ७-१० ।।

च = और, वातेन = वात के साथ, पर्जन्य = पर्जन्य की स्तुति की जाती है। जैसे—

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः ।
आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम् ॥

ऋ स ८-२-१३-१० ॥

इस मन्त्र का वसुकर्ण ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव देवता है। मन्त्रार्थ—दिव धर्तार. = द्युलोक के धारण करने वाले, ऋभव = ऋभुगण, सुहस्ता = सुन्दर हाथ वाले हैं। वातापर्जन्या = वायु और प्रर्जन्य, महिषस्य तन्यतो = महान् शब्द करने वाले हैं। आप. ओषधी = जल और वनस्पति, नः = हमारे, गिरः = स्तुति को, प्र तिरन्तु = बढावें। राति = धनदाता, वाजिन = अन्नदाता, भगः = सभजनीय अर्यमा देव, मे = मेरे, हवम् = आह्वान को सुन कर यज्ञ मे, यन्तु = आवें। इस मन्त्र में वायु के साथ मेघ की स्तुति है।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ।

अथैतान्यादित्यभक्तीनि ।

अथ = इन्द्र की भक्ति (भाग) के कथन के अनन्तर, एतानि, ये, आदित्यभक्तीनि = आदित्य की भक्ति का कथन किया जाता है। जैसे—

असौ लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशः स्तोमो वैरूपं साम। ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने। याश्च स्त्रियः॥

असौ = वह, लोक = द्युलोक, तृतीय सवनम् = तीसरा सायंसवन, वर्षा = वर्षा ऋतु, जगती = जगती छन्द, सप्तदशः स्तोम. = सप्तदश स्तोम, वैरूपम् साम = वैरूप साम, च = और, ये =

जो, देवगणाः = देवगण, उत्तमे स्थाने = उत्तम स्थान में, समाम्नाताः = समाम्नान (कथन) किये गये हैं, च = और, या: = जो, स्त्रियः = उषा सूर्या आदि, स्त्रियें। ये सब आदित्य सम्बन्धी होने से उसकी भक्ति हैं।

अथास्य कर्म-रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम्, यच्च किञ्चित्प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तत् ।

अथ = अब, अस्य = इस आदित्य के कर्म—रसादानम् = रस का आदान (ग्रहण करना) । च = और, रश्मिभिः = रश्मिओ से (किरणो से), रसधारणम् = रसधारण करना, च = और, यत् = जो, किञ्चित् = कुछ, प्रवह्लितम् = गुप्त रहस्य, तत् = वह सब, आदित्यकर्म एव = आदित्य का ही कर्म है।

चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेण-इति संस्तवः ।

चन्द्रमसा = चन्द्रमा से, वायुना = वायु से, सवत्सरेण = सवत्सर से, इति = इन सबसे, संस्तवः = संस्तव अर्थात् स्तुति है। अर्थात् मन्त्रो मे चन्द्र, वायु और सवत्सर के साथ आदित्य की स्तुति है।

उनमे प्रथम चन्द्रमा के साथ आदित्य का संस्तव जैसे—

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥

ऋ स ८-२-२३-१८

इस मन्त्र का सूर्या ऋषि, जगती छन्द और चन्द्रमा तथा आदित्य देवता है। मन्त्रार्थ—एतौशिशू = ये आदित्य और चन्द्रमा रूप दोनो शिशु, मायया = अपनी शक्ति से, पूर्वापरम् = पूर्व और पश्चिम मे, चरत = विचरण करते है। क्रीळन्तौ = ये क्रीडा करते हुए, अध्वरम् परियातः = यज्ञ मे जाते हैं। इन मे से, अन्य = एक आदित्य, ऋतून् = वसन्तादि ऋतु-विधान करते हुए, विश्वानि भुवनानि = समस्त भुवनों को, अभिचष्टे = देखते हैं, प्रकाश करते हैं और अन्यः = दूसरे चन्द्रमा, ऋतून् = वसन्तादि ऋतुओ की व्यवस्था करते हुए, विदधत् = तिथि मास पक्ष आदि का विधान करते हुए, पुन = वार वार, जायते = जन्म लेते रहते हैं। उदय अस्त होते रहते हैं। यद्यपि उदय और अस्त दोनो के होने से दोनों जन्म लेते रहते हैं तथापि आदित्य के वृद्धिह्रास न होने से इसका जन्म नही कहा गया है और चन्द्रमा के वृद्धिह्रास होने से इसका जन्म कहा गया है। इस ऋचा मे चन्द्रमा के साथ आदित्य का संस्तव है।

वायु के साथ आदित्य का सस्तव—

सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौसत्रसदौ च देवौ ॥

य. वा स. ३४-५५ ॥

इस मन्त्र का कण्व ऋषि, बृहती छन्द और ब्रह्मणस्पति देवता है। मन्त्रार्थ—सप्त ऋषयः = श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, मन और बुद्धि ये सात ऋषि, शरीरे = शरीर में, प्रतिहिताः = व्यवस्थित रूप से रहते हैं। सप्त = ये सातों, सदम् = निरन्तर, अप्रमादम् = प्रमाद रहित, रक्षन्ति = शरीर की रक्षा करते हैं। आपः = शरीर में व्यापनशील, सप्त = ये सातों, स्वपतः सोते हुए मनुष्य के, लोके = हृदयाकाश में स्थित जीवात्मा को, ईयुः = प्राप्त होते हैं। तत्र = उक्त ऋषियों की लोकगमन अवस्था में अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में, अस्वप्नजौ = निद्रा को न प्राप्त होने वाले, सत्रसदौ = शरीर क्रिया रूप यज्ञ में स्थित, देवौ = ये दोनों देव अर्थात् प्राणरूप से वायु देव और अपान रूप से आदित्य देव, जागृतः = जागते रहते हैं। इस मन्त्र में वायु के साथ आदित्य की स्तुति है।

संवत्सर के साथ-आदित्य का संस्तव—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणंसप्तचक्रे पळर आहुरर्पितम् ॥

ऋ सं. २-३-१५-१२ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, जगती छन्द और संवत्सर तथा आदित्य देवता है। मन्त्रार्थ—पञ्चपादम् = हेमन्त और शिशिर को एक समझ कर पाञ्च ऋतु रूप पैरों से युक्त, और, द्वादशाकृतिम् = बारह महीना रूप, आकृति से युक्त, पितरम् = सर्व को प्रसन्न करने वाला सम्वत्सर के साथ आदित्य जिस समय, दिवः परे अर्धे = द्युलोक के पूर्वार्द्ध में रहता है। उस समय उसको कोई कोई, पुरीषीणम् = पुरीषी या जलदाता, आहुः = कहते हैं। अथ इमे अन्ये = और कोई दूसरे वेदवाले लोग, पळरे = छः ऋतु रूपी अरों और, सप्तचक्रे = सात रश्मि रूपी चक्रों से युक्त सम्वत्सर के साथ, विचक्षणम् = विविधदर्शन आदित्य को, अर्पितम् = अर्पित, आहुः = कहते है। जब कि, वह, उपरे = अन्तरिक्ष में होता है। भाव यह है कि, कोई सम्वत्सर को आदित्याधीन और कोई आदित्य को सम्वत्सराधीन कहते हैं। इस प्रकार संवत्सर के साथ आदित्य की स्तुति इस मन्त्र में है।

एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु-ऋतुच्छन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत ।

एतेषु एव = इन्ही, स्थानव्यूहेषु = पृथिवी अन्तरिक्ष आदि स्थान के विभागों में, ऋतुच्छन्दस्तोमपृष्ठस्य = ऋतु, छन्द, स्तोम, और पृष्ठ अर्थात् साम का, भक्तिशेषम् = भक्तिशेष अर्थात् भागशेष, अनुकल्पयीत = कल्पना कर लेनी चाहिये। जैसे—

शरद्–अनुष्टुप्–एकविंशस्तोमो–वैराजं साम, इति पृथिव्यायतनानि ।

शरद् = शरद् ऋतु, अनुष्टुप् = अनुष्टुप् छन्द, एकविंशस्तोमः = इक्कीस वार का स्तोम और, वैराजम् साम = वैराजनामक साम, इति = ये, पृथिव्यायतनानि = पृथिवी स्थानिक अग्नि के भक्ति = भाग हैं। अतः इन का पृथिवी आयतन = आश्रय है।

हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं साम, इति अन्तरिक्षायतनानि ।

हेमन्तः = हेमन्त ऋतु, पङ्क्ति = पङ्क्ति छन्द, त्रिणवस्तोमः = सत्ताईश (३ + ९) बार का स्तोम, शाक्वरम् साम = शाक्वर नामक साम, इति = ये, अन्तरिक्षायतनानि = अन्तरिक्ष स्थानिक इन्द्र के भाग हैं। अतः इन का अन्तरिक्ष आयतन = आश्रय है ।

शिशिरः–अतिच्छन्दस्–त्रयस्त्रिंशस्तोमः–रैवतं साम, इति द्युभक्तीनि ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ७-११ ॥

शिशिरः = शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दः = अतिच्छन्दा छन्द, त्रयस्त्रिंशस्तोमः = तैंतीस बार का त्रयस्त्रिंश स्तोम, और रैवतम् साम = रैवत नामक साम, इति = ये, द्युभक्तीनि = द्युलोक स्थानिक आदित्य के भाग है । अतः इनका द्युलोक आयतन = आश्रय है ।

लोक तथा सवनों का विभाग तो पूर्व किया गया था । परन्तु ऋतु, छन्द, स्तोम और साम का विभाग बाकी था । इनका भी विभाग यहा दिखाया गया है । किन्तु छन्दो के बहुत अधिक होने से उनका विभाग करने पर भी पूर्ण नही हुआ। इस लिये शेष बचे हुए छन्दों का विभाग भी इसी प्रकार कर लेना चाहिये ।

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात छन्द हैं । अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, ये सात अतिच्छन्द है । और कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, सकृति, अभिकृति, उत्कृति ये सात विच्छन्द है । इन में से उष्णिक्, बृहती और विच्छन्द बाकी रह गये हैं । जिनका विभाग यास्क ने नहीं किया है । ऋग्वेद के प्रातिशाख्य में बृहती और विच्छन्दो को वायु देवता के भागी और उष्णिक को आदित्य के भागी कहा है । ऋक् प्रातिशाख्य के यह प्रकरण छन्दों के ज्ञान के लिये अत्युत्तम है ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ।

मन्त्रा मननात् ।

'सर्वमेतन्मन्त्राश्रयम्' अर्थात् यह सब मन्त्र के अधीन है यह कहा गया है। इस पर प्रश्न होता है कि, मन्त्र क्यो ? अर्थात् किस अर्थ को लेकर वेद वाक्य मन्त्र कहे जाते हैं ? । इसका उत्तर देते हैं—मननात् = मनन से, मन्त्राः = वेद वाक्य मन्त्र कहे जाते हैं। क्योंकि, मन्त्र के द्वारा अध्यात्म अधिदेव अधिभूत तथा अधियज्ञ आदि के मनन करने वाले मनन करते हैं। मन्त्रों में मन्त्र्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे पदार्थाः यैः ते मन्त्राः' इस विग्रह मे 'मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे' धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय होने पर मन्त्र शब्द बना है। वेद वाक्य का नाम है। क्योंकि, वेदवाक्यो मे रहस्ययुक्त गुप्त पदार्थो का वर्णन है। 'मन ज्ञाने' से भी ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर मन्त्र शब्द बनता है।

मन्त्र छन्दोमय होते हैं। अतः प्रश्न होता है कि, 'छन्दः कस्मात्' अर्थात् छन्दस् क्यों ? । उत्तर देते हैं—

छन्दांसि छादनात् ।

छादनात् = छादन से अर्थात् ढाकने से, छन्दांसि = वेदादि पद्य छन्द कहे जाते हैं। 'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवाः मृत्योर्विभ्यतः, तच्छन्दसाछन्दस्त्वम्' अर्थात् मृत्यु से डरते हुए देवताओं ने इन छन्दों से अपने को ढाका था, यही इन छन्दों का छन्दपना है। यह इस ब्राह्मण वाक्य से जाना जाता है। 'चन्दते आह्लादं कुरुते इति छन्दः' इस विग्रह मे 'चदि आह्लादने' धातु से 'सर्वधातुभ्य असुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, चन्द् अस्, 'चन्देश्च छः' इस उणादि सूत्र से च को छ होने पर छन्दस् शब्द बना है। वैदिक मन्त्र तथा लौकिक श्लोक दोनों का नाम है। क्योंकि, ये दोनो आह्लाद प्रदान करते हैं। अथवा 'छन्दयति संवरण करोति इति छन्दः' इस विग्रह में, 'छदि संवरणे' धातु से पूर्ववत् असुन् प्रत्यय करने पर भी छन्दस् शब्द बनता है।

स्तोमः स्तवनात् ।

स्तवनात् = स्तवन से, स्तोमः=स्तोम कहा जाता है। 'स्तौति इति स्तोमः' इस विग्रह में 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से उणादि परिकल्पित मन् (म) प्रत्यय और गुण होने पर स्तोम शब्द बना है। 'स्तोमः स्तवनात्' यह वाक्य प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। क्योंकि, किसी व्याख्याकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। ऋक् शब्द का निर्वचन नि. अ. १ ख. ७ मे 'ऋगर्चनी' इस वाक्य से किया गया है। अतः यजुस् शब्द का निर्वचन करते हैं—

यजुर्यजतेः ।

यजतेः = यज धातु से, यजु = यजुस् शब्द बना है। अर्थात् 'इज्यतेऽनेनेति यजुः' इस विग्रह मे 'यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से 'अर्तिपृवपियजितनि...' इत्यादि उणादि सूत्र से करण में उस् प्रत्यय होने पर यजुस् शब्द बना है। यजुर्वेद का नाम है। क्योंकि, यजुर्वेद से विशेष करके यजन किया जाता है।

साम संमितमृचा ।

ऋचा = जो ऋचा के साथ, संमितम् = समान परिमाण वाला हो वह, साम=साम=सामवेद कहा जाता है। अर्थात् जितनी ऋचा होती हैं उतना ही परिमाण वाला साम होता है। ऋक् के ऊपर साम रख कर गान किया जाता है। अत एव सामवेद मे प्रायः ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं। 'सम्' और 'मान' के स्थान मे निपातन से साम आदेश हुआ है।

अस्यतेर्वा ।

वा = अथवा, अस्यतेः = क्षेपणार्थ अस् धातु से साम शब्द बना है। अर्थात् 'अस्यते क्षिप्यते इति साम' इस विग्रह मे 'असु क्षेपणे' धातु से उणादि या पृषोदरादित्वात् मन् प्रत्यय और अस् को सा आदेश होने से सामन् शब्द बना है। सामवेद का नाम है। क्योंकि, साम ऋचा मे फेंका जाता है। अथवा 'अस्यतेर्वा' के स्थान मे 'स्यतेर्वा' ऐसा पाठ है। इस पक्ष मे 'स्यति भ्रियते इति

साम' इस विग्रह मे 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' इस उणादि सूत्र से मनिन् (मन्) प्रत्यय होने से सामन् शब्द बना है। सामवेद का नाम है। सामवेद उपासना परक है और वह ज्ञान कर्म उपासना इन तीनों में अन्तिम है। संहिता पाठ, पद पाठ और साम पाठ इन तीनों में अन्तिम साम है।

ऋचा समं मेन इति नैदानाः ।

प्रजापति ने, ऋचा समम् = साम को ऋचा के समान, मेने = माना है, इति = यह, नैदानाः = मन्त्रो के निदान के जानने वाले ऋषि लोग कहते है। अथवा नैदानाः = निदान नामक ग्रन्थविशेष के जानने वाले ऋषि लोगों ने, साम को, ऋचा समम् = ऋचा के समान, मेने = माना है, इति = इस कारण सामवेद साम कहा जाता है। जो समान माना गया हो वह साम कहा जाता है।

शङ्का होती है कि वेदो में प्राथम्य ऋक् का है। उस का (ऋक् शब्द का) निर्वचन प्रथम होना चाहिये था। सो तो दूर रहा, उस का निर्वचन तक यास्क ने नही किया। इस मे क्या कारण? उत्तर—निरुक्त अध्याय प्रथम खण्ड सप्तम मे 'ऋगर्चनी' शब्द से ऋच् शब्द का निर्वचन किया गया है। अतः पुनरुक्ति समझ कर यहा उस का पुनः निर्वचन नही किया गया है। 'ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋक्' इस विग्रह मे 'ऋच स्तुतौ' धातु से 'क्विप्' सर्वापहारी लोप होने पर ऋच् शब्द बना है। ऋग्वेद का नाम है। क्योकि, ऋचा द्वारा देवताओ की स्तुति की जाती है। वहा इस प्रकार निर्वचन किया गया है।

'छन्दांसि छादनात्' यह पूर्व कहा गया है और छन्द गायत्री आदि हैं। अतः गायत्री शब्द का निर्वचन सर्व प्रथम करते हैं—

गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः ।

स्तुतिकर्मणः = स्तुत्यर्थक, गायतेः = गै धातु से, गायत्री = गायत्री शब्द बना है। अर्थात् 'गीयन्ते स्तूयन्ते देवाः अनया इति गायत्री' इस विग्रह में 'गै शब्दे' धातु से औणादिक अत्रिन् (अत्रि) प्रत्यय, गै अत्रि, छान्दसत्वात् आत्वाभाव, 'एचोऽयवायावः' इस सूत्र से आय् आदेश, गायत्र, 'कृदिकारादक्तिनः' इस गणवार्त्तिक से ङीप् (ई) प्रत्यय, 'यस्येति च' इस सूत्र से इवर्ण का लोप होने पर गायत्री शब्द बना है। छन्द का नाम है। क्योंकि इस से देवता की स्तुति की जाती है अथवा 'गायतीति गायन्' इस विग्रह मे 'गै शब्दे' धातु से लट्, शतृ (अत्), आय् आदेश, गायत्। गायन्तं त्रायते इति गायत्री' इस विग्रह मे गायत् शब्द पूर्वक 'त्रैङ् पालने' धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय गायत् त्रा अ, 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आलोप, पृषोदरादित्वात् त् लोप, गायत्र, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से गौरादित्वात् ङीप् (ई) प्रत्यय, अलोप होने पर गायत्री शब्द बना है। मन्त्र का नाम है। क्योकि, यह जप करनेवाले की रक्षा करता है।

त्रिगमना वा विपरीता ।

वा = अथवा, त्रिगमना = ऋक् यजुः साम इन तीनो मे गमन करने वाली होने से, विपरीता = 'त्रि-गायत्' के विपरीत (उलटा) 'गायत् त्रि' होती हुई गायत्री कही जाती है। यह छन्द आठ

अक्षरो के तीन पाद वाला होता है। अर्थात् 'त्रिपु ऋग्यजु सामसु गमन पादशो यस्या सा-गायत्री' इस विग्रह मे त्रिशब्द पूर्वक गम् धातु से गायत्री शब्द बना है। त्रि गम्, विपरीत-गम् त्रि, पृषोदरादित्वात् गायत्री।

गायतो मुखादुदपतत्-इति च ब्राह्मणम् ।

गायत. = गान करते हुए ब्रह्मा के, मुखात् = मुख से, उदपतत् = सर्व से प्रथम यह छन्द उड कर गिरा अर्थात् परमात्मा के मुख से निकला इस कारण से इस का नाम गायत्री पडा, इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य कहता है। अर्थात् 'गायत मुखात् उदपतत् इति गायत्री' इस विग्रह मे गै धातु का शतृ प्रत्ययान्त गायत् और उत् पूर्वक 'पतलृ पतने' धातु से उणादि रक् (र) प्रत्यय होने से गायत्र और गौरादि ङीप् (ई) प्रत्यय, यस्येतिच लोप होने पर गायत्री शब्द बना है। छन्द का नाम है। क्योंकि, गायत्री छन्द सर्व प्रथम ब्रह्मा के मुख से उच्चरित हुआ है। इस रीति से तीन प्रकार से गायत्री शब्द की निष्पत्ति होती है। उष्णिक् शब्द का निर्वचन—

उष्णिग्-उत्स्नाता भवति ।

उत्स्नाता = गायत्री के अक्षरो से चार अक्षर अधिक से उद्वेष्टित (लिपटी हुई) के समान, भवति = होती है इस लिये इस को उष्णिक् = उष्णिक् छन्द कहते हैं। अर्थात् 'उत् उत्कृष्टे स्नाति अनया इति उष्णिक्' इस विग्रह मे उत् पूर्वक 'ष्णा शौचे' धातु से उणादि इजि (इज्) प्रत्यय, उत् स्ना इज् पृषोदरादित्वात् उत् के तकार को और स्ना के आकार का लोप, उस्न् इज्, उस्निज्, 'पूर्वपदात्' इस सूत्र से षत्व, 'रषाभ्याम्' इस सूत्र से णत्व होने पर उष्णिज् शब्द बना है। छन्द का नाम है। इस से उत्कृष्ट पवित्रता की प्राप्ति होती है।

स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः ।

वा = अथवा, कान्तिकर्मण = कान्ति अर्थक, स्निह्यते = स्निह् धातु से, स्यात् = उष्णिक् शब्द बन सकता है। अर्थात् 'उत् उत्कृष्टम् अधिक स्निह्यते इति उष्णिक्' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् उत् पूर्वक कान्त्यर्थक 'ष्णिह प्रीतौ' धातु से पृषोदरादित्वात् क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, तकार लोप, पूर्ववत् षत्व णत्व होने पर उष्णिक् शब्द बना है। छन्द विशेष का नाम है। क्योंकि, यह छन्द देवताओ को अधिक प्रिय है।

उष्णीषिणी-वा-इत्यौपमिकम् ।

वा = अथवा, यह उष्णीषिणी इव = पगडी वाली जैसी होती है। इस से उष्णिक् कही जाती है। इति = यह, औपमिकम् = औपमिक नाम है अर्थात् उपमा के साथ नाम है। इस में गायत्री से चार अक्षर अधिक दिखाई देते हैं। इसी से यह उष्णिक् कही जाती है।

भाव यह है कि, वेद मे पूर्वोक्त इकीस छन्द हैं। उन मे प्रथम के सात छन्द मुख्य हैं। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। इन मे प्रथमा गायत्री है। यह

त्रिपदा और चतुष्पदा दो प्रकार की मानी जाती है। जब त्रिपदा मानी जाती है तब आठ आठ अक्षर के तीन पाद इस मे हैं और जब अन्य छन्दो के समान चतुष्पदा मानी जाती है तब छ छ अक्षर के चार पाद इस मे है। इस प्रकार गायत्री चौवीस अक्षर वाली है। इस से आगे के छन्दो के पादो मे एक एक अक्षर की वृद्धि होती है। उष्णिक् सप्ताक्षरपदा, अनुष्टुप् अष्टाक्षरपदा, बृहती नवाक्षरपदा, पङ्क्ति दशाक्षरपदा, त्रिष्टुप् एकादशाक्षरपदा, और जगती द्वादशाक्षरपदा होती है। उन मे उष्णिक् के चारो पादो मे गायत्री से एक एक अक्षर अधिक होने से चार अक्षर से उष्णिक् (पगडी के) समान वेष्टित होने से यह उष्णिक् कही जाती है। गायत्री उष्णिक् आदि सभी छन्द स्त्रीलिङ्ग कविता के विशेषण होने से स्त्रीलिङ्ग हैं।

जिसकी उपमा दी गई है तद्वाचक उष्णीष शब्द का निर्वचन करते है—

उष्णीषं स्नायतेः ।

स्नायते = स्ना धातु से, उष्णीषम् = उष्णीष् शब्द बना है। अर्थात् 'उत् = अधिक स्नायते इति उष्णीषम्' इस विग्रह मे उत् पूर्वक 'ष्णा शौचे' धातु से कर्म मे ईषक् प्रत्यय, षत्व, णत्व होने पर उष्णीष शब्द बना है। पगडी का नाम है। क्योंकि, पगडी धोई हुई शुद्ध होती है। ककुभ् शब्द का निर्वचन—

ककुप् – ककुभिनी – भवति ।

'ककुभ्' यह भी एक छन्द का नाम है। यह उष्णिक् आदि छन्दो का भेद है। अतः उष्णिक् के प्रसग से इस का भी निर्वचन किया गया है। ककुभ् = ककुभ् छन्द वाली कविता, ककुभिनी इव = थूही वाली जैसी, भवति = होती है। इस लिये इस को ककुभ् कहते है। अर्थात् पूर्वोक्त सप्ताक्षरपदा उष्णिक् के मध्य भाग मे जगती का बारह अक्षरो का पाद मध्य मे गिरा हुआ सा रहता है। इस से वह मध्य मे स्थूल हो जाने से थूही वाली सी प्रतीत होती है। यह ककुभ् नाम भी थूही की उपमा से बना है। अत. औपमिक है। ककुद के कारण उष्ट्र के जैसा कूबडा या नीचे झुका हुआ।

ककुप्–कुब्जश्च कुजतेर्वा उब्जतेर्वा ।

ककुप् कुब्ज च = ककुभ् और कुब्ज ये दोनो पद, कुजतेः वा = कुज धातु से, वा = अथवा, उब्जते = उब्ज धातु से, बना है। (एक वा शब्द वाक्यालङ्कार मे है)। 'कोजति = कुटिलीभवति = वक्रीभवति इति ककुप् कुब्जश्च" इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् कौटिल्यार्थक 'कुजु स्तेयकरणे' धातु से पृषोदरादित्वात् क्विप्, द्वित्वादि हो कर कुज् कुज्, कुकुज्, ककुभ्। अथवा उब्ज् उब्ज, उब्ज, कुभ् ककुभ्। कुज् कुब्ज उब्ज। बीच मे 'कुब्जश्च' यह पाठ अप्रासगिक होने से प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इन शब्दो की सिद्धि मे बहुत क्लिष्ट कल्पना है। इस से तो रूढी मान लेना ही अच्छा था। अनुष्टुभ् शब्द का निर्वचन—

अनुष्टुबनुष्टोभनात् ।

अनुष्टोभनात् = थाम जाने से अर्थात् रुक जाने से, अनुष्टुप् = अनुष्टुप् छन्द कहा जाता है। इस मे प्रमाण—

गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पदेनानुष्टोभतीतिच ब्राह्मणम् ।

गायत्रीम् एव = गायत्री को ही, त्रिपदाम् सतीम् = तीन पाद वाली होती हुई चतुर्थेन पादेन = चौथे पाद से, अनुष्टोभति = थाम लेती है अर्थात् ठहरा लेती है इति च = यह भी, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन इस मे प्रमाण है । 'अनु = पश्चात् स्तोभति इति अनुष्टुप्' इस विग्रह मे अनुपूर्वक रोधनार्थक 'स्तुभ' धातु से कर्तरि क्विप् सर्वापहारी लोप होने पर अनुष्टुप् शब्द बना है। भाव यह है कि, गायत्री छन्द चौबीस अक्षरो का होता है । और अनुष्टुप् छन्द बत्तीस अक्षरों का होता है । दोनो के पाद आठ आठ अक्षरो के होते है । गायत्री के तीन ही पाद होने से चौबीस अक्षरो की और अनुष्टुप् के चार पाद होने से बत्तीस अक्षरो की है । इस गणना के अनुसार तीसरे पाद पर गायत्री छन्द गिर जाता है । थाम जाता है । अटक जाता है और अनुष्टुप छन्द उसमे चौथा पाद पूरा कर के मानो उसे थाम लेता है । इसी से वह अनुष्टुप (रोकने वाला) कहलाता है । यह ब्राह्मण वचन कहता है । षडक्षरा गायत्री, सप्ताक्षरा उष्णिक् और अष्टाक्षरा अनुष्टुप् यह सिद्ध हुआ । बृहती शब्द का निर्वचन—

बृहती—परिबर्हणात् ।

परिबर्हणात् = परिबर्हण अर्थात् वृद्धि होने से, बृहती = बृहती छन्द कहा जाता है । अनुष्टुप् के पाद आठ अक्षर के होते हैं । उसके आगे बृहती का क्रम आता है । अत इस प्रत्येक पाद मे अनुष्टुप् से एक अक्षर अधिक होते हैं नवाक्षरपदा बृहती । अनुष्टुप से इस के चारो पादो मे चार अक्षर बढ जाने से यह छन्द बृहती कहा जाता है । अनुष्टुप् बत्तीस अक्षर का और यह छत्तीस अक्षर का होता है । बढने से बृहती कहा जाता है । 'बर्हति इति बृहती' इस विग्रह मे 'बृह वृद्धौ' धातु से, लट्, 'वर्तमाने पृषद् बृहत्' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से शतृ (अत्), बृहत्, 'उगितश्च' इस सूत्र से ङीप् होने पर बृहती शब्द बना है । पङ्क्ति शब्द का निर्वचन—

पङ्क्तिः पञ्चपदा ।

पञ्चपदा = पांच पादवाली, पङ्क्ति = पङ्क्ति कही जाती है । क्योकि, इस के चारो पाद दश दश अक्षरो के होते हैं । सब मिला कर चालीस अक्षर होते हैं । उन मे अष्टाक्षरपाद अनुष्टुप् के पांच पाद बन जाते हैं । इसी से यह पञ्चपदा हो कर पङ्क्ति हो गई है । 'पञ्च पदानि परिमाणम् अस्य इति पङ्क्ति' इस विग्रह म पञ्चन् शब्द से तद्धित डति प्रत्यय (अति), टे' इस सूत्र से टिलोप, पञ्च् अति, 'चो कु,' इस सूत्र से कुत्व होने पर पङ्क्ति शब्द बना है । छन्दविशेष का नाम है । क्योकि, पङ्क्ति छन्द मे अनुष्टुप् के पाच पाद का परिमाण चालीस अक्षर होते हैं । इस मे आठ पचे चालीस और अनुष्टुप् मे आठ चोक बत्तीस अक्षर होते हैं । त्रिष्टुप शब्द का निर्वचन—

त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा ।

स्तोभति उत्तरपदा = जिस का उत्तर पद स्तुत्यर्थक स्तुभ (धातु) हो वह, त्रिष्टुप् = त्रिष्टुप् छन्द कहा जाता है । अर्थात् प्रथम पद त्रि और द्वितीय पद स्तुभ् धातु हो वह त्रिष्टुप छन्द कहा जाता है ।

पूर्व पदार्थ में सन्देह करते हुए प्रश्न करते है—

का तु त्रिता स्यात् ।

तु = किन्तु त्रिष्टुप् शब्द में पूर्वपद जो त्रि है उसमें, त्रिता = त्रित्व, का स्यात् = क्या होगा? । अर्थात् त्रिष्टुप् शब्द में जो पूर्वपद त्रि है उसका अर्थ क्या है? । पूर्व वाक्य से उत्तर पदार्थ का निर्णय और इस वाक्य से पूर्वपदार्थ का निर्णय विषयक प्रश्न है । उत्तर—

तीर्णतमं छन्द: ।

छन्द: = यह त्रिष्टुप् छन्द, तीर्णतमम् = स्तुततम है । अर्थात् गायत्री आदि छन्दों की अपेक्षा यह त्रिष्टुप् छन्द अधिक अक्षर वाला एवं तेज है, इस छन्द से अधिक स्तुति है । वेदों में अन्य छन्दों की अपेक्षा इसकी संख्या अधिक है ।

त्रिवृद्वज्रस्तस्यस्तोभतीति वा ।

वा = अथवा, त्रिवृत् = तीन धार वाला, वज्र. = वज्र नामक आयुध होता है, तस्य = उस को, स्तोभति = स्तोभन (स्तुति) करता है, इस कारण त्रिष्टुप् कहा जाता है । अर्थात् 'त्रिवृत् वज्रम् स्तोभति स्तौति अनया इति त्रिष्टुप्' इस विग्रह मे त्रि शब्द पूर्वक स्तुत्यर्थक स्तुभ् धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, षत्व, ष्टुत्व होने पर त्रिष्टुप् शब्द बना है । छन्द का नाम है । क्योंकि, शर, शृङ्ग और शल्य नामक तीन धार वाला वज्र भी यह स्तुति करता है ।

यत् त्रिरस्तोभत्—तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम्—इति विज्ञायते ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वादशः खण्ड: ।। ७-१२ ।।

यत् = जिसने, त्रि: = तीन बार, अस्तोभत् = स्तुति की है, तत् = यह, त्रिष्टुभ: = त्रिष्टुभ् का, त्रिष्टुप्त्वम् = त्रिष्टुभ् बना अर्थात विशेषता है । इति = यह, इस ब्राह्मण वाक्य से, विज्ञायते = जाना जाता है । ऋषियो ने त्रिष्टुप् छन्द से तीन धार वाले वज्र की तीन बार स्तुति की है इसी लिये इस छन्द का नाम त्रिष्टुप् पड़ा है । इस प्रकार त्रिष्टुभ् के पूर्व पद त्रि शब्द का अर्थ हुआ ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्ड: ।

जगती शब्द का निर्वचन—

जगती–गततमं छन्द: ।

गततमम् = सब से अधिक दूर तक गया हुआ जो छन्द: = छन्द वह, जगती = जगती छन्द कहा जाता है । यह अन्य सब छन्दो से अन्त का छन्द है । इस से पर छन्द नही है किन्तु अतिच्छन्द है ।

जलचरगतिर्वा ।

वा = अथवा, जलचरगति = जलचरगति वाला होने से यह छन्द जगती छन्द कहलाता है। 'जले चरति इति जलचरः' इस विग्रह मे 'चरगतिभक्षणयो.' धातु से 'चरेष्ट' इस सूत्र से ट (अ) प्रत्यय होने पर जलचर शब्द बना है। जलोर्मि अर्थात् जल के तरङ्ग का नाम है। 'जलचरस्य गतिरिव गतिर्यस्या. सा जगती' इस विग्रह मे जलचर और गति शब्दो का 'अनेकमन्यपदार्थे' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास, सुप् लुक्, जलचरगति, पृषोदरादित्वात् 'लचर' का लोप, जगति, 'बह्वादिभ्यश्च' इस सूत्र से ङीप् (ई), 'यस्येतिच' इस सूत्र से इकार लोप होने पर 'जगती' शब्द बना है। छन्द का नाम है। यह छन्द ४८ अक्षरो का होता है।

जल्गल्यमानोऽसृजदितिच ब्राह्मणम् ।

प्रजापति (ब्रह्मा) ने, जल्गल्यमान = सृष्टि करने की इच्छा न होने से ग्लानि मानते हुए इसे, असृजत् = सृजा है, इति च = यह भी, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है। 'जल्गल्यमानः' यह 'ग्लै हर्षक्षये' धातु का रूप है। जिसका अर्थ क्षीणहर्ष होता है। यद्यपि 'असृजत्' का अर्थ सृजा है होता है तथापि यहा 'देखा है' यह अर्थ समझना चाहिये। क्योकि, छन्द नित्य होते हैं। इसकी सृष्टि नहीं होती है। अनादि है।

विराज् शब्द का निर्वचन—

विराट्-विराजनाद्वा-विराधनाद्वा-विप्रापणाद् वा ।

विराजनात् = विशेष शोभायमान होने से, वा = अथवा, विराधनात् = वैकल्य होने से, वा = अथवा, विप्रापणात् = बढने से, विराट् = विराट् छन्द कहा जाता है। इसी अर्थ को स्वय स्पष्ट करते हैं— 10×3 ... or 10×4

विराजनात्संपूर्णाक्षरा ।

विराजनात् = विराजन अर्थात् विशेष शोभन होने से, सम्पूर्णाक्षरा = सम्पूर्ण अक्षर वाली विराट् है। 'वि-विशेषेण राजते इति विराट्' इस विग्रह मे विपूर्वक 'राजृ दीप्तौ' धातु से, 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् (०) प्रत्यय होने से, विराज् शब्द बना है। षत्व, जश्त्व, चर्त्व विराट्.

विराधनात् ऊनाक्षरा ।

विराधनात् = विराधन अर्थात् विकल होने से, ऊनाक्षरा = अल्प अक्षर वाली विराट् है। 'वि-विशेषेण राध्यति इति विराट्' इस विग्रह मे विपूर्वक वैकल्यार्थ राध धातु से पूर्ववत् क्विप्, सर्वापहारी लोप, छान्दसत्वात् वर्णविपर्यय होने से ध् को ड, चर्त्व होने पर विराट् बना है।

विप्रापणात् अधिकाक्षरा ।

विप्रापणात् = विप्रापण अर्थात् बढने से, अधिकाक्षरा = अधिक अक्षर वाली विराट् है। 'वि-विशेषेण प्र-प्रकर्षे आप्नोति इति विराट्' इस विग्रह मे वि प्र पूर्वक 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से पूर्ववत्

क्विप् (०), विप्र आप्, पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्यय होने से विराज्, षत्व, जश्त्व, चर्त्व होने से विराट् बना है। इस प्रकार राज्, राध और आप् इन तीन धातुओं से विराट् शब्द बना है।

पिपीलिकमध्या इत्यौपमिकम् ।

पिपीलिकमध्या = विराट का पिपीलिकमध्या, इति = यह नाम, औपमिकम् = उपमा से है। उपमा की दृष्टि से इसे पिपीलिकमध्या (जिस के बीच में अक्षर उसी प्रकार कम हों जिस प्रकार चींटी का बिचलाभाग) कहते हैं।

पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः ।

गतिकर्मणः = गत्यर्थक, पेलतेः = पेल धातु से, पिपीलिका = पिपीलिका शब्द बना है। अर्थात् 'पेल्यते = वेल्यते = पुनः पुनः गम्यते इति पिपीलिका' इस विग्रह में, अपि पूर्वक 'पेलृ गतौ' धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय, 'वष्टि भागुरिरल्लोपम्' इस नियम के अनुसार भागुरि के मत में अपि के अकार का लोप, पि पेल् अ, पृषोदरादित्वात् उपधा को ईत्व, पिपील् अ, पिपील, टाप्, पिपीला, स्वार्थ में कन् (क) प्रत्यय, पिपीलाक, 'केऽणः' इस सूत्र से ह्रस्व, पिपीलक टाप्, पिपीलका, प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इस सूत्र से इत्व होने पर पिपीलिका शब्द बना है। चींटी का नाम है। क्योंकि, चींटी रात्रिदिन सतत गमन करती रहती है।

देवता भेद—

इतीमा देवता अनुक्रान्ता ।

इति = इस प्रकार, इमा देवताः = अग्नि, जातवेदा, वैश्वानर आदि देवता, अनुक्रान्ताः = संक्षेप से निर्णीत हुए।

सूक्तभाजो हविर्भाजः ।

ये यथोक्त देवता, सूक्तभाजः = सूक्तभाक् (सूक्तसम्बन्धी) और, हविर्भाजः = हविर्भाक् (हवि के साथ सम्बन्ध रखने वाले) हैं।

ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः ।

च = और, भूयिष्ठाः = अधिक तर, ऋग्भाजः = ऋचा को भजने वाले ऋग्भाक् हैं।

काश्चिन्निपातभाजः ।

काश्चित् = और कोई, निपातभाजः = निपातभाक् हैं जो निपातों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

देवता - परिगणन—

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति ।

अथ उत = और कहीं कहीं, अभिधानैः = उन देवताओं के नाम से, संयुज्य = संयुक्त करके, हविश्चोदयति = हवि प्रदान करते हैं। जैसे—

इन्द्राय वृत्रघ्ने। इन्द्राय वृत्रतुरे। इन्द्रायांहोमुचे, इति।

वृत्रघ्ने = वृत्र को मारने वाले, इन्द्राय = इन्द्र के लिये। वृत्रतुरे = वृत्र को भगाने वाले, इन्द्राय = इन्द्र के लिये। अंहोमुचे = पाप को छुड़ाने वाले, इन्द्राय = इन्द्र के लिये। (एकादशकपालं निर्वपेद्) ग्यारह कपालों में पकाये हुए पुरोडाश को देवे। इति = इस प्रकार। यहां इन्द्र के नाम से संयुक्त करके हवि देते हैं।

तान्यप्येके समामनन्ति।

एके = कोई कोई आचार्य, तानि अपि = उन को भी, समामनन्ति = समाम्नान करते हैं अर्थात् देवताओं के इन्द्र आदि प्रधान नामों के समान उनके विशेषण वृत्रघ्न, वृत्रतुर और अंहोमुच् आदि शब्दों को भी निघण्टु में सग्रह करके पढते हैं।

भूयांसि तु समाम्नानात्।

तु = किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि, समाम्नानात् = उन सब को मिला कर पढ़ने से, भूयांसि = बहुत नाम हो जावेंगे।

यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति, तत्समामने।

यद् तु = जो (नाम) तो, संविज्ञानभूतम् स्यात् = रूढ हो गया है और, प्राधान्यस्तुति = जिस के द्वारा मुख्य रूप से स्तुति की जाती है, तद् = मैं उसी का ही, समामने = निघण्टु में पाठ समझता हूं। अर्थात् मैं देवताओं के रूढ नामों का ही निघण्टु में पाठ समझता हूं। उनके विशेषण वाचक नामों का नहीं। यहां एक ही देवता के अनेक नाम होने से देवता अनेक नहीं किन्तु एक ही है यह कहा गया।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति 'वृत्रहा पुरन्दर' इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्।

अथ उत = और कहीं कहीं, ऋषिः = ऋषि, कर्मभिः = कर्मों से, देवताः = देवताओं की, स्तौति = स्तुति करते हैं। जैसे-वृत्रहा = वृत्र को मारने वाला, पुरन्दरः = पुर नामक दैत्य को मारने वाला, इति = इत्यादि, एके = कोई कोई आचार्य, तानि अपि = उनको भी, समामनन्ति = पढते हैं। तु = किन्तु सो समीचीन नहीं। क्योंकि, समाम्नानात् = उन सब को पढ़ने से, भूयांसि = बहुत नाम हो जायेंगे। यहां एक ही देवता अनेक कर्म करने से देवता अनेक नहीं किन्तु एक है यह कहा गया। भाव यह है कि, इस कथन से यास्क यह कहना चाहते हैं कि, नाम से या क्रिया से जिनको लोग देवता रूप मानते हैं उनको इस दैवत काण्ड में देवता नहीं मानेंगे। किन्तु जो देवता रूप से निर्णीत हैं उन्ही अग्नि, इन्द्र तथा आदित्य आदि को हम देवता मानेंगे। इस में सदृष्टान्त हेतु देते हैं—

व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति। यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानुलेपनम्, पिपासिते पानीयमिति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ ७-१३ ॥

तत् तु = वह तो, तस्य अभिधानस्य = उस प्रधान नाम का, व्यञ्जनमात्रम् = विशेषण मात्र भवति = होता है। यथा = जैसे, बुभुक्षिताय ब्राह्मणाय = भूखे ब्राह्मण के लिये, ओदनम् देहि = भात दो। स्नाताय = स्नान किये हुए के लिये, अनुलेपनम् देहि = चन्दन आदि अनुलेपन दो और पिपासिते = प्यासे के लिये, पानीयम् देहि = जल दो, इति = इत्यादि। यहां 'ब्राह्मण' इस प्रधान नाम के साथ बुभुक्षित आदि नाम विशेषण मात्र हैं। ब्राह्मण एक है। अनेक नही। वैसे ही 'इन्द्र' इस प्रधान नाम के 'वृत्रहा' 'पुरन्दर' आदि नाम विशेषणमात्र है। इन्द्र एक ही है। अनेक नही।

अथ निघण्टौपञ्चमोऽध्यायः ।

अग्निः । जातवेदाः । वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥ १ ॥

अग्निः – १ ॥

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

अथ = अब, अतः = यहा से, अनुक्रमिष्यामः = निघण्टु के दैवतकाण्ड की क्रमशः व्याख्या करेंगे।

अग्निः पृथिवीस्थानः । तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।

अग्निः = अग्नि देवता, पृथिवीस्थानः = पृथिवीस्थान है, अर्थात् अग्नि का स्थान पृथिवी है। तम् = उस को, प्रथमम् = पहले, व्याख्यास्यामः = व्याख्यान करेंगे। भाव यह है कि, निरुक्त मत में तीन ही देवता है। अग्नि वायु और आदित्य। एवं तीन ही लोक हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु। अग्नि का स्थान पृथिवी। वायु का स्थान अन्तरिक्ष और आदित्य का स्थान द्युलोक है। कर्म, विना अन्य लोकों मे जाना असम्भव है और पृथिवी कर्मभूमि है। अन्य की अपेक्षा पास मे एवं गणना में प्रथम है। विना किसी कारणविशेष के प्रथम का उलङ्घन करना न्याय नही। अतः पृथिवीस्थान अग्नि का प्रथम व्याख्यान करेंगे यह यास्क कहते हैं।

अनेक प्रकार से अग्निका निर्वचन करते हुए प्रश्न करते हैं—

अग्निः कस्मात् ?।

अग्नि कस्मात् = अग्नि क्यो ? अर्थात् अग्नि को अग्नि क्यो कहते हैं। अथवा किस धातु से कौन प्रत्यय करने पर अग्नि शब्द बना है ?।

विग्रह करके उत्तर देते हैं—

अग्रणीर्भवति–अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते ।

अग्रणीः = यह अग्निदेव अग्रणी, भवति = होता है । सर्व कर्मों में अपने को आगे ले जात है । सर्वत्र सर्व का ऐसा उपकार करता है जिस से अग्रणी बन जावे । अग्निदेव, यज्ञेषु = यज्ञों में, अग्रम् = आगे, प्रणीयते = ले जाया जाता है । इस लिये अग्रणी से अग्नि बन गया है । अर्थात् 'अग्रं नयति इति अग्निः' इस विग्रह मे अग्रं उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से कर्तरि क्विप्, सर्वापहारी लोप, अग्र नी, अग्र शब्द में के रेफ अकारका पृषोदरादित्वात् लोप नी को ह्रस्व' होने पर अग्नि शब्द बना है ।

अङ्गं नयति सन्नममानः ।

सन्नममानः = यह नमन करता हुआ अर्थात् झुकता हुआ ही, अङ्गम् = अङ्ग को, नयति = ले जाता है । सब को अपना अङ्ग बना (अपना सहायक बना) लेता है । अपने दाहक होते हुए जिस किसी पदार्थ पर पडता है उस को भी तपा कर दाहक प्रकाशक बना लेता है । यही इसका अङ्ग (पिछलगू) बनाना है । 'अर्थात् अङ्ग नयती इति अग्निः' इस विग्रह में अङ्ग पूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातु से पूर्ववत् क्विप्, अङ्ग नी, इकार अकार लोप और नी को ह्रस्व होने पर अग्नि शब्द बना है।

अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः ।

अक्नोपनः = यह अक्नोपन अर्थात् रूक्ष एवं शुष्क करने वाला भवति = होता है, इसी से अग्नि कहा जाता है, इति = यह, स्थौलाष्ठीविः = स्थूलाष्ठीवि नामक आचार्य कहते हैं ।

अक्नोपन का अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

न क्नोपयति न स्नेहयति ।

न क्नोपयति = नही भिगाते अर्थात्, न स्नेहयति = स्निग्ध नहीं करते हैं । 'न क्नोपयति' का पर्याय 'न स्नेहयति' है । न क्नोपयति न स्नेहयति इति अग्निः' इस विग्रह में नञ् पूर्वक स्नेहार्थक 'क्नूयी शब्दे उन्दे च' धातु से 'हेतुमतिच' इस सूत्र से णिच् (इ) प्रत्यय, अक्नूय् इ, 'अर्तिह्रीव्ली रीक्नूयी' इत्यादि सूत्र से पुक् (प्) आगम, अक्नूय् प् इ, ऊकार, यकार और पकार का लोप ककार को गकार होने पर अग्नि शब्द बना है । स्नेहरहित रूक्ष करने वाला अर्थ है । अग्नि जिस में लगता है उस को जलाकर रूक्ष कर देता है ।

त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः ।

'त्रिभ्यः आख्यातेभ्यः = तीन आख्यातों (तिङन्त क्रियापदों)से, अग्नि शब्द, जायते = उत्पन्न होता है, इति = यह, शाकपूणि. = शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं । अर्थात् तीन तिङन्त पदके अर्थ जो तीन क्रिया वे अग्नि शब्द मे प्रतीत होती हैं ।

इतात्-अक्ताद् दग्धाद्वा-नीतात् ।

इतात् = गत्यर्थक इण् धातु से, अक्तात् = प्रकाशनार्थक अञ्जु धातु से, वा = अथवा, दग्धात् = भस्मीकरणार्थक दह धातु से, और, नीतात् = प्रापणार्थक णी धातु से अग्नि शब्द बना है। क्योंकि, इन तीनों के अर्थ अग्नि शब्द मे प्रतीत होते है।

स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।। ७-१४ ।।

सः खलु = वह शाकपूणि, एतेः = इण् के इ से, अकारम् = अकार को, आदत्ते = लेता है, अनक्तेः वा दहतेः वा = अञ्ज् से अथवा दह से, गकारम् = गकार को, आदत्ते = लेता है और, नीः परः = नी धातु पर है। इसका ह्रस्व नि है। अर्थात् शाकपूणि आचार्य तीन धातु लेते हैं-इ, अञ्ज या दह, नी। इ से अ, अञ्ज् या दह से ग्, नी से नि, अ ग् नि। सम्मिल-अग्नि शब्द बना है। इस से यह निष्पन्न हुआ कि, जो एति = गार्हपत्य अग्नि कुण्ड में से आहवनीय कुण्ड में जाता है, अनक्ति = जो रूपादि को प्रकाश करता है या तृण काष्ठादि को भस्म करता है और जो नयति = देवताओं के लिये हवि प्राप्त करता है ले जा कर देता है वह अग्नि कहा जाता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।। ७-१४ ।।

तस्य = उक्त अर्थक अग्नि शब्द का एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ।।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ सं. १-१-१-१ ।।

इस मन्त्र का विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—यज्ञस्य पुरोहितम् = यज्ञ के पुरोहित, देवम् = दीप्तिमान्, होतारम् = देवों को बुलाने वाले ऋत्विजम् = ऋत्विक्, रत्नधातमम् = रत्नधारी, अग्निम् = अग्नि की मैं, ईळे = स्तुति करता हूं।

यास्क स्वयं इसका भाष्य करते हैं—

अग्निमीळेऽग्निं याचामि, ईळिरध्येषणाकर्मा, पूजाकर्मा वा पुरोहितो व्याख्यातः। यज्ञश्च। देवो दानाद्वा-दीपनाद्वा-द्योतनाद्वा-द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्, जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः, रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्।

अग्निम् ईळे = अग्निम् याचामि = अग्नि से मांगता हूं। ईळिः = ईळ् धातु, अध्येषणाकर्मा = अध्येषणा = आराधना अर्थक धातु है। वा = अथवा, पूजा कर्मा = पूजार्थक धातु है। पुरोहित = पुरोहित शब्द की, व्याख्यातः = व्याख्या हो चुकी है। 'पुरोहितः पुर एनं दधति' इस वाक्य से (नि. २-१२)। च = और, यज्ञः = यज्ञ शब्द की भी, व्याख्यातः = व्याख्या हो चुकी है। 'यज्ञः कस्मात्? । प्रख्यातं यजतिकर्म' इस वाक्य से (नि. ३-१७)। दानाद् वा देवः = डुदाञ् धातु से देव शब्द बना है। अर्थात् 'ददाति ऐश्वर्यमिति देवः' इस विग्रह में डुदाञ् दाने धातु से उणादि व प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् एकार होने पर देव शब्द बना है। वा = अथवा, दीपनात् = जलाने से, देवः = देव कहा जाता है। दीप्यते इति देवः' इस विग्रह में 'दीपी दीप्तौ' धातु से पचाद्यच्, पृषोदरादित्वात् दो को एकार और प को व, होने पर देव शब्द बना है। वा = अथवा, द्योतनात् = द्योतन (प्रकाश) करने से, देवः = देव शब्द बना है। द्योतते इति देवः' इस विग्रह में 'द्युत दीप्तौ' धातु से पृषोदरादित्वात् एकार वकार हो कर देव शब्द बना है। वा = अथवा, द्युस्थाने = द्युस्थान अर्थात् द्युलोक में, भवति = रहता है, इति = इस लिये, देवः = देव कहा जाता है। यः = जो, देवः = देव होता है, सा = वही, देवता = देवता कहलाता है। ह्वातारम् = आह्वान करने वाले को, होतारम् = होता कहते हैं। जुहोतेः = हु धातु से, होता = होतृ शब्द बना है, इति = यह, और्णवाभः = और्णवाभ नामक आचार्य कहते हैं। अर्थात् 'जुहोति इति होता' इस विग्रह में 'हु दानादनयोः' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से कर्ता में तृच् (तृ) प्रत्यय, हुतृ, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से गुण होने पर होतृ शब्द बना है। 'होता' यह अनङ् होने पर प्रथमा एक वचन का रूप है। रमणीयानाम् धनानाम् = रमणीय धनो के, दातृतमम् = अतिशय दाता को, रत्नधातमम् = रत्नधातम कहते हैं। रत्नं दधातीति रत्नधा, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधतमः तम्। इस विग्रह मे रत्नपूर्वक धा धातु से क्विप् (०) और तमप् होने पर रत्नधातम शब्द बना है।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ ७-१५ ॥

तस्य = उस अग्नि शब्द का, एषा अपरा = यह दूसरी ऋचा उदाहरण, भवति = है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षोडशः खण्डः ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।

स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋ सं. १-१-१-२ ॥

इस मन्त्र का मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—अग्निः = अग्नि, पूर्वेभिः = प्राचीन, उत = और, नूतनैः = नवीन, ऋषिभिः = ऋषियों के द्वारा, ईड्यः = स्तत्य है। सः = वह अग्नि, देवान् = देवो को, इह = यहा, आवक्षति = लेआवें।

इस का यास्क भाष्य—

अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति ।

यः अग्निः = जो अग्नि, पूर्वैः ऋषिभिः = प्राचीन ऋषियों के द्वारा, च = और, अस्माभिः नवतरैः = हम नूतनों के द्वारा, ईडितव्यः = वन्दितव्यः = स्तुत्य है, स = वह, देवान् = देवों को, इह = यहां यज्ञ में, आवहतु = ले आवें, इति = इत्यर्थः ।

इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों ऋचाओं से अग्नि शब्द से पार्थिव ज्योति कह कर अब मध्यम तथा उत्तम ज्योति भी अग्नि शब्द से लिया जाता है यह कहते हैं—

स न मन्येतायमेवाग्निरिति । अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ततो नु मध्यमः ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षोडश. खण्ड. ॥ ७-१६ ॥

सः = वह (कोई शिष्य), न मन्येत = यह न मान ले कि, अयम् एव अग्निः इति = केवल यही पार्थिव अग्नि अग्नि कहलाता है । बल्कि, एते उत्तरे ज्योतिषी अपि = ये ऊपर के बिजली और सूर्य रूप दोनों ज्योति भी, अग्नी उच्येते = अग्नि कहलाते है । तत नु = तो यह अग्रिम ऋचा, मध्यमः = मध्यम अग्नि बिजली की है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥

ऋ॰ सं ३-८-११-८ ॥

इस मन्त्र का नामदेव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और घृत तथा अग्नि आदि देवता हैं । मन्त्रार्थ— कल्याण्यः = कल्याणी, स्मयमानासः = हास्यवदना, योषाः = स्त्री, समनाइव = जैसे एक चित्त हो कर, अभिप्रवन्त = पति के प्रति गमन करती है वैसे ही, घृतस्य धारा. = घृत धारा, घृत समान जल धारा, अग्निम् = अग्नि के प्रति गमन करती है । समिधः = वह सम्यक् रूप से दीप्तिप्रद हो कर, नसन्त = सर्वत्र व्याप्त होती है । जातवेदाः = जातवेदा मध्यमस्थान वैद्युत अग्नि, जुषाणः प्रियमाण होता हुआ, ताः = उसी धारा को, हर्यति = कामना करते हैं । इस मन्त्र मे जातवेदा शब्द मध्यमस्थान वैद्युत अग्नि वाचक है । इस से सिद्ध है कि, अग्नि केवल पृथिवी स्थान ही नही किन्तु मध्यमस्थान भी है ।

उक्त मन्त्र का यास्क भाष्य—

अभिनमन्त समनस इव योषाः । समननाद्वा संमाननाद्वा । कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकम् । घृतस्य धारा उदकस्य धारा । समिधोनसन्त । नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा । ता जुषाणोहर्यति जातवेदाः । हर्यतिः प्रेप्साकर्मा, विहर्यतीति ।

अभिप्रवन्त = अभिनमन्त = पति के प्रति आसक्त होती हुई, समना इवे = समनस इव = एक चित्त जैसा, योषा = स्त्री। समननात् वा = समनन से समना शब्द बना है। अर्थात् 'सम्यक् अनिति इति समना' इस विग्रह मे सम् पूर्वक 'अन प्राणने' धातु से पचाद्यच् और टाप् होने से समना शब्द बना है। वा = अथवा, समाननात् = सम्यक् मानन से समना शब्द बना है। अर्थात् "सम्यक् मनुते इति समना' इस विग्रह मे सम् पूर्वक 'मनु अवबोधने' धातु से पूर्ववत् अच् प्रत्यय और टाप् होने पर समना शब्द बना है। कल्याण्य = कल्याणी, समयमानास = हास्यवदना स्त्रीके समान घृत धारा, अग्निम् = अग्नि को प्राप्त होती है। इति औपमिकम् = यह उपमाजन्य अर्थ है। घृतस्य धारा = उदकस्य धारा = जल की धारा अग्नि के प्रति गमन करती है। समिधो नसन्त = प्राप्त या नमन करती हुई। नसंति = नस धातु, आप्नोतिकर्मा = व्याप्ति अर्थक है, वा = अथवा, नमतिकर्मा = नमन अर्थक है। अर्थात् 'नसन्ति इति नसन्त' इस विग्रह में व्याप्त्यक या नमनार्थक नैरुक्त नस धातु से लट्, शतृ (अत्) प्रत्यय होने से 'नसन्त' रूप बना है। व्याप्त होती हुई या नमन करती हुई अर्थ है। जातवेदा = मध्यम स्थान विद्युत रूप अग्नि, जुषाण = प्रियमाण होता हुआ, तट = उसी धारा की, हर्यति = कामना करते हैं विहार करते हैं। हर्यति = हर् धातु, प्रेप्साकर्मा = इच्छा अर्थक नैरुक्त धातु है। विहृयति इति = विहार अर्थात् कामना करते हैं यह अर्थ है।

'उत्तम ज्योति सूर्य भी अग्नि कहलाता है' इस मे मन्त्र उदाहरण देते हैं—

"समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्"

समुद्रात् = समुद्र से, मधुमान = मधुमय, ऊर्मि = तरग, उदारत् = प्रगट हुई। सम्पूर्ण मन्त्र—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥

ऋ सं ३-८-१०-१ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—समुद्रात् = समुद्र से, ऊर्मि = आत्मप्रकाश से सर्व का आच्छादक, मधुमान् = उदकवान् आदित्य उदारत् = उदय होता है। अशुना = हिमांशु चन्द्रमा से, अमृतत्वम् = अमृतभाव, उप सम् आनट् = प्राप्त होता है। घृतस्य = घृत का, यत् = जो, गुह्यम् = गोपनीय, नाम = नाम है, तत् = वह, देवानाम् = देवों की, जिह्वा = जिह्वा (जीभ) है और वही, अमृतस्य = अमृत की, नाभि = बन्धक नाभि है। इस मन्त्र में मधुमान् का अर्थ है सूर्य। अत सूर्यात्मक उत्तम ज्योतिरूप अग्नि द्युस्थाने है।

इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते, 'समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति' इति ब्राह्मणम्।

इति इस मन्त्र मे, आदित्यम् उक्तम् = आदित्य को उक्त मन्य ते = मानते हैं। हि = क्योंकि, एष = यह आदित्य ज्योति रूप अग्नि, समुद्रात् अद्भ्य = समुद्र के जल से, उदेति = उदय

होता है, इति = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य है । समुद्र से पार्थिव अग्नि के उदय होने का सम्भव नहीं । अतः यहां अग्नि आदित्य ही है ।

अथापि ब्राह्मणं भवति, "अग्निः सर्वा देवता" इति

अथ अपि = और भी, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण, भवति = है—अग्निः सर्वा देवता = अर्थात् अग्नि सब देवता है, इति = यह । सभी देवता जब अग्नि है तब आदित्य है । अतः सूर्य ज्योति रूप अग्नि द्युलोक मे भी है यह सिद्ध हुआ ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।। ७-१७ ।।

तस्य = उक्त ब्राह्मण वाक्य के, उत्तराः = आगे की, भूयसे = बहुत सी ऋचायें, निर्वचनाय = निर्वचन के लिये है । उनका अर्थ अग्रिम ऋचा में स्पष्ट रूप से वर्णन किया हुआ है ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ सं. २-३-२२-४६ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सूर्य देवता है । मन्त्रार्थ—मेधावी लोग इस आदित्य को, इन्द्रम् = इन्द्र, मित्रम् = मित्र, वरुणम् = वरुण और, अग्निम् = अग्नि, आहुः = कहा करते हैं । अथो = और यह गरुड, दिव्यः = स्वर्गीय, सुपर्णः = सुन्दर पक्ष वाले और, गरुत्मान् = सुन्दर गमन वाला पक्षी है । सः = वह गरुड भी आदित्य ही है । वह आदित्य, एकम् सत् = एक है तो भी, विप्राः = देवतातत्त्वज्ञ ऋषि लोग उसे, बहुधा = अनेक, वदन्ति = कहते हैं । उसी वृष्ट्यादि के कारण आदित्य ज्योति रूप अग्नि को, यमम् = नियन्ता, मातरिश्वानम् = मातरिश्वा वायु, आहुः = कहते हैं ।

यास्क स्वयं इस मन्त्र का भाष्य करते हैं—

इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजो, गरुत्मान् गरणवान्, गुर्वात्मा महात्मेति वा ।

इमम् एव = इसी, महान्तम् आत्मानम् अग्निम् = महान् आत्मा अग्नि को, एकम् आत्मानम् = एक आत्मा वाले, अग्नि को, मेधाविनः = मेधावी विद्वान् लोग, बहुधा = अनेक प्रकारसे, वदन्ति = कहते हैं—इन्द्रम् = इन्द्र, मित्रम् = मित्र, वरुणम् = वरुण, अग्निम् = अग्नि, च = और,

दिव्यम् गरुत्मन्तम् = दिव्य गरुत्मान् । दिव्यः = दिविजः = स्वर्ग में उत्पन्न । गरुत्मान् = गरणवान् = = स्तुति से युक्त । गुरु आत्मा = गुरु आत्मा वाला, वा = या, महात्मा = महात्मा, इति = इत्यादि ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः ।

यः तु = जो तो, सूक्तम् भजते = सूक्त को भजता है अर्थात् सूक्तों में जिसकी प्राधान्यतया स्तुति होती है और, यस्मै = जिसके लिये, हविः = हवि का, निरूप्यते = निर्वाप होता है, सः = वह, अग्निः = अग्नि, अयम् एव = यही पार्थिव अग्नि है ।

निपातमेवैते उत्तरेज्योतिषी अनेन नामधेयेन भजेते ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ ७-१८ ॥

एते = ये, उत्तरे = ऊपर के, ज्योतिषी = मध्यम उत्तम दो ज्योति, अनेन नामधेयेन = इस अग्नि नाम से, निपातम् एव = निपात को ही, भजेते = भजते हैं अर्थात् उन मे यह अग्नि नाम गौण रूप से ही आता है । पार्थिव ज्योति मे अग्नि नाम मुख्य रूप से और विद्युत् तथा सूर्य ज्योति में अग्नि नाम गौण रूप से आता है ।

अथ निरुक्ते सप्तमाऽध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।

जातवेदाः कस्मात् ? जातानि वेद ।

प्रश्न–कस्मात् = किस कारण से अग्नि, जातवेदाः = जात वेदा कहा जाता है ? । उत्तर– जातानि वेद = उत्पन्नमात्र सर्व प्राणी को जानता है इस कारण अग्नि जातवेदा कहा जाता है । अर्थात् 'जातानि वेद जानाति इति जातवेदाः' इस विग्रह मे जात उपपद 'विद ज्ञाने' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से कर्ता मे असुन् (अस्) प्रत्यय और लघूपध गुण होने पर जातवेदस् शब्द बना है । अग्नि का नाम है । क्योंकि, अग्नि लोकपाल होने से सर्व को जानता है ।

जातानि वैनं विदुः ।

वा = अथवा, जातानि = जात अर्थात् उत्पन्न जो प्राणी वे सब, एनम् = इसे, विदुः = जानते हैं । 'जातैः प्राणिभिः असौ विद्यते ज्ञायते इति जातवेदाः' इस विग्रह मे पूर्ववत् जात पूर्वक 'विद ज्ञाने' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से कर्म में असुन् (अस्) प्रत्यय और लघूपधगुण होने पर 'जातवेदस्' शब्द बना है । अग्नि ऐसा प्रसिद्ध है कि इस को जातमात्र सभी प्राणी जानते हैं ।

जाते जाते विद्यत इति वा ।

वा = अथवा, जाते जाते = जात जात में = उत्पन्न मात्र सभी प्राणी में, विद्यते = विद्यमान है, इति = इस लिये अग्नि जातवेदा कहा जाता है । 'जाते जाते सर्वस्मिन् भूत जाते विद्यते इति

जातवेदा:' इस विग्रह में जात उपपद 'विद सत्तायाम्' धातु से पूर्ववत् असुन् प्रत्यय और गुण होने पर जातवेदस् शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, ऐसा कोई उत्पन्न पदार्थ नहीं है जहां अग्नि न हो।

जातवित्तो वा जातधनः ।

वा = अथवा, जातवित्त: = जातधन: = प्राप्त हुआ है हवि रूप धन जिस को वह जातवेदा कहा जाता है। इस पक्ष में जातं वित्तं धनं यस्य स जातवेदा:' इस विग्रह में जात शब्द और वित्त शब्द का बहुव्रीहि समास होने पर जातवित्त, और वित्त शब्द के स्थान में पृषोदरादित्वात् वेदस् आदेश होने पर जातवेदस् शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि को हवि रूप धन प्राप्त है।

जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः ।

वा = अथवा, जातविद्य: = जातप्रज्ञान: = उत्पन्न होते ही (अध्ययन के बिना ही) प्राप्त हुई है विद्या जिस को वह जातवेदा कहा जाता है। अग्नि को अध्ययन के बाद विद्या नहीं प्राप्त हुई है। किन्तु सादा से वह जातप्रज्ञान है। इस पक्ष मे भी जात पूर्वक 'विद ज्ञाने' धातु से असुन् प्रत्यय होने पर जातवेदस् शब्द बना है।

"यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्" इति ब्राह्मणम् ।

यत् तत् = जो वह, जात: = उत्पन्न होता हुआ ही, पशून् = पशुओं को, अविन्दत = प्राप्त हुआ, इति = यह, तत् = उस, जातवेदस् का, जातवेदस्त्वम् = जातवेदस् पना है। इति = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है। 'जात: सन् पशून् अविन्दत इति जातवेदा:' इस विग्रह में जात उपपद 'विद्लृ लाभे' धातु से असुन् प्रत्यय और गुण होने पर जातवेदस् शब्द बना है।

"तस्मात् सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति" इति च ।

तस्मात् = इस से, सर्वान् ऋतून् = सब ऋतुओं में, पशव: = पशुओं, अग्निम् = अग्नि के समीप, अभिसर्पन्ति = जाते हैं, इति च = यह भी ब्राह्मण वचन है।

तस्यैषा भवति ।

तस्य = उस जातवेदस् की स्तुति उदाहरण, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकोनविंश: खण्ड: ॥ ७-१९ ॥

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

ऋ. सं. १-७-७-१ ॥

इस ऋचा का अङ्गिरा के पुत्र कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ— जातवेदसे = हम अग्नि के लिये, सोमम् = सोम का, सुनवाम = अभिषव करते है । स = वह अग्नि, अरातीयत = जो हमारे प्रति शत्रु के समान आचरण करते हैं उन शत्रुओ का, वेद = धन, निदहाति = दहन करें । स. = वह अग्नि, नावा इव सिन्धुम् = नाव से नदी के समान अर्थात् जैसे नौका से नदी पार की जाती है वैसे ही वह अग्नि, न॰ = हमे, विश्वा दुर्गाणि = सारे दुःखो से, अति पर्षत् = पार करा दें । अग्नि. = वह अग्नि हमे, दुरिता = पापो से, अति पारयतु = पार करा दें । इस ऋचा से जातवेदा = अग्नि की स्तुति की गई है । इसका भाष्य—

[जातवेदस इति–जातवेदस्यां चैवं जातवेदसेऽर्चाय सुनवाम सोममिति प्रसवायाभिषवाम सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमनिस्मोनिदहाति निश्चयेन दहति भस्मीकरोति । सोमो ददादित्यर्थः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानि दुर्गमाणि स्थानि नावेव सिन्धुं सिन्धुं नावा नदीं जल दुर्गां महाकूलां तारयति दुरितान्यग्निरिति दुरितानि तारयति ।]

अध्याय के अन्त मे खण्ड सूत्र है । उस मे उल्लेख न होने से प्रकोष्ठगत 'जातवेदसे' इत्यादि मन्त्र और उसका भाष्य प्रक्षिप्त समझना चाहिये । भाष्य सुगम है । इस लिये इसकी व्याख्या नही की गई है ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य विंश. खण्ड. ।

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम् ।
इदं नो बर्हिरासदे ॥ ऋ स ८-८-४७ १ ॥

इस मन्त्र का अग्नि-पुत्र श्येन ऋषि, गायत्री छन्द और ज्ञानी अग्नि ही देवता है । मन्त्रार्थ— हे ऋत्विक् गण ! आप सब, अश्वम् = चतुर्दिग्व्यापी, वाजिनम् = अन्नवान्, जातवेदसम् = जातवेदा अग्नि को, नूनम् = अवश्य, प्रहिनोत = प्रज्वलित करो जिस से वह, न = हमारे, इदम् बर्हिः = इस कुशासन पर, आसदे = आकर बैठें । इस मन्त्र मे जातवेदा अग्नि की स्तुति है ।

इसका भाष्य—

प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानमपिनोपमार्थे स्यात् अश्वमिव जातवेदसमितीदं नो बर्हिरासीदत्विति ।

जातवेदसम् = जातवेदा अग्नि को, कर्मभि. = अपने कर्मों से, प्रहिणुत = प्रेरित अर्थात् प्रज्वलित करो । समश्नुवान् = जो सर्व व्यापक है । अपिवा = अथवा, उपमार्थे = उपमा के अर्थ मे, स्यात् = है—अश्वम् इव = अश्व के समान, जातवेदसम् = जातवेदा अग्नि को, नो = हमारे इति इदम् बर्हिः = इस कुशासन पर, आसीदतु = बैठे, इति = इत्यर्थ. ।

तदेतदेकमेव जातवेदस्यं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते ।

तत् एतत् = वह यह, दशतयीषु = ऋग्वेद के दश मण्डलों में, जातवेदस्यम् = जातवेदा अग्नि सम्बन्धी, तृचम् = तीन पाद वाली और, गायत्रम् = गायत्री छन्द वाली, एकम् एव = एक ही ऋचा, विद्यते = है ।

यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते ।

यत् तु = जो तो, किञ्चित् = कुछ, = आग्नेयम् = अग्नि सम्बन्धी ऋचा हैं, तत् = वह, जातवेदसानाम् = जातवेदा अग्नि के, स्थाने = स्थान मे, युज्यते = शास्त्र द्वारा विनुयुक्त होता है। क्योंकि, जातवेदा अग्नि का ही नाम है ।

स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते । ततो नु मध्यमः ।

सः = वह (कोई शिष्य), इति न मन्येत = यह न मान ले कि, अयम् एव अग्निः इति = केवल यही जातवेदा अग्नि कहलाता है। किन्तु, एतेउत्तरे ज्योतिषी अपि = ये ऊपर के बिजली और आदित्य रूप दोनों ज्योति भी, जातवेदसी = जातवेदा अग्नि, उच्येते = कहलाते हैं। ततः नु = इसी प्रकार, मध्यमः = अन्तरिक्षस्थान बिजली रूप जातवेदा अग्नि भी अग्नि शब्द से कहा जाता है—

" अभि प्रवन्त समनेव योषाः " तत्पुरस्ताद् व्याख्यातम् ।

समना योषाः इव = समान मन वाली स्त्रियों के समान, अभिप्रवन्त = गमन करती है। तत् = यह ऋचा, पुरस्तात् = थोड़े दूर पूर्व, व्याख्यातम् = व्याख्यात हुई है अर्थात् इसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है।

अथासावादित्यः । " उदु त्यं जातवेदसम् " तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

अथ = और, असौ आदित्य. = उस आदित्य का वाचक जातवेदस शब्द, 'उदु त्यं जातवेदसम् (उस जातवेदस को ऊपर) इस मन्त्र मे प्रयुक्त है। तत् = इस मन्त्र की, उपरिष्टात् = आगे, व्याख्यास्यामः = व्याख्या करेंगे (१२ – १५) ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः । निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य विंश खण्ड. ॥ ७–२० ॥

यः तु = जो तो, सूक्तम् = सूक्त को, भजते = भजता है (पाता है) और, यस्मै = जिसके लिये, हवि = हवि का, निरुप्यते = निर्वाप होता है, सः = वह, अयम् एव = यही, जातवेदाः अग्निः = पार्थिव अग्नि जातवेदा है। एतेउत्तरे ज्योतिषी = ये ऊपर के दोनों मध्यम उत्तम ज्योतिः

पुष्ठ, एतेन नामधेयेन = इस नाम से, निपातम् एव = गौण ही अर्थात् कभी कभी ही, भजेते = भजते हैं, पाते हैं।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

अग्निपद और जातवेदस् पदका निर्वचन करके अब क्रमप्राप्त वैश्वानर पद का निर्वचन करते हैं—

वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान्नरान्नयति ।

प्रश्न—कस्मात् = किस कारण अग्नि, वैश्वानरः = वैश्वानर कहलाता है। उत्तर—विश्वान् नरान् = सर्वनरों को (मनुष्यों को), नयति = नयन करता है अर्थात् इस लोक से परलोक को ले जाता है इस लिये अग्नि वैश्वानर कहलाता है। "विश्वान् नरान् नरति = नयति इति विश्वानरः, विश्वानर एव इति वैश्वानरः अग्निः" इस विग्रह में विश्व उपपद 'नृ नये' धातु से 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अण् (अ) प्रत्यय, 'उपपदमतिङ्' इस सूत्र से समास, सुब्लुक्, 'नरे संज्ञायाम्' इस सूत्र से विश्व के अकार को दीर्घ और 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इस सूत्र से स्वार्थ में अण् (अ) प्रत्यय आदि अच् वृद्धि होने पर वैश्वानर शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि सर्व को ले जाता है। अथवा 'विश्वान् नयति इति विश्वनरः विश्वनर एव वैश्वानरः' इस विग्रह में विश्व उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से, अच् गुण, नय को नर। शेष सब पूर्ववत्।

विश्व एनं नरा नयन्तीति वा।

वा = अथवा, विश्वे नराः = सर्व नर, एनम् = इसको, नयन्ति = ले जाते हैं, इति = इस कारण से अग्नि वैश्वानर कहलाता है। अर्थात् 'विश्वेनराः एनं नयन्ति इति विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरः' इस विग्रह में नी-अच्, नय-नर, शेषंपूर्ववत्।

अपि वा विश्वानर एव स्यात्-प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः ।

अपिवा = अथवा, विश्वानरः एव स्यात् = विश्वानर ही वैश्वानर हो क्योंकि, सर्वाणि भूतानि = सर्व प्राणियों में, प्रत्यृतः = यह अन्तर्गत अर्थात् व्याप्त है। अर्थात् 'विश्वान् अरति इति विश्वानरः' इस विग्रह में विश्व उपपद 'ऋ गतौ' धातु से पचाद्यच्, गुण, विश्वान् अर, छान्दसत्वात् उपपद विभक्ति द्वितीया का अलुक होने से विश्वानर, 'तस्य = विश्वानरस्य अपत्यं वैश्वानरः' इस विग्रह में अपत्य अर्थ में अण्, आदि अच् वृद्धि होने पर वैश्वानर शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि सर्व प्राणियों में अन्तर्गत है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥ ७-२१ ॥

तस्य = उस वैश्वानर की, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ।

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

ऋ. सं. १-७-६-१ ॥

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वैश्वानर अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—वैश्वानरस्य = हम वैश्वानर अग्नि के, सुमतौ = अनुग्रह में, स्याम = रहे। हि कम् = क्योंकि, वह वैश्वानर, भुवनानाम् = सारे भुवनों का, अभिश्री = अभि श्रयणीय (सेवनीय), राजा = स्वामी है। वैश्वानरः = वैश्वानर अग्नि ने, इतः = इन दो काष्ठों से उत्पन्न हो कर, इदम् = इस जगत् को, विचष्टे = देखा और, सूर्येण = सूर्य के साथ, यतते = एकत्र गमन किया।

इसका यास्क भाष्य—

इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति वैश्वानरः संयतते सूर्येण। राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयस्तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति।

इतः जातः = इस दो अरणि रूप ससार से उत्पन्न हो कर यह वैश्वानर, इदम् सर्वम् = इस सम्पूर्ण विश्व को, अभिपश्यति = देखता है। वैश्वानर = वैश्वानर अग्नि, सूर्येण = सूर्य के साथ, संयतते = चलता है। यः = जो वैश्वानर, सर्वेषाम् भूतानाम् = सभी प्राणीयों के, राजा = स्वामी और अभिश्रयणीयः = आश्रय है। तस्य वैश्वानरस्य = उस वैश्वानर अग्नि की, कल्याण्याम् मतौ = कल्याण करने वाली इच्छा मे, वयम् = हम, स्याम = रहे। इति = इत्यर्थः।

प्रश्न—तत्कः 'वैश्वानरः?'।

तत् = तो वह, वैश्वानर = वैश्वानर, कः = कौन है?

उत्तर—मध्यमः इति आचार्याः। वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वाविंश खण्ड ॥ ७-२२ ॥

मध्यमः = मध्यम ज्योति = मध्यम-स्थान का अग्नि वैश्वानर है, इति = यह कोई, आचार्याः = आचार्य कहते हैं। हि = क्योंकि, वर्षकर्मणा = वृष्टि कर्म से ऋषि, एनम् = इस को, स्तौति = स्तुति करते है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्ड ।

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥

ऋ. सं. १-४-२५-६ ॥

इस मन्त्र का गौतम के पुत्र नोधा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—पूरव = मनुष्य, यम् वृत्रहणम् = जिन मेघभेदनकारी वैश्वानर अर्थात् मध्यमस्थान विद्युत् रूप अग्नि की वर्षा के लिये सचन्ते = अर्चना करते हैं उन्ही, वृषभस्य = जलवर्षी वैश्वानर का, महित्वम् = माहात्म्य मैं नु = शीघ्र, प्रवोचम् = बोलता हूँ। वैश्वानर अग्नि = वैश्वानर अग्नि ने, दस्युम् = राक्षसरूप शत्रु को, जघन्वान् = हनन किया है और, काष्ठा = वर्षा का जल, अधूनोत् = नीचे गिराया है एव, शम्बरम् = शम्बर नामक जल निरोधक मेघ का, अवभेद् = भेदन किया है। इस ऋचा मे वैश्वानर शब्द का अर्थ आचार्य सम्मत मध्यमस्थान विद्युत अग्नि है।

इसका भाष्य—

ब्रवीमि तन्महित्वं महाभाग्यं वृषभस्य वर्षितुरपां यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः। दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि, तमग्निर्वैश्वानरोघ्नन्नवाधूनोदपः काष्ठा अभिनच्छम्बरं मेघम्।

अपाम् वर्षितु = जल वर्षा करने वाले वृषभस्य = वृषभ की, तत् = उस, महित्वम् = महाभाग्यम् = महात्म्यरूप प्रधानता का मैं, ब्रवीमि = वर्णन करूगा, वर्षकामाः = वर्षा की कामना वाले, पूरव = पूरयितव्या = मनुष्या = मनुष्य, यम् = जिस, वृत्रहणम् = मेघहनम् = मेघनाशक को, सचन्ते = सेवन्ते = सेवा करते हैं। क्षयार्थात् = क्षय अर्थक, दस्यतेः = 'दसु उपक्षये,' धातु से उणादि युच् (यु) प्रत्यय होने पर, दस्यु = दस्यु शब्द बना है। क्योकि अस्मिन् = इस मे, रसा = रस, उपदस्यन्ति = नष्ट हो जाते है। एव, यह अपने अभाव से, कर्माणि = सर्व कार्यों को, उपदासयति = नष्ट कर देता है। तम् = उसे, वैश्वानर अग्नि - वैश्वानर विद्युत् अग्नि ने, घ्नन् = मारते हुए, काष्ठा = अप = जल को अवाधूनोत् = हिलाया और, शम्बरम् = मेघम् = मेघ को, अभिनत् = फाड दिया।

इस प्रकार किसी नैरुक्त आचार्य के मत से वैश्वानर का अर्थ मध्यमस्थान विद्युत् अग्नि किया गया। अब दूसरा मत दिखाते हैं—

अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः।

अथ = अथवा, असौ = वह वैश्वानर, आदित्य = आदित्य है अर्थात् वैश्वानर का अर्थ द्युलोकस्थ सूर्य है, इति = यह पूर्वे याज्ञिका = प्राचीन याज्ञिक लोग कहते हैं।

नोट—पूर्वे याज्ञिक वे कहलाते हैं जिन्हो ने विधि, मन्त्र और अर्थवाद आदि वेद के सब भागो से यज्ञ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार उसका अनुष्ठान किया हो। उन्ही का मत है कि वैश्वानर का अर्थ आदित्य है।

इस की पुष्टि मे वे हेतु देते हैं—

एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः ।

एषाम् लोकानाम् = इन पृथिवीलोक अन्तरिक्षलोक और द्युलोको के, रोहेण = आरोहण से सवनानाम् = प्रातःसवन मध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन अर्थात् सायसवनो का, रोहः = आरोहण, आम्नात = पढा है। अर्थात् यज्ञ कर्ता प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन से क्रमशः पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक को प्राप्त होता है। यह पूर्व कहा गया है।

रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितस्तामनुकृतिं होताऽग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते।

रोहात् प्रति = आरोहण से विपरीत, अवरोह = अवरोह, चिकीर्षित = अभिप्रेत है। अर्थात उक्त तीनो सवनो से द्युलोक पर आरूढ यज्ञकर्ता का द्युलोक से नीचे उतरना अभिप्रेत है। ताम् अनुकृतिम् = उस उतार के अनुकरण (क्रम) को, होता = यज्ञकर्ता होता, अग्निमारुते शस्त्रे = अग्नि और मरुत् स्तोत्र मे, वैश्वानरीयेण सूक्तेन = वैश्वानरीय सूक्त से, प्रतिपद्यते = प्रारम्भ करता है।

सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेताग्नेयो हि भवति ।

स अपि = वह भी, स्तोत्रियम् न आद्रियेत = स्तोत्रिय आग्नेय स्तोत्र का आदर नही करता है, हि = क्योंकि, वह, आग्नेय = अग्नि का, भवति = है।

ततः आगच्छति मध्यमस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च ।

ततः = वहा से यह, प्रत्यारोह मे वैश्वानरीय सूक्त से अनुकरण के आरम्भ करने से, मध्यमस्थाना देवता = मध्यमस्थान के देवता, रुद्रम् च मरुतश्च = रुद्र और मरुद्गण पर, आगच्छति = आता है।

ततोऽग्निमिहस्थानमत्रैव स्तोत्रियं शंसति ।

ततः = वहा से, इहस्थानम् अग्निम् = यहा पृथिवी स्थान अग्नि पर, आगच्छति = आता है। अत्र एव = यही वह, स्तोत्रियम् = स्तोत्र का, शसति = पाठ करता है। इस प्रकार पृथ्वी लोक से अन्तरिक्ष लोक, अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक जाना आरोह और द्युलोक से अन्तरिक्ष लोक, अन्तरिक्ष लोक से पृथ्वी लोक आना प्रत्यारोह कहा जाता है।

अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म। अथापि ब्राह्मणं भवति—"असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः" इति ।

अथ अपि = और भी, वैश्वानरीय = वैश्वानर को पुरोडाश द्वादशकपाल = बारह कपालों वाला, भवति = होता है। हि = क्योंकि, एतस्य = इसके, द्वादशविधम् = बारह प्रकार के, कर्म = कार्य हैं अर्थात् वैश्वनर देवता के लिये हवि बारह कपालों मे पकाई जाती है। अथ अपि = इसके अतिरिक्त, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य भी, भवति = है, असौ वै आदित्य = वह आदित्य ही, अग्नि वैश्वानरः = अग्नि वैश्वानर है। इति = इस ब्राह्मण प्रमाण से वैश्वानर शब्द आदित्य वाचक है।

अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति ।

अथ अपि = और भी, निवित् = निवित् नामक स्तुति भी सौर्यवैश्वानरी = सूर्य रूप वैश्वानर वाली, भवति = है। अर्थात् वैश्वानर को सूर्य प्रगट करने वाली स्तुति है। वहां यह पद है—

आ यो द्यां भात्या पृथिवीमिति । (निविद् ८)

यः = जो वैश्वानर द्याम् = द्युलोक को आभाति = प्रकाशित करता है और, पृथिवीम् = पृथिवी लोक को, आभाति = प्रकाशित करता है, इति = इत्यर्थः। आदित्य के विना अन्य कोई द्यावापृथिवी दोनों लोकों को प्रकाशित नही कर सकता है। अतः वैश्वानर का अर्थ आदित्य है। इसी लिये कहा है—

एष हि द्यावापृथिव्यावाभासयति । (वा. सं. ३३-९२)

एषः हि = यही वैश्वानर, द्यावापृथिव्यौ = द्युलोक और पृथिवी लोक को, आभासयति = प्रकाशित करता है।

अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ।

अथ अपि = और भी, छान्दोमिकम् सूक्तम् = छान्दोमिक सूक्त, सौर्य वैश्वानरम् = सूर्यरूप वैश्वानरके लिये, भवति = है। जैसे—

"दिवि पृष्ठो अरोचत" (य. वा. सं. ३३-९२)

अर्थात् द्युलोक में स्थित वैश्वानर प्रकाशित करता है।

एष हि "दिवि पृष्टो अरोचत" इति ।

एषः हि = यही वैश्वानर, दिवि = द्युलोक में, पृष्टः = स्पृष्टा अवस्थित होता हुआ, अरोचत = प्रकाश करता है। पूर्वोक्त मन्त्र का ही यह अर्थ है। भाव यह है कि, द्युलोक को सूर्य ही प्रकाश करता है। अतः विश्वानर का अर्थ सूर्य ही है, अन्य नही।

अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ।

अथ अपि = और भी, हविष्पान्तीयम् सूक्तम् = ऋग्वेद के हविष्पान्तीय सूक्त भी, सौर्यवैश्वानरम् = सूर्यरूपी वैश्वानर का ही, भवति = है। जैसे—

हुविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त ॥

ऋ. सं. ८-४-१०-१ ॥

इस मन्त्र का मूर्द्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सूर्य तथा वैश्वानर गुणक अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—पान्तम् = पीने योग्य, अजरम् = जरा रहित, जुष्टम् = देवों के प्रिय, हविः जो सोम रूप हवि है वह, स्वर्विदि = सूर्य के जानने वाला और, दिविस्पृशि = द्युलोकस्पर्शी, अग्नौ = अग्नि में, हुतम् = आहूत किया गया है। तस्य = उस हवि के, भुवनाय = उत्पन्न करने के लिये भर्मणे = परिपूरण करनेके लिये और, धर्मणे = धारण करने के लिये, देवाः = देवतागण, कम् = सर्व सुख कर अग्नि को, स्वधया = हव्य अन्न से अपप्रथन्त = प्रख्यात अर्थात् वर्द्धित करते हैं। यह मन्त्र सूर्य वैश्वानर का प्रतिपादक है। अत. वैश्वानर का अर्थ सूर्य अर्थात् आदित्य है यह सिद्ध हुआ।

यह सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस के आदि मे 'हविष्पान्तम्' यह पद है। इसी लिये इस सूक्त को हविष्पान्तीय सूक्त कहते है। इस मे सब मिलाकर १९ मन्त्र हैं। इसके १२वां मन्त्र मे वैश्वानर पद है। जिस का अर्थ सूर्य है। जैसे—

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृन्वन् ।

आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ॥

ऋ सं. ८-४-१०-१२ ॥

इस मन्त्र का मूर्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सूर्य तथा वैश्वानर गुणक अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—देवाः = इन्द्रादि देवोने, विश्वस्मै भुवनाय = सर्व भुवनो के हित के लिये, वैश्वानरम् अग्निम् = वैश्वानर गुणक अग्नि को, अह्नाम् केतुम् = दिन की पताका अर्थात् दिवस का कर्ता, अकृन्वन् = माना है। यः = जो वैश्वानर अग्नि, विभातीः = विशिष्ट दीप्ति वाले, उषसः = प्रभात को, आततान = विस्तृत करते हैं और, यन् = जाते हुए, अर्चिषा = अपनी ज्वाला से, तमः = अन्धकार को, अपो ऊर्णोति = विनष्ट करते हैं। इस मन्त्र मे वैश्वानर को दिवस का कर्ता कहा गया है। पार्थिव अग्नि तथा मध्यम अग्नि बिजली दिवस का कर्ता नही बन सकता है। किन्तु आदित्य ही दिवस का कर्ता बन सकता है। अत. वैश्वानर का अर्थ आदित्य ही है यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वैश्वानर का अर्थ आचार्य के मत से मध्यम ज्योति बिजली और पूर्व याज्ञिक के मत से आदित्य कर के अब सिद्धान्त मत दिखाते हैं—

अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः ।

अयम् एव अग्नि. = यही पार्थिव अग्नि, वैश्वानरः = वैश्वानर है, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं। अर्थात् शाकपूणि नामक नैरुक्ताचार्य के मत से यही पार्थिव अग्नि वैश्वानर शब्द का अर्थ है। न मध्यम ज्योति और न आदित्य।

विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी । वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते ।

एते उत्तरे ज्योतिषी = ये उत्तर के मध्यम ज्योति बिजली और उत्तम ज्योति आदित्य, विश्वानरौ = विश्वानर कहलाते हैं, वैश्वानर नही और, यत् = जो, ताभ्याम् = उक्त दोनो ज्योतियो से

अर्थात् मध्यम उत्तम ज्योतियों से, जायते = उत्पन्न होता है, अयम् = यह पार्थिव अग्नि, वैश्वानरः = वैश्वानर कहलाता है। 'विश्वानरयोः (मध्यमोत्तमज्योतिषोः) अपत्यम् इति वैश्वानरः पार्थिवोऽग्निः' इस विग्रह में षष्ठ्यन्त विश्वानर शब्द से अपत्य अर्थ में 'तस्यापत्यम्' इस सूत्र से अण् (अ) प्रत्यय, विभक्ति लुक्, आदि अच् वृद्धि यस्येति च लोप होने पर वैश्वानर शब्द बना है। पार्थिव अग्नि का नाम है। क्योंकि, ऊपर के दोनों ज्योतियों से इसकी उत्पत्ति हुई है।

प्रश्न—कथंन्वयमेताभ्यां जायत इति।

अयम् = यह पार्थिव अग्नि, एताभ्याम् = इन विद्युत् और आदित्य से, कथम् नु = कैसे, जायते = उत्पन्न होता है?।

प्रथम विद्युत् से पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति बताते हैं—

यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति, मध्यमधर्मैव तावद्भवति,—उदकेन्धनः-शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं संपद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः।

यत्र = जहां, वैद्युतः = विद्युत् रूप अग्नि, शरणम् = किसी काष्ठ वा जल आदि आश्रय में, अभिहन्ति = गिरता है और यावत् = जबतक, अनुपात्तः भवति = अनुपात्त अर्थात् किसी से गृहीत नहीं होता है, तावत् = तबतक, मध्यमधर्मा एव भवति = मध्यम धर्मा ही रहता है = विद्युत् स्वभाव ही रहता है, उदकेन्धनः = जल से जलता है, शरीरोपशमनः = पार्थिव तृणकाष्ठादि से बुझ जाता है। उपादीयमानः एव = जब कोई उसको ग्रहण कर लेते है तब लेने के साथ तुरन्त ही, अयम् = यह, उदकोपशमनः = जल से शमनभाव और, शरीरदीप्तिः = तृणकाष्ठादि से प्रदीप्ति-भाव को, संपद्यते = प्राप्त होता है। जल से बुझने और तृणकाष्ठादि से जलने लगता है। इस प्रकार विद्युत् अग्नि से पार्थिव अग्नि उत्पन्न होता है।

अथादित्यात्।

अथ = अब, आदित्यात् = आदित्य से पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति बताते हैं—

उदीचि प्रथम समावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते। सोऽयमेव संपद्यते।

उदीचि = उत्तर दिशा में जब, आदित्ये = सूर्य, प्रथम समावृत्ते = पहले पहल आता है तब कोई पुरुष, कंसं वा मणिम् वा = कांसा या सूर्यकान्त मणि को, परिमृज्य = साफ करके, प्रतिस्वरे = प्रचण्ड धूप में उसके किरणों के सामने, यत्र शुष्कगोमयम् = जहां सूखे गोबर हो उस स्थान में, असंस्पर्शयन् = उस से बिना स्पर्श कराये, धारयति = धारण कराता है, तत्प्रदीप्यते = तब वह जलता है। सः अयम् एव = तभी यह अग्नि, संपद्यते = उत्पन्न होता है।

अथाप्याह–"वैश्वानरोयतते सूर्येण"

अथ अपि आह = कहा भी है—वैश्वानरः = वैश्वानर, सूर्येण = सूर्य के साथ, यतते = गमन करता है। बहुत समीप मे ही इस मन्त्र की व्याख्या की गई है। यहां यह समझना है कि, वैश्वानर का अर्थ यदि आदित्य होता तो अपने से आप कोई मिलता नही किन्तु एक दूसरे से मिलता है। और इस मन्त्र मे कहा गया है कि, वैश्वानर सूर्य के साथ मिल कर गमन करता है। अतः वैश्वानर सूर्य से भिन्न है और वह पार्थिव अग्नि है। इसी को स्पष्ट करते हैं—

नच पुनरात्मनाऽऽत्मा संयतते। अन्येनैवान्यः संयतते।

पुन = और फिर, आत्मना = अपने से, आत्मा = आप, कोई, नच संयतते = मिलता नही किन्तु, अन्येन एव अन्य = अन्य से ही अन्य, सयतते = मिलता है।

इत इममादधाति।

इत. = इस सूखे गोबर से उत्पन्न, इमम् = इस वैश्वानर अग्नि को, आदधाति = आधान करता है। वैश्वानर का अर्थ आदित्य या विद्युत ज्योति होता तो उसका आधान होना अशक्य है। पार्थिव अग्नि का ही आधान होना शक्य है। अतः वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है विद्युद् या आदित्य नही।

अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतोऽस्यार्चिषः तयोर्भासोः सङ्गमं दृष्ट्वैवमवक्ष्यद्।

अमुत: = उस आदित्य मण्डल से, अमुष्य = उस आदित्य की, रश्मयः = रश्मियें, प्रादुर्भवन्ति = प्रगट होती हैं। इत. = इस पार्थिव अग्नि से, अस्य = इस की, अर्चिषः = अर्चि अर्थात् ज्वालायें प्रगट होती हैं। तयो. भासो. = उन दोनो प्रकाशो का, सङ्गमम् = सयोग, दृष्ट्वा = देख कर, ऋषिने, एवम् = ऐसा, अवक्ष्यद् = कहा होगा कि—वैश्वानरो यतते सूर्येण" अर्थात् आदित्य और पार्थिव अग्नि इन दोनो के समान प्रकाश को देख कर वेद ने इस प्रकार कहा है कि वैश्वानर सूर्य के साथ गमन करता है।

दूसरी युक्ति देते हैं—

अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा सौर्याणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा वैश्वदेवानि वा तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्। आदित्यकर्मणाचैनमस्तोष्यम् इति। उदेषीत्यस्तमेषीति विपर्येषीति।

अथ = और यह एक दूसरी बात है कि, यदि सूर्य वैश्वानर होता तो, यानि एतानि = जो ये, औत्तमिकानि = उत्तमलोक के देवताओ की स्तुति के लिये, सूक्तानी = सूक्त हैं—भागानि वा = भग के, सावित्राणि वा = सविता के, सौर्याणि वा = सूर्य के, पौष्णानि वा = पूषा के वैष्णवानि वा =

विष्णु के, वैश्वदेवानि वा = अथवा विश्व देवो के, जितने सूक्त होते है, तेषु = उन में, वैश्वानरीयाः = वैश्वानर के, प्रवादाः = प्रवाद (बातें) अभविष्यन् = अवश्य रहते हैं। अर्थात् उक्त भग सविता आदिका विशेषण वैश्वानर शब्द अवश्य होता है, जैसे हे भग वैश्वानर! हे सवितः वैश्वानर! इत्यादि। च = और आदित्यकर्मणा = आदित्य कर्म से एनम् = इस वैश्वानर को, अस्तोष्यन् = स्तुति करते है, इति = इत्यादि। उदेपि इति = तूं उदय होता है इस प्रकार और, अस्तम् एपि इति = तूं अस्त होता है इस प्रकार, विपर्येपि इति = तूं उलटा फिरता है, इत्यादि। वस्तुतः ये दोनों बातें नहीं हैं। क्योंकि, न उत्तम लोक के देवताओं के सूक्तों में वैश्वानर के प्रवाद हैं और न आदित्य कर्म से वैश्वानर की स्तुति ही है। अतः सूर्य वैश्वानर नही है। 'अभविष्यन्' और 'अस्तोष्यन्' ये दोनों क्रियापद हेतुहेतुमद्भाव में है। अतः इस का अर्थ यह होता है कि, यदि भग और सविता आदि का प्रवाद उक्त सूक्तों में होता एवं आदित्य कर्म से वैश्वानर की स्तुति होती तो वैश्वानर का अर्थ आदित्य आदि होता, सो तो है नहीं। अतः वैश्वानर सूर्य नही किन्तु पार्थिव अग्नि है।

'वैश्वानर पार्थिव अग्नि है' इस में अन्य युक्ति—

आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति ।

आग्नेयेषु एव हि सूक्तेषु = प्रत्युत अग्नि के सूक्तों में ही, वैश्वानरीयाः = वैश्वानर को, प्रवादाः = प्रवाद, भवन्ति = हैं। जैसे—

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥

ऋ सं. ४-५-९-१ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वैश्वानर अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—दिवः मूर्धानम् = द्युलोक के शिरोभूत, पृथिव्याः अरतिम् = भूमि में गमन करने वाले, ऋते आ जातम् = यज्ञ के लिये उत्पन्न, कविम् = ज्ञान सम्पन्न, सम्राजम् = भालीभांति से राजमान, जनानाम् अतिथिम् = यजमानों के अतिथि स्वरुप, आसन् = मुख स्वरूप (अग्नि रूप मुख से ही देवगण भोजन करते हैं) और, पात्रम् = रक्षा विधायक, वैश्वानरम् = वैश्वानर अग्नि को, देवाः = देवों ने, आजनयन्त = उत्पन्न किया है। यह अग्नि सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस में वैश्वानर का प्रवाद है। अतः वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है यह सिद्ध हुआ।

अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति—वहसीति पचसीति दहसीति ।

च = और, अग्निकर्मणा = अग्नि कर्म से, एनम् = इस वैश्वानर को, स्तौति = स्तुति करता है, जैसे—वहसि हे वैश्वानर! तूं हवि को वहन करता है, इति = यह, पचसि = पचनीय द्रव्यों को तूं पकाता है, इति = यह, दहसि = दग्ध करने योग्य तृण काष्ठादि को तूं दग्ध करता है, इति = यह।

भाव यह है कि, यदि वैश्वानर का अर्थ आदित्य होता तो आदित्य कर्म से इस की स्तुति होती । प्रत्युत पार्थिव अग्नि कर्म से इस की स्तुति देखी जाती है । अतः पार्थिव अग्नि वैश्वानर का अर्थ है यह स्थिर हुआ ।

प्रथम किसी आचार्यने कहा था कि, वैश्वानर का अर्थ मध्यम ज्योति विद्युत् है । और युक्ति दी थी कि, 'वर्षकर्मणा ह्येन स्तौति' । अर्थात् वर्षकर्म से वैश्वानर की स्तुति देखी जाती है और वर्षा मध्यमलोक अन्तरिक्ष से होती है । अतः वैश्वानर का अर्थ मध्यम ज्योति विद्युत् है । उस का खण्डन करते है—

यथो एतद्वर्षकर्मणाह्येनं स्तौतीति—अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, वर्षकर्मणा = वर्षकर्म से, एनम् = इस वैश्वानर की, स्तौति = स्तुति मन्त्र करता है । अतः वैश्वानर का अर्थ विद्युत् है ? सो समीचीन नहीं । क्योंकि, अस्मिन् अपि = इस पार्थिव अग्नि मे भी, एतत् = यह वर्षकर्म, उपपद्यते = उपपन्न होता है । जैसे—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥

ऋ सं. २-३-२४-५१ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ—एतत् उदकम् = यह जल, अहभिः समानम् = दिन के समान है । उच्चा एति = कभी ऊंचा उठता है च = और कभी, अव एति = नीचे गिरता है । पर्जन्याः = मेघ, भूमिम् = पृथिवी को, जिन्वन्ति = प्रसन्न करते है । अग्नयः = अग्नि, दिवम् = द्यु लोक को, जिन्वन्ति = प्रसन्न करते हैं । इस मन्त्र मे यह कहा गया है कि, पर्जन्य पृथिवी पर और अग्नि द्युलोक पर वर्षा करता है पर्जन्य जल वर्षा करता है और अग्नि आहुति वर्षा करता है । अतः वर्षा रूप कर्म करना जैसे पर्जन्य-उपलक्षित विद्युत् का कार्य है वैसे ही अग्नि का भी । अत एव वर्ष कर्म से स्तुति जैसे विद्युत् मे उपपन्न है वैसे ही अग्नि में भी । अतः वर्षारूप कार्य को देखने से वैश्वानर का अर्थ जो मध्यमस्थान विद्युत् कहा गया है सो समुचित नहीं । क्योंकि, वर्षारूप कार्य तो अग्नि भी करता है । अतः वैश्वानर का अर्थ अग्नि है ।

सा निगदव्याख्याता ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ ७ । २३ ॥

सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = निगद = शब्दमात्र से ही, व्याख्याता = व्याख्यात है । इसकी व्याख्या करने की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि, सुगम है । इस से बिना परिश्रम से उक्त अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ।

यह एक दूसरा भी मन्त्र है। जिस में अग्नि और आदित्य की वर्ष कर्म से स्तुति देखी जाती है। इस से यह नियम नहीं कि, मध्यमस्थ विद्युत् ही वर्षा करता है। जैसे—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युंद्यते ॥

ऋ. सं २-३-२२-४७ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—कृष्णम् = कृष्णवर्ण (काला), नियानम् = नियम से गमन करने वाले मेघ को, हरयः = जल हरण करने वाली, सुपर्णाः = शोभन पतन रश्मियाँ, अपः वसानाः = जल पूर्ण करती हुई, दिवम् = द्युलोकस्थ आदित्य को लक्ष्य करके, उत्पतन्ति = ऊपर को जाती हैं। ते = वे रश्मियाँ, ऋतस्य सदनात् = उदकस्थान आदित्य मण्डल से, आववृत्रम् = नीचे आती हैं। आदित् = जिस समय नीचे आती हैं उसी समय, घृतेन = जल से, पृथिवी = भूमि, व्युद्यते = विविध प्रकार से आर्द्र हो जाती है अर्थात् रश्मियाँ पृथिवी को भिगोय देती हैं। आदित्य अपनी रश्मि द्वारा वर्षा करके पृथिवी को आर्द्र करते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि, वर्ष कर्म विद्युत् का ही नहीं अपितु आदित्य का भी है।

उक्त मन्त्र का भाष्य—

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य, हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मयः ते यदाऽमुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सहस्थानादुदकस्यादित्यात् । अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते ।

कृष्णम् = कृष्णवर्ण, नियानम् = निरयणम् = नियम से गमन करने वाले, आदित्यस्य = सूर्य की, रात्रिः = मेघरूप रात्रि, हरयः = हरणाः = जल हरण करने वाली, सुपर्णा = शोभन = सुन्दर पांखवाली आदित्यरश्मयः = सूर्य की रश्मियाँ, ते = वे, यदा = जब, अमुतः उदकस्य सहस्थानात् आदित्यात् = उस उदक के निवास स्थान आदित्य के पास से, आववृत्रम् = अर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते = नीचे लौट आती है, अथ = तब, घृतेन = उदकेन = जल से, पृथिवी = भूमि, व्युद्यते = आर्द्र हो जाती है।

इस मन्त्र में वर्षकर्म के कर्ता आदित्य या प्रकरण से अग्नि बताया गया है। जो मध्यम विद्युत् अग्नि से भिन्न है। अतः वर्षकर्म से वैश्वानर की स्तुति की गयी है। इस लिये वैश्वानर का अर्थ मध्यमस्थान विद्युत अग्नि है यह कहना समुचित नहीं ॥ फलतः वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि ही है।

मन्त्र में घृत शब्द आया है। अतः निगम प्रसक्त होने से इस का (घृत शब्द का) भी निर्वचन करते हैं—

घृतमित्युदकनाम, जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः ।

घृतम् इति = घृत यह, उदकनाम = जल का नाम है और, सिञ्चतिकर्मणः = सेचन अर्थक, जिघर्तेः = घृ धातु से बना है। अर्थात् 'जिघ्रति इति घृतम् उदकम्' इस विग्रह में 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादि सूत्र से कर्ता अर्थ मे क्त (त) प्रत्यय, कित्वात् गुणाभाव होने पर 'घृत' शब्द बना है। जल का नाम है। क्योंकि, जल पृथिवी को आर्द्र करता है।

उक्त अर्थ में ब्राह्मण वाक्य प्रमाण देते हैं—

अथापि ब्राह्मणं भवति । "अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति, धामच्छद् दिवि भूत्वा वर्षति । मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति "।

अथ अपि = और भी, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य, भवति = है। अर्थात् ब्राह्मण में भी कहा है—अग्निः वा = अग्नि, इतः = यहा से, वृष्टिम् = वृष्टि को, समीरयति = प्रेरयति = भेजता है। वह वृष्टि, दिविधामच्छद् = आकाशमे स्थान को आच्छादित कर, भूत्वा = आदित्य हो कर, वर्षति = = बरसती है। मरुतः = मरुद्गण, सृष्टाम् = छोडी हुई, वृष्टिम् = वृष्टि को, नयन्ति = ले जाते हैं।

इसी अर्थ में दूसरा भी ब्राह्मण प्रमाण देते हैं—

"यदासावादित्योन्यग्रश्मिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति" इति ॥

यदा = जब, असौ = वह, आदित्यः = आदित्य, न्यक रश्मिः = नीचे रश्मि वाला होता हुआ, पर्यावर्तते = अग्नि के प्रति लौटता है, अथ = तब, वर्षति = बरसता है। अर्थात् तब वर्षा होती है। इस प्रकार वर्ष कर्म सब के लिये समान है। तो मध्यम ज्योति के वैश्वानर होने में कोई हेतु नहीं।

यथो एतद्रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति । आम्नायवचनादेतद्भवति ।

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, रोहात्प्रत्यवरोहः = आरोह के अनुसार प्रत्यवरोह, चिकीर्षितः = इष्ट है, इति = इत्यादि, एतत् = यह तो, आम्नायवचनात् = अर्थवादरूप वेद वचन से, भवति = होता है। अर्थात् तृतीय सवन मे जो वैश्वानर के सूक्त से शस्त्र का प्रारम्भ होता है वह विधि वाक्य के अधीन किया जाता है। लोको को आरोहणप्रत्यारोहण अर्थवादमात्र है। पार्थिव अग्नि को ही वैश्वानर मानने मे कोई विरोध नही। क्योकि, इतने से वैश्वानर आदित्य नहीं हो सकता है।

यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीति, अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति ।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, वैश्वानरीयः = वैश्वानर का, द्वादशकपालः = बारह कपालों का पुरोडाश, भवति = होता है, इति = इत्यादि। यह भी वैश्वानर का अर्थ आदित्य होने में कारण नही हो सकता है। क्योंकि, कपालानि = कपाल, अनिर्वचनम् = निर्वचन के साधन नही, भवन्ति = होते हैं।

अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च ।

हि = क्योंकि, सौर्यः = सूर्य के, एककपालः = एककपाल, च = और, पञ्चकपालः = पांच कपाल भी, अस्ति = है। भाव यह है कि, यदि आदित्य के कपालों की द्वादश संख्या नियत होती तो वैश्वानर के द्वादश कपाल कहने से उस का (वैश्वानर का) अर्थ आदित्य ही होता। सो नियम नहीं क्योंकि, आदित्य के एक कपाल भी होता है और पञ्चकपाल भी। अतः हेतु व्यभिचारी होने से 'वैश्वानर आदित्य है' यह इस से नही सिद्ध हो सकता है। एवं द्वादशकपाल यदि आदित्य ही होता तो 'वैश्वानरो द्वादशकपालः' कहने से वैश्वानर आदित्य ही होता, सो तो है नहीं अतः वैश्वानर आदित्य नहीं। किन्तु पार्थिव अग्नि है।

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। "पृथिवी वैश्वानरः संवत्सरो वैश्वानरो ब्राह्मणो वैश्वानर इति।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि-ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य आदित्य को वैश्वानर कहने वाला, भवति = है, इति = इत्यादि। यह भी समीचीन नहीं, क्योंकि, ब्राह्मणानि = ब्राह्मण वाक्य, बहुभक्तिवादीनि = बहुत से विभागों का वर्णन करने वाले, भवन्ति = होते हैं। अर्थात् विशेषण रूप से बहुत पदार्थों को वैश्वानर कहते हैं। जैसे—पृथ्वी वैश्वानरः = पृथिवी वैश्वानर है, सवत्सरः वैश्वानरः = संवत्सर वैश्वानर है और ब्राह्मणः वैश्वानरः = ब्राह्मण वैश्वानर है + इति = इत्यादि यहां पर जैसे पृथिवी, संवत्सर और ब्राह्मण के विशेषण होने से गौणरूप से वैश्वानर शब्द इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है वैसे ही ब्राह्मण वाक्य में आदित्य के विशेषण होने से गौण रूप से विश्वानर शब्द आदित्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः वैश्वानर आदित्य नहीं किन्तु पार्थिव अग्नि वैश्वानर है।

अथो एतद्–निवित्सौर्यवैश्वानरी भवतीति, तस्यैव सा भवति–यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेदिति। एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते।

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, निवित्सौर्यवैश्वानरी = स्तुति वाक्य सूर्य वैश्वानर की, भवति = है, इति = इत्यादि। यह भी समुचित नही, क्योंकि, सा = वह स्तुति रूप निवित् वाक्य, तस्य एव = इसी पार्थिव अग्नि की, भवति = है। अर्थात् उस प्रकरण के आद्यन्त पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि, यह निवित् सौर्यवैश्वानरी नही किन्तु पार्थिव अग्नि वैश्वनरी है। जैसे—यः = जो, मानुषीभ्यः विड्भ्यः = मनुष्य जाति के लिये, दीदेत् = प्रकाशित होता है, एषः हि = वही पार्थिव अग्नि, मानुषीभ्यः विड्भ्यः = मनुष्य जाति से, दीप्यते = प्रज्वलित होता है। अर्थात् *अरणिनिर्मन्थन से उत्पन्न हुआ है। पार्थिव अग्नि मनुष्य जाति से उत्पन्न होता है। आदित्य नहीं। अतः वैश्वानर निवित् में वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है। आदित्य नहीं।*

यथो एतत्–छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति। अस्यैवतद्भवति "जमदग्निभिराहुत" इति।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, छान्दोमिकम् सूक्तम् = छान्दोमिक सूक्त (वाज० सं. का ३३-९२), सौर्यवैश्वानरम् = सूर्यरूपी वैश्वानर का, भवति = है, इति = इत्यादि । यह कथन भी ठीक नही, क्योंकि, तत् = यह सूक्त भी, अस्य एव = इसी पार्थिव अग्नि का, भवति = है । जैसे—जमदग्निभिः = जमदग्नि इसी अग्नि में, आहुतः = आहुति देते हैं ।

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति ।

प्रजमिताग्नयः वा = बहुत अग्नि वाले, वा = अथवा, प्रज्वलिताग्नयः = जिन का अग्नि प्रज्वलित रहता है वे, जमदग्नयः = जमदग्नि कहलाते है ।

अथो एतत्-हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति । अस्यैव तद्भवति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य चतुर्विशः खण्डः ॥ ७-२४ ॥

अथो एतत् = और जो यह कहा कि, हविष्पान्तीयम् सूक्तम् = हविष्पान्तीय सूक्त (ऋ. सं. १०-८८-४), सौर्यवैश्वानरम् = सूर्य वैश्वानर का, भवति = है' इति = इत्यादि । तत् = वह भी अस्य एव = इसी पार्थिव अग्नि का, भवति = है । जैसे—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ।

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त ॥

ऋ. सं. ८-४-१०-१० ॥

इस मन्त्र की व्याख्या पूर्वपक्ष के समय सूर्य परक की गई है। यास्क भाष्य—

हविर्यत्पानीयमजरं सूर्यविदि दिवि स्पृश्यमिहुतं जुष्टमग्नौ, तस्य भरणाय च भवनाय च धारणाय चैतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्य इममग्निमन्नेनापप्रथन्तेति ।

यत् हविः = जो हवि, पान्तम् = पानीयम् = पीने योग्य, अजरम् = जरारहित, स्वर्विदि = सूर्य के जानने वाले, दिवि स्पृशि = द्युलोक को स्पर्श करने वाले, जुष्टम् = देवताओं के प्रिय अग्नौ हुतम् = अग्नि में आहूत, किया गया है, तस्य = उस हवि के, भर्मणे = भरणाय च = परिपूर्ण करने के लिये, भुवनाय च = भवनाय = उत्पन्न करने के लिये, च = और, धर्मणे च = धारणाय च = धारण करने के लिये, एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः = इन सब कर्मों के लिये, इमम् अग्निम् = इस पृथिवीस्थान अग्नि को, स्वधया = अन्नेन = हव्य रूप अन्न से, अपप्रथन्त = बढाया । इस प्रकार का इस मन्त्र का अर्थ देखने से प्रतीत होता है कि, यह सूक्त पार्थिव अग्नि का है । आदित्य का नहीं । अतः वैश्वानर पार्थिव अग्नि है । आदित्य नही यह सिद्ध हुआ ।

अथाप्याह ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ॥ ७-२५ ॥

अथ अपि = इस के अतिरिक्त और भी, आह = कहा है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ।

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥

ऋ. सं. ४-५-१०-४ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज ऋषि, जगती छन्द और वैश्वानर अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ— महिषाः = महान् मरुतों ने, अपाम् उपस्थे = अन्तरिक्ष के मध्य में विद्युत् रूप से वर्तमान वैश्वानर अग्नि को, अगृभ्णत = ग्रहण अर्थात् धारण किया था और, विशः = प्रजाओंने, ऋग्मियम् = पूजनीय, राजानम् = राजा अर्थात् स्वामी कह कर इन की, उपतस्थुः = स्तुति की थी। दूतः = वेगवान् या देवों के दूत, मातरिश्वा = वायु ने, परावतः = दूरदेशस्थित, विवस्वत. = आदित्य मण्डल से, वैश्वानरम् अग्निम् = इस वैश्वानर नामक अग्नि को, आ अभरत् = इस लोक में लाये हैं। इस मन्त्र में वैश्वानर शब्द पार्थिव अग्नि अर्थ में प्रयुक्त है। अतः वैश्वानर पार्थिव अग्नि है। आदित्य नहीं।

इस मन्त्र का भाष्य—

अपामुपस्थ उपस्थाने महत्यन्तरिक्षलोक आसीनामहान्त इति वा, अगृह्णत माध्यमिका देवगणा विश इव राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा, अर्चनीयमिति वा, पूजनीयमिति वाऽहरद्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात् । विवस्वान् विवासनवान । प्रेरितवतः परागताद्वास्याग्नेर्वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह । मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षेश्वसिति, मातर्याश्वनितीति वा ।

अपाम् उपस्थे = उपस्थाने महति अन्तरिक्षलोके = जल के रहने के स्थान बड़े आकाश देश में, महिषाः = आसीनाः = बैठे हुए, इति वा = अथवा, महान्तः = बड़े, माध्यमिकाः देवगणाः = मध्यम लोक के देवताओं ने, अगृभ्णत = अगृह्णत = उसको ग्रहण = धारण किया था। इति वा = अथवा, ऋग्मियम् ऋग्मन्तम् = ऋचाओं से स्तुति वाले, वा = अथवा अर्चनीयम् = अर्चनीय, वा = अथवा, पूजनीयम् = पूज्य, उसको, विशः राजानम् इव = प्रजा जैसे राजा का, उपतस्थुः = उपस्थान (सत्कार) करती है वैसे ही। यम् = जिस अग्नि को, देवानाम् दूतः = देवों के दूत वायु ने, विवस्वतः = आदित्यात् = आदित्य मण्डल से, आहरत् = इस लोक में लाये हैं। विवस्वान् =

विवासनवान् = अन्धकार को दूर करने वाला, परावतः = प्रेरितवत. = प्रेरित हुऐ, वा = अथवा, परागतात् = दूर गये हुए, अस्य अग्ने वैश्वानरस्य = इस वैश्वानर अग्नि को, मातरिश्वानम् आ हर्तारम् = मातरिश्वा लाने वाला, आह = कहा गया है। मातरिश्वा वायु = मातरिश्वा वायु को कहते है। क्योकि, मातरि = अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष मे, श्वसिति = साँस लेता है, वा = अथवा, मातरि = अन्तरिक्ष मे, आशु = शीघ्र, अनिति = चलता है, इति = इत्यर्थः।

अथैनमेताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षड्विंश खण्ड ॥ ७-२६ ॥

अथ = अब, एनम् = इस अग्नि की, एताभ्याम् = इन दोनो ऋचाओ के द्वारा, सर्वाणि स्थानानि = सभी स्थानो को, ले ले कर, स्तौति = स्तुति करता है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तविंश खण्ड ।

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥

ऋ स ८-४-११-६ ॥

इस मन्त्र का मूर्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि तथा सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—अग्निः = वैश्वानर अग्नि, नक्तम् = रात्रि मे, भुव = प्राणिमात्र का मूर्धा = मस्तक स्वरूप, भवति = होता है। ततः = रात्रि बीत जाने के पश्चात्, प्रात = प्रत काल, उद्यन् = उदित होता हुआ, सूर्य = सूर्य रूप से, जायते = उत्पन्न होता है अर्थात् वही वैश्वानर अग्नि दिन मे सूर्य हो जाता है। उस अग्नि को विद्वान् लोग, मायाम् ऊ = प्रज्ञा ही मानते हैं। यत् = जो अग्नि, प्रजानन् = ज्ञात होता हुआ, तूर्णिः = शीघ्रातिशीघ्र, अप. = अन्तरिक्ष मे, चरति = विचरण करते हैं अथवा, अप. चरति = कर्मानुष्ठान करते है। इस मन्त्र का भाष्य—

मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते, मूर्धायः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः। ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् स एव प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसंपादिनाम्। अपोयत्कर्म चरति प्रजानन् सर्वाणि स्थानानि अनुसंचरते। त्वरमाणः।

अस्मिन् = जिसमे, मूर्तम् = शरीर, धीयते = धारण किया जाय वह, मूर्धा = मूर्धा (मस्तक) कहा जाता है। अर्थात् 'मूर्तम् अस्मिन् धीयते इति मूर्धा' इस विग्रह मे मूर्त शब्द उपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयो, धातु से उणादि कनिन् (अन्) प्रत्यय, 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आलोप, मूर्त ध् अन्, आर्षत्वात् मूर्त के त का लोप होने पर मूर्धन् शब्द बना है। मस्तक का नाम है। जैसे शिर के वियोग होने पर प्राणी मर जाता है वैसे ही अग्नि के वियोग होने पर भी प्राणी मर

जाता है। इस लिये अग्नि को मूर्धा अर्थात् मस्तक कहा गया है। यः अग्निः = जो अग्नि, नक्तम् = रात्रि में, सर्वेषाम् भूतानाम् = सभी प्राणियों के, मूर्धा भवति = मस्तक होता है। ततः = रात्रि के बीत जाने के बाद, प्रातः = प्रभात में, उद्यन् = उदित होता हुआ, स एव = वही, सूर्यः जायते = सूर्य रूप से उत्पन्न होता है। अर्थात् वही पार्थिव वैश्वानर अग्नि दिन मे सूर्य हो जाता है। विद्वान् लोग, एताम् = इसे, यज्ञसंपादिनाम् = यज्ञ सम्पन्न करने वाले, यज्ञियानाम् = यज्ञिय, देवानाम् = देवताओं की, प्रज्ञाम् = बुद्धि, मन्यन्ते = मानते हैं। यत् = जो, प्रजानन् = ज्ञायमान होता हुआ, अपः = कर्म = कर्मानुष्ठान, चरति = करता है। त्वरमाणः = शीघ्रता से वह, सर्वाणि स्थानानि = सभी स्थानों में, अनुसंचरते = संचार करता है, जाता है।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः ॥ ७-२७ ॥

तस्य = उस स्थानत्रय सम्बन्धी अग्नि का, भूयसे = अधिक स्पष्ट, निर्वचनाय = निर्वचन के लिये, उत्तरा = आगे की ऋचा है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः।

स्तोमे॑न॒ हि दि॒वि दे॒वासो॑ अ॒ग्निमजी॑जन॒ञ्छक्ति॑भी रोद॒सि॒प्राम्।
तमू॑ अकृण्वन्त्रे॒धा भु॒वे कं स ओष॑धीः पचति वि॒श्वरू॑पाः ॥

ऋ. सं. ८-४-११-१० ॥

इस मन्त्र का मूर्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि तथा सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ— देवासः = देवों ने, शक्तिभिः = अपनी शक्ति से, रोदसिप्राम् = द्यावापृथिवी को परिपूर्ण करने वाले, अग्निम् = अग्नि को, दिवि = द्युलोक में, स्तोमेन हि = केवल स्तुति के द्वारा ही, अजीजनन् = उत्पन्न किया। तम् ऊ = उसी, कम् = सुखावह अग्नि को उन्हों ने, त्रेधा भुवे = पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु इस प्रकार तीन भाव, अकृन्वन् = कर दिया। सः = वह अग्नि पृथिवी पर रहते हुए, विश्वरूपाः = सर्व प्रकार के व्रीहि यव आदि, ओषधीः = ओषधियों को, पचति = पकाता है। अर्थात् एक अग्नि का तीन रूप है-पार्थिव अग्नि, विद्युत और आदित्य।

इस मन्त्र का भाष्य—

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयञ्छक्तिभिः कर्मभिः द्यावापृथिव्योः पूर्णं तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः।

यम् अग्निम् = जिस अग्नि को, स्तोमेन = स्तुति से, दिवि = द्युलोक में, देवाः = देवताओं ने, अजनयन् = उत्पन्न किया। शक्तिभिः = कर्मभिः = कर्मों के द्वारा, द्यावापृथिव्योः = द्युलोक और

पृथिवीलोक को, पूरणम् तम् = पूर्ण करने वाले उस अग्नि को, त्रेधाभावाय = तीन प्रकार से रहने के लिये, अकुर्वन् = बनाया, पृथिव्याम् = पृथिवी में, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में और, दिवि = द्युलोक में, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य कहते है। इस प्रकार यास्क ने शाकपूणि के वचन को प्रमाण देते हुए एक ही अग्नि का तीन स्वरूप बताया-अग्नि विद्युत और आदित्य ।

इस कथन में ब्राह्मण वचन प्रमाण देते है—

"यदस्य दिवि तृतीयं यदसावादित्यः" इति ब्राह्मणम् ।

यद् = जो, अस्य = इस अग्नि का, दिवि = द्युलोक में, तृतीयम् = तीसरा रूप है, तद् असौ = वही, आदित्यः = आदित्य है ।

तदग्नीकृत्य स्तौति ।

तद् = वह तृतीय आदित्य नामक ज्योति की, अग्नीकृत्य = अग्नीकरण करके अर्थात् अग्निरूप से इस हविष्पान्त सूक्त में मन्त्रद्रष्टा ऋषि, स्तौति = स्तुति करते हैं ।

अथैनमेतया पुनरादित्यीकृत्य स्तौति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः ॥ ७-२८ ॥

अथ = अब, एनम् = इस अग्नि की, एतया = इस ऋचा के द्वारा, पुनः = फिर, आदित्यीकृत्य = आदित्यीकरण करके अर्थात् आदित्य रूप से, उक्त सूक्त मे, स्तौति = मन्त्रदृक् ऋषि स्तुति करते हैं।

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः ।

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥

ऋ. सं. ८-४-१२-११ ॥

इस मन्त्र का मूर्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—यज्ञियासः देवाः = यज्ञयोग्य देवों ने, यदेत् = जिस समय, एनम् = इन अग्नि और, आदितेयम् सूर्यम् = अदिति-पुत्र सूर्य को, दिवि = द्युलोक में, अदधुः = स्थापित किया और, यदा = जिस समय ये दोनों अग्नि और सूर्य, मिथुनौ भूताम् = युग्मरूप हो कर, चरिष्णू = विचरण करने लगे, आदित् = उसी समय, विश्वा भुवनानि = सभी प्राणी उन्हें, प्रापश्यन् = देख सके।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रं यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूतां सर्वदा सहचारिणावुषाश्चादित्यश्च । मिथुनौ कस्मात् ? मिनोतिः श्रयतिकर्मा, थु इति नाम करणस्थकारो नयतिः परो वनिर्वा, समाश्रितावन्योन्यं नयतो, वनुतो वा, मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा ।

यदा = जिस समय, यज्ञियाः सर्वे देवा = यज्ञ योग्य सर्व देवों ने, एनम् = इस अग्नि और आदितेयम् अदिति पुत्रम् सूर्यम् = अदिति-पुत्र सूर्य को, दिवि = द्युलोक में, अदधः = स्थापित किया और, यदा = जिस समय, उषाश्चादित्यश्च = उषा और सूर्य दोनों, मिथुनौ प्रादुर्भूताम् = सर्वदा सहचारिणौ = संयुक्त हो कर, चरिष्णू = विचरण करने लगे । प्रश्न—कस्मात् = किस धातु से कौन प्रत्यय करने से, मिथुनौ = मिथुन शब्द बना है ? उत्तर—श्रयति कर्मा = सेवा अर्थक, मिनोतिः = मि धातु है, थु इति = थु यह, वा = अथवा, थकारः = थ यह, नामकरण = संज्ञार्थक प्रत्यय है, नयतिः = नी धातु, वा = अथवा, वनिः = वन् धातु, परः = पर है । अर्थात् 'मिनुतः नयतः इति मिथुनौ' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् सेवार्थक 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' धातु से उणादि थु प्रत्यय और 'णीञ् प्रापणे' धातु से पचाद्यच् (अ) गुण, अयादेश, मिथुनय, पृषोदरादित्वात् य लोप होने पर मिथुन शब्द बना है । अथवा 'मिनुतः वनतः इति मिथुनौ' इस विग्रह में उक्त मि धातु से उणादि थः प्रत्यय और 'वन कान्तिकर्मा (निघं (२-६-८) धातु अच प्रत्यय, मि थ वन पृषोदरादित्वात् वकार को सम्प्रसारण उकार 'संप्रसारणाच्च' इस सूत्र से अकार का पूर्व रूप मि थ उन, अलोप, मिथ् उन, संयुक्त होने पर मिथुन शब्द बना है । समश्रतो = भली भांति आश्रित होते हुए, अन्योन्यम् = परस्पर एक दूसरे को, नयतः = ले चलते हैं, वा = अथवा, समाश्रितौ = अच्छी तरह अश्रित होते हुए, अन्योन्यम् = परस्पर एक दूसरे [को], वनुतः = भोगते हैं । चाहते हैं । मनुष्यमिथुनौ अपि = मनुष्य का मिथुन (स्त्री पुरुष का जोडा) भी, एतस्मात् एव = इसी पूर्वोक्त धातु से ही बना है । क्योंकि, ये भी, अन्योन्यम् = एक दूसरे से, मेथन्तौ = मिले हुए होते हैं, वा = अथवा, वनुतः = चाहते है । इति = इत्यर्थः ।

अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः ॥ ७-२९ ॥

अथ = इस के अनन्तर, एनम् = इस वैश्वानर को, एतया = इस अग्रिम ऋचा से, अग्नीकृत्य = अग्नीकरण करके अर्थात् अग्नि रूप से, स्तौति = मन्त्र स्तुति करता है । जैसे—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ।

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद ।

आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत् ॥

ऋ. सं. ८-४-१३-१७ ॥

इस मन्त्र का भी मूर्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि तथा सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—यत्र = जिस समय, अवरः = छोटा पार्थिव अग्नि, परश्च = और बड़ा मध्यम अग्नि, ये दोनों परस्पर, वदेते = विवाद करते हैं कि, नौ यज्ञन्योः = हम दोनों में से यज्ञ को, कतरः = कौन, विवेद = जानता है, उस समय, सखायाः इत् = मित्र ऋत्विक् गण ही, आशेकुः = यज्ञ कर सकते हैं। जो, सधमादम् = साथ साथ प्रसन्नता देने वाले, यज्ञम् नक्षन्त = यज्ञ को सम्पन्न करते हैं और नहीं तो, कः इदम् विवोचत् = कौन इसे बतला सकता है। इस ऋचा से वैश्वानर की अग्नि रूप से स्तुति की गई है। अतः वैश्वानर का अर्थ अग्नि है। आदित्य नहीं।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ—अयं चाग्निरसौ च मध्यमः कतरो नौ यज्ञे भयो वेदेति आशन्कुवन्ति सत्सहमदनं समानख्याना ऋत्वि जस्तेषां यः समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यतीति ।

यत्र = जिस समय, अयम् च अग्निः = यह पृथिवी स्थान अग्नि, असौच मध्यमः = और मध्यम स्थान अग्नि दोनों, दैव्यो होतारो = दैवी होता, विवदेते = विवाद करते हैं कि, नौ = हम दोनो के बीच, यज्ञे = यज्ञ के विषय में, कतरः = कौन, भूयः = अधिक, वेद = जानता है। समानख्यानाः = समान ख्याति वाले, ऋत्विजः = ऋत्विक् लोग ही, अशक्नुवन्ति = इस का निर्णय कर सकते हैं कि, सत्सहमदनम् = समान आनन्द देने वाले, तेषाम् समश्नुवानानाम् = उन यज्ञ सम्पादन करने वालो मे, यः = जो, नः = हमारे में, इदम् = यह निर्णय, कः = कौन, विवक्ष्यति = करेगा ?।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ।

इति निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ॥ ७–३० ॥

तस्य = यथोक्त अर्थ के, भूयसे = अधिक, निर्वचनाय = निर्वचन के लिये, उत्तरा = आगे की ऋचा है—

अथ निरुक्ते सप्तमाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ।

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३वसते मातरिश्वः ।
तावद्दधत्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥

ऋ सं. ८-४-१३-१९ ॥

इस मन्त्र का भी मूर्धन्वान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि तथा सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—प्रकृत वैश्वानर विषय मे जो प्रश्न उसका निर्णय यह ऋचा करती है—मातरिश्वः = हे मातरिश्वन्! वायो! यावन्मात्रम् = जब तक, सुपर्ण्यः = सुपतना रात्रियाँ, उषसः प्रतीकम् = उषा के मुख का, वसते = आच्छादित कर रखती हैं, तावत् = तब तक, ब्राह्मणः = होता, अवरः = छोटा वैश्वानर पार्थिव

अग्नि, यज्ञम् आयन् = यज्ञ के पास आकर, निषीदन् = बैठते हैं। उप दधाति = होतृ कर्म को अपनी बुद्धि में धारण करते हैं। यज्ञ के पास आना और कर्म का धारण करना अग्नि का काम है। अतः वैश्वानर का अर्थ अग्नि है, आदित्य नहीं।

इस मन्त्रका यास्क भाष्य—

यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शनमितिवाऽस्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः। इहेव निधेहीति यथा। सुपण्यः सुपतना एता रात्रयो वसते। मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य तावदुपदधाति यज्ञमागच्छन् ब्राह्मणो होता, अस्याग्नेर्होतुरवसे निषीदन्।

यावन्मात्रम् = जब तक, उपसः = उषा का, प्रत्यक्तम् = मुख, वा = अथवा, प्रतिदर्शनम् = प्रकाश रूप दर्शन, भवति = होता है, यहा, उपमानस्य = उपमान वाचक का, प्रयोगः = प्रयोग, संप्रत्यर्थे = संप्रति अर्थात् इस समय के अर्थ मे, अस्ति = हुआ है। यथा = जैसे, इह इव निधेहि = ठीक यही रखो, इति = इस प्रकार सुपण्यः = सुपतना = सुन्दर रीति से गिरने वाली, एताः = ये, रात्रयः = रात्रियाँ, वसते = आच्छादित किये हुए हैं। मातरिश्वन् = हे मातरिश्वन्। हे वायो!, वर्णस्य = वर्ण की, ज्योतिः = ज्योति महती है। तावद् = तब तक, यज्ञम् = यज्ञ मे, आगच्छन् = आता हुआ, अस्य अग्नेः होतुः = इस अग्नि रूपी होता के, निषीदन् = नीचे बैठा हुआ, अवरः = छोटा, ब्राह्मणः होता = ब्राह्मण रूपी होता इसे, उपदधाति = धारण करता है।

पूर्वोक्त ग्रन्थ सन्दर्भसे यह सिद्ध किया गया कि, वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है। मध्यमस्थान विद्युद् नही एवं उत्तमस्थान आदित्य भी नही। अब इसी विषय को शङ्कासमाधान पूर्वक दृढ करते हैं—

शङ्का—होतृजपस्त्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति।

तु = किन्तु, होतृजपः = होता का जप रूप मन्त्र, अनग्निः = अग्नि से भिन्न, वैश्वानरीयः = वैश्वानर का, भवति = है। जैसे—

"देव सवितरेतंत्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण" इति।

देव सवितः = हे देव! हे सवितः!, एतम् त्वा अग्निम् = इस तुझ अग्नि को, वैश्वानरेण पित्रा सह = वैश्वानर पिता के साथ, होत्राय = होम के लिये, यजन करने वाले, वृणते = ग्रहण करते हैं। इति = इस प्रकार इस मन्त्र मे वैश्वानर को अग्नि का पिता कहा है।

इममेवाग्निं सवितारमाह—सर्वस्य प्रसवितारम्।

इमम् एव अग्निम् = इस उक्त मन्त्र मे इस पार्थिव अग्नि को ही ऋषि, सवितारम् = सविता, आह = कहता है जो सर्वस्य प्रसवितारम् = सब का उत्पन्न करने वाला है।

मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्।

मध्यमम् = मध्यम ज्योति विद्युत् को, वा = अथवा, उत्तमम् = उत्तम ज्योति आदित्य को, पितरम् = इस अग्नि का पिता कहता है। इस प्रकार यहां वैश्वानर को अग्नि का पिता कहा है।

पिता और पुत्र एक नही हो सकते हैं। दोनो एक दूसरे से भिन्न ही होते है। विद्युत् और आदित्य से अग्नि की उत्पत्ति कही है। अत. मध्यम और उत्तम को अग्नि का पिता कहा है। अग्नि का पिता वैश्वानर और सूर्य कहा है। इसी लिये वैश्वानर का अर्थ आदित्य है, पार्थिव अग्नि नही ?।

इस शङ्का का समाधान—

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः ।

'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है जो पूर्वपक्षी ने कहा सो समीचीन नही। क्योकि, यः = जो, सूक्तम् = सूक्त को, भजते = भजता है, सूक्त पाता है, यस्मै = और जिस के लिये, हवि निरुप्यते = हवि का निर्वाप होता है = जिसे हवि मिलता है, स = वह, अयम् एव = यही, अग्नि = पार्थिव अग्नि, वैश्वानरः = वैश्वानर है। इस सूक्त और हवि को पार्थिव अग्नि पाता है। अतः वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है।

निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ।

इति श्रीमद्यास्कमुनिप्रणीते निरुक्तशास्त्रे दैवतकाण्डे सप्तमाध्यायस्यैकत्रिंश. खण्डोऽध्यायश्च समाप्तः ॥ ७-३१ ॥

एते उत्तरे ज्योतिषी = ये ऊपर के अन्तरिक्षस्थानीय विद्युत् और द्युलोकस्थानीय आदित्य ज्योतिपदार्थ, एतेन नामधेयेन = इस वैश्वानर नाम से निपातम् एव = औपचारिक (गौण) रूप से ही, भजेते = भजते है अर्थात् वैश्वानर के वे दोनो विशेषण है। अत. अप्रधान हैं, प्रधान नही। और अग्नि प्रधान है। अप्रधान नही। अत एव वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है। आदित्य तथा विद्युत् नही। यह सिद्ध हुआ।

इति श्रीस्वामिब्रह्मलीनमुनिप्रणीतनिरुक्तव्याख्याया सप्तमाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः॥ ७-३१ ॥

समाप्तश्च सप्तमोऽध्यायः।

निरुक्त के सप्तम अध्याय का खण्ड सूत्र—

[१]अथातो दैवतम् [२]इन्द्रो दिव [३]परोक्षकृतास् [४]तद्ये [५]नादिष्टदेवता [६]थाकारचिन्तनम् [७]पुरुष [८]विधास्तिस्र एव देवता इत्युक्तं [९]पूषा चेतो [१०]ऽथैतानीन्द्रभक्ती [११]न्यथैतान्यादित्यभक्तीनि [१२]मन्त्रा मननाज् [१३]जगती [१४]गततममथो [१५]तानुक्रमिष्यामो [१६]ऽग्निमीलेऽग्निः [१७]पूर्वेभिर [१८]भिप्रव [१९]तेन्द्रमिव जातवेदा [२०]कस्मात्प्र नूनं [२१]जातवेदसं वैश्वानरः [२२]कस्माद्वैश्वानर [२३]स्य मनूमहि त्व [२४]कृष्णं नियानं हविष्पान्तम [२५]पामुपस्थे [२६]मूर्द्धा [२७]भुवस्तो [२८]मेन यदेदेन [२९]यन्त्रा च देनेया [३०]वन्मात्र [३१]यदेतेयावन्मात्रमेकत्रिंशत् ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

निरुक्तम्

अथाष्टमोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः खण्डः ।

निघण्टुः ।

द्रविणोदाः १ । इध्मः २ । तनूनपात् ३ । नराशंसः ४ । ईळः ५ । बर्हिः ६ । द्वारः ७ । उषासानक्ता ८ । दैव्याहोतारा ९ । तिस्रो देवीः १० । त्वष्टा ११ । वनस्पतिः १२ । स्वाहाकृतयः १३ । इति त्रयोदश पदानि ।

द्रविणोदाः – १ ।

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

द्रविणोदाः कस्मात् ? धनं द्रविणमुच्यते, यदेनदभिद्रवन्ति । बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदाः । तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ ८-१ ॥

प्रश्न—कस्मात् = किस धातु से कौन प्रत्यय करने पर, द्रविणोदाः = द्रविणोदस् शब्द बना है ? । उत्तर—धनम् = धन, द्रविणम् = द्रविण, उच्यते = कहा जाता है । यत् = क्योंकि, एनत् = इस की ओर, इस के अर्थी सभी लोग, अभिद्रवन्ति = दौड़ते हैं । "अभिद्रवन्ति एनम् इति द्रविणम्" इस विग्रह में 'द्रु गतौ' धातु से 'द्रुदक्षिभ्यामिनन' इस उणादि सूत्र से कर्मणि इनन् = (इन) प्रत्यय, गुण, अवादेश और णत्व होने पर द्रविण शब्द बना है । धन का नाम है । क्योंकि, धनकी तरफ सभी दौड़ते हैं । वा = अथवा, बलम् = बल, द्रविणम् = द्रविण, उच्यते = कहा जाता है, यत् = क्योंकि, एनेन = इस से संयुक्त हो कर शत्रुओं को, अभिद्रवन्ति = अभिभव करते हैं = भगा देते हैं । अर्थात् "अभिद्रवन्ति अनेन इति द्रविणम्" इस विग्रह में पूर्ववत् द्रु धातु से इस उणादि सूत्र से करण मे इनन् प्रत्यय, गुण, अवादेश, और णत्व होने पर 'द्रविण' शब्द बना है । बल का नाम है । क्योंकि, बल से शत्रुओं के पीछे दौड़ा जाता है, अभिभव किया जाता है मारा जाता है । इस प्रकार द्रविण शब्द बना कर—तस्य = उस द्रविण (धन) का, दाता = देने वाला, अथवा उस द्रविण (बल) का दाता = देने वाला द्रविणोदाः = द्रविणोदस् = धन या बल का देने वाला पार्थिव अग्नि कहा जाता है । अर्थात् "द्रविणं ददाति इति द्रविणोदाः"

इस विग्रह में द्रविण उपपद 'डुदाञ्दाने' धातु से 'सर्व धातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, बाहुलकात् आलोप, द्रविण दस्, पृषोदरादित्वात् सकार उपजन (आगम), द्रविण स् दस्, सकार को रुत्व, उत्व, गुण होने पर 'द्रविणोदस्' शब्द बना है। 'द्रविणोदाः' यह प्रथमा एक वचन का रूप है। तस्य = उस द्रविणोदस् शब्द की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे ।

यज्ञेषु देवमीळते ॥ ऋ. स. १-१-२९-७ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—अध्वरे यज्ञेषु = प्रकृति तथा विकृतिरूप ज्योतिष्टोम याग मे, द्रविणसः = धनाभिलाषी या बलाभिलाषी ऋत्विक् लोग, ग्रावहस्तासः = सोम कूटने के पत्थर को हाथ मे ले कर, द्रविणोदाः देवम् = धनप्रद तथा बलप्रद अग्निदेव की ईलते = स्तुति करते हैं।

यास्क इस मन्त्र का भाष्य करते हैं—

द्रविणोदा यस्तम्। द्रविणस इति-द्रविणसादिन इति वा, द्रविणसानिन इति वा, द्रविणसस्तस्मात्पिबत्विति वा। यज्ञेषु देवमीलते। याचन्ति-स्तुवन्ति-वर्धयन्ति-पूजयन्तीति वा।

य. = जो, द्रविणोदाः = धन या बल को देने वाला, तम् = उस अग्निदेव की। द्राविणसः इति = 'द्रविणस' इस का अर्थ द्रविणसानिनः इति वा = द्रविणसानिन. इति वा = धन की तरफ जाने वाले अथवा धन को भजने वाले (पाने वाले अथवा द्राविणोदा अग्नि, द्राविणसः = द्राविण के पाने वाले जो द्राविणस् सोम है, तस्मात् = उस मे से अपने अंश को लेकर, पिबतु = पान करें। यज्ञेषु = यज्ञों मे ऋत्विक् लोग, अग्निम् अग्नि से, ईलते = याचन्ति = धनबलादि फल की याचना करते हैं, स्तुवन्ति = अग्नि की स्तुति करते हैं, वर्धयन्ति = अग्निको समिधा आज्य आदि से बढाते हैं, वा = अथवा, पूजयन्ति = पूजा करते हैं। इस प्रकार एक 'ईळते' का चार अर्थ है।

' इस भाष्य को देखने से प्रतीत होता है कि, भाष्यकार ने मन्त्र की दो प्रकार से व्याख्या की है। एक—'यः द्राविणोदाः तम् ईळते' अर्थात् जो द्रविणोदस् अग्नि देवता है उसकी ऋत्विक् लोग स्तुति करते हैं। यहां यत् तत् का अध्याहार करके मन्त्र का अर्थ किया गया है। क्योंकि, 'ईळते' यह क्रियापद प्रथम पुरुष, बहुवचनान्त है। जिसका कर्ता 'द्रविणसः' प्रथमा बहुवचनान्त है। और चाहिये था द्वितीयान्त। सो है नही। अतः यत् तत् का अध्याहार करके 'तम्' का कर्म बनाया गया है। 'द्रविणोदा यस्तम्' इति।

दूसरी व्याख्या मे 'पिबतु' इस क्रियापद का अध्याहार और 'द्रविणसः' इस को प्रथमान्त नहीं, किन्तु पञ्चम्यन्त माना है। 'द्रविणोदस्' को ज्यों का त्यों प्रथमा एकवचनान्त ही रहने दिया है

और अर्थ किया है कि—'द्रविणोदाः द्रविणसः तस्मात् पिबतु' अर्थात् द्रविणोदस् = अग्निदेवता, द्रविणस् = सोम, तस्मात् = उस में से अपना अंश को लेकर, पिबतु = पान करें।

द्रविणोदस् शब्द में देवतात्व का विचार करते हैं—

तत्को द्रविणोदाः ।

तत् = वह, कः = कौन, द्रविणोदाः = द्रविणोदस् है? । अर्थात् द्रविणोदस् किस का नाम है? । उत्तर—

इन्द्र इति क्रौष्टुकिः । स बलधनयोर्दातृतमस्तस्य च सर्वा बलकृतिः ।

इन्द्रः = द्रविणोदस इन्द्र है, इति = यह, क्रौष्टुकि = क्रौष्टुकि नामक आचार्य कहते हैं, क्योंकि, सः = वह (इन्द्रः), बलधनयो = बल और धन का, दातृतमः = अतिशय दान करने वाला है, च = और, तस्य = उसी इन्द्र का, सर्वा = सब, बलकृतिः = बल का कार्य है। भाव यह है कि, द्रविण शब्द का अर्थ बल और धन किया गया है और बल तथा धन के देने वाले को द्रविणोदस् कहते हैं यह भी पूर्व कहा गया है। धन और बल का देनेवाला इन्द्र ही है। अतः इन्द्र का नाम द्रविणोदस् है।

इस अर्थ में प्रमाण देते हैं—

"ओजसो जातमुतमन्य एनम्" इति चाह ।

मैं, एनम् = इस इन्द्रदेव को, ओजसः = किसी अतिमहान् बल से, जातम् = उत्पन्न हुआ, मन्ये = मानता हूं, च = और, इति = यह, आह = मन्त्रद्रष्टा कहते हैं या वेदमन्त्र कहता है।

सम्पूर्ण मन्त्र—

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम् ।

मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद ॥

ऋ सं. ८-३-४-१० ॥

इस मन्त्र का शक्तिपुत्र गौरिवीति ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और मरुत देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र की सामर्थ्य को देख कर कोई कहता है कि, यत् = यद्यपि इन्द्र, अश्वात् = आदित्य से, इयाय = उत्पन्न हुआ है, उत = तथापि, मैं, एनम् = इस को, ओजसः = बल से, जातम् = उत्पन्न, मन्ये = मानता हूं। अथवा यह, मन्योः = क्रोध से, इयाय = उत्पन्न हुआ है। इसी लिये, हर्म्येषु = शत्रुओं की अटालिकाओं के ऊपर वह, तस्थौ = खड़ा रहता है। यतः = जहां से यह, प्रजज्ञे = उत्पन्न हुआ है और अस्य = इसकी जो सामर्थ्य है इसको, इन्द्रः = इन्द्र ही स्वय, वेद = जानता है। इस मन्त्र में

इन्द्र शब्द है। जिसका अर्थ बहुत बलवान् है और द्रविण शब्द का अर्थ बल है। अतः द्रविणोदस् (द्रविणोदाः) शब्द का अर्थ बल देने वाला इन्द्र है यह सिद्ध हुआ।

द्रविणोदस् का अर्थ इन्द्र है इस में दूसरा हेतु देते हैं—,

अथाप्यग्निं द्रविणोदसमाह।

अथ अपि = और भी वेद मन्त्र, द्रविणोदसम् = द्रविणोदस्, अग्निम् = अग्नि को, आह = कहता है। अतः द्रविणोदस् का अर्थ अग्नि है।

एष पुनरेतस्माज्जायते।

एष पुनः = और यह इन्द्र, एतस्माद् = इस इन्द्र से, जायते = उत्पन्न होता है। अर्थात् जिसका अपत्य द्राविणोदस् अग्नि है वही द्रविणोदा इन्द्र है यह सिद्ध हुआ। क्योंकि—

"यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान" इत्यपि निगमो भवति।

यः = जिस इन्द्र ने, अश्मनो = दो मेघो के, अन्तः = भीतर, अग्निम् = अग्नि को, जजान = उत्पन्न किया है। इति अपि = यह भी, निगमः = वेदमन्त्र, भवति = है।

सम्पूर्ण मन्त्र—

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥

ऋ. स. २-६-७-३॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—एक समय की बात है कि, देवासुर संग्राम मे से इन्द्र गृत्समद ऋषि का रूप धारण कर स्वर्ग चला गया, असुरोंने गृत्समद को पूर्व रूप वाला देखा और उसी को इन्द्र समझ कर मारने के लिये प्रारम्भ किया। तब गृत्समद कहने लगे कि, हे असुरो!, यः = जिन्हों ने अहिम् = मेघ का, हत्वा = विनाश करके, सप्त सिन्धून् = सात नदियों को, अरिणात् प्रवाहित किया था, यः = जिन्होने, वलस्य = वल नामक असुर द्वारा, अपधा = रोकी हुई, गाः = गायो का, उद् आजत् = उद्धार किया था, यः = जिन्हों ने, अश्मनोः = दोनों मेघों के, अन्तः = बीचमें, अग्निम् = वैद्युत् अग्नि को, जजान = उत्पन्न किया था, यः = और जो, समत्सु = संग्रामों में, संवृक् = शत्रुओं का नाश करनेवाला, भवति = है, सः = वह, इन्द्रः = इन्द्र है, मैं नहीं। इस मन्त्र मे गृत्समद ऋषि कहते कि, इन्द्रने दोनों मेघों के बीच में अग्नि को उत्पन्न किया था। द्रविणोदाः = अग्नि द्रविणोदस् इन्द्र से उत्पन्न हुआ है। अतः द्रविणोदस इन्द्र है यह सिद्ध हुआ।

इन्द्र के द्रविणोदस् होने में दूसरा भी हेतु देते हैं—

अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति । तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति ।

अथ अपि = और यह दूसरा हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने मे है कि— ऋतुयाजेषु = जिन से ऋतुओं का यजन होता है उन ऋतुयाज मन्त्रो मे, द्राविणोदसा = द्राविणोदस अर्थात् द्रविणोदस् शब्दवाले, प्रवादा = वचन, भवन्ति = है पुन तेषाम् = और उन मन्त्रो का जो पात्र होता है उस, पात्रस्य = पात्र को, इन्द्रपानम् = इन्द्रपान, इति = यह समाख्या, भवति = है, यदि द्रविणोदस् इन्द्र न होता तो उस पात्र का नाम इन्द्रपान न होता । अत द्रविणोदस् इन्द्र है यह सिद्ध हुआ । ऋतुयाज मन्त्र जैसे—

अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्तोत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम् ।
तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः ॥

ऋ स २-८-१-४ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, जगती छन्द और द्रविणोदा देवता है । मन्त्रार्थ—द्रविणोदा, जिन्हो ने, होत्रात् = होता के यज्ञ मे सोम का, अपात् = पान किया था, उत = और जो, पोत्रात् = पिता के यज्ञ मे, अमत्त = सोम पान करके हृष्ट हुए हैं, उत = और जिन्होंने, नष्ट्रात् = नेष्टा के यज्ञ मे, हितम् = प्रदत्त, प्रय = देवो के अन्न रूप सोम, अजुषत = पान किया है वह द्राविणोदस = हविरूप द्रव्य प्रदाता ऋत्विजो के लिये हित है । द्रविणोदा = एतादृश द्रविणोदस, असृक्तम् = यथोचित, अमर्त्यम् = मरण रहित, तुरीयम् पात्रम् = चतुर्थ पात्र मे स्थित सोम का, पिबतु = पान करें । इस ऋचा मे चतुर्थ पात्र जो इन्द्रपान पात्र कहा जाता है उस को द्रविणोदस् कहा गया है । अत द्रविणोदस् इन्द्र सिद्ध होता है ।

इन्द्र के द्रविणोदा होने मे दूसरा हेतु देते हैं—

अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति ।

अथ अपि = और भी, द्रविणोदा इन्द्र का नाम है इस मे अन्य हेतु है कि, एनम् = इस इन्द्र की, सोमपानेन = सोम पान के द्वारा, ऋतु यागो मे ही, स्तौति = मन्त्र स्तुति करता है—

मन्दस्व होत्रादनु जोषमन्धसोऽध्वर्यवः स पूर्णां वष्टयासिचम् ।
तस्मा एतं भरत तद्वशो ददिर्होत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥

ऋ स २-८-१-१ ॥

इस मन्त्र का भी गृत्समद ऋषि, जगती छन्द और द्रविणोदा देवता है । मन्त्रार्थ—द्रविणोद = धनदाता देव !, होत्रात् = होतृकर्तृक याग म, अन्धस = देवो के अन्न रूप सोमपान से,

अनुजोषम् = प्रसन्न हो कर, मन्दस्व = हृष्टपुष्ट बनो। अध्वर्यवः = हे अध्वर्युगण !, सः = वह द्रविणोदा, पूर्णम् आसिचम् = सम्पूर्ण सिच्यमान आहुति को, वष्टि = चाहते हैं। अतः, तस्मै = उस द्रविणोदा अग्नि के लिये, एनम् = इस सोम को, भरत = प्रदान करो। तद्वश: = तत्काम अर्थात् सोमाभिलाषी द्रविणोदा, ददि: = आप लोगों के अभीष्ट फल के दाता, भवति = हैं। द्रविणोदः = हे द्रविणोदा!, होत्रात् = होता के यज्ञ से, ऋतुभि = ऋतुओं के साथ, सोमम् पिब = सोम पान करो। भाव यह है कि, वेद में जहाँ जहाँ सोमपान की स्तुति पाई जाती हैं वहाँ वहाँ इन्द्र ही देवता देखा जाता है। इस मन्त्र में सोमपान की स्तुति है और देवता द्रविणोदा है। अतः द्रविणोदा का अर्थ इन्द्र ही होना चाहिये। इस लिये द्रविणोदस् इन्द्र है यह सिद्ध हुआ।

अथाप्याह—"द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः" इति।

अथ अपि = और भी यह दूसरा हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने में, आह = मन्त्र कहता है— द्राविणदसः = जिस द्रविणोदस् का पुत्र अग्नि है वह, द्रविणोदाः = द्रविणोदस् इन्द्र, पिबतु = सोमपान करें। [सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या थोड़े ही दूर पर की गई है] इस ऋचा मे 'अग्नि के उत्पन्न करने वाला द्रविणोदा सोमपान करें' यह कहा गया है। और अग्नि के उत्पन्न करने वाला इन्द्र है। अतः द्रविणोदस का अर्थ इन्द्र है।

क्रौष्टुकि आचार्य के अभिमत पूर्वपक्ष के हेतु सब समाप्त हो गये हैं। अब शाकपूणि आचार्य के अभिमत उत्तर पक्ष के हेतु कहे जाते हैं। जैसे—

अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः।

अयम् एव = यही, अग्निः = पार्थिव अग्नि, द्रविणोदाः = द्रविणोदा है, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं। और हेतु देते हैं—

आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति।

हि = क्योंकि, आग्नेयेषु एव सूक्तेषु = अग्निदेवताक सूक्तों में ही, द्राविणोदसाः = द्रविणोदस् शब्द सम्बन्धी, प्रवादाः = प्रवाद अर्थात् स्तुतियाँ, भवन्ति = हैं। अर्थात् वेदो में द्रविणोदस् शब्द अग्नि के विशेषण देखा जाता है। अतः द्रविणोदस् यही अग्नि है, इन्द्र नहीं। जैसे—

"देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्" इत्यपि निगमो भवति।

देवाः = देवताओं ने, द्रविणोदाम् = हविरूप द्रव्यों के देने वाले, अग्निम् = अग्नि को, धारयन् = धारण किया है। इति अपि = यह भी, निगम. = वेदमन्त्र, भवति = है। इस मन्त्र में 'द्रविणोदाम्' पद अग्निवाचक है। अतः द्रविणोदस् यही अग्नि है यह पक्ष स्थिर हुआ। सम्पूर्ण मन्त्र—

स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि वळधत्त विश्वा ।
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥

ऋ स. १-७-३-१ ॥

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—सहसा बलेन जायमानः = बल या काष्ठघर्षण से उत्पन्न, सः = वह अग्नि, सद्य = उसी समय अर्थात् जिस समय उत्पन्न हुआ उसी समय, प्रत्नथा = पुरातन के समान, वट् = सत्य ही, विश्वा = सारे, काव्यानि = मेधावियो के कर्म को, अधत्त = धारण करता है। विद्वानो के सब काम करने लग जाता है। आपः च धिषणा = जल और माध्यमिका वाक् (शब्द) उस विद्युत् रूप अग्नि को, मित्रम् = मित्र, साधन् = बना लेते हैं। द्रविणोदाम् = उस धनदाता, अग्निम् = अग्नि को, देवा = देवो ने धारयन् = धारण किया था। अर्थात् ऋत्विजो ने गार्हपत्यादिरूप से और देवो ने दूत रूप से नियुक्त किया था। इस प्रकार इस ऋचा मे द्रविणोदा शब्द अग्नि का विशेषण है। अतः इसका अर्थ अग्नि है, इन्द्र नहीं यह सिद्ध हुआ।

क्रौष्टिकि के पक्ष के हेतुओ का क्रमश. खण्डन करते हैं—

यथो एतत् – सबलधनयोर्दातृतम इति। सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं वर्तते।

यथा उ एतत् = और जो क्रौष्टिकि ने यह कहा कि वह इन्द्र, धनबलयोः = धन और बल का, दातृतमः = अतिशय दाता है, इस लिये द्रविणोदा इन्द्र ही हो सकता है, इति = इत्यादि। सो समीचीन नही, क्योकि, सर्वासु देवतासु = सभी देवताओ मे, ऐश्वर्यम् = धन और बल को देना रूप ऐश्वर्य, वर्तते = रहता है। भाव यह है कि, यदि धन और बल को देना रूप ऐश्वर्य केवल इन्द्र मे ही हो तब तो इन्द्र को ही द्रविणोदस् होने मे यह हेतु हो सकता है। सो तो है नहीं। क्योकि, यह शक्ति सभी देवताओ में है। अत अग्नि भी धनबल के दाता होने से अग्नि ही द्रविणोदस् है। "महाभाग्याद् देवतायाः" अर्थात् सभी देवता महा ऐश्वर्य वाले होते हैं यह पूर्व कहा गया है।

यथो एतत् – "ओजसो जातमुत मन्य एनम्" इति चोहति। अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते तस्मादेन माह—सहसस्पुत्रं सहसः सूनुं सहसो यहुम्।

यथा उ एतत् = और जो यह कहा कि, एनम् = इस इन्द्र को मै, ओजसः = किसी महान् बल से, जातम् = उत्पन्न हुआ, मन्ये = मानता हूँ, च = और, इति = यह मन्त्र, आह = कहता है, इति = इत्यादि। यह कहना भी ठीक नही, क्योकि, अयम् अपि अग्नि. = यह भी अग्नि, ओजसा = बलेन = बल से, मथ्यमान. = मथा जाता हुआ, जायते = उत्पन्न होता है, तस्मात् = इस कारण से, ऋषि, एनम् = इस अग्नि को सहसः पुत्रम् = सहस अर्थात् बल का पुत्र = सहसः सूनुम् = सहस का सूनु अर्थात् पुत्र और, सहस. यहुम् = सहस का यहु. आह = कहता है। यहुः अपत्यम्। निघ. २-२-११ ॥

क्रमशः तीनों के मन्त्र उदाहरण—

द्रुन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः

सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥ ऋ सं. २-५-२८-६ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद् ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—द्रुन्नः = समिधा रूप द्रु जिन का अन्न है, सर्पिरासुतिः = जिन के घृत सिक्त होता है, प्रत्नः = जो पुरातन है, होता = जो होमनिष्पादक है, वरेण्यः = जो वरणीय है, सहसः पुत्रः = जो बल के पुत्र हैं और अद्भुतः = जो आश्चर्य स्वरूप है, ऐसे महानुभाव अग्नि मेरे पर अनुग्रह करें। इस ऋचा मे अग्नि को बल का पुत्र कहा है।

त्वं ह् यद्यविष्ठ्य सहसः सूनवाहुत ।

ऋतावा यज्ञियो भुवः ॥ ऋ. सं ६-५-२४-३ ॥

इस मन्त्र का आङ्गिरा के पुत्र विरुप ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—यविष्ठय = हेतरुणतम !, सहसः सूनो = हे बल के पुत्र !, आहुत = हे आहुत अग्ने !, त्वम् = तुम, यत् = जब, ऋतावा = सत्यवाले और, यज्ञिय. = यज्ञवाले, भुवः = होओगे तब हमारे वरणीय धनो को देवो के पास भेजना। इस ऋचा मे अग्नि को बल का सूनु (पुत्र) कहा है।

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।

अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः । ऋ सं. १-५-२७-४ ॥

इस मन्त्र का गोतम ऋषि, उष्णिक् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ सहसः यहो = हे बल का पुत्र !, अग्ने = हे अग्ने !, तुम, गोमतः = प्रभूत गो-युक्त, वाजस्य = अन्न के, ईशानः = स्वामी हो। जातवेदः = हे सर्वभूतज्ञ ! तुम, अस्मे = हमे, महि = बहुत, श्रवः = धन, धेहि = दो। इस ऋचा में अग्नि को बल का यहु (अपत्य) कहा है।

भाव यह है कि, क्रौष्टिकि ने "ओज सो जातम्" इत्यादि मन्त्र को प्रमाण देते हुए यह कहा था कि, इन्द्र-द्रविण अर्थात् बल का पुत्र है। अतः द्रविणोदस् इन्द्र है। इसका खण्डन करते हुए एवं यथोक्त तीन मन्त्रो को प्रमाण देते हुए शाकपूणि (सिद्धान्ती) ने यह कहा कि, इन्द्र को द्रविणोदस् होने मे यह हेतु समीचीन नही। क्योंकि, अग्नि भी बलका पुत्र, सूनु (पुत्र), और यहु (अपत्य) है। अत हेतु व्यभिचारी होने से यह इन्द्र को द्रविणोदस् सिद्ध नही कर सकता है। अत एव अग्नि हीद्रविणोदा है यह सिद्ध हुआ।

यथो एतत्–अग्निं द्राविणोदसमाहेति। ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते हविषो दातारस्ते चैनं जनयन्ति ।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, वेद मन्त्र, अग्निम् = अग्नि को, द्राविणोदसम् = द्रविणोदस् का पुत्र, आह = कहता है, इति = इत्यादि। यह भी समुचित नही। क्योंकि, यह हेतु भी इन्द्र को द्रविणोदस् सिद्ध करने मे समर्थ नही। क्योकि, अत्र = यहां, ऋत्विज. = ऋत्विग्गण, द्रविणोदसः = अग्नि के हविर्दाता, उच्यन्ते = कहे जाते हैं। क्योकि, ते = वे ऋत्विग्गण हविष = हव्य द्रव्यो के, दातारः = दता, च = और, एनम् = इस अग्नि को, जनयन्ति = उत्पन्न करते हैं।

इस मे प्रमाण देते हैं—

"ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः" (य. वा. सं. ५-४) इत्यपि निगमो भवति।

एष. = यह अग्निदेव, अधिराज. = अधिक दीप्तिवाला और, ऋषीणाम् = ऋत्विग् रूप ऋषियो का, पुत्र = पुत्र है। इति अपि = यह भी, निगम. = वेदमन्त्र प्रमाण, भवति = है।

यथो एतत्—तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति। भक्तिमात्रं तद्भवति—यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्।

यथो एतत् = और जो यह कहाकि, तेषाम् पुन = उन ऋतुयाजो के, पात्रस्य = पात्र का नाम, इन्द्रपानम् भवति = इन्द्रपान है, इति = इत्यादि। यह कथन भी इन्द्र के द्रविणोदस् होने में हेतु नहीं हो सकता है। क्योंकि, तत् = वह, भक्तिमात्रम् = भक्तिमात्र, भवति = है। अर्थात् गुण के कारण इन्द्रपानम् = 'इन्द्रपान' यह पात्र की समाख्या (सज्ञा) है। यथा = जैसे-सर्वेषाम् सोमपात्राणाम् = सभी सोमपात्रो का, वायव्यानि इति = वायव्य यह नाम है। अर्थात् सोम के पात्र भिन्न भिन्न देवताओ के होते हैं तो भी उन सब का नाम वायव्य होता है। इस से वे सब वायु देवता के नही हो जाते हैं। क्योकि, यह गुण के कारण समाख्या है। अत. 'द्रविणोदस्' पदवाले मन्त्र में 'इन्द्रपानम्' यह पात्र का नाम होने से इन्द्र द्रविणोदस् नहीं हो सकता है।

यथो एतत्—एनं सोमपानेन स्तौतीति।

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, एनम् = इस इन्द्र को, सोमपानेन = सोमपान से, स्तौति = स्तुति करता है, इति = इत्यादि। यह भी समुचित नहीं, क्योंकि—

अस्मिन्नप्येतदुप पद्यते।

अस्मिन् अपि = इस अग्नि में भी, एतत् = यह, उपपद्यते = उपपन्न होता है। इस अर्थ में—

"सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः" इत्यपि निगमो भवति।

इति अपि = यह भी, निगम. = निगम, भवति = है। सम्पूर्ण मन्त्र—

अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिःसोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः ।
पावकेभिर्विश्वमिन्वेभिरायुभिर्वैश्वानर प्रदिवाकेतुनासजूः ॥

ऋ स. ४-३-२६-८ ॥

इस मन्त्र का श्यावाश्व ऋषि, जगती छन्द और अग्नि तथा मरुद्गण देवता है । मन्त्रार्थ—अग्ने वैश्वानर = हे वैश्वानर अग्निदेव !, प्रदिवा = पुरातन, केतुना = ज्वालापुञ्ज, सजू = सहित तुम, शुभयद्भि = शोभमान, ऋक्वभि. = पूजनीय, गणश्रिभि = गणभाव का आश्रय करने वाले, पावकेभि = पवित्रता विधायक, विश्वमिन्वेभि = विश्व को प्रीतिदायक और, आयुभि = दीर्घजीवी, मरुभि = मरुतो के साथ, मन्दमान = प्रसन्न होता हुआ, सोमम् पिब = सोम पान करो । यह मन्त्र सोमपान से अग्नि की स्तुति करता है । भाव यह है कि, जैसे 'मन्दस्व होत्रात्' इत्यादि मन्त्र सोमपान से इन्द्र की स्तुति करता है वैसे ही यह मन्त्र भी सोमपान से अग्नि की भी स्तुति करता है । अतः यह हेतु भी इन्द्र को द्रविणोदस् सिद्ध नही कर सकता है । इसी लिये अग्नि ही द्रविणोदस् है यह सिद्ध हुआ ।

यथो एतत्—"द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः" इति । अस्यैव तद्भवति ॥

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीय. खण्ड ॥ ८-२ ॥

यथो एतत् = और जो यह कहा कि, द्रविणोदस. = जिस द्रविणोदस् का पुत्र अग्नि है वह, द्रविणोदा = द्राविणोदस् इन्द्र, पिबतु = सोमपान करे, इति = इत्यादि । यह भी हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने मे समर्थ नही है । क्योंकि, अस्य एव = इस अग्नि का भी, तत् = सोमपानभागित्व, भवति = है । जैसे—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य तृतीय खण्ड ।

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीळयस्वा वनस्पते ।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥

ऋ स २-८-१-३ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, जगती छन्द और द्रविणोदा देवता है । मन्त्रार्थ—द्रविणोद = हे द्रविणोदा अग्निदेव ! तुम येभि = जिन वाहनों से, ईयसे = जाते हो, ते वह्नय = वे रथका का 'वहन' करने वाले, मेद्यन्तु = तुप्त हों । वनस्पते = हे वनस्पतिदेव ! तुम, अरिषण्यन् = किसी की हिंसा न करते हुए, वीळयस्व = दृढ होओ । धृष्णो = हे धर्षक ?, त्वम् = तुम, नेष्ट्रात् = नेष्टा के यज्ञ में, आयूय = आकर, अभिगूर्य = ऊपर उठ कर, ऋतुभि = ऋतुओं के साथ, सोमम् पिब = सोमपान करो । इस मन्त्र मे 'वनस्पते' यह सम्बोधन है और 'द्रविणोद.' यह भी सम्बोधन है ।

दोनों समानाधिकरण है। 'वनस्पते' विशेष्य है और 'द्रविणोदः' विशेषण। वनस्पति निःसन्देह अग्नि है। अतः द्रविणोदस् भी अग्नि ही है, इन्द्र नहीं।

इस मन्त्र का भाष्य—

मेद्यन्तु ते वह्नयो वोढारो यैर्यासरिष्यन् दृढीभवायूयधृष्णो। अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्धिष्ण्यात्। धिष्ण्यो धिषण्यो धिषणाभवः। धिषणा वाग्धिषेर्दधात्यर्थे। धीसादिनीति वा। धीसानिनीति वा। वनस्पत इत्येनमाहैष हि वनानां पाता वा पालयिता वा। वनं वनोतेः। पिबर्तुभिः कालैः।

॥ इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः। ८–३ ॥

ते = वे, वह्नयः = वोढारः = अश्वादि वाहन, मेद्यन्तु = तृप्त हों, यैः = जिन से, अरिष्यन् = किसी से भी न मारा जाता हुआ, यासि = गमन करते हो, वीलयस्व = दृढीभव = दृढ होओ, आयूय = आकर, धृष्णो = हे धर्षक!, शत्रुओं को धमकाने वाले, अभिगूर्य = ऊपर ऊठ कर, त्वम् = तुम, नेष्ट्रीयात् धिष्ण्यात् = नेष्टा के यज्ञ में। धृष्णो = धिष्ण्यो = धिषण्यो = धिषणा भवः = धर्षक भाव। धिषणा = वाक् = वाणी को कहते हैं। दधाति अर्थे = धारणार्थ, धिषेः = धिष् धातु से धिषणा शब्द बना है। अर्थात् 'धिष्यति दधाति धारयति इति धिषणा वाक्' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् धारणार्थक 'धिष् शब्दे' धातु से 'धिषेर्धिष् च संज्ञायाम्' इस उणादि सूत्र से क्यु (यु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से यु को अन आदेश, कित्वात् गुणाभाव, धिषन, टाप्, णत्व, होने पर धिषणा शब्द बना है। *वाणी का नाम है। क्योंकि, वाणी अर्थ को धारण करती है।*

वा = अथवा, धीसादिनी = बुद्धि में बैठने वाली है, इति = इस कारण वाणी धिषणा कही जाती है। अर्थात् 'धियां सिदति इति धिषणा' इस विग्रह मे धी पूर्वक 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से ल्युट् (यु) अन, धीसदन, षत्व, टाप् धीषदना, पृषोदरादित्वात् धिषणा।

वा = अथवा, धीसानिनी = धीसानिनी है, इति = इस कारण धिषणा कही जाती है। अर्थात् 'धियां सनति संभजते इति धिषणा' इस विग्रह मे धी पूर्वक 'षण संभक्तौ' धातु से पचादि अच् (अ), धीसन, टाप्, और षत्व होने से धिषणा शब्द बना है। वाणी का नाम है। क्योंकि, वाणी बुद्धि को भजती है।

वनस्पते इति = वनस्पते यह वनस्पति शब्द का सम्बोधन का रूप है। एनम् = इस द्रविणोदस् को, आह = कहता है। इस से द्रविणोदस् अग्नि है। हि = क्योंकि, एषः यह अग्नि, वनानाम् = वनों का, पाता = रक्षण करने वाला है। *वा = अथवा, पालयिता = पालन करने वाला है। पा और 'पाल'* धातु दो हैं। किन्तु अर्थ एक ही है। अग्नि वन अर्थात् वृक्षादिकों के भीतर रहता हुआ भी और जलाने को समर्थ होता हुआ भी उन्हे जलाता नही। इसीसे उनका पालक है। वनोतेः = वन धातु से, *वनम् = वन शब्द बना है। अर्थात् 'वन्यते संभज्यते इति वनम्'* इस विग्रह मे 'वन संभक्तौ' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इस सूत्र से कर्म मे घ (अ) प्रत्यय होने पर वन शब्द बना है। 'पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह में 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति

(अति) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर पति शब्द बना है । 'वनानां पतिः इति वनस्पतिः' इस विग्रह मे षष्ठी समास और पारस्करादित्वात्सुट् आगम होने पर वनस्पति शब्द बना है ।

ऋतुभिः = कालैः = ऋतु अर्थात् कालों के सहित, पिब = पान करो ।

॥ अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

अथात आप्रियः ।

'अथ' अधिकारार्थ, 'अतः' आनन्तर्यार्थ है । निघण्टु पञ्चम अध्याय एवं निरुक्त अष्टम अध्याय प्रारम्भ में देवता बोधक १३ पद आये है । उन में 'द्रविणोदाः प्रथम है द्वितीय पद 'इध्म' से लेकर 'स्वाहाकृतय.' पद तक १२ पद आप्री सूक्तमें पढे होने आप्री कहलाते हैं । तथाच अतः = 'द्रविणोदा:' पद के निर्वचन के अनन्तर, आप्रियः = आप्री पदो के निर्वचन का, अथ = यहां से प्रारम्भ होता है ।

आप्रियः कस्मात् । आप्नोतेः प्रीणातेर्वा ।

प्रश्न—कस्मात् = किस धातु से कौन प्रत्यय करने पर आप्रियः = आप्री पद बना है ? उत्तर—आप्नोतेः = आप्लृ धातु से, वा = अथवा, प्रीणातेः = प्रीञ् धातु से आप्री शब्द बना है । आप्री नाम मन्त्र विशेषो का है और उन मन्त्रो से सम्बन्ध होने के कारण देवताओ को भी आप्री कहते हैं । मन्त्र पक्ष में निर्वचन—'आप्नुवन्ति इति आप्रियः' इस विग्रह में 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से कर्ता में उणादि रीङ् (री) प्रत्यय होने पर 'आप्री' शब्द बना है । 'आप्रियः' यह जस् का रूप है । मन्त्र विशेषो का नाम है । क्योंकि, वे लोक को व्यापन करते हैं । और जब मन्त्र के सम्बन्ध से देवता वाचक आप्री शब्द है तब 'आप्यन्ते इति आप्रियः' इस विग्रह में इसी आप् धातु से यही रीङ् प्रत्यय कर्म मे करने से आप्री शब्द बना है । देवता का नाम है । क्योंकि, देवता व्याप्त होते हैं ।

अथवा 'आप्रीणन्ति इति आप्रियः' इस विग्रह में आङ् पूर्वक 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से, कर्ता मे क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर आप्री शब्द बना है । 'आप्रियः' यह जस् का रूप है । मन्त्र विशेषो का नाम है । क्योंकि, वे हवियों के द्वारा देवताओं को तृप्त करते हैं । और जब देवताओं का नाम है तब 'आप्रीयन्ते इति आप्रियः' इस विग्रह मे उसी धातु से वही क्विप् प्रत्यय कर्म मे समझना चाहिये । इसी को दिखाते हैं—

"आप्रीभिराप्रीणाति" इति च ब्राह्मणम् ॥

आप्रीभिः = आप्री नामक मन्त्रों से होता आदि ऋत्विग् उन्हें, आप्रीणाति = तृप्त करते हैं, इति च = यह, ब्राह्मणम्=ब्राह्मण वचन उक्त अर्थ में प्रमाण है । अर्थात् यास्क कहते हैं कि, मैं ने जो आप्री शब्द का अर्थ किया है वही अर्थ यह ब्राह्मण वाक्य भी करता है ।

इध्मः ॥ २ ॥

'इध्यते समिध्यते इति इध्म अग्नि' इस विग्रह में 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से उणादि परिकल्पित मक् (म) प्रत्यय, 'अनिदिता हल उपधाया क्ङिति' इस सूत्र से न लोप होने पर इध्म शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि अग्नि दीप्तिमान होता है।

भाष्यकार इसका निर्वचन करते हैं—

तासामिध्मः प्रथमगामी भवति। इध्मः समिन्धनात्।

तासाम् = उन बारह आप्री देवताओं मे, प्रथमगामी = पहले आने वाला, इध्म = इध्म अर्थात् इन्धन देवता, भवति = है। समिन्धनात् = समिन्धन से = जलाने से, इध्म = अग्नि इध्म कहा जाता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थ खण्ड ॥ ८-४ ॥

तस्य = उस की, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य पञ्चम खण्ड ।

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥

ऋ स ८-६-८-१ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री देवता है। यह दशवां मण्डलका ११० वा सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस सूक्त का नाम आप्री सूक्त है। अत इन मन्त्रों के देवता भी आप्री कहलाते हैं। मन्त्रार्थ—जातवेद = हे जातप्रज्ञ अग्ने!, देव = तुम अपने तेज से दीप्यमान होने से देव हो। मानुष = तुम यज्ञ करने वाले मनुष्य के, दुरोणे = घर मे होने वाले, अद्य = आज इस यज्ञ मे, समिद्ध = सम्यक् प्रज्वलित होता हुआ, देवान् = इन्द्रादि देवो की, यजसि = हवि द्वारा पूजा करते हो। मित्रमह = तुम मित्र स्वरूप स्तोताओं से पूजित हो। चिकित्वान् = तुम स्तोताओं की स्तुति को जानने वाले हो। तुम हमारे यज्ञ मे देवो को, आवह = ले आओ। क्योंकि, त्वम् = तुम, कवि = क्रान्तप्रज्ञ हो प्रचेता = उत्तम बुद्धि वाले हो। च = और, दूत = देवो के दूत हो। इस मन्त्र मे 'समिद्ध' यह पद है, जो 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से बना है और प्रकृत 'इध्म' भी 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से ही बना है। अत यह मन्त्र 'इध्म' का उदाहरण है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् 'सम्यक् इध्यते दीप्यते इति समिद्ध अग्नि' इस विग्रह मे छान्दसत्वात्

वर्तमान में तथा कर्म में क्त (त) प्रत्यय, 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इस सूत्र से इट् निषेध, सम् इन्ध् त, 'अनिदिताम्' इस सूत्र से न लोप 'झषस्तथोर्धोऽधः' इस सूत्र से त को ध, 'झलां जश् झशि' इस सूत्र से ध् को द् होने पर 'समिद्ध' शब्द बना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

समिद्धो अद्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान् यजसि जातवेद आ च वह मित्रमहश्चिकित्वाँश्चेतनावाँस्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः प्रवृद्धचेताः ।

जातवेदः = हे जातप्रज्ञ अग्ने !, त्वम् = तुम, देवः = देव, मित्रमहः = मित्र स्वरूप स्तोताओं से पूजित, चिकित्वान् = चेतनावान् = स्तोताओं की स्तुति को जानने वाले, दूतः = देवों के दूत, कविः = क्रान्तदर्शी, प्रचेताः = प्रवृद्धचेताः = उत्तम बुद्धि वाले, असि = हो। अद्य = आज, मनुष्यस्य गृहे = यज्ञ करने वाले यजमान रूप मनुष्य के गृह में, समिद्धः = प्रज्वलित होता हुआ, देवान् = देवों की, यजसि = पूजा करो, च = और उनको यज्ञ में, आवह = ले आओ ॥

इध्म शब्द का अर्थ – निर्णय—

यज्ञेध्म इति कात्थक्यः ।

कात्थक्यः = कत्थक का पुत्र कात्थक्य नामक आचार्य, इति = यह कहते हैं कि, इध्म शब्द का अर्थ, यज्ञेध्मः = यज्ञ का इन्धन = समिधा = यज्ञ-काष्ठ है।

दूसरा मत दिखाते हैं—

अग्निरिति शाकपूणिः ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ८-५ ॥

शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य, इति = यह कहते हैं कि, इध्म शब्द का अर्थ, अग्निः = अग्नि है। यही निरुक्त सिद्धान्त मत है। अर्थात् इध्म का अर्थ अग्नि है यह सिद्धान्त है।

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

तनूनपात् । ३ ।

'न पातयति पतति वा पिता अनेन इति नपात् अपत्यम्' इस विग्रह में नञ् पूर्वक ण्यन्त 'पत्लृ पतने' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः' इस वार्त्तिक से णिलोप, 'नभ्राण्नपात्' इत्यादि सूत्र से नञ् का प्रकृतिभाव (न लोपाभाव) होने पर 'नपात्' शब्द बना है। अपत्य का नाम है। क्योंकि, इस से पूर्वजों का स्वर्ग से पतन नहीं होता है। यहां पौत्र रूप अपत्य का ग्रहण है। 'तन्वन्ति अस्यां आदि भोगाः इति तनूः गौः' इस विग्रह में 'तनु विस्तारे' धातु से 'कृषिचमितनि...' इत्यादि उणादि सूत्र से ऊ प्रत्यय होने पर 'तनू'

शब्द बना है । गाय का नाम है । क्योंकि, गाय से दूध और दूध से घृत उत्पन्न होता है । 'तन्वा नपात् इति तनूनपात्' इस विग्रह मे षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर तनूनपात् शब्द बना है । गौ का तृतीय अपत्य आज्य का नाम है । अथवा 'तन्वन्ति अन्तरिक्षे विस्तारप्राप्नुवन्ति इति तन्व आप' इस विग्रह में पूर्ववत् यथोक्त उणादि सूत्र से ऊ प्रत्यय होने से तनू शब्द बना है । जल का नाम है । 'तन्वा नपात् इति तनूनपात्' इस विग्रह मे षष्ठी समास होने पर तनूनपात् शब्द बना है । जल का तृतीय अपत्य अग्नि है । अत अग्नि का नाम तनूनपात् है । क्योंकि, जल से ओषधिवनस्पति और ओषधि वनस्पति रूप काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होता है । अत जलका तीसरा अपत्य पौत्र अग्नि है । यही सिद्धान्त अर्थ है अर्थात् तनूनपात् का अर्थ अग्नि है ।

यास्क निर्वचन करते हुए प्रथम कात्थक्य का मत दिखाते हैं—

तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः ।

तनूनपात् आज्यम् = तनूनपात् का अर्थ आज्य = घृत है, इति = यह, कात्थक्य = कत्थक का पुत्र, कात्थक्य नामक आचार्य कहते हैं और कहते है कि—

नपादित्यननन्तरायाःप्रजाया नामधेय निर्णततमा भवति । गौरत्र तनूरुच्यते । तता अस्यां भोगाः । तस्याः पयो जायते । पयसः आज्यं जायते ।

अपत्य प्रजा को कहते हैं । वह दो प्रकार के होते हैं । एक अनन्तरापत्य और दूसरा अननन्तरापत्य । अनन्तरापत्य पुत्र को कहते हैं और अननन्तरापत्य पौत्र को । नपात् का अर्थ अननन्तरापत्य अर्थात् पौत्र है । इसी को कहते हैं—नपात् इति = नपात् यह, अननन्तराया प्रजाया = अननन्तर प्रजा अर्थात् पौत्र का, नामधेयम् = नाम है । क्योंकि, वह, निर्णततमा = अतिशय नीचे नत = झुका हुआ, भवति = होता है । प्रथम पुत्र पिता से नत होता है और उससे भी अधिक नत पौत्र होता है । प्रथम पिता, द्वितीय पुत्र और तृतीय पौत्र नपात् अर्थात् नाती कहा जाता है । अत्र = यहा, तनू = तनू, गौ = गाय, उच्यते = कही जाती है । क्योंकि, अस्याम् = इस मे, भोगा = दूध दही आदि भोग, तता = बहुत विस्तृत होते हैं । तस्या उस से, पय. = दुग्ध (दूध), जायते = उत्पन्न होता है और, पयस = दुग्ध से, आज्यम् = आज्य अर्थात् घृत, जायते = उत्पन्न होता है । इस प्रकार पिता के स्थान में गाय, पुत्र के स्थान मे दूध और पौत्र के स्थान मे आज्य समझना चाहिये । प्रथम गाय, द्वितीय दूध और तृतीय आज्य है । यह कात्थक्य ऋषि का मत है ।

सिद्धान्त कहते हैं—

अग्निरिति शाकपूणिः ।

अग्नि इति = तनूनपात् अग्नि है, इति = यह, शाकपूणि = शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं और यही सिद्धान्त है । इस में युक्ति देते हैं—

आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते, तता अन्तरिक्षे ।

अत्र = यहा, तन्व = तनू आप = जल, उच्यन्ते = कहे जाते हैं । क्योंकि, वे, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष मे, तता. = विस्तृत अर्थात् फैले हुए होते हैं ।

ताभ्य ओषधिवनस्पतय जायन्ते, ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते ।

ताभ्यः = उन जल से, ओषधिवनस्पतयः = ओषधि, वनस्पतिएँ, जायन्ते = उत्पन्न होती है और, ओषधिवनस्पतिभ्यः = ओषधि वनस्पतियो से, एषः = यह अग्नि, जायते = उत्पन्न होता है । इस से यह सिद्ध हुआ कि, अग्नि जल का पौत्र स्थानिक है । पिता के स्थान में जल, पुत्र के स्थान में ओषधिवनस्पति और पौत्र के स्थान मे अग्नि समझना चाहिये । प्रथम जल, द्वितीय ओषध्यादि और तृतीय अग्नि, तनूनपात = नाती है ।

तस्यैषा भवति ।

तस्य = उस तनूनपात् अग्नि की, एषा = यह ऋचा प्राधान्य स्तुति, भवति = है—

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥

ऋ. सं. ८-६-८-२ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री देवता है । मन्त्रार्थ—तनूनपात् = हे तनूनपात् अग्ने ! और सुजिह्व = हे शोभनज्वाल अग्निदेव !, ऋतस्य यानान् = यज्ञगमन के जो, पथः = हवि आदि मार्ग हैं उन्हे, मध्वा = मधु से मिश्रित करके एवं, समञ्जन् = सुन्दर प्रकाश करते हुए उसका, स्वदय = स्वाद लो । मन्मानि = हमारे अभिप्रेत मननीय स्तोत्रों को, उत = और, यज्ञम् = यज्ञ को, धीभिः = बुद्धि से, ऋन्धन् = समृद्ध करते हुए, नः = हमारे, अध्वरम् = यज्ञ को, देवत्रा = देवभोग्य, कृणुहि = कर दो । इस ऋचा मे तनूनपात् अग्नि है । जो जल का पौत्र समान है ।

इस का यास्क भाष्य—

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् यज्ञस्य यानान् मधुना समञ्जन् स्वदय कल्याणजिह्व ! मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धय देवान् नो यज्ञं गमय ।

तनूनपात् = हे तनूनपात् अग्निदेव !, ऋतस्य यानान् = यज्ञस्य यानान् = यज्ञ-गमन के जो, पथः = हवि आदि मार्ग हैं उनको, मधुना समञ्जन् = मधु मिश्रित करते हुए, सुजिह्व = कल्याणजिह्व हे शोभनज्वाल अग्निदेव !, स्वदय = स्वाद लो । च = और, नः = हमारे, मन्मानि = मननानि = मननीय स्तोत्रों को, च = और, यज्ञम् = यज्ञ को, धीभिः = बुद्धि से, समर्धय = समृद्ध करो, देवान् = देवों को, नः = हमारे, यज्ञम् = यज्ञ मे, गमय = गमन कराओ । यज्ञ में लाओ ।

४ – नराशंसः

नराशंस मतभेद से यज्ञ का या अग्नि का नाम है । प्रथम पक्ष मे 'नराः ऋत्विजः यस्मिन् यज्ञे आसीनाः उपविष्टाः शंसन्ति स्तुवन्ति इति नराशंसः यज्ञः' इस विग्रह मे नर और आसीन शब्द

पूर्वक 'शंसु स्तुतौ' धातु से 'हलश्च' इस सूत्र से अधिकरण में घञ् (अ) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् आसीन का लोप, नर शंश, 'अन्येषामपि दृश्यते' इस सूत्र से र के अकार को दीर्घ होने पर नराशंस शब्द बना है। यज्ञ का नाम है। क्योंकि, यज्ञ में बैठ कर ऋत्विक् लोग स्तुति करते हैं। द्वितीय पक्ष में 'नरैः ऋत्विग्भिः शंस्यते प्रशस्य स्तूयते इति नराशंसः अग्नि' इस विग्रह में उक्त धातु से और उक्त सूत्र से ही कर्म में घञ् प्रत्यय, और नर को दीर्घ होने पर नराशंस शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि ऋत्विजों से स्तुत होता है।

यास्कमुनि इस का निर्वचन करते है—

नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः। नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति।

नराशंसः = नर शंश, यज्ञः = यज्ञ है। अर्थात् नराशंस का अर्थ यज्ञ है, इति = यह, कात्थक्य. = *कात्थक्य नामक आचार्य कहते है। क्योंकि, नरा: = ऋत्विक् लोग, अस्मिन् = जिस में, आसीना: =* बैठ कर स्तुति करते हैं। अतः यज्ञ का नाम नराशंस है यह कात्थक्य मुनि कहते हैं। अधिकरणे घञ्।

अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति।

नराशंस, अग्निः = अग्नि है। अर्थात् नराशस का अर्थ अग्नि है, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य कहते है। क्योकि वह नरैः = ऋत्विजो के द्वारा, प्रशस्यः = स्तुत्य, भवति = होता है। कर्मणि घञ्।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ८-६ ॥

तस्य = पूर्वोक्त अग्नि अर्थक नराशंस शब्द का, एषा = यह अग्रिम ऋचा उदाहरण, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।

ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

ऋ.सं. ५-२-१-२ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—ये = जो, सुक्रतवः = सुकर्मा, शुचयः = शुचि और, धियंधाः = कर्मों के धारक, देवाः = देवगण, उभयानि = दोनों सोमक और हविःसस्यादि, हव्या = हव्य का, स्वदन्ति = भक्षण करते हैं। एषाम् = उन के बीच हम, यज्ञैः = स्तोत्र के द्वारा, यजतस्य = यजनीय और, नराशंसस्य = नराशंस नामक अग्नि की, महिमानम् = महिमा को, उप स्तोषाम = स्तुति करते हैं। इस ऋचा में नराशंस का अर्थ अग्नि है।

इस मन्त्र का यास्क-भाष्य—

नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैर्येसुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि सोमं चेतराणि चेति वा, तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा ।

यज्ञैः यज्ञियस्य = स्तोत्र के द्वारा यजनीय, नराशंसस्य = नराशंस नामक अग्नि की, एषाम् = उन के बीच, उपस्तुमः = हम स्तुति करते है । ये = जो, सुकर्माणः = सुकर्मा, शुचयः = शुचि, धियम् धारयितारः = कर्मों के धारक, देवाः = देवगण हैं वे, उभयानि = दोनो, हवींषि सोमम् = हवि और सोम का, वा = अथवा, इतराणि = अन्य पुरोडाशादि का, च = और, तान्त्राणि = तन्त्र उक्त प्रयाजआज्य आदि का, वा = अथवा, आवापिकानि = प्रधान हवि आदि का, स्वदयन्तु = भक्षण करें ।

५ – ईळः ।

'ईड्यते स्तूयते इति ईळ. अग्निः' इस विग्रह मे 'ईड स्तुतौ' धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से कर्म मे घञ् (अ) प्रत्यय, 'डलयोरभेदः' इस नियम के अनुसार ड को ळ होने पर ईळ शब्द बना है । अग्नि का नाम है । क्योकि, अग्नि ऋत्विजादि द्वारा स्तुत होता है । अथवा 'इध्यते दीप्यते इति ईळ. अग्निः' इस विग्रह मे 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से 'अकर्तरि च कारके सज्ञायाम्' इस सूत्र से कर्म मे घञ् प्रत्यय, इन्ध अ, पृषोदरादित्वात् न लोप, इकार को दीर्घ और धकार को ळकार होने पर 'ईळ' शब्द बना है । अग्नि का नाम है । क्योंकि, अग्नि दीपता है । इसी को कहते हैं—

ईळ ईट्टेः स्तुतिकर्मण इन्धतेर्वा ।

स्तुतिकर्मणः = स्तुत्यर्थक, ईट्टेः = 'ईड स्तुतौ' धातु से, वा = अथवा, इन्धते. = 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से, ईळ. = ईळ शब्द बना है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।। ८-७ ।।

तस्य = उस अग्नि अर्थक 'ईळ' शब्द का, एषा = यह ऋचा उदाहरण, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्याष्टमः खण्ड. ।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥

ऋ. सं. ८-१-८-३ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ— अग्ने = हे अग्निदेव ! तुम, आजुह्वानः = देवो के बुलाने वाले, ईड्यः = प्रार्थनीय, वन्द्यः = वन्दनीय

वसुभिः = वसुओं के साथ, सजोपाः = प्रसन्न होते हुए हमारे यज्ञ में, आ याहि = आओ। यह्व = हे महान पुरुष !, त्वम् = तुम, देवानाम् होता = देवों को बुलाने वाले, असि = हो। यजीयान् = अतिशय यज्ञ करने वाले हो। स = वह तुम, इषितः = हम से प्रार्थित इन सब देवों के लिये, यक्षि = यज्ञ करो। इस मन्त्र मे 'ईड्यः' यह 'ईड स्तुतौ' धातु का रूप है। अग्नि का विशेषण है और 'ईळ' भी 'ईड स्तुतौ धातु से बना है और अग्नि का नाम है। अतः यह मन्त्र ईळ का उदाहरण है।

इस का भाष्य—

आहूयमान ईळितव्यो वन्दितव्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सह जोषणस्त्वं देवानामसि यह्व होता। यह्व इति महतो नामधेयम्। यातश्च हुतश्च भवति। स एनान् यक्षीषितो यजीयान्। इषितः प्रेषित इति वा, अधीष्ट इति वा, यजीयान् यष्टृतरः।

अग्ने = हे अग्निदेव ! तुम, आजुह्वानः = आहूयमानः = बुलाया जाता हुआ, ईड्य = ईळितव्य. = प्रार्थना करने योग्य, च = और, वन्द्यः = वन्दितव्यः = वन्दना स्तुति करने योग्य हो। वसुभिः सह = वसु नामक देवताओं के साथ, सजोपाः = जोषणः = प्रसन्न होते हुए हमारे यज्ञ मे, आयाहि = आओ। यह्व = हे महान् पुरुष !, त्वम् = तुम, देवानाम् होता = देवो के बुलाने वाले हो। यह्व इति = यह्व यह, महत. = बड़े का, नामधेयम् = नाम है। क्योंकि, वह, यातश्च = सर्व स्थानो में गया हुआ और, हुतश्च = बुलाया हुआ, भवति = होता है। स. = वह तुम, इषित. = हम से प्रार्थित, यजीयान् = अतिशय यज्ञ करने वाले हो। अतः, एनान् = इन देवताओ के लिये, यक्षि = यज्ञ करो। इषितः प्रेषितः = प्रेरणा किया हुआ, इति वा = अथवा, अधीष्ट इति वा = सत्कार पूर्वक प्रेरित, यजीयान् = यष्टृतर. = बहुत यज्ञ करने वाला होता है।

६ — बर्हिः।

'बृह्यते छिद्यते इति बर्हिः कुशः' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् छदनार्थक 'बृहि वृद्धौ' धातु से 'बृंहेर्नलोपश्च' इस उणादि सूत्र से कर्म मे इसि (इस्) प्रत्यय और नलोप, बृह् इस, लघूपध रपर गुण होने पर 'बर्हिस्' शब्द बना है। यज्ञाङ्ग कुश का नाम है। क्योंकि, कुश काटा जाता है। यह यज्ञ पक्ष का निर्वचन है। अग्नि पक्ष मे 'बृंहति वर्धते इति बर्हि: अग्नि' इस विग्रह मे 'बृहि वृद्धौ' धातु से 'बृहेर्नलोपश्च' इस उणादि सूत्र से कर्ता मे इसि प्रत्यय, न लोप और रपर लघूपध गुण होने पर बर्हिस् शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि पदार्थों को बढाता है। अथवा 'बृह्यते इति बर्हि अग्निः' इस विग्रह में 'बृहि वृद्धौ' धातु से पूर्ववत् कर्म मे इसि प्रत्यय, नलोप और गुण होने पर बर्हिस् शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि अग्नि स्वय प्रज्वलित हो कर बढता है, फैलता है। इसी को भाष्यकार कहते हैं—

बर्हिः परिबर्हणात्।

परिबर्हणात = बढने से, बर्हिः = बर्हि कहा जाता है। कुश और अग्नि दोनो बढते है। अतः दोनो बर्हिस कहे जाते हैं।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्याष्टमः खण्डः । ८-८ ॥

तस्य = उस बर्हिस् शब्द की, एषा = यह अग्रिमऋचा उदाहरण, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥

। ऋ. सं. ८-६-८-४ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ—बर्हि = यज्ञाग्नि, प्राचीनम् = गृह की पूर्व दिशा मे, प्रदिशा = वेद विधि के अनुसार, अस्या पृथिव्या वस्तो = इस पृथिवी के निवास के लिये, अह्नाम् अग्रे = पूर्वाह्न मे, वृज्यते = स्थापित किया जाता है । वरीय वितरम् विप्रथते = यह यज्ञाग्नि और अधिक विस्तृत हो कर सर्वत्र प्रख्यात होता है । देवेभ्य अदितये स्योनम् = तब वह देवो के लिये और अदिति के लिये सुखकर होता है । इस मन्त्र मे बर्हिस शब्द अग्नि वाचक है । यह मन्त्र अग्नि देवताक है । अत अग्नि परक अर्थ करना ही समुचित है । निरुक्त मत मे तीन ही देवता हैं । अग्नि इन्द्र और आदित्य । उन मे अग्नि का प्रकरण चल रहा है । इस से अग्नि परक ही अर्थ करना ठीक है । इस अध्याय मे तेरह पद हैं । सब अग्नि वाचक हैं । इस से भी इस मन्त्र का अग्नि परक अर्थ करना उचित है । व्याख्याकारो ने जो कुशपरक व्याख्या की है सो विचारणीय है ।

इस मन्त्र का निरुक्तभाष्य—

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्याः वसनायास्याः प्रवृज्यते । अग्रे अह्नां बर्हिः पूर्वाह्णे तद् विप्रथते । वितरं विकीर्णतरमिति वा विस्तीर्णतरमिति वा । वरीयो—वरतरम्—उरुतर वा । देवेभ्यश्चादितये च स्योनम् ॥

प्राचीनम् = गृह की पूर्व दिशा मे, बर्हि = यज्ञाग्नि, प्रदिशा = वेदविधि के अनुसार, अस्या पृथिव्या वसनाय = इस पृथिवी के निवास के लिये, अह्नाम् अग्रे = पूर्वाह्न मे, प्रवृज्यते = स्थापित किया जाता है अर्थात्, तद् बर्हि = वह यज्ञाग्नि, पूर्वाह्णे = दिन के पूर्व भाग मे, विप्रथते = और अधिक विस्तृत हो कर सर्वत्र प्रख्यात होता है । वितरम् = विकीर्णतरम् = बिखरा हुआ, इति = यह, वा = अथवा, विस्तीर्णतरम् = फैला हुआ, इति = यह अर्थ है । वरीय. = वरतरम् = अन्य ज्योतियो से अति श्रेष्ठ अग्नि, वा = अथवा, उरुतरम् = महत्तर = सब से बड़ा अग्नि । देवेभ्यश्च अदितये च = यजमान या इतर देवो के लिये, च = और अदिति के लिये, स्योनम् = सुखकारी होता है ।

स्योनमिति सुखनाम । स्यतेरवस्यन्त्येतत् । सेवितव्यंभवतीति वा ।

स्योनम् इति = स्योन यह, सुखनाम् = सुख का नाम है। स्यतेः = 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से स्योन शब्द बना है। एतत् = इस सुख को पापी लोग पापकर्म के द्वारा, अवस्यन्ति = नाश करते हैं, वा = अथवा, सेवितव्यम् = स्योन = सुख सेवन करने योग्य, भवति = होता है, इति = इत्यर्थः। अर्थात् 'स्यन्ति अवस्यन्ति नाशयन्ति दुष्कर्मिणः इति स्योनम्' इस विग्रह मे 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से 'सिवेष्टेर्युट् च' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् केवल न प्रत्यय, सा न, टि को यु आदेश, स्यु न, गुण होने पर 'स्योन' शब्द बना है। सुख का नाम है। क्योंकि, पापी लोग पाप कर्मो के द्वारा सुख को नाश कर देते हैं। अथवा 'सिव्यते इति स्योनः सुखम्' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् सेवन अर्थ मे 'षिवु तन्तुसन्ताने' धातु से, सिवेष्टेर्यूट् च' इस उणादि सूत्र से, कर्म मे बाहुलकात् केवल न प्रत्यय, सिव् न, ऊठ्, सि ऊ न, अन्तरङ्गत्वात् यण्, स्यू न, गुण होने पर 'स्योन' शब्द बना है। सुख का नाम है। क्योंकि, सुख सब के द्वारा सेवन करने योग्य है।

७ – द्वारः।

'द्वार्' शब्द रेफान्त है। 'द्वारः' यह जस् का रूप है। कात्थक्यमुनि के मत मे द्वार् का अर्थ यज्ञ तथा यज्ञगृह का द्वार है। सिद्धान्त मत मे द्वार् का अर्थ यज्ञाग्नि है।

यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

द्वारो – जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा।

जवते· = जु धातु से. द्रवतेः = द्रु धातु से, वा = अथवा, वारयते = ण्यन्त वृ धातु से, द्वारः = द्वार शब्द बना है। अर्थात् 'जवन्ति गच्छन्ति इति द्वारः' इस विग्रह में गत्यर्थक सौत्र 'जु' धातु से आरक् (आर्) प्रत्यय, जकार को दकार, दु आर्, यण् होने पर 'द्वार्' बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि गार्हपत्य कुण्ड से दक्षिण कुण्ड में और दक्षिण कुण्ड से आहवनीय कुण्ड मे गमन करता है। अत एव गार्हपत्याग्नि दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि आदि के भेद से बहुत हैं। इसी लिये द्वार् का 'द्वारः' यह बहुवचनान्त रूप है। अथवा 'द्रवन्ति गच्छन्ति इति द्वारः' इस विग्रह मे 'द्रुगतौ' धातु से पूर्ववत् आरक् (आर्) प्रत्यय, र लोप और यण् होने पर द्वार् शब्द बना है। अग्नि का नाम है। अग्नि बहुत जगे गमन करने से बहुत है। अतः द्वारः यह बहुवचनान्त है। अथवा, 'वारयन्ति इति द्वारः' इस विग्रह मे णिजन्त 'वृञ् वरणे' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इस सूत्र से विच् (०) प्रत्यय, णिलोप, वार्, दुट् (द्) आगम होने पर द्वार् शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योंकि, अग्नि को ज्वाला में सबको वारण करती हैं।

तासामेषा भवति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ८-९ ॥

तासाम् = उन द्वार् की एषा = यह अग्रिम ऋचा उदाहरण, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥

ऋ. सं. ८-६-८-५ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ— न = जैसे, शुम्भमानाः = शोभायमान, जनयः = जाया = स्त्रियाँ, उर्विया = उरु रूप से, पतिभ्यः = अपने पति के लिये, विश्रयन्ति = अपने शरीर को प्रगट करती हैं, खोल देती है। वैसे ही, व्यचस्वती = अग्नि देवता रूप द्वाराभिमानिनी देवियाँ, विश्रयन्ताम् = अपने शरीर को प्रगट करें अर्थात् विस्तृत रूप से खुल जायें। बृहतीः = हे बृहती!, विश्वमिन्वाः = हे विश्व को प्रसन्न करने वाली!, द्वारः देवीः = हे अग्निदेवता रूप द्वाराभिमानिनी देवियो! आप लोग, देवेभ्यः = देवों के लिये, सुप्रायणाः = खुलकर सुविस्तृत, भवत = हो जाओ। इस मन्त्र में 'द्वार' शब्द का यज्ञगृह-द्वाराभिमानिनी अग्नि देवता अर्थ है।

इस मन्त्र का कात्थक्यमत से निरुक्त भाष्य—

व्यञ्चनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्तां पतिभ्य इव जाया ऊरू मैथुने धर्मे शुशोभिषमाणा वरतममङ्गमूरुदेव्यो द्वारो बृहत्यो विश्वमिन्वाः विश्वमाभिरेति। यज्ञे—गृहद्वार इति कात्थक्यः।

व्यचस्वतीः = व्यञ्चनवत्यः = अनेक प्रकार आने जाने से युक्त, यज्ञगृहद्वार, उर्विया = उरुत्वेन = महत्वेन = विस्तार से, विश्रयन्ताम् = खुल जावें। जनयः न = जायाः इव = स्त्रियों के जैसे अर्थात् जैसे स्त्रियाँ, पतिभ्यः = पतियों के लिये, शुम्भमानाः शुशोभिषमाणाः = शोभायमान होती हुई, मैथुने धर्मे = मैथुन कर्म के समय, वरतम् अङ्गम् ऊरू = श्रेष्ठ अङ्ग जाघों को, विश्रयन्ति = फैला देती हैं। द्वारः देव्यः = हे द्वार्देवियो! तुम, देवताओं के लिये, बृहतीः = बृहत्यः = बड़ी बड़ी, विश्वमिन्वाः विश्वम्अभि·एति = सब संसार के आने जाने योग्य हो जाओ। यज्ञे = गृहद्वारे = द्वार यज्ञ गृहके दरवाजे हैं। इति = यह, कात्थक्यः = कात्थक्यमुनि कहते हैं।

अग्निरिति शाकपूणिः।

द्वार् = द्वार् का अर्थ, अग्निः = अग्नि देवता है, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य मानते हैं। अग्नि पक्ष मे मन्त्रार्थ किया गया है।

८ — उषासानक्ता।

उषासानक्ता-उषा और रात्रि। अर्थात् उषासानक्ता का अर्थ उषःकाल और रात्रि है। यास्क निर्वचन करते हैं—

उपासानक्ता–उषाश्च नक्ता च । उषा व्याख्याता । नक्तेति रात्रिनाम । अनक्ति भूतान्यवश्यायेन । अपि वा–अनक्ताऽव्यक्तवर्णा ।

उपासानक्ता = 'उपासानक्ता' यह एक पद है। इस का विग्रह करते हैं—उषाश्च नक्ता च = उषाश्च नक्ताचेति उपासानक्ता = उषा और नक्ता । द्वन्द्व समास । उषा व्याख्याता = उषा की व्याख्या हो चुकी है (नि. २–१८) उषा कस्मात् ? उच्छतीतिसत्याः । अर्थात् 'उच्छतीति उषाः' इस विग्रह में 'उच्छी विवासे' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् छकार को षकार होने पर 'उषस्' शब्द बना है। अथवा, 'वष्टि इति उषाः इस विग्रह में 'वश कान्तौ' धातु से असुन्, बाहुलकात् कित्, 'ग्रहिज्या' इत्यादि सूत्र से संप्रसारण, पूर्वरूप, उश् अस्, शकार को पृषोदरादित्वात् षकार होने पर उषस् शब्द बना है । 'अनक्ति इति नक्ता' इस विग्रह में 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' धातु से औणादिक सूत्र से कर्ता में क्तन् प्रत्यय, 'अनिदितां हल' इत्यादि सूत्र से उपधा नलोप, 'चोः कुः' इस सूत्र से कुत्व और टाप्, एवं पृषोदरादित्वात् धातु को नुट् आगम, न् अक्ता, नक्ता शब्द बना है । नक्ता इति रात्रिनाम = नक्ता यह रात्रि का नाम है । उषस् और नक्ता का द्वन्द्व समास, 'उषासोषसः' इस सूत्र से उषस् शब्द को उषासा आदेश होने पर उषासानक्ता शब्द बना है। उषा और रात्रि अर्थ है। उषासानक्ता = अन्धकार को दूर करनेवाली । अवश्यायेन = तुषार (हिम) अर्थात् ओस से, भूतानि = सर्व प्राणियों को, अनक्ति = गीले कर देती है । अतः रात्रि नक्ता कही जाती है । अपि वा = अथवा, अनक्ता अव्यक्तवर्णा = अनक्ता = रात्रि अव्यक्तवर्ण (रंग) वाली होती है। अन्धकार के कारण उस में कोई वर्ण (रूप) प्रतीत नहीं होता है । इस पक्ष में 'उषासानक्ता' शब्द मे 'नक्ता' नही किन्तु अनक्ता शब्द है । 'न अक्ता न व्यक्ता इति अनक्ता' इस विग्रह में नञ् और अक्ता का नञ् समास, 'नलोपोनञः' इस सूत्र से नञ् के नकार का लोप, अ अक्ता, 'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र से नुट् आगम होने पर अनक्ता शब्द बना है । रात्रि का नाम है । क्योंकि दिन में जैसे सब पदार्थ अभिव्यक्त रूप से प्रतीत होते हैं वैसे रात्रि में नही । उषस् और अनक्ता का द्वन्द्व समास और उषस् को उषासा आदेश एवं सवर्ण दीर्घ होने पर 'उषासानक्ता' शब्द बना है ।

तयोरेषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य दशमः खण्डः । ८–१० ।।

तयोः = उषासानक्ता शब्दो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥

ऋ. सं. ८–६–९–६

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि देवता, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ— सुष्वयन्ती = परस्पर दोनों मुसकाती हुई (विहसती हुई या प्राणियों को सुलाती हुई, यजते = यज्ञ कराने वाली, उपाके = परस्पर प्रशंसा करने योग्य या एक पर एक चढ़ी हुई, दिव्ये = द्युलोक उत्पन्न या प्रकाशित होने वाली, योषणे = स्त्रीरूपिणी या परस्पर मिली हुई, बृहती = बहुत बड़ी, सुरुक्मे = सुन्दर प्रकाश वाली, शुक्रपिशम् = शुक्लकान्ति (गौरवर्णा), श्रियम् = शोभाको, अधिदधाने = अपने ऊपर धारण करती हुई, उषासानक्ता = उषा और रात्रि अभिमानिनी देवियाँ, योनौ = यज्ञस्थान में, नि आसदताम् = बैठें। इस ऋचा में 'उषासानक्ता' शब्द आया है। अतः उसका यह उदाहरण है। अग्नि पक्ष में उषादीप्ति अर्थ कर लेना चाहिये।

इसका यास्क भाष्य—

सेष्मीयमाणे इति वा सुष्वापयन्त्याविति वा। आसीदतामिति वा न्यासीदतामिति वा। यज्ञिये, उपक्रान्ते, दिव्ये, योषणे, बृहत्यौ—महत्यौ, सुरुक्मे—सुरोचने। अधि—दधाने, शुक्रपेशसं श्रियम्॥

सुष्वयन्ती = सेष्मीयमाणे = परस्पर दोनों हास्य करती हुई, इति वा = यह अर्थ है, अथवा, सुष्वापयन्त्यौ = लोगों को शयन कराती हुई, इति वा = यह अर्थ है। निसदताम् = आसीदताम् = न्यासीदताम् = बैठें, इति वा = यह अर्थ है। यजते = यज्ञिये = यज्ञ कराने वाली। उपाके = उपक्रान्ते = परस्पर प्रशंसा करने योग्य या एक पर चढी हुई। दिव्ये = द्युलोक उत्पन्न या चमकने वाली। योषणे = स्त्री रूपिणी या परस्पर मिली हुई। बृहती = बृहत्यौ = महत्यौ = बहुत बड़ी। सुरुक्मे = सुरोचने = शोभन प्रकाश वाली। अधि—दधाने = अपने ऊपर धारण करती हुई। शुक्रपिशम् = शुक्रपेशसम् = शुक्लकान्ति = गौरवर्णा। श्रियम् = शोभा को।

मन्त्रस्थ शुक्र शब्द का निर्वचन करते हैं—

शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः।

ज्वलतिकर्मणः = प्रकाशार्थक, शोचतेः = 'शुच दीप्तौ' (निघं १-१७-६) धातु से, शुक्रम् = शुक्र शब्द बना है। अर्थात् 'शोचति प्रकाशयति इति शुक्रम्' इस विग्रह मे 'शुच दीप्तौ' इस नैघण्टुक धातु से 'ऋज्रे-द्राग्रह' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से, रन् (र) प्रत्यय, चकार को ककार, और गुणाभाव होने पर शुक्र शब्द बना है।

पेश- शब्द का निर्वचन—

पेश इति रूपनाम। पिंशतेर्विपिशितं भवति।

पेशः इति = पेशस् यह, रूपनाम = रूप का नाम है। क्योंकि, यह, पिंशतेः = 'पिश अवयवे' धातु से 'पेश' शब्द बना है। यह, विपिशतम् = विपिशित, भवति = होता है। अर्थात् जिस द्रव्य मे रूप रहता है उसे व्याप्त कर भासता है। 'पिशति इति पेशः' इस विग्रह मे 'पिश अवयवे' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, लघूपध गुण होने पर पेशस् शब्द बना है।

९ – दैव्याहोतारा ।

दैव्यौ का दैव्या बना है। अग्नि और मध्यम ज्योति अर्थ हैं। एवं होतारौ का होतारा बना है। होम निष्पादक अर्थ है। अर्थात् 'दिव्यति इति देवः' इस विग्रह मे क्रीडाद्यर्थक दिव धातु से पचाद्यच् और लघूपध गुण होने से 'देव' शब्द बना है। 'देवेषु भवौ दैव्यौ, देवौ एव दैव्यौ वा' इस विग्रह मे देव शब्द से 'देवाद्यञञौ' इस वार्तिक से यञ् (य) प्रत्यय तद्धित, आदि अच् वृद्धि और 'यस्येति च' इस सूत्र से अलोप होने पर दैव्य शब्द बना है। 'दैव्य औ' इस अवस्था मे 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से प्रथमा द्विवचन औ के स्थान मे आ आदेश और दीर्घ होने पर दैव्या पद बना हैं। अग्नि और मध्यम ज्योति अर्थ हैं। क्योकि, ये दोनो देव हैं। 'जुहुतः इति होतारौ' इस विग्रह में 'हुदानादनयोः' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से तृच् (तृ) प्रत्यय और गुण होने पर होतृ शब्द बना है। होतृ औ, 'उरण् रपरः' इस सूत्र के सहकार से, 'ऋतोङिसर्वनामस्थानयोः' इस सूत्र से रपर गुण, होतर् औ, 'अप्तृन् तृच्' इत्यादि सूत्र से उपधा दीर्घ, होतार् औ, 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से प्रथमा द्विवचन औ के स्थान में आ आदेश होने पर 'होतारा' पद बना है। होम निष्पादक अर्थ है। 'दैव्या' और 'होतारा' दोनो सयुक्त होने पर 'दैव्याहोतारा' बना है। यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

दैव्याहोतारा। दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्नि रसौ च मध्यमः।

दैव्याहोतारा = दैव्यौ होतारौ = दो देव और दो होता। अयम् च अग्निः = यह पृथिवी का पार्थिव अग्नि और, असौ च मध्यमः = वह मध्यम लोक अन्तरिक्ष का विद्युत् रूप अग्नि।

तयोरेषा भवति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य एकादशः खण्डः। ८–११ ॥

तयोः = उनकी अर्थात् दैव्या और होतारा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥

ऋ सं. ८–६–९–७ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ— दैव्याहोतारा = देवो मे होने वाले होता या स्वयं देव स्वरूप होता अग्नि और विद्युत् (वायु), प्रथमा = मनुष्य होता की अपेक्षा प्रथम हैं। सुवाचा = ये दोनो सुन्दर वाणी बोलने वाले हैं। मनुषः = यजमान रूप मनुष्य के, यजध्यै = यज्ञ के लिये, यज्ञम् मिमाना = यज्ञ का निर्माण करने

वाले हैं । विदथेपु कारू प्रचोदयन्ता = यज्ञो में प्रेरणा करनेवाले है । प्राचीनम् ज्योतिः = पूर्व दिशा मे होनेवाली आहवनीय अग्नि रूप ज्योति को, प्रदिशा = वेद मे बताई हुई दिशा के अनुसार, दिशन्ता = 'यज्ञ करना चाहिये' इस प्रकार की आज्ञा करने वाले हैं । इस मन्त्र मे पार्थिव अग्नि और मध्यम ज्योति अग्नि वाचक दैव्याहोतारा शब्द है । अतः इस का यह मन्त्र निगम उदाहरण समझना चाहिये ।

इस मन्त्र का यास्कभाष्य—

दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय प्रचोदयमानौ, यज्ञेषु कर्तारौ । पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ ।

दैव्याहोतारा = दैव्यौ होतारौ = देवताओ मे होने वाले होता अथवा देवता रूप होता अग्नि और विद्युत्, प्रथमा = प्रथमौ = मनुष्य होता की अपेक्षा प्रथम हैं । सुवाचा = ये दोनों सुवाचौ = सुन्दर वाणी वाले हैं । यज्ञम् = यज्ञ का, मिमाना = निर्मिमानौ = निर्माण करने वाले हैं । मनुष. = मनुष्यस्य मनुष्यस्य = प्रत्येक मनुष्य को, यजध्यै = यजनाय = यज्ञ के लिये, प्रचोदयन्ता = प्रचोदयमानौ = प्रेरणा करने वाले हैं । विदथेपु = यज्ञेषु = यज्ञो मे, कारू = कर्तारौ = करने वाले हैं । प्राचीनम् = पूर्वस्यां दिशि = पूर्व दिशा मे होने वाले, ज्योतिः = आहवनीय अग्नि रूप ज्योति को, यष्टव्यम् इति - 'यज्ञ करना चाहिये' इस प्रकार, दिशन्ता = प्रदिशन्तौ = आज्ञा करने वाले हैं ।

१० – तिस्रो देवीः ।

'तिस्रो देवी' यह प्रथमा के अर्थ मे द्वितीया है । तिस्रः देव्यः = तीन देवियां हैं-भारती इला और सरस्वती । इसी को कहते हैं—

तिस्रो देवी = तिस्र देव्यः = तीन देवियां है । इला देवी-पृथिवी स्थान अग्नि । सरस्वती देवी = मध्यम स्थान विद्युत ज्योति । भारती देवी = द्युस्थान आदित्य ज्योति । इस प्रकार इला सरस्वती और भारती ये तीनो अग्नि का ही नाम हैं ।

'इलति इति इळा' इस विग्रह मे 'इल स्वप्नक्षेपणयोः' धातु से 'इगु पधज्ञा....' इस सूत्र से कर्ता मे क प्रत्यय (अ), 'अजाद्यतष्टाप्' इस सूत्र से टाप् (आ) प्रत्यय और दीर्घ होने पर 'इळा' शब्द बना है । इला देवी पार्थिव अग्नि है ।

'सरण सरः' इस विग्रह मे 'सृ गतौ' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, और गुण होने पर 'सरस्' शब्द बना है । 'सरासि सन्ति अस्याम् इति सरस्वती' इस विग्रह मे सरस् शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्र से मतुप् प्रत्यय (मत्) सरस्मत्, 'मादुपधायाश्चमतोर्वोऽयवादिभ्यः' इस सूत्र से मतुप् के मकार को वकार, सरस्वत्, 'उगितश्च' इस सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय होने पर सरस्वती शब्द बना है । सरस्वती देवी मध्यम ज्योति विद्युत् का नाम है ।

बिभर्ति धारणं पोषणं च करोति इति भरतः आदित्यः' इस विग्रह में 'डुभृञ् धारण पोषणयोः' धातु से 'भृमृदृशि....' इत्यादि उणादि सूत्र से कर्ता में अतच् (अत) प्रत्यय और रपर गुण होने पर भरत शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य सब का भरणपोषण करता है। भरतस्य इयं भारती इस विग्रह में भरत शब्द से 'उत्सादिभ्योऽञ्' इस सूत्र से इदम् अर्थ में अञ् (अ) प्रत्यय 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्र से आदि अच् वृद्धि, भारत, 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय, 'यस्येतिच' इस सूत्र से अलोप होने पर भारती शब्द बना है। भारती देवी आदित्य ज्योति का नाम हैं।

तासामेषा भवति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ ८-१२ ॥

तासाम् = उन तीनों देवियों का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विळा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दं स्यो॒नं सर॑स्वती॒ स्वप॑सः सदन्तु ॥

ऋ. सं. ८-६-९-८ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ— भारती = आदित्यज्योति अर्थात् द्युलोक की देवी, नः = हमारे, यज्ञम् = यज्ञ में, तूयम् = शीघ्र, आ एतु = आवे। इळा = पृथिवीलोक की इला देवी, मनुष्यवत् = मनुष्य के समान अर्थात् मनुष्य जैसे निमन्त्रित हो कर भोजन करने आता है वैसे ही, चेतयन्ती = चेतती हुई, इह = हमारे इस यज्ञ मे, आ एतु = आवे। सरस्वती = मध्यम लोककी सरस्वती देवी, आ एतु = आवे। स्वपसः = उत्तम कर्म वाली, तिस्रः देवीः = तीनों देवियें, स्योनम् = सुखपूर्वक, इदम् बर्हिः = इस कुशासन पर आसदन्तु = बैठें। इस ऋचा में क्रमशः तीनों देवियो के वाचक तीनों भारती इला और सरस्वती शब्द हैं। अतः यह ऋचा तीनों के उदाहरण है। यास्क भाष्य—

एतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम्, भरत आदित्यस्तस्य भाः। इळा च मनुष्यवदिह चेतयमाना। तिस्रो देव्यो बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माणः आसीदन्तु ॥

भारती = भारती देवी, नः = हमारे, यज्ञम् = यज्ञ में, क्षिप्रम् = शीघ्र, एतु = आवे। भरतः = भरत, आदित्यः = आदित्य है अर्थात् भरत का अर्थ सूर्य है। तस्य भाः = उसका जो प्रकाश वह भारती कहलाता है। च = और, इळा = पार्थिव अग्नि ज्योति, मनुष्यवत् = निमन्त्रित मनुष्य के समान, चेतयमाना = चेतती हुई, इह = यहां हमारे यज्ञ में, आवे। च = एवं, सरस्वती = मध्यम ज्योति सरस्वती देवी हमारे यज्ञ में आवे। सुकर्माणः = उत्तम कर्म वाली, तिस्रः देव्यः = यथोक्त तीनों देवियां, सुखम् = सुख पूर्वक, इदम् बर्हिः = इस कुशासन पर, आसीदन्तु = बैठें।

११ – त्वष्टा ।

त्वष्टा = शीघ्र व्याप्त होने वाला वायु अथवा अग्नि । यास्क स्वयं इसका निर्वचन करते हैं—

त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः । त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्यात्करोति कर्मणः ।

तूर्णम् = शीघ्र, अश्नुते = व्याप्त करता है इस लिये, त्वष्टा = वायु अथवा अग्नि त्वष्टा कहा जाता है, इति = यह, नैरुक्ता = निरुक्त शास्त्र के आचार्य लोग मानते है । अर्थात् 'तूर्णम् अश्नुते व्याप्नोति इति त्वष्टा वायुरग्निर्वा' इस विग्रह मे क्षिप्र वाची तूर्ण शब्द उपपद 'अशू व्याप्तौ सघातेच' धातु से 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र के निपातन से तृन् (तृ) प्रत्यय, 'र्ण' का लोप, तू अश् तृ यण् त्वश् तृ षत्व ष्टुत्व होने पर त्वष्टृ शब्द बना है । 'त्वष्टा' प्रथमा एकवचन का रूप है । मतभेद से वायु तथा अग्नि का नाम है । क्योंकि, ये दोनो व्यापनशील हैं । वा = अथवा। दीप्तिकर्मण = दीप्ति अर्थक, त्विषे = त्विष् धातु से, त्वष्टा स्यात् = त्वष्टा रूप बना हो । अर्थात् 'त्वेषति दीप्यते इति त्वष्टा वायुरग्निर्वा' इस विग्रह मे 'त्विष दीप्तौ' धातु से तृन् इस सूत्र से तृन् (तृ) प्रत्यय, त्विष् तृ, पृषोदरादित्वात् उपधा इकार को अकार, त्वष् तृ, ष्टुत्व होने पर त्वष्टृ शब्द बना है । वायु तथा अग्नि का नाम है । विद्युत् रूप से वायु भी प्रकाशक है । अग्नि तो प्रकाशक है ही । वा = अथवा, करोति कर्मण = करोति अर्थक (क्रियासामान्यवाची), त्वक्षते = त्वक्ष धातु से, त्वष्टा स्यात् = त्वष्टा शब्द शायद बना हो । अर्थात् 'त्वक्षणोति करोति इति त्वष्टा' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् 'त्वक्षूतनूकरणे' धातु से पूर्ववत् तृन् प्रत्यय, क् लोप, त्वष् तृ ष्टुत्व होने पर त्वष्टृ शब्द बना है । त्वष्टा प्रथमा एकवचन का रूप है । वायु या अग्नि का नाम है । क्योंकि, ये दोनो ही क्रियाशील है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य त्रयोदश खण्ड ॥ ८–१३ ॥

तस्य = उस त्वष्टृ देवता का, एषा = यह निम्नलिखित ऋचा उदाहरण मन्त्र, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्दश खण्ड ।

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥

ऋ स ८–६–९–१ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ—
य = जिस त्वष्टा देव ने, जनित्री = समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली, इमे = इन, द्यावापृथिवी=

द्यावापृथिवी को और, विश्वाभुवनानि = समस्त भुवनो को, रूपैं अपिंशत् = नाना प्रकारों से उत्पन्न किया था। होत = हे होत, यजीयान् = बडे यज्ञ करने वाले, विद्वान् = जानने वाले, इषित = हम से प्रार्थित तुम, इह = इस यज्ञ में, अद्य = आज, तम् त्वष्टारम् देवम् = उस त्वष्टा देव को, यक्षि = स्तुति तथा हवि द्वारा यज्ञ करो। इस मन्त्र मे त्वष्टृ शब्द है। अत उसका यह उदाहरण है। अभिमुख होती हुई।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोद् भुवनानि च सर्वाणि तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान् ।

य = जिस त्वष्टा देव ने, इमे = इन, जनयित्र्यौ = सारे जगत् को जनने वाली, द्यावापृथिव्यौ = द्यु और पृथिवी को, एव, सर्वाणि भुवनानि = सब भुवनों को, अकरोत् = किया था। होत = हे होता, यजीयान् = अतिशय यज्ञ करने वाले विद्वान् = जानने वाले, इषितः = हम से प्रार्थित तुम, तम् त्वष्टारम् देवम् = उस त्वष्टा देव को, अद्य = आज, इह = इस यज्ञ मे, यज = यजन करो।

त्वष्टा कौन है? इस का विचार करते हैं—

माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातः ।

त्वष्टा = यह त्वष्टा देव, माध्यमिक = मध्यम लोक का है, इति = यह कोई आचार्य कहते हैं। क्योंकि, मध्यमे च स्थाने = मध्यम स्थान मे यह, समाम्नात = समाम्नात है = पठित है। अर्थात् त्वष्टा का अर्थ मध्यमस्थान वायु है।

सिद्धान्त कहते हैं—

अग्निरिति शाकपूणिः ।

त्वष्टा का अर्थ, अग्निः = पार्थिव अग्नि है, इति = यह, शाकपूणि = शाकपूणि नामक निरुक्ताचार्य कहते है।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्दश खण्डः ।। ८-१४ ।।

तस्य = उस त्वष्टृ शब्द का, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है।

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य पञ्चदश खण्ड ।

आविष्टयो॑ वर्धते चारु॑रासु जिह्मानां॑मूर्ध्वः स्वयं॑शा उपस्थे॑ ।
उभे त्वष्टु॑र्बिभ्यतु॒ जाय॑मानात्प्रती॒ची सिंहं प्रति॑ जोषयेते ॥

ऋ स १-७-१-५ ।।

इस मन्त्र का आङ्गिरस कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—आविष्ट्यः = प्रकाश का विस्तार करने वाला, चारुः = चलने वाला, जिह्मानाम् = टेढे काष्ठों के, ऊर्ध्वः = ऊपर जलने वाला, उपस्थे = उपस्थान अर्थात् स्तुति मे, स्वयशः = अपनी कीर्ति को धारण करने वाला, आसु = इन क्रियाओ मे त्वष्टा नामक अग्नि, वर्धते = बढता है। उभे = दोनों द्यावापृथिवी, जायमानात् = उत्पन्न होते हुए ही, त्वष्टुः = त्वष्टा अर्थात् अग्नि देव से, बिभ्यतुः = डरी भयभीत हुई। प्रतीची = इस के प्रति अभिमुख गई हुई, सिंहम् प्रति = सहन के प्रति अर्थात् सहने को, जोषयेते = सेवा करती हैं। इस मन्त्र मे त्वष्टृ शब्द अग्नि-वाचक है। अतः त्वष्टा अग्नि है, वायु नही यह सिद्ध हुआ।

यास्क भाष्य—

आविरावेदनात् तस्यो वर्धते चारुरासु। चारुः चरतेः।

आवेदनात् = आवेदन करने से अर्थात् ज्ञान देने से, आविः = अग्नि आवि (प्रकाश करने वाला) कहा जाता है। तस्य = उस से त्य प्रत्यय, षत्व, ष्टुत्व, होने पर आविष्ट्य शब्द बना है। आसु = इन क्रियाओ मे, चारु = चलने वाला अग्नि, वर्धते = बढता है। अर्थात् 'आवेत्ति इति आविः' इस विग्रह मे आङ्पूर्वक 'विद ज्ञाने' धातु से क्विप् (०) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् दकार को स् होने पर आविस् शब्द बना है। प्रकाश का नाम है। क्योकि, प्रकाश आवेदन करता है, ज्ञान मे सहायक होता है। आविस् अव्यय है। आविः भवः इति आविष्ट्यः' इस विग्रह मे आविस् शब्द से 'अव्ययात् त्यप्' इस सूत्र से त्यप् (त्य) तद्धित, आविस् त्य, 'ह्रस्वात्तादौतद्धिते' इस सूत्र से सकार को षकार, ष्टुत्व होने पर 'आविष्ट्य' शब्द बना है। अथवा 'आविस्तनोति इति आविष्ट्यः' इस विग्रह मे आविस् पूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से पृषोदरादि मे निपातन से ड्य (य) प्रत्यय, टि लोप, आविस् त्य, पूर्ववत् निपातन से ही षत्व ष्टुत्व होने पर आविष्ट्य शब्द बना है। प्रकाश का विस्तार करने वाला अर्थ है। चरतेः = चर धातु से, चारु = चारु शब्द बना है। अर्थात 'चरतीति चारुः' इस विग्रह मे गत्यर्थक 'चर' धातु से 'दृसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्' इस उणादि सूत्र से ञुण (उ) प्रत्यय और उपधा वृद्धि होने पर चारु शब्द बना है। चलने वाला अर्थ है।

जिह्मं जिहीतेः। ऊर्ध्व उच्छ्रितो भवति। स्वयशा आत्मयशाः। उपस्थ उपस्थाने। 'उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते'।

जिहीते = ओहाङ् धातु से, जिह्मम् = जिह्म शब्द बना है। अर्थात् 'जिहीते कुटिलं गच्छति इति जिह्मम्' इस विग्रह मे 'ओहाङ् गतौ' धातु से 'जहातेः सन्वदालोपश्च' इस उणादि सूत्र से मन् (म) प्रत्यय, सन्वद्भाव, द्वित्व, अभ्यासकार्य, और आ लोप होने पर जिह्म शब्द बना है। अग्नि का नाम है। क्योकि, दाह्य काष्ठादि के टेढे होने से अग्नि भी टेढा होता है। उच्छ्रित भवति = जो ऊँचा होता है वह, ऊर्ध्वम् = ऊर्ध्व कहा जाता है। 'उत् ऊर्ध्वं श्रीयते सेव्यते इति ऊर्ध्वम्' इस विग्रह मे उत् पूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' धातु से उणादि वन् (व) प्रत्यय, उत् श्रि व, पृषोदरादित्वात् श्, इ का लोप, उत् र व, वर्णव्यत्यय, उरत् व, उ को दीर्घ और त् को ध् होने पर ऊर्ध्व शब्द बना है। ऊँचा अर्थ है। अर्थात् जो सबसे बडी सेवा करे वह ऊर्ध्व कहा जाता

है। स्वयशा = आत्मयशाः = अपने यश वाला, उपस्थे = उपस्थाने = स्तुति में। उभे = दोनों द्यावापृथिवी, जायमानात् = उत्पन्न होते ही, त्वष्टु = अग्नि से, बिभ्यतुः = डर गई कि, कहीं यह भस्म न कर डाले, प्रतीची = सिंहम् प्रति = सहन करने को।

मन्त्र में 'उभे' पद आया है। उसका अनेक प्रकार से व्याख्यान करते हैं—

द्यावापृथिव्याविति वा, अहोरात्रे इति वा, अरणी इति वा, प्रत्यक्ते। सिंहं सहनं प्रत्यासेवेते।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः॥ ८–१५॥

उभे का अर्थ दो, द्यावापृथिव्यौ = द्युलोक और पृथिवी लोक, इति = यह, वा = अथवा, अहोरात्रे = दिन और रात्रि, इति = यह, वा = अथवा, अरणी = अधर अरणि (काष्ठ) और उत्तर अरणि, इति = यह अर्थ है। ये तीनों समूह अग्नि के बढ़ते हुए देख कर डरते हैं कि कहीं जला न डाले, इस लिये, प्रतीची = प्रत्येक्ते = ये अग्नि से प्रत्यक्त दूर रहते हैं। सिंहम्प्रति = सहनम् = सहने को। आसेवेते = उस अग्नि की सेवा करते हैं। 'जोषयेते' में स्वार्थ में णिच् समझना चाहिये।

१२ – वनस्पतिः।

वनस्पतिः = वनस्पति का अर्थ गाहूंपत्याग्नि है। वनों का जो पालन करे यह वनस्पति कहा जाता है। अग्नि समर्थ होता हुआ भी एवं वृक्षादि वनों के भीतर रहता हुआ भी उन्हें जलाता नहीं। अतः यह वनों का पालन करने वाला वनस्पति कहा जाता है। 'वन्यन्ते सेव्यन्ते इति वनानि' इस विग्रह में 'वन सम्भक्तौ' धातु से, 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण' इस सूत्र से घ (अ) प्रत्यय होने पर वन शब्द बना है। वृक्षादि वन का नाम है। 'पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह में 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति प्रत्यय (अति), डित्वात् टिलोप होने पर 'पति' शब्द बना है। 'वनानां पतिः इति वनस्पतिः' इस विग्रह में षष्ठी समास और पारस्करादित्वात् सुट् (स्) आगम होने पर 'वनस्पति' शब्द बना है।

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य पोडशः खण्डः।

निरुक्तकार इस का निर्वचन करते हैं—

वनस्पतिर्व्याख्यातः।

वनस्पतिः = वनस्पति शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है अर्थात् अष्टम अध्याय तृतीय खण्ड में 'एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा' इत्यादि पङ्क्ति से वनस्पति शब्द की व्याख्या हो चुकी है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ ८-१६ ॥

तस्य = उस वनस्पति शब्द का, एषा = यह, अग्रिम ऋचा उदाहरण मन्त्र, भवति = है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥

ऋ सं. ८-६-९-१० ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आप्री अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ—हे वनस्पति यूप ! वा हे अग्निदेव ! तुम, देवानाम् = देवताओ के, पाथः = अन्न को और, हवींषि = हवियो को, ऋतुथा = ऋतु ऋतु मे = प्रत्येक ऋतु मे (समय समय पर), त्मन्या = आत्मा से, समञ्जन् = सस्कार विशेष से प्रगट करता हुआ, उपावसृज = बनाओ । वनस्पतिः = वनस्पति, शमिता देवः = शमिता नामक देव विशेष और अग्निः = अग्नि देव, ये तीनो देवता, मधुना = मधु से और, घृतेन = घृत से, हव्यम् = हवि को, स्वदन्तु = स्वादु बनावे । इस मन्त्र मे वनस्पति का मत भेद से दो अर्थ हैं । यूप और अग्नि ।

इस ऋचा का यास्क भाष्य—

"उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन्देवानामृतावृतौहवींषि काले काले । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरित्येते त्रयः स्वदन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च ।

हे देव ! तू, आत्मानम् = अपने से आप को समञ्जन् = संस्कार विशेष से प्रगट करता हुआ, देवानाम् = देवो के, हवींषि = हव्य अन्न को, ऋतौ ऋतौ = काले काले = समय समय पर, उपावसृज = बना । वनस्पतिः = वनस्पति, शमिता देव. = शमिता देव और, अग्निः = अग्नि, इति एते त्रयः = ये तीनो मिल कर, हव्यम् = हव्य को, मधुना च घृतेन च = मधु और घृत से, स्वदन्तु = स्वादु बनायें ।

तत् को वनस्पतिः ।

तत् = यथोक्त मन्त्र मे, वनस्पतिः = वनस्पति, कः = कौन है ? । अर्थात् वनस्पति शब्द से किस देवता का ग्रहण है ? इसका विचार यहाँ किया जाता है ।

यूप इति कात्थक्यः ।

यूपः = यूप (यज्ञस्तम्भ), इति = यह, कात्थक्यः = कात्थक्य नामक आचार्य कहते हैं । अर्थात् कात्थक्य कहते हैं कि, वनस्पति का अर्थ यूप है । क्योंकि, वनस्पति जो वृक्ष उस की शाखा का बना हुआ यूप होता है । अतः यूप वनस्पति है । इस अर्थ में प्रमाण देते हैं—

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य सप्तदशः खण्ड. । ८-१७ ॥

तस्य = यूपार्थक वनस्पति शब्द का, एषा अपरा = यह दूसरी ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन ।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥

ऋ सं ३-१-३-१ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और यूप देवता है। मन्त्रार्थ—वनस्पते हे वनस्पतिदेव ! (हे यूप !), अध्वरे = यज्ञ में, देवयन्तः = देवों के अभिलाषी अध्वर्यु लोग, दैव्येन मधुना = देव सम्बन्धी मधु = घृत से, त्वाम् = तुम को, अञ्जन्ति = सिञ्चन करते हैं। यद् = जो तुम चाहे, ऊर्ध्वस्तिष्ठाः = उन्नतभाव से रहो, यद्वा = अथवा, मातुरस्या. = मातृस्वरूप पृथिवी की, उपस्थे = गोद में, क्षयः = शयन करो अर्थात् चाहे तुम उच्च स्थान पर खड़े रहो वा जमीन पर रहो, इह = यहां, द्रविणा = धन, धत्तात् = धरो = हमें धन दो। इस मन्त्र में समञ्जन यूप अर्थ में वनस्पति शब्द का प्रयोग है। अतः वनस्पति का अर्थ यूप है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान्कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च यदूर्ध्वः स्थास्यसि, द्रविणानि च नो दास्यसि, यद्वा ते कृतः क्षयो मातुरस्या उपस्थे उपस्थाने।

वनस्पते = हे यूप !, त्वाम् = तुझे, अध्वरे देवान् कामयमानाः = यज्ञ में देवताओं को यजन करने की इच्छा करते हुए ऋत्विक् तथा यजमान लोग, दैव्येन = देवसम्बन्धी, मधुना = घृतेन = घृत से, अञ्जन्ति = चुपड़ते हैं। यद् = जो = चाहे तुम, ऊर्ध्वः = ऊपर, स्थास्यसि = रहो, यद्वा = अथवा, अस्याः मातुः उपस्थे = उपस्थाने = इस पृथिवी माता के गोद में, क्षयः स्थास्यसि कृतः = शयन करते रहो, चाहे जहां रहो, नः = हमें, द्रविणानि दास्यसि = धन दो।

अग्निरिति शाकपूणिः ।

अग्निः = वनस्पति शब्द का अर्थ अग्नि है, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि आचार्य कहते हैं।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ ८-१८ ॥

तस्य = अग्नि अर्थक, वनस्पति शब्द की, एषा = यह, अपरा = अन्य (तीसरी) ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यवर्ण प्रदिवस्ते अर्थम् ।
प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षिपथिभी रजिष्ठैः ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—वनस्पते = हे अग्ने ! तथा, हिरण्यवर्ण = हे ज्वलित !, हवींषि = हवियों को, रशनया रसनया (शसयोर्व्यत्ययः) = जिह्वा से, नियूय = बांध कर, प्रदक्षिणित् = दक्षिण मार्ग से, रजिष्ठै = बहुत सीधे, ऋतस्य पथिभिः = यज्ञ मार्गों से, देवेभ्यः = देवों के लिये, वक्षि = वहन कर = लेजा। प्रदिवः = पुराने, ते = तुम्हारे, अर्थम् = अर्थ को हम कहते हैं। इस मन्त्र में हविर्वहन संयोग से वनस्पति शब्द का अग्नि अर्थ है। क्योंकि, हविर्वहन अग्नि ही करता है। यूप नहीं।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण ऋतपर्णापि वोपमार्थस्याद्धिरण्यवर्णपर्णेति प्रदिवस्ते अर्थं पुराणस्तेसोऽर्थोऽयंते प्रब्रूमो यज्ञस्य वह पथिभी रजिष्ठैर्ऋजुतमै रजस्वलतमैरितिवा ।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

"वनस्पते रशनया वियूय" सुरूपतमया "वयुनानि विद्वान्", प्रज्ञानानि प्रजानन् । वह देवान् यज्ञे दातुर्हवींषि । प्रब्रूहि च दातारममृतेषु–देवेषु ।

वनस्पते = हे अग्ने !, सुरूपतमया रशनया = बहुत सुरूप रस्सी से, वियूय = हवि को बांध कर, वयुनानि विद्वान् = प्रज्ञानानि प्रजानन् = अपने अधिकारयुक्त बुद्धियों को जानता हुआ। दातुः = दाता यजमान के, हवींषि = हवियों को, यज्ञे = यज्ञ में, देवान् = देवों के प्रति, वह = वहन करो = लेजा। च = और, दातारम् = दाता को, अमृतेषु = देवेषु = देवताओं में, प्रब्रूहि = कहो कि, उस यजमान ने ये हवि दिये हैं।

'वनस्पति का अर्थ यूप है' यह कात्थक्य का मत है और 'अग्नि है' यह शाकपूणि का मत स्वीकार्य है। क्योंकि, यही सिद्धान्त है। अग्नि इन्द्र और आदित्य ये तीन ही देवता हैं। इन में अग्नि का प्रकरण चल रहा है। 'वनस्पति का अर्थ अग्नि है' इस की पुष्टि में यास्क ने दो मन्त्र उद्धृत किये हैं—एक 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि' और दूसरा 'वनस्पते रशनया नियूय'। ये दोनों मन्त्र कहां के हैं यह अन्वेषणीय है। ऋक्संहिता में कुछ मिलता जुलता पाठ है, परन्तु सम्पूर्ण आनुपूर्वी नहीं है।

१३ – स्वाहाकृतयः।

'स्वाहाकृतय' यह देवता बोधक पद है। इस का निर्वचन करते हैं—

' स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा।

वनस्पते = हे वनस्पति (काष्ठ) रूप अग्निदेव ! तथा, हिरण्यपर्ण = ऋतपर्ण = हे यज्ञरूप वृक्ष के पत्र रूप अग्ने !, अपिवा = अथवा, उपमार्थे स्यात् = हिरण्यवर्ण पद उपमा अर्थ मे हो सकता है, जैसे—हिरण्यवर्ण पर्ण = हे सुवर्ण रंग के पत्र वाले = ज्वलित अग्निदेव ! तुम, देवेभ्य = देवो के लिये, हवींषि = हवियो का, वक्षि = वह = वहन करो। ले जाओ। प्रदिव ते अर्थम् = पुराण ते स अर्थ = वह तुम्हारा अर्थ पुराना है यम् ते प्रब्रूम = जिसको तुम्हारे लिये हम कहते हैं। रजिष्ठै = ऋजुतमै = बडे सुरूप एव अन्धकार से रहित, ऋतस्य पथिभि यज्ञ के मार्ग से हवि को ले जाओ। इति = इत्यर्थ।

तस्यैषाऽपराभवति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्यैकोनविंश खण्ड ॥ ८–१९ ॥

तस्य = अग्नि अर्थक वनस्पति शब्द की, एषा = यह, अपरा = अन्य (चौथी) ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य विंशः खण्ड।

वन॑स्पते रश॒नया॒ नि॒यूय॑ पि॒ष्टत॑मया व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
वहा॑ दे॒वत्रा॑ दिधि॒षो ह॒वींषि॒ प्र च॑ दा॒तार॑म॒मृते॑षु वोचः॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वनस्पति रूप अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—वनस्पते = हे वनस्पतिरूप अग्निदेव !, पिष्टतमया = बहुत सुरूप, रशनया = रस्सी से, हवींषि = हवियो को, नियूय = बाँध कर, वयुनानि = अपने अधिकार युक्त प्रज्ञानो को, विद्वान् = जानता हुआ दिधिषो = देने वाले यजमान के हवियो को, देवत्रा = देवताओ के प्रति, वह = वहन कर = ले जा, च = और, दातारम् = दाता को यज्ञ मे, अमृतेषु = देवताओ मे, प्रवोच = कहो कि, उस यजमान ने ये हवि दिये हैं। इस मन्त्र मे वनस्पति का अर्थ अग्नि है।

स्वाहा इति एतत् = स्वाहाकृति इस समस्त पद मे जो 'स्वाहा' यह पद है वह, सु आह = शोभन कहता है = अच्छा कहता है, इति = इस प्रकार दो पदो के योग से, वा = अथवा, स्वा वाग् आह = अपनी वाणी कहती है, इति = इस प्रकार तीन पदो के सक्षेप से, वा = अथवा, स्वम् प्र आह = अपने को कहता है इति = इस प्रकार तीन पदो के सक्षेप से, वा = अथवा, स्वा हुतम् हवि जुहोति = सुन्दर होम करने योग्य हवि को होम करता है, इति = इस प्रकार, उक्त समस्त वाक्य का सक्षेप शब्द है।

(१) 'सु = सुष्ठु, आह = ब्रवीति इति स्वाहा' इस विग्रह में 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' धातु से बाहुलकात् कर्ता में घञ् (अ) प्रत्यय 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इस सूत्र से छान्दसत्वात् घञ् के परे रहते भी ब्रू के स्थान में आह् आदेश, सु के उकार को 'इको यणचि' इस सूत्र से वकार सुप् के स्थान मे 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से आ आदेश और दीर्घ होने पर 'स्वाहा' शब्द बना है। जो वाणी सत्य प्रिय और हितकर वचन का उच्चारण करती हो उसे स्वाहा कहते हैं।

(२) 'स्वा वाक् आह इति स्वाहा' अर्थात् 'स्वा = आत्मीया वाक् = सत्यवचनं आह = ब्रवीति इति स्वाहा' इस विग्रह में स्वा शब्द पूर्वक पूर्ववत् ब्रू धातु से घञ्, ब्रू को आह आदेश, स्वा आह, दीर्घ, स्वाह, सु को आ और दीर्घ होने पर 'स्वाहा' शब्द बना है। जो वाणी अपने हृदयस्थ सत्यवचन का ही उच्चारण करे उसे 'स्वाहा' कहते हैं।

(३) 'स्वं प्राह इति स्वाहा' अर्थात् 'स्वं पदार्थं प्राह = प्रब्रवीति अनेन इति स्वाहा,' इस विग्रह में स्व पूर्वक ब्रूञ् धातु से पूर्ववत् घञ् आह सु = आ और दीर्घ होने पर 'स्वाहा' शब्द बना है। जो अपने पदार्थ को ही अपना कहे और दूसरे के पदार्थ को अपना न कहे उस वाणी को 'स्वाहा' कहते हैं।

(४) वा = अथवा 'स्वाहुतं हविर्जुहोति इति स्वाहा' अर्थात् 'सु आहुतं हविः जुहोति अनेन इति स्वाहा इस विग्रह में सु आङ् पूर्वक 'हु दानादनयोः' धातु से उणादि परि कल्पित ड प्रत्यय (अ), डित्वात् टिलोप और शेष सब कार्य पूर्ववत् होने पर स्वाहा शब्द बना है। सामग्री आदि को भली प्रकार स्वच्छ करके विधिपूर्वक जिस वाणी रूप शब्द का उच्चारण करके होम किया जाय उसे 'स्वाहा' कहते हैं।

'स्वाहा करणं स्वाहाकृतिः' इस विग्रह में स्वाहा पूर्वक 'डुकृञ् करणे' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र से भाव मे क्तिन् (ति) प्रत्यय होने पर स्वाहाकृति शब्द बना है। 'स्वाहाकृतयः' यह प्रथमा बहुवचन का रूप है। छान्दस प्रयोग है। अग्नि का नाम है।

तासामेषा भवति ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य विंशः खण्डः । ८-२० ।

तासाम् = उन स्वाहाकृति की, एषा = यह ऋचा, भवति = उदाहरण है—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥

ऋ. सं. ८-६-१०-११ ॥

इस मन्त्र का भार्गव जमदग्नि ऋषि, त्रिष्टुप छन्द और आपी अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ— सद्यः जातः = प्रगट होते ही, अग्निः = अग्नि देव ने, यज्ञम् = यज्ञ का, व्यमिमीत = निर्माण किया

और वे, देवानाम् = देवो के, पुरोगाः = अग्रगामी, अभवत् = हुए । प्रदिशि = पश्चिम दिशा की ओर, ऋतस्य = आहवनीय रूप से प्राप्त, अस्य होतुः = इस अग्नि रूप होता के, वाचि = वाग् आश्रय मुख मे, स्वाहाकृतम् = स्वाहा वाणी अर्थात् शब्द का उच्चारण करके जो, हविः = आज्यादि होम्य द्रव्य दिया जाता है उस का, देवाः = सभी देवगण, अदन्तु = भक्षण करें ।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगामी, 'अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य', वाच्यास्ये, 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' ।

अग्निः = अग्नि ने, सद्यः जातः = तत्काल उत्पन्न होता हुआ ही, यज्ञम् निरमिमीत = यज्ञ का निर्माण किया और, देवानाम् पुरोगामी अभवत् = वे देवो के अग्रगामी हुए । प्रदिशि = पश्चिम दिशा की ओर, ऋतस्य = आहवनीयरूप से प्राप्त, अस्य होतु = इस अग्नि रूप होता के, वाचि आस्ये = वाणी के आश्रय मुख में, देवाः = सभी देवगण, स्वाहाकृतम् हविः = स्वाहारूप वाणी का उच्चारण कर के जो होम दिया जाता है उसका, अदन्तु = भक्षण करें ।

इतीमा आप्री देवता अनुक्रान्ताः । अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः ।

इति = इस प्रकार, इमाः = ये, आप्री देवता = आप्री देवता, अनुक्रान्ताः = अनुक्रान्त (समाप्त) हुए । अर्थात् इध्म से लेकर स्वाहाकृति तक द्वादश (१२) आप्री देवता कहे जाते हैं। उन का विचार समाप्त हुआ । अथ = अब (यहा से), प्रयाजानुयाजाः = प्रयाज और अनुयाज, किं देवताः = किं देवताक हैं ? इस का विचार किया जाता है। भाव यह है कि, ज्योतिष्टोम याग सोम याग कहा जाता है । वह अङ्गी है और उस के पांच प्रयाज और पांच अनुयाज अङ्ग हैं। इन दोनो के अनुष्ठान विना ज्योतिष्टोम के अनुष्ठान से परमापूर्व (अदृष्ट विशेष) की उत्पत्ति नही होती है और उसके विना स्वर्ग नही होता है। इसी लिये प्रयाज अनुयाज अङ्ग और ज्योतिष्टोम अङ्गी कहा जाता है । इन दोनो के देवता के जाने विना इन का ध्यान पूर्वक अनुष्ठान अशक्य है । अतः इस का विचार यहा किया जाता है कि, इन का देवता कौन है ? ।

आग्नेया इत्येके ।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥ ८ – २१ ॥

प्रयाज और अनुयाज, आग्नेयाः = अग्नि देवताक हैं अर्थात् प्रयाज और अनुयाज के देवता अग्नि हैं, इति = यह, एके = कोई एक आचार्य कहते हैं और इसका अग्रिम ऋचा से प्रतिपादन करते हैं—

अथ निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ।

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् ।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥

ऋ. सं. ८-१-११-८ ॥

इस मन्त्र का अग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और देवगण देवता हैं। मन्त्रार्थ—एक समय की बात है कि, वषट्कार हविर्वहन से भयभीत होकर अग्नि देवताओं में से निकलकर जल में छिप गया। उसको खोजते हुए सभी देव वहां आये। मछलियों ने बता दिया। देवताओं ने अग्नि को प्राप्त कर हविर्वहन के लिये प्रार्थना की। उस समय के इनका सम्वाद इन दो मन्त्रों में है। अग्नि कहता है—देवाः = हे देवो!, प्रयाजान् = प्रयाज = प्रयाज होम के भाग, अनुयाजान् = अनुयाज = अनुयाज होम के भाग, हविषः ऊर्जस्वन्तम् भागम् = हवि के सार भाग, अपाम् घृतम् च = और जल के सार भाग घृत, ओषधीनाम् पुरुषम् च = और ओषधियों के सार पुरुष, ये सर्व भाग, केवलान् = केवल, मे = मुझे, दत्त = दो।

इसके उत्तर में देवताओं ने उसे दूसरी ऋचा से वरदान दिया—

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः ।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ॥

ऋ सं. ८-१-११-९ ॥

इस मन्त्र का देवगण ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—देवगण अग्नि को उत्तर देते हैं—अग्ने = हे अग्निदेव!, प्रयाजाः अनुयाजा च = प्रयाज = प्रयाज होम के भाग और अनुयाज = अनुयाज होम के भाग, हविषः ऊर्जस्वन्तः भागा. = हवि के सार भाग, केवले तव सन्तु = केवल तुम्हारा ही हो। अग्ने = हे अग्नि देव! अयम् सर्वः यज्ञः = यह सर्व यज्ञ, तव अस्तु = तुम्हारा ही हो। चतस्र. प्रदिशः = चारो दिशायें, तुभ्यम् नमन्ताम् = तुम्हे ही नमन करें। यहां से चलो और हविर्वहन करो। इस कथा प्रसंग रूप मन्त्र से यह सिद्ध हुआ कि, प्रयाज अनुयाज के देवता अग्नि है।

इस अर्थ में भाष्यकार ब्राह्मणवचन प्रमाण देते हैं—

"आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम् ।

आग्नेयाः वै = अग्नि देवताक ही, प्रयाजाः = प्रयाज हैं और, आग्नेयाः वै = अग्नि देवताक ही, अनुयाजाः = अनुयाज भी हैं, इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य प्रयाज अनुयाज को अग्निदेवताक होने मे प्रमाण है। इस ब्राह्मण वचन से भी यह सिद्ध हुआ कि, प्रयाज अनुयाज के देवता अग्नि है।

इस प्रकार एक मत दिखा कर दूसरा मत दिखाते हैं—

छन्दोदेवता इत्यपरम् । "छन्दांसि प्रयाजाश्छन्दांस्यनुप्रयाजाः" इति च ब्राह्मणम् ।

छन्दो देवताः = प्रयाज अनुयाज के छन्द देवता है, इति = यह, अपरम् = दूसरा किसी आचार्य का मत है । क्योंकि, प्रयाजाः अनुयाजाः = प्रयाज और अनुयाज, छन्दांसि = छन्द देवताक है इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है । अर्थात् इस ब्राह्मण वाक्य से प्रतीत होता है कि, प्रयाज अनुयाज का छन्दों देवता है ।

तीसरा मत—

ऋतुदेवता इत्यपरम् । "ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम् ।

ऋतुदेवताः = प्रयाज अनुयाज के ऋतु देवता हैं, इति = यह, अपरम् = अपर अर्थात् तीसरा किसी आचार्य का मत है । क्योंकि, ऋतवः वै = ऋतु ही, प्रयाजाः = प्रयाज हैं और, ऋतवः = ऋतु ही, अनुयाजाः = अनुयाज हैं, इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है । अर्थात् इस ब्राह्मण वचन से ज्ञात होता है कि, प्रयाज अनुयाज के देवता ऋतु हैं ।

चौथा मत—

प्राणदेवता इत्यपरम् । "प्राणा वै प्रयाजा प्राणा अनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम् ।

प्राणदेवताः = प्रयाज अनुयाज के प्राण देवता हैं, इति अपरम् = यह अपर अर्थात् चतुर्थ मत है । क्योंकि, प्राणाः वै = प्राण ही, प्रयाजाः = प्रयाज हैं और, प्राणाः = प्राण ही, अनुयाजाः = अनुयाज हैं, इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है । इस ब्राह्मण वचन से प्रतीत होता है कि, प्रयाज अनुयाज के देवता प्राण हैं ।

पांचवाँ मत—

आत्मदेवता इत्यपरम् । "आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम् ।

आत्मदेवताः = प्रयाज अनुयाज के आत्मा देवता हैं, इति च = यह, अपरम् = अपर अर्थात् किसी पांचवां आचार्य का मत है । क्योंकि, आत्मा वै = आत्मा ही, प्रयाजाः = प्रयाज और, आत्मा = आत्मा ही, अनुयाजाः = अनुयाज हैं, इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है ।

प्रश्न होता है कि, जब इतने मत हैं तो क्या निश्चय किया जाय ? । उत्तर—

आग्नेया इति तु स्थितिः ।

तु शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति करता है । आग्नेयाः = प्रयाज और अनुयाज आग्नेय हैं अर्थात् अग्नि देवताक हैं, इति = यह, स्थितिः = स्थिति अर्थात् अचल सिद्धान्त है ।

प्रश्न—तो फिर 'छन्दोदेवता' इत्यादि की क्या गति ? । उत्तर—

भक्तिमात्रमितरत् ।

इतरत् = दूसरे 'छन्दोदेवता' इत्यादि सब, भक्तिमात्रम् = गौणमात्र है। कहा भी है— 'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति' अर्थात् ब्राह्मण वाक्य प्राय गौण अर्थ का ही प्रतिपादक हुआ करते हैं।

पुन: प्रश्न करते हैं—

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

किमर्थम् = किस लिये, पुन: = फिर, इदम् = यह, उच्यते = कहा जाता है। अर्थात् प्रयाज अनुयाज सम्बन्धी देवता विचार का क्या प्रयोजन है ?।

उत्तर देते हैं—

"यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेत् वषट् करिष्यन्" इति ह विज्ञायते।

यस्यै देवतायै = जिस देवता के लिये, हवि: गृहीतम् स्यात् = हवि ग्रहण किया हुआ हो, वषट्करिष्यन् = वषट्कार करने वाले ऋत्विक् लोग वषट्कार करते हुए, ताम् = उस देवता का. मनसा = मन से, ध्यायेत् = ध्यान करें, इति ह = यह इस ब्राह्मण से, विज्ञायते = जाना जाता है। भाव यह है कि, कर्म करते समय देवता का ध्यान करना चाहिये यह ब्राह्मण वचन कहता है। अन्यथा अपूर्व की उत्पत्ति नही होगी। और अपूर्व की उत्पत्ति न होने पर स्वर्गादि फल की प्राप्ति न होगी। अत: कर्म काल मे देवता का ध्यान अवश्य करना चाहिये। तभी अपूर्व की उत्पत्ति होगी। अपूर्व पुण्य और अदृष्ट पर्याय शब्द हैं। इस विचार से यह निश्चय हुआ कि, प्रयाज अनुयाज का देवता अग्नि है। अत: इन के अनुष्ठान काल मे अग्नि का ही ध्यान किया जायगा।

तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि ।

तानि एतानि = वे ये, एकादश = ग्यारह, आप्रीसूक्तानि = आप्री सूक्त हैं जो समाप्त हुआ। अब जो इन मे कुछ विशेष है उस को कहते हैं—

तेषां वासिष्ठम्, आत्रेयम्, वाध्र्यश्वम्, गार्त्समदमिति नाराशंसवन्ति। मैधातिथम्, दैर्घतमसम्, पैपिकम्, इत्युभयवन्ति। अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति।

इति निरुक्तेऽष्टमाध्यायस्य द्वाविंश: खण्ड: ॥ ८-२२ ॥

इति श्रीयास्कमुनिप्रणीते निरुक्तशास्त्रेऽष्टमोऽध्याय: ॥ ८ ॥

तेषाम् = उन मे, वासिष्ठम् = वसिष्ठेन दृष्टम् = वसिष्ठ का, आत्रेयम् = अत्रिणा दृष्टम् = अत्रि का, वाध्र्यश्वम् = वाध्र्यश्वेन दृष्टम् = वाध्र्यश्व का, गार्त्समदम् = गृत्समदेन दृष्टम् = गृत्समद का, इति = ये चार सूक्त, नाराशसवन्ति = नाराशस वाले हैं। मेधातिथम् = मेधातिथिना दृष्टम् = मेधातिथि का, दैर्घतमसम् = दीर्घतमसा दृष्टम् = दीर्घतमा का, प्रैषिकम् = प्रैष ग्रन्थ का, इति = ये तोन सूक्त, उभयवन्ति = उभयवान् = नराशस और तनूनपात दोनो देवताक हैं। अत अन्यानि = इन से अन्य जो चार सूक्त शेष हैं वे, तनूनपातवन्ति = तनूनपात् देवता वाले हैं।

'तनूनपात्वन्ति' इस अन्तिम पद की द्विरुक्ति (अभ्यास) अध्याय समाप्ति का सूचक है। अन्तिम पद को दो वार पढना वैदिक सम्प्रदाय है।

इति श्रीस्वामिब्रह्मलीनमुनिप्रणीतनिरुक्तदेवनागरीव्याख्यायां अष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

निरुक्त के अष्टम अध्याय का खण्ड सूत्र—

[१] द्रविणोदाः कस्माद् [२] द्रविणोदाद्रविणोदसोमेधन्तुते [३] ऽथातआप्रिय [४] समिद्धो [५] अद्य [६] तनूनपान्नरा· [७] शंसस्याजुह्वान [८] प्राचीन [९] बर्हिर्व्यचस्वतीरा [१०] सुष्वयन्ती [११] दैव्याहोतारानोय-इंय [१२]। इमे [१३] आविष्टमोवनस्पति· [१४] [१५] [१६] रूपावसृजा [१७] अन्तित्वादेवेभ्यो [१८] वनस्पतेरग्नया [१९] नियूपसद्योजातः [२०] प्रयाजान्मे [२१] द्वाविंशतिः [२२]।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

श्रीगणेशाय नमः ।

निरुक्तम्

अथ नवमोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः खण्डः ।

निघण्टु :—

अश्वः १ । शकुनिः २ । मण्डूकाः ३ । अक्षाः ४ । ग्रावाणः ५ । नाराशंसः ६ । रथः ७ । दुन्दुभिः ८ । इषुधिः ९ । हस्तघ्नः १० । अभीशवः ११ । धनुः १२ । ज्या १३ । इषुः १४ । अश्वाजनी १५ । उलूखलम् १६ । वृषभः १७ । द्रुघणः १८ । पितुः १९ । नद्यः २० । आपः २१ । ओषधयः २२ । रात्रिः २३ । अरण्यानी २४ । श्रद्धा २५ । पृथिवी २६ । अप्वा २७ । अग्नायी २८ । उलूखलमुसले २९ । हविर्धाने ३० । द्यावापृथिवी ३१ । विपाट्छुतुद्री ३२ । आर्त्नी ३३ । शुनासीरौ ३४ । देवीजोष्ट्री ३५ । देवीऊर्जाहुती ३६ । इति षट्त्रिंशत्पदानि ।

अथ निरुक्त नवमाध्यायस्य प्रथम खण्डः ।

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः ।

अथ = त्रयोदश आप्रीगण शब्दो के व्याख्यान के अनन्तर, यानि = जो, पृथिव्यायतनानि = पृथिवी आश्रय वाले अर्थात् पृथिवी पर रहने वाले, सत्त्वानि = द्रव्य, स्तुतिम् लभन्ते = स्तुति को प्राप्त होते है, तानि = उन को, अत = यहां से, अनुक्रमिष्याम. = अनुक्रमण करेगे । अर्थात् पूर्वोक्त निघण्टु पठित ३६ पदो की क्रम क्रम से व्याख्या करेगे । पूर्वोक्त त्रयोदश आप्री शब्दो से यहां आने वाले अश्व आदि ३६ शब्द विलक्षण हैं। अत एव इन को पृथक् किया गया है। केवल ये ही नही किन्तु अन्य सर्पलाङ्गल कुसुम्भक आदि शब्दो का भी इन्ही मे अन्तर्भाव है। क्योकि, ये भी पृथिवी आश्रय देवता हैं।

१ – अश्वः ।

'अश्नुते मार्ग व्याप्नोति इति अश्व ' इस विग्रह मे 'अशू व्याप्तौ' धातु से 'अशूप्रुषिलटि' इत्यादि उणादि सूत्र से क्वन् (व) प्रत्यय होने पर अश्व शब्द बना है। अथवा 'अश्नाति

बहुभोजनं करोति, इति अश्वः' इस विग्रह में 'अश भोजने' धातु से पूर्वोक्त सूत्र से ही बाहुलकात् क्वन् प्रत्यय होने पर अश्व शब्द बना है। यद्यपि भोजन सभी प्राणी करते हैं तथापि 'अप्मक्ष वायुभक्षन्यायेन असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' इस नियम के अनुसार अश्व अतिशय परक है अर्थात् जैसे धन्वान् कहने से अतिशय धन्वान् समझा जाता है वैसे ही अश्व कहने से अतिशय भोजन करने वाला समझा जाता है। भाष्य—

तेषामश्वः प्रथमागामी भवति।

तेषाम् = पृथिवी आयतन छत्तीस पदों में, अश्व = अश्वपद, प्रथमागामी = प्रथम आनेवाला मुख्य, भवति = है। अत इस की व्याख्या सबसे पहले की जाती है।

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वितीय. खण्ड ।

अश्वो व्याख्यातः।

अश्व = अश्व शब्द, व्याख्यात = व्याख्यात है। अर्थात् अश्व शब्द की व्याख्या नि. २ – २७ में की गई है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य प्रथम खण्ड. ॥ ९ – १ ॥

तस्य = उस अश्व पद की, एषा = यह अग्रिम ऋचा उदाहरण, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वितीय खण्ड ॥

अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

ऋ स ७-५-२५-४ ॥

इस मन्त्र का आङ्गिरस शिशु ऋषि, पंक्ति छन्द और पवमान सोम देवता है। मन्त्रार्थ— अश्व = घोड़ा, वोळ्हा = लक्ष्य देश की ओर जाता हुआ, सुखम् रथम् = कल्याणकर रथ को, इच्छति = इच्छा करता है। उपमन्त्रिण = मर्म सचिव दरबारी लोग, हसनाम् = हास-परिहास को, इच्छन्ति = इच्छा करते हैं। शेप = पुरुष-इन्द्रिय, रोमण्वन्तौ = रोम वाला, भेदौ = भेद को, इच्छति = इच्छा करता है। मण्डूक = मेढक, वारित् = जल को, इच्छति = इच्छा करता है। वैसे ही मैं सोमधारण की इच्छा करता हूँ। इस लिये, इन्दो = हे सोम! तुम, इन्द्राय = इन्द्र के लिये, परिस्रव = क्षरित होओ।

इस मन्त्र का भाष्य—

अश्वो वोळ्हा सुखं वोळ्हा रथं वोळ्हा । सुखमितिकल्याणनाम । कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति । (सुहितं गम्यतीति वा, हसैता वा, पाता वा, पालयिता वा, शेपमिच्छतीति, वारि वारयति, मानो व्याख्यातः)

अश्व = घोडा, सुखम् वोळ्हा = सुख से वहन करने वाला है, रथम् वोळ्हा = रथ का वहन करने वाला है । सुखम् इति = सुख यह, कल्याणनाम = कल्याण का नाम है । कल्याणम् = पुण्यम् = सुहितम् = अनुकूल वेदनीय सुन्दर हित, भवति = होता है । प्रकोष्ठगत भाष्य असम्बद्ध प्रतीत होता है । क्योंकि, मानो यह देवता नहीं है और इस की व्याख्या भी यास्क ने पूर्व कहीं किया नहीं हैं । इस लिये इसकी उपेक्षा की गई है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वितीय खण्ड ॥ ९–२ ॥

तस्य = उसकी, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य तृतीयः खण्ड ।

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परि ख्यन् ।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥

ऋ स २–३–७–१ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अश्वदेवता है । मन्त्रार्थ—अश्व की स्तुति करने के लिये प्रवृत्त, न = हम लोगों की मित्र = मित्र, वरुण = वरुण अर्यमा = अर्यमा, आयु = आयु, इन्द्र = इन्द्र, ऋभुक्षा = ऋभुक्षा और, मरुत = मरुद्गण, मा परि ख्यन् = परिख्यान *अर्थात् निन्दा न करें । यत् = क्योंकि, हम सब, देवजातस्य = देवों से उत्पन्न, सप्ते = व्यापन (गमन)* शील, वाजिन = अश्व के, वीर्याणि = वीरकर्मों को, विदथे = यज्ञ मे, प्रवक्ष्याम = कहेंगे । अश्व पद का निर्वचन चल रहा है । इस मन्त्र मे अश्वपद नहीं है तथापि अश्व का पर्याय वाजिन् शब्द है । इसी लिये यास्कने इस मन्त्र को उद्धृत किया है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तेः सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि मा नस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुरयन इन्द्रश्चोरुक्षयण ऋभूणां राजेति वा मरुतश्च परिख्यन् ।

यत् = क्योंकि, हम लोग, देवैर्जातस्य = देवों से उत्पन्न, सप्ते = सरणस्य = गमनशील, वाजिन = अश्व के, वीर्याणि = पराक्रम को, विदथे = यज्ञमे, प्रवक्ष्याम = कहेंगे । त्वम् = तू मित्रश्च = मित्र, वरुणश्च = वरुण, अर्यमाच = अर्यमा, आयुश्च = वायु =

'अयनः = चलने वाला वायु, इन्द्रश्च = इन्द्र, ऋभुक्षा = उरुक्षयणः = अन्त में रहने वाला ऋभुक्षा, इति वा = अथवा, ऋभूणाम् राजा = देवताओं के राजा ऋभुक्षः, मरुतश्च = मरुद्देवता, नः = हम लोगों को, मा परिख्यन् = रोकें नहीं। हमारी निन्दा न करें। अर्थात् यथोक्त देवगण अपनो नहीं किन्तु अश्व की स्तुति करते देख कर हमारी निन्दा न करे। वायु के वकार का छान्दसत्वात् लोप होने पर आयु रह गया है। अतः आयु का वायु अर्थ किया गया है।

२ – शकुनिः ।

'शकुनि' पक्षी को कहते हैं। शकुनि शब्द का निर्वचन अनेक प्रकार से करते हैं—

शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम्, शक्नोति नदितुमिति वा, शक्नोति तकितुमिति वा, सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा, शक्नोतेर्वा।

आत्मानमुन्नेतुमूर्ध्वं नेतुं शक्नोतीति शकुनिः पक्षी इस विग्रह में 'शक्लृ शक्तौ' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर 'शक्' शब्द बना है और शक् पूर्वक उद् उपसर्ग पूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'वेञो डिद्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् इन् (इ) प्रत्यय डित्, डित्त्वात् टिलोप, शक् उद् नृइ, पृषोदरादित्वात् ककार को जश्त्वाभाव और तकार लोप होने पर 'शकुनि' शब्द बना है। पक्षी का नाम है। क्योंकि, पक्षी अपने को ऊपर आकाश में उड़ा सकता है।

वा = अथवा, नदितुम् शक्नोति = जो अव्यक्त शब्द कर सके वह, शकुनिः = शकुनि कहा जाता है। अर्थात् 'नदितुं शक्नोतीति शकुनिः पक्षी' इस विग्रह में उक्त शक् धातु से क्विप्, सर्वापहारी लोप होने पर शक् शब्द बना है और शक् उपपद उद् पूर्वक 'णद अव्यक्ते शब्दे' धातु से पूर्ववत् इन् प्रत्यय, टिलोप, दकार लोप जश्त्वाभाव होने पर शकुनि शब्द बना है। पक्षी का नाम है। क्योंकि, वह अव्यक्त शब्द करता है।

वा = अथवा, तकितुम् शक्नोतीति = गमन कर सकता है इस लिये, शकुनिः = शकुनि कहा जाता है। अर्थात् 'तकितुं शक्नोतीति शकुनिः पक्षी' इस विग्रर में पूर्ववत् शक् उपपद उद् पूर्वक धातुनामनेकार्थत्वात् गत्यर्थक 'तक हसने' वा निघण्टु पठित गत्यर्थ तक धातु से इन् प्रत्यय, टिलोप, दलोप, जश्त्वाभाव और धातु के तकार को नकार होने पर शकुनि शब्द बना है। पक्षी का नाम है। क्योंकि, पक्षी गमन कर सकता है।

वा = अथवा, सर्वतः = सर्व तरफ से, शङ्करः = सुखकर, अस्तु = हो, इति = इस अभिप्राय से, शकुनिः = शकुनि शब्द बना है। 'सर्व तरफ से यह हमारे लिये सुखकर हो' इस अभिप्राय से शकुनि शब्द बना है। इस पक्ष में 'शम् सुखं करोतु इति शकुनि' इस विग्रह में सुख वाचक शम् उपपद, 'डुकृञ् करणे' धातु से पृषोदरादित्वात् वा उणादि परिकल्पित डुनिङ् (उनि) प्रत्यय, डित्त्वात् टिलोप, शम् के मकार का लोप होने पर शकुनि शब्द बना है। पक्षी का नाम है। क्योंकि, पक्षी को जो मनुष्य पालता है वह इस इच्छा से कि, यह मेरे सुख का हेतु होगा।

वा = अथवा, शक्नोतेः = 'शक्लृ शक्तौ' धातु से ही, शकुनिः = शकुनि शब्द बना है। अर्थात् उद् णीञ् तथा तक आदि अन्य उपसर्ग तथा धातुओं के बिना ही केवल शक् धातु से ही शकुनि शब्द बना है। 'शक्नोतीति शकुनिः पक्षी' इस विग्रह में 'शक्लृ शक्तौ' धातु से 'शकेरुनिः' इस उणादि सूत्र से 'उनि' प्रत्यय होने पर शकुनि शब्द बना है। पक्षी का नाम है। इस पक्ष में पूर्व कथित सभी अर्थ केवल शक् धातु में ही अन्तर्भावित समझना चाहिये।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ९ – ३ ॥

तस्य = उस शकुनि शब्द की, एषा = यह अव्यवहित उत्तर की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

कनि॑क्रदज्ज॒नुषं॑ प्रब्रुवा॒ण इय॑र्ति॒ वाच॑मरि॒तेव॒ नाव॑म् ।
सु॒म॒ङ्ग॒लश्च॑ शकुने॒ भवा॑सि॒ मा त्वा॒ का चि॑द॒भिभा॒ विश्व्या॑ विदत् ॥

ऋ सं. २-८-११-१ ॥

इस मन्त्र का गार्त्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और कपिञ्जल रूपी इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ— कनिक्रदत् = पुनः पुनः शब्दायमान, जनुषम् = जनिष्यमान अर्थात् भविष्य अर्थ का, प्रब्रुवाणः = सूचन करने वाला कपिञ्जल नामक पक्षी, अरितेव = कर्णधार (केवट) के समान अर्थात् जैसे कर्णधार अपनी, नावम् = नौका को, इयर्ति = परिचलित करता है वैसे ही तुम, वाचम् = अपनी वाणी को प्रेरित करते हो। शकुने = हे कपिञ्जल नामक पक्षिन्! तुम, सुमङ्गलश्च = सुन्दर मङ्गल सूचक, भवासि = होओ। विश्व्याः = विश्व की ओर से, काचित् = किसी प्रकार की, अभिभाः = पराजय, त्वा = तुम को, मा विदत् = न प्राप्त हो। इस मन्त्र में 'शकुने' पद कपिञ्जल नामक पक्षी वाचक है। अतः इसका यह उदाहरण ऋचा है।

इस मन्त्र का भाष्य—

न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणो यथास्य शब्दस्तथा नामेरयति वाचम्, ईरयितेव नावम्। सुमङ्गलश्चशकुने भव कल्याणमङ्गलः।

कपिञ्जल नामक सौन पक्षी, जन्म = अपने जन्म = खानदान को, प्रब्रुवाणः = कहता हुआ, न्यक्रन्दीत् = बार बार बोलता है। यथा अस्य शब्दः = जैसा इसका शब्द है, तथा नाम वाचम् = वैसा ही वाणी को, ईरयति = चलाता है। नावम् ईरयिता इव = नौका को चलाने वाला मलाह के समान। शकुने = हे सौन पक्षिन्! तुम, सुमङ्गलश्च = कल्याण मङ्गलः = सुन्दर मंगल वाचक, भव = होओ।

मन्त्र मे आया हुआ मङ्गल शब्द का निर्वचन करते हैं—

मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा।

गृणात्यर्थे = स्तुति अर्थक, गिरते. = 'गॄ शब्दे' धातु से, मङ्गलम् = मङ्गल शब्द बना है, वा = अथवा, अनर्थान् = अनर्थों को, गिरति = गिल जाता है, इति = इस अर्थ मे, मङ्गलम् = मङ्गल शब्द बना है। जिस से स्तुति किया जाय वा जो अनर्थों को नाश करे उसको मङ्गल कहते हैं। अर्थात् 'गृणाति स्तौति इति मङ्गलम्' इस विग्रह मे 'गॄ शब्दे' धातु से पचाद्यच् गॄ अ, रपर गुण, गर, 'अचि विभाषा' इस सूत्र से रेफ को लत्व, गल, पृषोदरादित्वात् निपातन से ममट् (मम्) आगम, मम् गल, अनुस्वार परसवर्ण होने पर मङ्गल शब्द बना है। स्तुति का नाम है। अथवा, 'गिरति अनर्थान् भक्षयति इति मङ्गलम्' इस विग्रह मे पूर्ववत् पचाद्यच्, गुण, लत्व, और ममट् आगम, अनुस्वार परसवर्ण होने पर मङ्गल शब्द बना है। कल्याण का नाम है। क्योंकि, यह उत्पन्न होते ही दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति करता है। धातुओं के भेद से अर्थ का भेद है। साधनिका समान है। अथवा—

मङ्गलमङ्गवत्।

अङ्गवत् = जो अङ्ग वाला हो वह, मङ्गलम् = मङ्गल कहा जाता है। अर्थात् मङ्गल पूजन को कहते हैं और वह दधि मधु अक्षत आदि साधनों से सम्पन्न होता है। अतः इन साधन रूप अङ्ग वाला होने से पूजन मङ्गल कहा जाता है। 'अङ्गानि अस्य अस्मिन् वा सन्ति इति मङ्गलम्' इस विग्रह मे छान्दसत्वात् अङ्ग शब्द से मत्वर्थीय र प्रत्यय, 'र' को 'ल' वर्णव्यत्यय, अङ्गल और मकार उपजन होने पर मङ्गल शब्द बना है।

मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः।

पापकम् = पाप को, मज्जयति = डूबा देता है इस लिये, मङ्गलम् = मङ्गल कहा जाता है, इति = यह, नैरुक्ताः = निरुक्त शास्त्र के आचार्य लोग मानते हैं। मङ्गल उत्पन्न होते ही मङ्गल करने वाले पुरुष के सर्व विघ्नों (पापों) को नाश कर देता है। अर्थात् 'मज्जयति नाशयति पापकम् विघ्नम् इति मङ्गलम्' इस विग्रह मे ण्यन्त टुमस्जो शुद्धौ' धातु से पृषोदरादित्वात् गलच (गल) प्रत्यय, णिलोप, धातु के अन्त्य जकार और उपान्त्य सकार के स्थान में मकार आदेश, मम् अल, मकार को अनुस्वार परसवर्ण होने पर मङ्गल शब्द बना है। जो विघ्न का नाश करता है।

मां गच्छत्विति वा।

वा = अथवा, माम् गच्छतु = [मुझे यह प्राप्त हो,] इस वाक्य से मङ्गली पुरुष यह चाहता है कि, 'माम् गच्छतु' इस अर्थ मे तैयार माम् पद पूर्वक 'गम्लृ गतौ' धातु से, आशङ्का अर्थ में पृषोदरादित्वात् डलच् (अल) प्रत्यय, माम् गम् अल, डित्वात् टिलोप, माम् ग् अल, माम् को ह्रस्व, मम् ग् अल, अनुस्वार परसवर्ण होने पर, मङ्गल शब्द बना है। क्योंकि, मङ्गल की प्राप्ति को मङ्गली पुरुष चाहता है।

अब अवशिष्ट चतुर्थपाद की व्याख्या करते हैं—

मा च त्वा काचिदभिभूतिः सर्वतो विदत् ।

विश्व्याः = सर्वतः = विश्व की ओर से, काचित् = किसी प्रकार की, अभिभाः = अभिभूतिः = तिरस्कार, त्वा = तुमको, मा विदत् = न प्राप्त हो ।

इस मन्त्र में शकुनि शब्द कपिञ्जल सौन नामक पक्षी वाचक है इस अर्थ मे जो श्रुति है उस का अवतरण करते हैं—

गृत्समदमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।। ९-४ ।।

किसी शुभ कार्य को करने के लिये, उभ्युत्थितम् = उद्यत हुए, गृत्समदम् = गृत्समद नामक ऋषि को, कपिञ्जलः = कपिञ्जल नामक सौन पक्षी ने, अभिववाशे = फलसिद्धि सूचक सम्मुख शब्द किया । तदभिवादिनी = उसी अर्थ को कहने वाली, एषा = यह, ऋक् = ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

"भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद ।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल" इति ।

पता नही कि, यह मन्त्र कहां का है । कपिञ्जल = हे कपिञ्जल ! तू, नः = हमारे लिये, दक्षिणतः = दाहिनी तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल । उत्तरतः = बाईं तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल । पुरस्तात् = सम्मुख तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल और पश्चात् = पृष्ठ (पीठ) तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल ।

सा निगदव्याख्याता ।

सा इति = वह यह ऋचा, निगदव्याख्याता = कथित व्याख्याक है । अर्थात् सरल होने से अपने शब्दो से ही अपने अर्थ को कह रही है । अतः इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही ।

गृत्समदो गृत्समदनः । गृत्स इति मेधाविनाम, गृणातेः स्तुतिकर्मणः ।

गृत्समदनः = गृत्समदन, गृत्समदः = गृत्समद कहा जाता है । गृत्सः इति = गृत्स यह, मेधाविनाम = मेधावी अर्थात् अर्थ धारण करने वाली बुद्धिवाले का नाम है । स्तुतिकर्मणः = स्तुत्यर्थक गृणातेः = 'गॄ' धातु से बना है । जो गृत्स = स्तुति करने से मद = मदन = हर्ष को प्राप्त होता हो वह 'गृत्समद' कहा जाता है । अर्थात् 'गृणाति इति गृत्सः स्तुतिः' इस विग्रह मे 'गॄ शब्दे' धातु से पृषोदरादित्वात् सक् (स) प्रत्यय, प्वादित्वात् धातु को ह्रस्व, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र से पित्वाभावेऽपि छान्दसत्वात् तुक् (त्) आगम होने पर गृत्स शब्द बना है और 'गृत्सेन

मादयते इति गृत्समद.' इस विग्रह में गृत्स पूर्वक 'मद तृप्तियोगे' धातु से अच् प्रत्यय, णिलोप, ह्रस्व होने पर गृत्समद शब्द बना है। जो स्तुति से हर्षालु तथा मेधावी हो वह गृत्समद कहा जाता है। ऋषि का नाम है।

३ – मण्डूकाः।

मण्डूक मेढक का नाम है। इसका निर्वचन यास्क स्वयं करते हैं—

मण्डूकाः मज्जूकाः मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः।

मण्डूकाः = मण्डूक, मज्जूकाः मज्जूक कहे जाते हैं। मज्जनात् = मज्जन करने से = जल में डूबने से मेढक जल में मग्न रहता है। अतः इसको मण्डूक कहते हैं। अर्थात् 'मज्जन्ति इति मण्डूकाः' इस विग्रह में 'टुमस्जो शुद्धौ' धातु से 'शलिमण्डिभ्यामूकण्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् ऊकण् (ऊक) प्रत्यय, मस्ज् ऊक, पृषोदरादित्वात् जकार को उकार और सकार को णकार होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का नाम है। क्योंकि, मेढक जल में सदा मज्जन करता है। मोदतिकर्मणः = मोदति (हर्ष) अर्थक, मदतेः = नैरुक्त मद धातु से, वा = अथवा, तृप्तिकर्मणः = तृप्ति अर्थक, मदन्तेः = मदि धातु से मण्डूक शब्द बना है। अर्थात् 'मदन्ति मोदन्ते इति मण्डूकाः' इस विग्रह में हर्षार्थक नैरुक्त मद धातु से 'शलिमण्डिभ्यामूकण्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् मद धातु से भी ऊकण् (ऊक) प्रत्यय, मद् ऊक, पृषोदरादित्वात् नुम परत्व, दकार को उकार होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का नाम है। क्योंकि, वे सदा ही मोदयुक्त रहते हैं। अथवा 'मन्दन्ते इति मण्डूकाः' इस विग्रह में 'मदि तृप्ति मोदमद स्वप्न कान्तिगतिषु' धातु से उक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् ऊकण् प्रत्यय, मन्द् ऊक, दको ड और न कोण् होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का ही नाम है। क्योंकि, वे सदा ही तृप्त रहते हैं।

मण्डयतेरितिवैयाकरणाः।

मण्डयतेः = चुरादि मडि धातु से मण्डूक शब्द बना है, इति = यह, वैयाकरणाः = वैयाकरण लोग मानते हैं। अर्थात् 'मण्डयन्ति इति मण्डूकाः' इस विग्रह में 'मडिभूषायाम्' धातु से पूर्वोक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् ऊकण् प्रत्यय, णि लोप होने पर मण्डूक शब्द बना है। 'मण्डूकाः' यह प्रथमा बहुवचनान्त है। मेढक का नाम है। क्योंकि, ये जल को भूषित करते हैं।

मण्ड-एषामोक इति वा।

वा = अथवा, मण्डे = जल में, एषाम् = इन का, ओकः = निवास होता है, इति = इस लिये वे मण्डूक कहे जाते हैं। अर्थात् 'मन्दन्ते हृष्यन्ति स्नानपानार्थिनः जनाः अस्मिन् इति मण्डः उदकम्' इस विग्रह मे उक्त मदि धातु से 'गेहेकः' इस सूत्र से बाहुलकात् क (अ) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् दकार को डकार एवं नकार को णकार होने पर मण्ड शब्द बना है। जल का नाम है। क्योंकि, जल में स्नानपानार्थी जन स्नान पानादि करते समय अत्यन्त हर्ष को प्राप्त होते हैं। 'उच्यति समवैति अस्मिन् इति ओकः गृहम्' इस विग्रह में परस्मैपदी 'उच समवाये' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, उच् अ, 'ओकउ चः के' इस सूत्र के नियातन से

मा च त्वा काचिदभिभूतिः सर्वतो विदत् ।

विश्व्याः = सर्वतः = विश्व की ओर से, काचित् = किसी प्रकार की, अभिभाः = अभिभूतिः = तिरस्कार, त्वा = तुमको, मा विदत् = न प्राप्त हो।

इस मन्त्र में शकुनि शब्द कपिञ्जल सोन नामक पक्षी वाचक है इस अर्थ मे जो श्रुति है उस का अवतरण करते हैं—

गृत्समदमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।। ९-४ ।।

किसी शुभ कार्य को करने के लिये, उभ्युत्थितम् = उद्यत हुए, गृत्समदम् = गृत्समद नामक ऋषि को, कपिञ्जलः = कपिञ्जल नामक सोन पक्षी ने, अभिववाशे = फलसिद्धि सूचक सम्मुख शब्द किया। तदभिवादिनी = उसी अर्थ को कहने वाली, एषा = यह, ऋक् = ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

"भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद ।

भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल" इति ।

पता नही कि, यह मन्त्र कहां का है। कपिञ्जल = हे कपिञ्जल! तू, नः = हमारे लिये, दक्षिणतः = दाहिनी तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल। उत्तरतः = बाई तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल। पुरस्तात् = सम्मुख तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल और पश्चात् = पृष्ठ (पीठ) तरफ से, भद्रम् = कल्याणप्रद शुभ वचन, वद = बोल।

सा निगदव्याख्याता ।

सा इति = वह यह ऋचा, निगदव्याख्याता = कथित व्याख्याक है। अर्थात् सरल होने से अपने शब्दो से ही अपने अर्थ को कह रही है। अतः इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही।

गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम, गृणातेः स्तुतिकर्मणः ।

गृत्समदनः = गृत्समदन, गृत्समदः = गृत्समद कहा जाता है। गृत्सः इति = गृत्स यह, मेधाविनाम = मेधावी अर्थात् अर्थ धारण करने वाली बुद्धिवाले का नाम है। स्तुतिकर्मणः = स्तुत्यर्थक गृणातेः = 'गॄ' धातु से बना है। जो गृत्स = स्तुति करने से मद = मदन = हर्ष को प्राप्त होता हो वह 'गृत्समद' कहा जाता है। अर्थात् 'गृणाति इति गृत्सः स्तुतिः' इस विग्रह मे 'गॄ शब्दे' धातु से पृषोदरादित्वात् सक् (स) प्रत्यय, प्वादित्वात् धातु को ह्रस्व, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र से पित्वाभावेऽपि छान्दसत्वात् तुक् (त्) आगम होने पर गृत्स शब्द बना है और 'गृत्सेन

मादयते इति गृत्समद' इस विग्रह में गृत्स पूर्वक 'मद तृप्तियोगे' धातु से अच् प्रत्यय, णिलोप, ह्रस्व होने पर गृत्समद शब्द बना है। जो स्तुति से हर्षालु तथा मेधावी हो वह गृत्समद कहा जाता है। ऋषि का नाम है।

३ – मण्डूकाः।

मण्डूक मेढक का नाम है। इसका निर्वचन यास्क स्वय करते हैं—

मण्डूकाः मज्जूकाः मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः।

मण्डूकाः = मण्डूक, मज्जूकाः मज्जूक कहे जाते हैं। मज्जनात् = मज्जन करने से = जल मे डूबने से मेढक जल मे मग्न रहता है। अतः इसको मण्डूक कहते है। अर्थात् 'मज्जन्ति इति मण्डूकाः' इस विग्रह मे 'टुमस्जो शुद्धौ' धातु से 'शलिमण्डिभ्यामूकण्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् ऊकण् (ऊक) प्रत्यय, मस्ज् ऊक, पृषोदरादित्वात् जकार को डकार और सकार को णकार होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का नाम है। क्योंकि, मेढक जल में सदा मज्जन करता है। मोदतिकर्मणः = मोदति (हर्ष) अर्थक, मदतेः = नैरुक्त मद धातु से, वा = अथवा, तृप्तिकर्मणः = तृप्ति अर्थक, मदन्तेः = मदि धातु से मण्डूक शब्द बना है। अर्थात् 'मदन्ति मोदन्ते इति मण्डूकाः' इस विग्रह में हर्षार्थक नैरुक्त मद धातु से 'शलिमण्डिभ्यामूकण्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् मद धातु से भी ऊकण् (ऊक) प्रत्यय, मद् ऊक, पृषोदरादित्वात् नुम णत्व, दकार को डकार होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का नाम है। क्योकि, वे सदा ही मोदयुक्त रहते हैं। अथवा 'मन्दन्ते इति मण्डूकाः' इस विग्रह मे 'मदि तृप्ति मोदमद स्वप्न कान्तिगतिषु' धातु से उक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् ऊकण् प्रत्यय, मन्द् ऊक, दको ड और न कोण् होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का ही नाम है। क्योकि, वे सदा ही तृप्त रहते हैं।

मण्डयतेरितिवैयाकरणाः।

मण्डयतेः = चुरादि मडि धातु से मण्डूक शब्द बना है, इति = यह, वैयाकरणाः = वैयाकरण लोग मानते हैं। अर्थात् 'मण्डयन्ति इति मण्डूकाः' इस विग्रह में 'मडिभूषायाम्' धातु से पूर्वोक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् ऊकण् प्रत्यय, णि लोप होने पर मण्डूक शब्द बना है। 'मण्डूकाः' यह प्रथमा बहुवचनान्त है। मेढक का नाम है। क्योकि, ये जल को भूषित करते हैं।

मण्ड एषामोक इति वा।

वा = अथवा, मण्डे = जल मे, एषाम् = इन का, ओकः = निवास होता है, इति = इस लिये वे मण्डूक कहे जाते हैं। अर्थात् 'मन्दन्ते हृष्यन्ति स्नानपानार्थिनः जनाः अस्मिन् इति मण्डः उदकम्' इस विग्रह मे उक्त मदि धातु से 'गेहेकः' इस सूत्र से बाहुलकात् क (अ) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् दकार को डकार एवं नकार को णकार होने पर मण्ड शब्द बना है। जल का नाम है। क्योकि, जल में स्नानपानार्थी जन स्नान पानादि करते समय अत्यन्त हर्ष को प्राप्त होते हैं। 'उच्यति समवैति अस्मिन् इति ओकः गृहम्' इस विग्रह में परस्मैपदी 'उच समवाये' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, उच् अ, 'ओकउचः के' इस सूत्र के नियातन से

गुण और कुत्व होने पर 'ओक' शब्द अदन्त बना है। निवास स्थान गृह का नाम है। क्योंकि, गृह मे सब कोई एक दूसरे के साथ मिल जुल कर रहते है। 'मण्डे उदके ओक निवासस्थानम् गृहम् येषाम् ते मण्डूका ' इस विग्रह मे 'अनेकमन्यपदार्थे' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास, सुप् लुक्, मण्ड ओक, वृद्धि, मण्डौक, पृषोदरादित्वात् औ को ऊ होने पर मण्डूक शब्द बना है। मेढक का नाम है। क्योकि इसका जल मे ही निवास स्थान (गृह) होता है। ओक शब्द अदन्त और ओकस् शब्द सान्त भी हैं। दोनो गृह वाचक हैं। उन मे ओकस् शब्द असुन् प्रत्ययान्त है। वह यहा नही है।

यास्क मण्ड शब्द का निर्वचन करते हैं—

मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा ।

मदे वा = 'मद तृप्तियोगे' धातु से, वा = अथवा, मुदे वा = 'मुद ससर्गे' धातु से, मण्ड = मण्ड शब्द बना है। अर्थात् 'मादयन्ते तृप्ति प्राप्नुवन्ति स्नानपानार्थिन अस्मिन् इति मण्ड उदकम्' इस विग्रह मे मद धातु से 'गेहेक' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय पृषोदरादित्वात् नुम् और दकार को डकार होने पर मण्ड शब्द बना है। एव मोदयन्ति अस्मिन् इति मण्ड उदकम् इस विग्रह मे 'मुदससर्गे' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिर क' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् उ को अ, णकार उपजन और दकार को डकार होने पर मण्ड शब्द बना है। जल का नाम है। क्योकि, जल मे स्नानादि करके सब कोई आनन्द को प्राप्त होते हैं।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चम खण्ड । ९ – ५ ।

तेषाम् = उन मण्डूको की, एषा = यह ऋचा, प्राधान्यस्तुतिरूपा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य षष्ठ खण्ड ।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥

ऋ स ५-७-३-१ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और मण्डूक देवता है। मन्त्रार्थ—एक समय की बात है कि, वसिष्ठ ऋषि ने वर्षा की कामना से पर्जन्य (मेघ) की स्तुति की। मण्डूको ने उन का अनुमोदन किया। अनुमोदन करते मण्डूको को देख कर वसिष्ठ उन की स्तुति करते हैं—व्रतचारिण. = एक वर्ष का व्रत करने वाले, ब्राह्मणा = स्तुति करने वाले ब्राह्मणा के समान, सवत्सरम् = एक वर्ष पर्यन्त, शशयाना = बिल में सोये हुए रह कर, मण्डूका = मण्डूकगण (मेढकगण),

पर्जन्यजिन्वताम् = पर्जन्य मेघ के लिये प्रसन्नताकारक, वाचम् = वाणी, प्र अवादिषुः = बोलते हैं। इस मन्त्र में मण्डूक शब्द है और मण्डूक की प्रधानस्तुति है। अतः यह उन का उदाहरण मन्त्र है।

इस मन्त्र का भाष्य—

संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणो ब्रुवाणाः। अपिवोपमार्थे स्यात्। ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति। वाचं पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुर्मण्डूकाः।

संवत्सरम् = एक वर्ष पर्यन्त, शिश्यानाः = न बोलने से सोये हुए के समान, व्रतचारिणः ब्राह्मणाः = मौन आदि व्रत का आचरण करने वाले ब्राह्मण लोग, ब्रुवाणाः = बोलते हैं। अपिवा = अथवा, उपमार्थे = उपमा के अर्थ में, स्यात् = हो सकता है, जैसे—व्रतचारिणः ब्राह्मणाः इव = वर्षभर व्रत करने वाले ब्राह्मणो के सदृश, मण्डूकाः = मेढकगण, पर्जन्यप्रीताम् = मेघ के लिये प्रसन्नताकारक, वाचम् = वाणी, = प्रवादिषुः = बोलते हैं। अर्थात् जैसे ब्राह्मण वटुक उपाकरण संस्कार करके वर्षाकाल में पवित्री तथा मेखला आदि धारण कर नियत काल वैदिक वाणी बोलते हैं वैसे ही ये मण्डूकगण एक वर्ष तक बिल में रह कर वेद समान बोली बोल रहे हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में मण्डूकों की स्तुति है। अतः यह मन्त्र मण्डूक की प्रधान स्तुतिरूप उदाहरण मन्त्र है।

मन्त्र की अवतरणिका—

वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव, तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स मण्डूकाननुमोदमानान्दृष्ट्वा तुष्टाव, तदभिवादिन्येषर्ग्भवति—

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः। ९-६॥

वसिष्ठः = वसिष्ठ मुनि ने, वर्षकामः = वर्षा की कामना से, पर्जन्यम् = मेघ की, तुष्टाव = स्तुति की, मण्डूकाः = मण्डूकों ने, तम् = उसका, अन्वमोदन्त = अनुमोदन किया। सः = उस ऋषि ने, अनुमोदमानान् = अनुमोदन करते हुए, मण्डूकान् = मण्डूको को, दृष्ट्वा = देख कर, तुष्टाव = स्तुति की। तद् अभिवादिनी = उसको कहने वाली एषा ऋक् = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

"उप प्रवद मण्डूकि वर्षं मा वद तादुरि।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥"

(मन्त्रोऽन्वेषणीयः)

मन्त्रार्थ—मण्डूकि = हे मेढको! तुम, मा = मेरे, उपप्रवद = पास आकर बोलो। तादुरि = हे तैरने के स्वभाव वाली!, वर्षम् वद = वर्ष पर्यन्त बोलो। ह्रदस्य मध्ये = अगाध जल के बीच में, चतुरः पदः = चारों पैरों को, विगृह्य = फैला कर, प्लवस्व = तैरते तैरते ऊपर आओ।

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = वह यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठमात्र से सुगम होने से व्याख्यात है। इस की व्याख्या करने को आवश्यकता नहीं, मेढकों के बोलने से वसिष्ठ को हर्ष इस लिये, हुआ कि, एक तो उन का अनुमोदन किया और दूसरा मेढको के बोलने से उनको खातरी हुई कि, निकट भविष्य मे वर्षा अवश्य होगी।

४ – अक्षाः ।

जुआ खेलने के पासा को अक्ष कहते हैं। 'अक्षाः' यह प्रथमा बहुवचनान्त है। कहीं 'अक्ष' इस प्रकार एकवचनान्त प्रयोग भी मिलता है। इसका निर्वचन भाष्यकार करते है—

अक्षा अश्नुवत एनानिति वाऽभ्यश्नुवत एभिरिति वा ।

जुआरी लोग, एनान् = इनको, अश्नुवते = अशन अर्थात् व्यापन करते हैं, इति = इस लिये ये, अक्षाः = अक्ष = पासा कहे जाते हैं, वा = अथवा, एभिः = इस के द्वारा जुआरी लोग, एक दूसरे से, धन को, अभ्यश्नुवते = अशन करते है अर्थात् ले लेते हैं। इति = इस लिये भी ये, अक्षाः = अक्ष कहे जाते हैं। 'अश्नुवते व्याप्नुवन्ति एनान् इति अक्षाः' इस विग्रह में 'अशू व्याप्तौ संघाते च' धातु से 'अशेर्देवने' इस उणादि सूत्र से कर्ता में स प्रत्यय, 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादि सूत्र से शकार को षकार, 'षढोः कः सि' इस सूत्र से षकार को ककार, 'आदेशप्रत्यययोः' इस सूत्र से सकार को षकार, कषसंयोग क्षः होने पर अक्ष शब्द बना है। पासा का नाम है। क्योकि, खेलने वाले जुआरी लोग हाथों से इसे व्याप्त करते हैं। अथवा, 'अभ्यश्नुवते धनं गृह्णन्ति एभिः इति अक्षाः' इस विग्रह मे पूर्वोक्त उणादि सूत्र से करण मे स प्रत्यय, षत्व, कत्व, षत्व पूर्ववत् होने पर अक्ष शब्द बना है। पासा का ही नाम है। क्योकि, इस के द्वारा जुआरी लोग एक दूसरे का धन ले लेते हैं।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः । ९ – ७ ॥

तेषाम् = उन अक्षो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, स्तुतिरूप, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

प्रावेपा मां बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥

ऋ सं. ७-८-३-१ ॥

इस मन्त्र का कवष ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अक्ष देवता है। मन्त्रार्थ—एते अक्षाः = ये सब पासे, प्रावेपाः = बहुत कांपने वाले बृहतः = बड़े वृक्ष के हैं। अर्थात् किसी बहुत कांपने वाले वृक्ष से

बने हैं। प्रवातेजाः = बहुत वायु के वा जल के स्थान मे वा काल में उत्पन्न हुए हैं। इरिणे वर्वृतानाः = इरिण मे उत्पन्न हुए हैं अर्थात् जहा पुत्र पौत्र आदि तक ऋण नहीं जाता है किन्तु अपने तक ही रहता है ऐसे स्थान में उत्पन्न हुए हैं। मौजवतस्य = मुजवान् नामक पर्वत पर उत्पन्न हुए हैं। सोमस्य भक्षः इव = सोमके भक्षण के समान, मा = मुझे, मादयन्ति = हर्षप्रदान करते हैं। और जो, विभीदक. = कोष्ठका भेदन करने वाला, जागृवि. = जाग्रण करने वाला है। एवं, मह्यम् = मेरे लिये, अच्छान् = इनकी प्रशंसा करता है। इस प्रकार इस मन्त्र मे अक्ष की स्तुति है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति प्रवातेजाः प्रवणेजाः।

ये सब जुआ के पासे, प्रवेपाः = प्रवेपिण = बहुत कापने वाले, बृहतः = महत = बड़े वृक्ष के हैं। विभीदकः = विभीदकस्य = कोष्ठका भेदन करने वाले वृक्ष के, य, फलानि = फल हैं। प्रवातेजाः = प्रवणेजाः = बहुत वायु के वा जल के स्थान मे वा काल मे उत्पन्न हुए हैं और, मा = मुझे, मादन्ति = हर्षित करते हैं।

इरणे वर्तमानाः। इरणं निर्ऋणम्, ऋणातेरपार्णं भवति। अपरता अस्मादोपधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। मौजवतो मूजवति जातः। मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान्।

इरणे = जहा पुत्र पौत्र आदि तक ऋण नही जाता है किन्तु अपने तक ही रहता है ऐसे स्थान में अक्ष, वर्वृतानाः = वर्तमानाः = वर्तमान हैं = उत्पन्न हुए हैं। निर्ऋणम् = ऋण रहित, इरणम् = इरण कहा जाता है। अर्थात् जुआ मे हारने से जो ऋण (कर्ज) होता है वह हारने वाले के पुत्र पौत्र आदि तक नही जाता है। किन्तु उस पुरुष तथा उसी स्थान में रहता है। ऋणातेः = ऋ धातु से, ऋण शब्द बना है। 'अर्यते इति ऋणम्' इस विग्रह में 'ऋ गतौ' धातु से 'निष्ठा' इस सूत्र से क्त (त) प्रत्यय, ऋत, ऋणमाधमर्ण्ये' इस सूत्र के निपातन से त को ण, होने पर ऋण शब्द बना है। कर्ज का नाम है। इरण = निर्ऋण, अपार्णं भवति = अपगत ऋण होता है। वा = अथवा, अपरताः = गई हुई, ओषधयः = ओषधियां होती हैं, अस्मात् = इस से, इति = यह अर्थ इरण शब्द का है। अर्थात् ऊपर भूमि का नाम इरण है। क्योंकि, ऊपर भूमि में कुछ उपजता नहीं है। मौजवतस्य सोमस्य भक्षः इव = मुजवान् नामक पर्वत पर उत्पन्न सोम के भक्षण समान। मूजवति = मूजवान् में, जात. = जो उत्पन्न हुआ हो वह, मौजवत = मौजवत कहा जाता है। मूजवान् = मूज वाला, पर्वतः = पर्वत, मुन्जवान् = मुन्जवान् कहा जाता है।

मुञ्जः विमुच्यत इषीकया। इषीका इषतेर्गतिकर्मणः। इयमपीतरेषीकैतस्मादेव।

इषीकया = इषीका तुल (सींक) से जो, विमुच्यते = मुक्त होता है वह, मुन्जः = मुन्ज कहा जाता है। कुश नाम का तृण में से एक एक इषीका (पट) निकाली जाती है। अतः एक एक से मुक्त होने से मुन्ज कहा जाता है। गतिकर्मण = गत्यर्थक, इषते = इष धातु से, इषीकाः = इषीका शब्द बना है। 'इष्यति इति इषीका' इस विग्रह में 'इष गतौ' धातु से उणादि ईकन् प्रत्यय,

और टाप होने पर इषीका शब्द बना है। इयम् अपि = यह भी जो, इतरा = दूसरी हल की इषा, इषीका = इषीका है वह भी, एतस्मात् एव = इसी इष धातु और ईकक प्रत्यय से बना है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि, वह भी हल से निर्गत होती है।

विभीदको विभेदनात्। जागृविर्जागरणात्। मह्यमच्छदत्। प्रशंसत्येनान्प्रथमया। निन्दत्युत्तराभिः। ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते।

विभेदनात् = कोष्ठ वा मित्रो मे भेद उत्पन्न करने से विभीदक = अक्ष (पासा) विभीदक कहा जाता है। 'विभिद्यते इति विभीदक अक्ष' इस विग्रह मे विपूर्वक 'भिदिर् विदारणे' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से कर्मणि ण्वुल (वु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से यु को अक आदेश और वाहुलकात् उपधा ईत्व होने पर विभीदक शब्द बना है। जागरणात् = जागरण कराने से अक्ष, जागृवि कहा जाता है। जागर्ति जागरयति इति जागृवि अक्ष' इस विग्रह मे अन्तर्भावित ण्यर्थक 'जागृ निद्राक्षये' धातु से 'जॄशॄस्तृजागृभ्य क्विन्' इस उणादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय, ककार नकार की इत्सज्ञा लोप, वि मे इकार अनुनासिक न होने से इत्सज्ञा का अभाव, कित्वात् गुणाभाव होने पर 'जागृवि' शब्द बना है। प्रायः जुआ रात्रि को खेला जाता है। अत अक्ष जागरण कराने वाला है। अथवा जुआ खेलने में जो हार जाता है वह शोक से और जो जीत जाता है वह हर्ष से जागता रहता है। मह्यम् = मेरे लिये, अच्छान् = अच्छदत् = अवगुण को ढाकता है अर्थात् प्रशसा करता है। इसी को कहते हैं—प्रथमया = ऋचा के पूर्वार्ध से, एनान् = इन अक्षो की, प्रशसति – प्रशसा करता है और, उत्तराभि = ऋचा के उत्तरार्ध से एनान् = इन अक्षो की, निन्दति = निन्दा करता है। अक्षपरिद्यूनस्य = अक्षपरिद्यून नामक, ऋषे = ऋषि का, एतत् = यह आर्षम् = आर्ष है यह वेदयन्ते = कहते हैं। अर्थात् इस मन्त्र का कवष ऋषि है यह कहा गया है। उसी को अक्षपरिद्यून भी कहते। क्योकि परिदेवन विलाप को कहते हैं। उसको जो करे उसको परिद्यन कहते हैं। और अक्ष का पुत्र है। अत इसको अक्षपरिद्यून कहते हैं।

५ – ग्रावाणः।

ग्रावन् शिला अर्थात् पत्थर का नाम है। इसका निर्वचन करते हैं—

ग्रावाणो हन्तेर्वा, गृणातेर्वा, गृह्णातेर्वा।

हन्ते = हन् धातु से वा = अथवा, गृणाते = गॄ धातु से, वा = अथवा, गृह्णाते = ग्रह धातु से, ग्रावाण = ग्रावन् शब्द बना है। अर्थात् 'घ्नन्ति इति ग्रावाण,' इस विग्रह मे 'हन हिंसागत्यो' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इस सूत्र से क्वनिप् (वन्) प्रत्यय पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र से हन् धातु के स्थान मे 'ग्रा' आदेश होने पर ग्रावन् शब्द बना है। शिला का नाम है। क्योंकि, शिला से हनन किया जाता है। शिला लगने पर हिंसा होती है। अथवा 'गृणन्ति शब्द' कुर्वन्ति इति ग्रावाण' इस विग्रह मे 'गॄ शब्दे' धातु से क्वनिप् प्रत्यय और धातु को ग्रा आदेश होने पर ग्रावन् शब्द बना है। शिला का नाम है। क्योकि, शिला शब्द करता है। अथवा 'गृह्यन्ते इति ग्रावाण' इस विग्रह मे 'ग्रह उपादाने' धातु से पूर्ववत् क्वनिप् प्रत्यय और

ग्रह धातु को ग्रा आदेश होने पर ग्रावन् शब्द बना है। शिला का नाम है। क्योंकि शिला पत्थर कूटने आदि क्रिया के लिये ग्रहण किया जाता है। 'ग्रावाण.' यह ग्रावन् शब्द का जस् का रूप है।

तेषामेषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टमः खण्डः॥ ९-८॥

तेषाम् = उन ग्रावों की स्तुति की, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य नवमः खण्डः।

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।

यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥

ऋ सं. ८-४-२९-१॥

इस मन्त्र का अर्बुद ऋषि, जगती छन्द और सोमभिषव सम्बन्धी ग्रावाणि देवता है। मन्त्रार्थ—एते = ये ग्रावाणि प्रस्तर सब, प्रवदन्तु = अभिषव शब्द करें। वयम् = हम यजमान लोग, वदद्भ्यः = अभिषव शब्द करने वाले, ग्रावभ्यः = पत्थरों की, वाचम् प्रवदाम = स्तुति करते हैं। हे ऋत्विग्जन! तुम लोग भी, वदत = स्तुति करो। अद्रय = आदरणीय दृढ, आशव. = सोमाभिषव के लिये शीघ्रकारो, सोमिन: = सोमवाले, पर्वता. = प्रस्तर, इन्द्राय = इन्द्र के लिये, साकम् = एक साथ, श्लोकम् घोषम् भरथ = स्तोतव्य अभिषव शब्द करें। अर्थात् सब कोई मिल कर इन्द्र की स्तुति करो। इस मन्त्र मे ग्रावन् शब्द शिला वाचक है।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रवदन्त्वेते, प्रवदाम वयम्, ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यो। यदद्रयः पर्वता अदरणीयाः सह सोममाशवः क्षिप्रकारिणः।

एते = ये प्रस्तार सब, प्रवदन्तु = स्तुति करें। वयम् प्रवदाम. = हम यजमान सब स्तुति करते हैं। यद् अदद्भ्य = यद् अद्रयः = आदरणीय अभिषव शब्द करने वाले, पर्वताः अदरणीयाः = आदरणीय दृढ, सोमम् सह = सोम के साथ, आशव. = क्षिप्रकारिण: = सोमाभिषव के लिये शीघ्र कार्य करने वाले, ग्रावभ्य. = पत्थरों की।

श्लोकः शृणोतेः। घोषो घुष्यतेः।

श्लोक: = मन्त्रगत श्लोक शब्द, शृणोतेः श्रु श्रवणे धातु से बना है। अर्थात् 'श्रूयते प्रशस्यते इति श्लोक:' इस विग्रह मे 'श्रु श्रवणे' धातु से 'इणभीक' इत्यादि उणादि सूत्र से बाहुलकात् कनि (क) प्रत्यय, श्रु क, गुण श्रोक, कपिलादित्वात् र को ल होने पर श्लोक शब्द बना है कविता का नाम है। क्योंकि, कविता प्रशसनीय होती है। घोष: = मन्त्रगत घोष शब्द, घुष्यते. =

घुषिर धातु से बना है। अर्थात् 'घुष्यते शब्द्यते इति घोषः' इस विग्रह में शब्दार्थक घुषिर धातु से 'हलश्च' इस सूत्र से कर्म मे घञ् (अ) प्रत्यय और उपधा गुण होने पर घोष शब्द बना है। शब्द अर्थ है। क्योंकि, सोम कूटते समय ग्रावाण से शब्द उत्पन्न होता है।

सोमिनो यूयं स्थेति वा सोमिनो गृहेष्विति वा ।

यूयम् = तुम्, सोमिनः = सोम वाले, स्थ = हो, इति वा = यह अर्थ है अथवा, यूयम् = तुम, सोमिनः = सोम वाले यजमान के, गृहेषु = घरो मे रहते हो, इति वा = यह अर्थ है। प्रथम पक्ष में 'सोमिनः' को प्रथमा बहुवचनान्त और द्वितीय पक्ष में षष्ठी बहुवचनान्त मान कर दो अर्थ किया गया है।

६ – नाराशंसः ।

मनुष्यप्रशंसापरकमन्त्र नाराशंस कहा जाता है। एवं उस सूक्त के (म, १, सूक्त १२६) देवता भी नाराशस कहा जाता है। 'नरन्ति पुरुषान् उत्तमा गति नयन्ति इति नराः मनुष्याः' इस विग्रह में 'नृ नये' धातु से पचाद्यच्, और स्वर गुण होने पर 'नर' शब्द बना है। मनुष्य का नाम है। क्योंकि, मनुष्य अपने पूर्वजो को तर्पण आदि द्वारा स्वर्गादि उत्तम लोक को पहुँचाता है। 'नरान्शंसति इति नराशसः मन्त्रः' इस विग्रह मे नर उपपद 'शंसु स्तुतौ' धातु से 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अण् प्रत्यय, उपपद समास, 'अन्येषामपि दृश्यते' इस सूत्र से पूर्व पद को दीर्घ होने पर 'नराशस' शब्द बना है। अथवा 'नराः प्रशस्यन्ते येन स नराशसः मन्त्रः' इस विग्रह मे पूर्ववत्, अण्, समास पूर्वपद दीर्घ होने पर 'नराशंस' शब्द बना है 'नराशंस एव नाराशंसः' इस विग्रह मे नराशंस शब्द से 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इस सूत्र से स्वार्थ मे अण् (अ) प्रत्यय, आदि अच् वृद्धि होने पर नाराशस शब्द बना है। मन्त्र विशेष का नाम है। क्योंकि, मन्त्र द्वारा नर अर्थात् राजविशेष की स्तुति की जाती है।

भाष्यकार इसी को कहते हैं—

येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः ।

येन = जिस से, नराः = मनुष्य, प्रशस्यन्ते = स्तुति किये जाते हैं, सः मन्त्रः = वह मन्त्र विशेष, नाराशसः = नाराशंस कहा जाता है। क्योंकि, उस मन्त्र से नरों की प्रशंसा की जाती है।

तस्यैसा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य नवमः खण्डः। ९–९ ॥

तस्य = उस नाराशंस की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

अमन्दान्त्सोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य ।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः ॥

ऋ सं. २-१-११-१ ॥

इस मन्त्र का कक्षीवान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और भावयव्य देवता है । मन्त्रार्थ—महर्षि कक्षीवान् कहते हैं कि, अहम् = मैं, तस्य = उस, सिन्धौ = सिन्धु देश मे वा सिन्धु तीर पर, क्षियत = वसने वाले, भाव्यस्य = भावयव्य राजा की, मनीषा = बुद्धि से, अमन्दान् = बहुत, स्तोमान् = स्तुति, प्रभरे = करता हूँ । यः = जिस राजा ने, अतूतः बिना घबराहट के, श्रव. इच्छमानः = अखण्ड, कीर्तिकी इच्छा करते हुए, मे = मेरे, सहस्रम् = हजार, सवान् = यज्ञो को, अमिमीत = सिद्ध किया है । इस मन्त्र से भावयव्य राजा रुप नरको प्रशसा की गई है । अत. यह मन्त्र नाराशस कहलाता है ।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

अमन्दान् स्तोमानबालिशाननल्पान्वा । बालो बलवर्ती भर्तव्यो भवति । अम्बास्मा अलं भवतीति वा । अम्बास्मैबलं भवतीति वा । बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः । प्रभरे मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा । सिधा वधि निवसतो भावयव्यस्य राज्ञो यो मे सहस्रं निरमिमीत सवानतूर्त्तो राजाऽतूर्ण इति वाऽत्वरमाण इति वा प्रशंसामिच्छमानः ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य दशमः खण्डः । ७-१० ॥

अमन्दान् = अबालिशान् = अनल्पान् वा = जो मूर्खो के योग्य नही ऐसे वा बहुतघनीभूत ऐसे, स्तोमान् = स्तोम अर्थात् स्तुतियो को । बलवर्ती = माता के बल मे रहने वाला, अत एव, भर्तव्यः = पालन करने योग्य जो, भवति = होता है वह, बाल. = बाल कहा जाता है । अर्थात् 'बलति इति बालः' इस विग्रह मे 'बल प्राणने' धातु से 'ज्वलतिकसन्तेभ्यो णः' इस सूत्र से ण (अ) प्रत्यय, उपधावृद्धि होने पर बाल शब्द बना है । बालक का नाम है । क्योंकि यह किसी प्रकार प्राण का धारण करता है । इसी लिये वह भर्तव्य है । माता आदि द्वारा भरणपोषण करने योग्य है । वा = अथवा, अम्बा = माता, अस्मै = इस (बालक) के लिये, अलम् = पर्याप्त रूप से यत्न में, भवति = होती है, इति = इस से, वा = अथवा, अम्बा = माता, अस्मै = इस के लिये, बलम् = बल, भवति = होती है, इति = इस लिये यह बाल कहा जाता है । वा = अथवा, बल: = बल इस मे, प्रतिषेध व्यवहित. = प्रतिषेध व्यवहित है अर्थात् नही है । इस लिये बाल कहा जाता है । अर्थात् 'अम्बा अलम् अस्मै स बाल.' इस विग्रह में अम्बा और अलम् का समास, पृषोदरादित्वात् अम्बा के अम् का और अलम् के म् का लोप, बा अल, सवर्ण दीर्घ होने पर 'बाल' शब्द बना है । और, 'अम्बा बलम् अस्मै इति बाल.' इस विग्रह में पूर्ववत् अम्बा और बल का समास, अम्बा के अम् का लोप और बलके ब का लोप होने पर बाल शब्द बना है । एव 'न बल यस्य इति बाल.' इस विग्रह में न का और बल का बहुव्रीहि समास, नकार का लोप, नबल, अकार का विपर्यय से ब के आगे कर के दीर्घ

करने पर बाल शब्द बना है। यही बल का प्रतिषेध बाल कहा जाता है। मनीषया = मनसः ईषया = स्तुत्या प्रज्ञया वा = स्तोत्र से वा बुद्धि से, प्रभरे = स्तुति करता हूं। सिन्धौ अधि = सिन्धु देश मे वा सिन्धु नदी के तट पर, निवसतः = निवास करने वाले, भावयव्यस्य = भावयव्य नामक, राज्ञः = राजा को, यः = जो, मे = मेरे, सहस्रम् सवान् = हजार यज्ञो को, अतूर्तः = विना घबराहट के, निरमिमीत = निर्माण किया है। राजा = उक्त राजा, प्रशसाम् इच्छमानः = अटूट कीर्ति की इच्छा करते हुए, अतूर्णः = विना घबराहट के, इति वा = यह अर्थ है अथवा, अत्वरमाणः = विना वेग के, इति वा = यह अर्थ है।

७ – रथः ।

रथ नाम वाहन विशेष का है। इस का विवरण स्वय भाष्यकार करते हैं—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकादशः खण्ड ।

यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत । राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमगामी भवति ।

पूर्व प्रकृत मन्त्र में कक्षीवान् ऋषि ने, यह कहा कि, भावयव्य राजा ने हजार यज्ञ का निर्माण किया। इस लिये मैं उसकी स्तुति करता हूँ। अतः, यज्ञसयोगात् = यज्ञ के संयोग से, राजा = राजा, स्तुतिम् = स्तुति को, लभेत = प्राप्त हो और, राजसयोगात् = राजा के संयोग से, युद्धोपकरणानि = युद्ध के उपकरण (साधन) रथादि हैं। तेषाम् = उन साधनो मे, रथः = रथ, प्रथमगामी = प्रथम चलने वाला, भवति = है। अर्थात् युद्ध के साधनों में रथ मुख्य है। क्योंकि, अन्य साधनो को रथ मे भर कर ले जाते हैं।

प्रकृत रथ शब्द का निर्वचन करते हैं—

रथो रंहतेर्गतिकर्मणः । स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य । रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा । रपतेर्वा, रसतेर्वा ।

गतिकर्मणः = गत्यर्थक, रहते. = 'रंहि' धातु से, रथ. = रथ शब्द बना है। अर्थात् 'रहति गच्छति अनेन इति रथ.' इस विग्रह मे 'रहि गतौ' धातु से 'हनिकुषि' इत्यादि उणादि सूत्र से बाहुलकात् क्थन् (थ) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् नकार और हकार का लोप होने पर रथ शब्द बना है।

वा = अथवा, विपरीतस्य = उलटा, स्थिरतेः = नैरुक्त स्थिर का, रथः = रथ रूप, स्यात् = हो सकता है। अर्थात् स्थिरति अस्मिन् इति रथ., इस विग्रह मे नैरुक्त स्थिर धातु से 'पुंसिसज्ञायां घः प्रायेण' इस सूत्र से घ (अ) प्रत्यय स्थिर अ, पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्यय, स्थिर का विपरीत रथिस, सकार इकार लोप होने पर, रथ् अ, रथ शब्द बना है। अश्वादि की अपेक्षा रथ मे स्थिर से बैठ सकता है।

वा = अथवा, अस्मिन् = जिस में, रममाणः = खेलते हुए आराम से, तिष्ठति = बैठता है, इति = इस अर्थ में, रथः = रथ शब्द बना है। अर्थात् 'रमते इति रममाणः' इस विग्रह में 'रमु क्रीडायाम्' धातु से लट्, शानच्, मुक्आगम, होने पर रममाण शब्द बना है। तिष्ठति इति स्थः' इस विग्रह में ष्ठा गतिनिवृत्तौ धातु से 'सुपिस्थः' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, और आ लोप होने पर 'स्थ' शब्द बना है। दोनो का समास, पृषोदरादित्वात् रममाण के ममाण का और स्थ के सकार का लोप होने पर रथ शब्द बना है। इस प्रकार दो धातुओ से रथ शब्द बना है।

वा = अथवा, रपतेः = रप धातु से, रथः = शब्द बना है। अर्थात् 'रपति व्यक्त शब्द करोति इति रथः' इस विग्रह में 'रप व्यक्तायां वाचि' धातु से, 'हनिकुषि...' इत्यादि उणादि सूत्र से क्थन् (थ) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् पकार लोप होने पर रथ शब्द बना है। रथ का नाम है। क्योंकि, रथ जब चलता है तब स्पष्ट शब्द होता है।

वा = अथवा, रसते. = इस धातु से, रथ. = रथ शब्द बना है। अर्थात् 'रसति शब्दं करोति इति रथः' इस विग्रह मे 'रस शब्दे' धातु से पूर्ववत् क्थन् प्रत्यय, सकार लोप होने पर रथ शब्द बना है। रथ का ही नाम है। क्योंकि, रथ शब्द करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ९-११ ॥

तस्य = उस रथ की एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।

गोभिः संनद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥

ऋ. सं ४-७-३४-२६॥

इस मन्त्र का भरद्वाज के पुत्र गर्ग ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और रथ देवता है। मन्त्रार्थ—वनस्पते = हे वनस्पति निर्मित रथ! तुम, वीड्वङ्गः = दृढ अङ्ग वाला, भूयाः = हो जाओ। अस्मत्सखा = तुम हमारे मित्र, भूयाः = हो जाओ। प्रतरण. = बढाने वाले, सुवीरः = सुन्दर शूरवीर पुत्रादि से युक्त, भूयाः = हो जाओ। क्योंकि, तुम, गोभि. = गोचर्मसे, सनद्ध = बंधे हुए, असि = हो। अतः, वीळयस्व = अपने को या, हमे सुदृढ करो। ते = तुम्हारे ऊपर, आस्थाता = बैठे हुए रथी, जेत्वानि = जीतने योग्य शत्रुओ को, जयतु = जीतें। इस मन्त्र से रथ की स्तुति की गई है।

इस का भाष्य—

वनस्पते दृढाङ्गो हि भवास्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः कल्याणवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वेति संस्तम्भस्व। आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि।

वनस्पते = हे वनस्पति निर्मित रथ ! तुम, दृढाङ्गो भव = दृढ, अवयव वाला हो जाओ। अस्मत्सखा = तुम हमारे मित्र होओ। प्रतरण = बढाने वाला, सुवीर = । याणवीर = शोभन पुत्र पौत्रादिसे युक्त हो जाओ। क्योंकि, तुम, गोभि सन्नद्ध असि = गोचर्म से बंधे हुए हो। वीलयस्व इति सम्तम्भयस्व = अपने को वा हमे सुदृढ बनाओ। ते = तुम्हारे ऊपर, आस्थाता = बैठे हुए रथी, जेतव्यानि = जीतने योग्य शत्रुओ को, जयतु = जीते।

८ – दुन्दुभिः ।

दुन्दुभि वाद्यविशेष भेरि का नाम है। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणम्, द्रुमो भिन्न इति वा, दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः।

दुन्दुभि' इति = दुन्दुभि यह, शब्दानुकरणम् = शब्द का अनुकरण है। अर्थात् 'द्रुम् द्रुम् भि-द्रम द्रुम् भि' इस प्रकार का भेरि के आवाज का अनुकरण है। दुन्दुभि भेरि नगारा पर्याय शब्द हैं। जब इस को बजाया जाता है तब इस मे से 'द्रुमद्रुम् भि-द्रुमद्रुम् भि', ऐसा शब्द उत्पन्न होता है। इसी पर से इसका नाम 'दुन्दुभि' पड गया है। दोनो द्रुम् शब्दो के र् और म् का लोप एव न् का उपजन होने पर दुन्दुभि शब्द बना है। वा = अथवा, दुन्दुभि शब्द का, द्रुमोभिन्न = वृक्ष कटा हुआ है, इति = यह अर्थ है। अर्थात् 'द्रुम' और 'भिन्न' इन दो पदो का बना हुआ एक 'दुन्दुभि' पद है। पृषोदरादित्वात् द्रुम के स्थान मे दुन्दु और भिन्न के स्थान मे भि आदेश होने पर दुन्दुभि शब्द बना है। दुन्दुभि द्रुम का अवयव लकडे का बना हुआ और चर्मसे मढा हुआ होता है। वा = अथवा, शब्द कर्मण = शब्दार्थक नैरुक्त, दि प, दुन्दुभ्यते = दुन्दुभ् धातु से दुन्दुभि शब्द, स्यात् = बना हो। अर्थात् 'दुन्दुभ्यति शब्द करोति इति दुन्दुभि भेरि' इस विग्रह मे शब्दार्थक दिवादि परस्मैपदी नैरुक्त दुन्दुभ् धातु से 'सर्वधातुभ्य इन्' इस उणादि सूत्र से इन् (इ) प्रत्यय होने पर दुन्दुभि शब्द बना है। नगारा का नाम है। क्योंकि नगारा शब्द करता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वादश खण्डः ॥ ९-१२ ॥

तस्य = उस दुन्दुभि की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रयोदश खण्ड ।

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून् ॥

ऋ सं. ४-७-३५-२९ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज के पुत्र गर्ग ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और दुन्दुभि देवता है। मन्त्रार्थ— दुन्दुभे = हे युद्धदुन्दुभि! तुम अपने जयघोष रूप शब्द से, पृथिवीम् = पृथिवी, उत = और, द्याम् = द्युलोक को, उपश्वासय = परिपूर्ण करो। विस्थितम् = विशेष रूप से स्थिति, जगत् = स्थावर जङ्गम रूप समस्त जगत्, ते = तुम्हारे शब्द को, पुरुत्रा = बहुत प्रकार से, मनुताम् = सुनें ऐसा शब्द करो। सः = वह तुम, इन्द्रेण देवैः = इन्द्र और अन्य देवों के, सजूः = साथ मिल कर, शत्रून् = हमारे शत्रुओं को, दूराद्दवीयः = दूर से दूर, अपसेध = फेंक दो। इस मन्त्र में दुन्दुभि की स्तुति है। यही इस का देवता है।

इस का भाष्य—

उपश्वासय पृथिवीमुत दिवं च बहुधा ते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यस्स दुन्दुभे। सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च दूराद्दूरतरमपसेध शत्रून्।

दुन्दुभे = हे युद्धदुन्दुभि! तुम अपने जयघोष रूप शब्द से, पृथिवीम् उप दिवम् च = पृथिवी और द्युलोक को, उपश्वासय = परिपूर्ण कर दो। विष्ठितम् = विशेष रूप से स्थित, यत् = जो, स्थावरम् जङ्गमम् च = स्थावर और जङ्गम रूप समस्त जगत वह, बहुधा ते घोषम् मन्यताम् = बहुत प्रकार से तुम्हारे शब्द को सुनें ऐसा शब्द करो। सः = वह तुम, इन्द्रेण च देवैः च = इन्द्र और अन्य देवों के, सहजोषण = साथ, शत्रून् = हमारे शत्रुओं को, दूरात् दूरतरम् = दूर से भी और अधिक दूर, अपसेध = फेंक दो।

९ — इषुधिः।

'इषुधि' यह तूणीर का नाम है। जिस को भाथा भी कहते हैं। इस में बाण रखे जाते हैं। इसी को कहते हैं—

इषुधिरिषूणां निधानम्।

इषूणाम् = बाणों का, निधानम् = निधि, अर्थात् बाण रखने का कोश, इषुधिः = इषुधि कहा जाता है। अर्थात् 'इषवः बाणाः धीयन्ते स्थाप्यन्ते अस्मिन् इति इषुधिः तूणीरः' इस विग्रह में इषु उपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से 'कर्मण्यधिकरणे च' इस सूत्र से अधिकरण में कि (इ) प्रत्यय, 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से धा के आ लोप होने पर 'इषुधि' शब्द बना है तूणीर का नाम है। क्योंकि इस में बाण रखे जाते हैं।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः। ८-१३॥

तस्य = उस इषुधि शब्द की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः संकाः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥

ऋ. सं. ५-१-१९-५ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज के पुत्र पायु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इषुधि देवता है। मन्त्रार्थ—इषुधि की स्तुति—इषुधिः = यह इषुधि तूणीर, बह्वीनाम् = बहुत इषु (बाणों) का, पिता = पालन के, हेतु होने से पिता है। क्योंकि, अस्य = इस इषुधि के, पुत्रः = इषु रूप पुत्र, बहुः = बहुत हैं। चिश्चा = 'चिश्चा' इस प्रकार का शब्द, कृणोति = करता है। अर्थात् जब इसमें से बाण निकाला जाता है तब यह 'चिश्चा' इस प्रकार का शब्द करता है। पृष्ठे पिनद्धः = यह धन्वी राजा के पीठ में बँधा हुआ, समना अवगत्य = युद्ध को प्राप्त हो कर, प्रसूतः = बाणों का प्रसव करता हुआ एवं, संकाः = साथ में शब्द करता हुआ, सर्वाः पृतनाः = सारी सेना को, जयति = जीत लेता है। इस प्रकार इस मन्त्र मे इषुधि = तूणीर की स्तुति है।

इसका भाष्य—

बहूनां पिता बहुरस्य पुत्र इषूनभिप्रेत्य। प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः। शब्दानुकरणं वा। सङ्काः सचतेः। संपूर्वाद्वाकिरतेः। 'पृष्ठे पिनद्धो जयति प्रसूतः' इति व्याख्यातम्।

बहूनाम् पिता = यह इषुधि बहुत बाणों का पिता है। इषून् अभिप्रेत्य = इषुओं के अभिप्रायसे, अस्य = इस इषुधि के, बहुः पुत्रः = बहुत पुत्र हैं। अपाव्रियमाणः = उघाड़ा जाता हुआ, प्रस्मयते इव = मुसकाते हो ऐसा लगता है। वा = अथवा, शब्दानुकरणम् = 'चिश्चा' इस प्रकार शब्द का अनुकरण है। अर्थात् जब उघाड़ा जाता है तब यह 'चिश्चा' ऐसा शब्द करता है। सचतेः = सच धातु से, सङ्काः = सङ्का शब्द बना है। अर्थात् 'सचती इति सङ्का' इस विग्रह में 'षच समवाये' धातु से बाहुलकात् अङ्क प्रत्यय और टिलोप होने पर संग्राम वाचक सङ्क शब्द बना है। 'सङ्काः' यह उसका रूप है। वा = अथवा, संपूर्वात् किरतेः = सम् उपसर्ग पूर्वक 'कॄ विक्षेपे' धातु से *'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से ड प्रत्यय, टिलोप होने पर संग्राम वाचक सङ्का शब्द बना है।* पृष्ठे पिनद्धः = धन्वी राजा के पीठ मे बँधा हुआ इषुधि, प्रसूतः = बाणों का प्रसव करता हुआ सारी सेना को, जयति = जीतता है। इति = इस प्रकार, व्याख्यातम् = निगदव्याख्यात है।

१० — हस्तघ्नः ।

हाथ की रक्षा के लिये कलाई में बाँधने का पट्टा को हस्तघ्न कहते है। जो तांत से बँधा हुआ होता है। जिस को संस्कृत मे कलापोपपट्टक. उर्दू मे दस्ताना और हिन्दी में गोधा कहते हैं। धनुष की डोरी और पुख अर्थात् बाण के मूल प्रदेश मे बँधी हुई डोरी ये दोनों तांत की बनी हुई होती हैं। उन से यह पट्टा ताड़ित होता रहता है। हस्त शब्द का अर्थ लक्षणा से हाथ के मूल प्रदेश कलाई है। जिस को प्रकोष्ठ भी कहते हैं। उस मे बँधा हुआ पट्टा हस्तघ्न कहा जाता है। इस का निर्वचन करते हैं—

हस्तघ्नो हस्ते हन्यते ।

हस्ते = हाथ मे (कलाई मे), हन्यते = हत होना है इस से, हस्तघ्न = हस्तघ्न कहा जाता है। अर्थात् हाथ मे बँधा हुआ धनुष की ज्या रूप तांत से हत वा ताडित होता है इस से कलाई का पट्टा हस्तघ्न कहा जाता है। 'हस्ते अवस्थित ज्यया हन्यते ताडयते असौ हस्तघ्न' इस विग्रह मे हस्त उपपद 'हन हिंसागत्यो' धातु से 'घञर्थे कविधानम्' इस वार्तिक से क (अ) प्रत्यय, हस्त हन् अ, गमहनजनखनघसा लोप क्ङित्यनङि' इस सूत्र से उपधा अकार लोप, 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इस सूत्र से हकार को कुत्व घकार होने पर हस्तघ्न शब्द बना है। हस्त प्रकोष्ठ मे बँधा हुआ पट्टा का नाम है। क्योकि, वह ज्या वा पुङ्ख से हत होता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्दश खण्ड । ९-१४ ॥

तस्य = उस हस्तघ्न की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चदश खण्ड ।

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः ।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमां॑सं॒ परि॑ पातु वि॒श्वतः॑ ॥

ऋ स ५-१-२१-१४ ॥

इस मन्त्र का पायु ऋषि, त्रिष्टुप छन्द और हस्तघ्न देवता है। मन्त्रार्थ—इस मन्त्र मे प्रकोष्ठ (मणिबन्ध) मे बँधा हुआ हस्तघ्न की स्तुति है। हस्तघ्न = ज्या के आघात से हाथ को बचाने के लिये बँधा हुआ चर्म के पट्टा, ज्याया = ज्या के, हेतिम् = आघात को, परिबाधमान = निवारण करता हुआ, अहिः इव = सर्प के समान, भोगैः = सर्प शरीर के द्वारा, बाहुम् = प्रकोष्ठ अर्थात् मणिबन्ध को, पर्येति = परिवेष्टित करता है। विश्वा = सारे, वयुनानि = ज्ञातव्य विषयों को, विद्वान् = जानता है और, पुमान् = पौरुषशाली होकर, पुमासम् = धनुर्धारी, पुरुष को, विश्वतः = चारो ओर से, परिपातु = रक्षा करता है।

इस मन्त्र का भाष्य—

अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुं ज्याया वधात् परित्रायमाणो हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन् ।

अहि इव = सर्प के समान, भोगैः = सर्प शरीर के द्वारा, बाहुम् = प्रकोष्ठ को, परिवेष्टयति = परिवेष्टित करता है। ज्याया = ज्या के, वधात् = आघात से, परित्रायमाण = रक्षण करता हुआ,

हस्तघ्न: = मणिबन्ध में बँधा हुआ चर्मपट्टा, सर्वाणि = सारे, प्रज्ञानानि = ज्ञातव्य विषयों को, प्रजानन् = जानता है ।

मन्त्रगत 'पुम्स्' शब्द का निर्वचन करते हैं—

पुमान् पुरुमना भवति, पुंसतेर्वा

पुमान् = पुरुष स्त्री की अपेक्षा, पुरुमना = बड़ा मन वाला, भवति = होता है । वा = अथवा, पुंसते: = पुंस धातु से पुम्स् शब्द बना है । जिसका सु का रूप पुमान् है । अर्थात्— 'पुरु बहु मनो यस्य स पुमान्' इस विग्रह मे पुरु और मनस् का बहुव्रीहि समास, पुरु मनस्, पृषोदरादित्वात् रु और अस् का लोप, पुमन्, नान्तोपधा दीर्घ होने पर पुमान् रूप बना है । वा = अथवा, 'पुंसयति अभिवर्धते इति पुमान्' इस विग्रह मे 'पुंस अभिवर्धने' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर पुम्स् शब्द बना है । 'पुंसोऽसुङ्' इस सूत्र से असुङ् आदेश, पुमस्, छान्दसत्वात् नुम, पुमन्स् 'सान्त महत.' इस सूत्र से दीर्घ, पुमान्स्, और संयोगान्त लोप होने पर 'पुमान्' रूप बना है ।—यद्यपि व्याकरण शास्त्र मे 'पुञ् पवने' धातु से 'पूञोडुम्सुन्' इस उणादि सूत्र से वा 'पातेर्डुम्सुन्' इस उणादि सूत्र से डुम्सुन् (उम्स्) प्रत्यय, टिलोप, पुम्स्, 'पुंसोऽसुङ्' इस सूत्र से असुङ् आदेश, पुमस्, नुम्, पुमन्स्, दीर्घ, पुमान्स्, संयोगान्त लोप होने पर पुमान् रूप बनता है तथापि यास्क मत मे अर्थ मे भेद है । व्याकरण मत मे पवित्र करने वाला वा रक्षा करने वाला और यास्क मत मे बडा मन वाला वा बढाने वाला अर्थ है ।

११ – अभीशवः ।

अभीशु आदित्यरश्मि और अश्वरश्मि (रस्सी) इन दोनों का नाम है । इसका व्याख्यान रश्मि के नामो मे हो चुका है । इसी को कहते है—

अभीशवो व्याख्याताः ।

अभीशव: = अभीशु शब्द, व्याख्याता: = व्याख्यात है । अर्थात् रश्मि के नामों मे इसका व्याख्यान हो चुका है । 'अभि व्याप्नुवन्ति जगदश्वग्रीवा वा इति अभीशवः इस विग्रह में अभि पूर्वक 'अशू व्याप्तौ' धातु से 'मृ मृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य: उ.' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् उ प्रत्यय और धातु अवयव अकार को इकार एवं दीर्घ होने पर 'अभीशु' शब्द बना है । 'अभीशवः' यह प्रथमा बहुवचन का रूप है । जो आदित्य रश्मि और अश्वरश्मि दोनो का नाम है । क्योंकि, आदित्य रश्मि जगत् मे और अश्वरश्मि अश्वग्रीवा मे व्याप्त होती है । आदित्य रश्मि अर्थ मे उदाहरण अन्वेषणीय है ।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्ड. । ९-१५ ॥

तेषाम् = उन अभीशु शब्द की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य षोडशः खण्डः ।

रथे तिष्ठंन्नयति वाजिनः पुरो यत्रंयत्र कामयते सुषारथिः
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः

ऋ. सं. ५-१-१९-६ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज के पुत्र पायु ऋषि, जगती छन्द और सारथि और रश्मि देवता है। मन्त्रार्थ—सुषारथिः = सुशिक्षित सारथि, रथे = रथ पर, तिष्ठन् = बैठा-बैठा, पुरः = आगे, वाजिनः = अश्वों को, यत्र यत्र = जिधर जिधर ले जाने के लिये, कामयते = इच्छा करता है उधर उधर ही, नयति = ले जाता है। जिस रथ में, रश्मयः = अश्वों की ग्रीवा में लगी हुई रशना (रस्सी), पश्चात् = रथ के पृष्ठभाग में विद्यमान अश्वों को, मनः = सारथि के मन के अनुकूल, अनुयच्छन्ति = ले जाती है। हे सज्जनगण ! आप लोग उन, अभीशूनाम् = रशनाओं की, महिमानम् = महिमाओं की, पनायत = स्तुति करें। इस मन्त्र में अभीशु शब्द अश्वरशना वाचक है। इस का यास्क भाष्य—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सतो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः, कल्याण सारथिः। अभीशूनां महिमानं पूजयामि। मनः पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः।

सुषारथिः = कल्याणसारथिः = सुशिक्षित सारथि, रथे तिष्ठन् = रथ पर बैठा, पुरस्तात्सतः वाजिनः = आगे अश्वों को, यत्र यत्र कामयते = जिधर जिधर ले जाने के लिये इच्छा करता है उधर उधर ही, नयति = ले जाता है। अभीशूनाम् = रशनाओं की, महिमानम् = महिमाओं की, पनायत = पूजयामि = पूजा करता हूँ। रश्मयः = अश्वों की ग्रीवा में लगी हुई रशना (रस्सी), मनः पश्चात् सन्त = मन के पीछे पीछे होती हुई, अनुयच्छन्ति = ले जाती हैं।

१२ – धनुः।

'धनुः' यह धनुष् का नाम है। धन्वन्ति अपनयन्ति घ्नन्ति वा इषवः अस्मात् इति धनुः, इस विग्रह में गत्यर्थक वा निरुक्त मत में वधार्थक धवि धातु से 'अर्तिपृवपियजि' इत्यादि उणादि सूत्र से बाहुलकात् उसि (उस्) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् व को न होने पर धनुस् शब्द बना है। धनुस् का नाम है। क्योंकि, धनुष् लक्ष की ओर गमन करता है एवं लक्ष का वध भी करता है। इसी को कहते हैं—

धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा। धन्वन्त्यस्मादिषवः।

गतिकर्मणः = गत्यर्थक, वा = अथवा, वधकर्मणः = वधार्थक, धन्वतेः = धवि धातु से, धनुः = धनुष् शब्द बना है। इषवः = बाण, अस्मात् = इस पर रख कर चलाने से, धन्वन्ति = शत्रु की तरफ गमन करते हैं वा शत्रुओं का वध करते हैं।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य षोडश. खण्ड. । ९-१६ ॥

तस्य = उस धनुष् का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तदशः खण्ड. ।

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्रः समदो जयेम ।

धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाःप्रदिशो जयेम ॥

ऋ स ५-१-१९-२ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज के पुत्र पायु ऋषि, त्रिष्टुप्, छन्द और धनुर्देवता है। मन्त्रार्थ—हम, धन्वना = धनुष् के द्वारा शत्रुओ की, गा = गायो को, जयेम = जीतेगे। हम, धन्वना = धनुष् के द्वारा, आजिम् = सग्राम को, जयेम = जीतेंगे। हम, धन्वना = धनुष् द्वारा, तीव्राः = उद्धत, समदः = मदोन्मत्त, शत्रुसेना को, जयेम = जीतेंगे। धनु = यह हमारा धनुष्, शत्रो. = शत्रु की, अपकामम् = दुराशाओ को नष्ट, कृणोति = करे। हम, धन्वना = धनुष् के द्वारा, सर्वाः प्रदिशः = समस्त दिशाओ मे स्थित शत्रुओ को, जयेम = जीतेंगे। इस मन्त्र का धनुष् देवता है। अत. यह मन्त्र धनुष् की स्तुति करता है। इस लिये धन्वन् और जयति की आवृत्ति आदरार्थ है।

इसका यास्क भाष्य—

इति सा निगदव्याख्याता । समदः—समदो वात्तेः, संमदो वा मदतेः ।

इति सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = अपने उच्चारण से ही व्याख्यात है। सम् उपसर्ग पूर्वक, अत्तेः = अद भक्षणे धातु से समद = समद् शब्द बना है। अर्थात् 'सम्यक् अत्ति इति समद्' इस विग्रह मे सम् पूर्वक 'अद भक्षणे' धातु से क्विप् (०) प्रत्यय होने पर 'समद्' शब्द बना है। 'समदः' यह जसन्त है। वा = अथवा, सम् पूर्वक, मदतेः = मद धातु से, समदः = समद् शब्द बना है। सम् मद् – समद्। म् लोप।

१३ – ज्या।

ज्या धनुर्गुण प्रत्यञ्चा अर्थात् धनुष् की डोरी (तात) को कहते हैं। भाष्यकार निर्वचन करते हैं—

ज्या–जयतेर्वा, जिनातेर्वा, प्रजावयतीषूनिति वा ।

जयते. वा = जय अर्थ मे जि धातु से, वा = अथवा, जिनातेः = वय की हानि अर्थ मे ज्या धातु से, वा = अथवा, इषून् = वाणो को, प्रजावयति = प्रजवन = फेंकती है, इति = इस लिये,

ज्या = ज्या कही जाती है। अर्थात् 'जयति विजयं कारयति इति ज्या' इस विग्रह में अन्तर्भावित ण्यर्थक 'जिजये' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् (य) प्रत्यय और जि धातु के इकार का लोप और टाप् होने पर ज्या शब्द बना है। धनुष् की प्रत्यञ्चा का नाम है। क्योंकि यह अपने बल से जय प्राप्त कराती है। अथवा 'जिनाति वयहानि कारयति इति ज्या' इस विग्रह में 'ज्या वयोहानौ' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर ज्या शब्द बना है। प्रत्यञ्चा का ही नाम है। क्योंकि उसके द्वारा प्रतियोद्धावों के वयस् की हानि होती है। वा = अथवा, 'जवति इषून् प्रजावयति इति ज्या' इस विग्रह में सौत्र ण्यन्त 'जुगतौ' धातु से क्विप् (०), णिलोप, जु, जावि, जाव्, पृषोदरादित्वात्, आव् को या आदेश होने पर ज्या शब्द बना है। धनुष् की प्रत्यञ्चा का ही नाम है। क्योंकि, वह बाण को फेंकती है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः । ९-१७ ॥

तस्याः = उस ज्या की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती ॥

ऋ. सं. ५-१-१९-३ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज पुत्र पायु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और ज्या देवता है। मन्त्रार्थ—इयम् = यह, ज्या = धनुष् की प्रत्यञ्चा, समने = संग्राम में, धन्वन् अधि = धनुष् के ऊपर, वितता = विस्तृत होती हुई एवं, पारयन्ती = शत्रुओं के पार ले जाती हुई, प्रियम् वक्ष्यन्ती इव = जैसे प्रियकर वाक्य कह न रही हो वैसे ही शब्द करती हुई धनुर्धारी राजा, कर्णम् = कर्णप्रदेश में, आगनीगन्ति = आती है। 'इत्' यह पाद पूरक है। योषा सखायम् इव, जैसे स्त्री प्रियपति का आलिङ्गन करके बात करती है वैसे ही यह ज्या भी, परिषस्वजाना = बाण का आलिङ्गन करके शिङ्क्ते = शीकार शब्द करती है।

यास्क भाष्य—

वक्ष्यन्तीवागच्छति कर्णं प्रियमिव सखायमिषुं परिष्वजमाना योषेव शिङ्क्ते शब्दं करोति वितताधिधनुषि ज्या इयं समने पारयन्ती पारं नयन्ती।

योषा सखायम् इव = स्त्री प्रियपति के समान अर्थात् स्त्री जैसे पुरुष को आलिङ्गन करती है वैसे ही, अधिधनुषि वितता = धनुष के ऊपर विस्तृत, इयम् ज्या = यह प्रत्यञ्चा, इषुम् परिष्वजमाना =

बाण को आलिङ्गन करती हुई, कर्णम् = कान मे, प्रियम् इव = प्रिय वाक्य के समान, वक्ष्यन्ती इव = कहेगी के समान, आगच्छति = आती है और, शिङ्क्ते = शब्दं करोति = शब्द करती है। समने = संग्राम मे, पारयन्ती = पार नयन्ती = शत्रुओ के पार ले जाती हुई। इति पूर्वान्वय ।

१४ – इषुः ।

इषु बाण का नाम है। भाष्यकार इसका निर्वचन करते हैं—

इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा ।

गतिकर्मणः = गत्यर्थक, वा = अथवा, वधकर्मण. = वधार्थक, ईषते. = ईष धातु से, इषुः = इषु शब्द बना है। अर्थात् 'ईषति शत्रून् गच्छति हन्ति वा इति इषुः' इस विग्रह मे 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' धातु से 'ईषे किच्च' इस उणादि सूत्र से उप्रत्यय और ककार से उपधा ह्रस्व होने पर 'इषु' शब्द बना है। बाण का नाम है। क्योकि, बाण शत्रुओ पर जा गिरता है एव शत्रुओ का वध करता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टादश. खण्ड । ९–१८ ॥

तस्य = उस इषु की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकोनविंश खण्ड ।

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥

ऋ सं ५–१–२०–११॥

इस मन्त्र का भरद्वाज-पुत्र पायु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इषु देवता है। मन्त्रार्थ—यह ऋचा इषु की स्तुति करती है। सुपर्णम् वस्ते = बाण शोभन पङ्ख धारण करता है। अस्या = इस का, दन्तः = दांत, मृग. = मृगशृङ्ग है। गोभि सनद्धा = यह गाय के अवयव तांत से अच्छी तरह बद्ध है। प्रसूता पतति = यह प्रेरित हो कर शत्रुओ पर गिरता है। यत्र = जहां (युद्ध मे), नर = नेता लोग (योधा लोग), स च = साथ वा, वि च = पृथक् रूप मे, द्रवन्ति = विचरते हैं, तत्र = वहां, इषव. = बाण, अस्मभ्यम् = हमे, शर्म = सुख, यसन् = देवें।

भाष्य—

सुपर्णं वस्त इति वाजानभिप्रेत्य । मृगमयोऽस्यादन्तो, मृगयतेर्वा गोभिः-संनद्धा पतति प्रसूता' इति व्याख्यातम् । यत्र नराः संद्रवन्ति च विद्रवन्ति च तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु शरणं संग्रामेषु ।

'सुपर्णं वस्ते' इति = 'सुपर्णम् वस्ते' यह जो मन्त्र में कहा गया है वह, वाजानभिप्रेत्य = वाजों के अभिप्राय से कहा गया है। अर्थात् वाण में जो पंख बंधा हुआ होता है वह बाज पक्षी का होना चाहिये। अस्याः = इस का, दन्तः = दाँत, मृगमयः = मृग के अस्थि (हड्डी) का बना हुआ है, वा = अथवा, मृगयतेः = 'मृग अन्वेषणे' धातु से मृग शब्द बना है। अतः इस का अर्थ लक्ष्य का अन्वेषण करने वाला होता है। भाव यह है कि, वाण का दाँत = अग्रभाग मृग की हड्डी का बना हुआ होता है। इस लिये वह मृगमय कहा जाता है और वह शत्रु रूप लक्ष्य का अन्वेषण कर उस का वेधन करता है। जैसे मन्त्र बोल कर यज्ञादि कर्म किये जाते हैं—वैसे ही सिद्ध किये हुए मन्त्र बोल कर वाण चलाया जाता है। जो कार्य अणुशक्ति नहीं कर सकती है वह मन्त्रशक्ति के प्रभाव से वाण करता है। इस में विशेषता यह है कि, अणुशक्ति निरपराधी प्राणियों का भी नाश करता है और वाण अन्वेषण कर कर केवल अपराधी का ही नाश करता है। आज मन्त्र-सिद्धि करनेवाला कोई क्षत्रियकुमार न रहने से यह कार्य देखने में नहीं आता है। आज भी अश्रुवायु आदि का प्रयोग किसी शक्ति से होता है।

'गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता' इति = यह वाक्य, व्याख्यातम् = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या निरुक्त द्वितीय अध्याय पञ्चम खण्ड "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' इति इषुस्तुतौ" इस वाक्य से की जा चुकी है। यत्र = जिस युद्ध में, नराः = योद्धा लोग, संद्रवन्ति च = साथ वा, विद्रवन्ति च = पृथक् रूप में विचरण करते हैं, तत्र = वहाँ, अस्मभ्यम् = हमें, इषवः = वाण, संग्रामेषु = युद्धों में, शर्म = शरणम् = सुख, यच्छन्तु = देवें।

१५ – अश्वाजनी।

'अश्वाजनी' चाबुक को कहते हैं। अश्व शब्द का निर्वचन इस अध्याय के प्रारम्भ में सर्व प्रथम किया गया है। अज्यन्ते अश्वाः क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते अनया इति 'अजनी' इस विग्रह में 'अज गतिक्षेपणयोः' धातु से 'ल्युट् च' इस सूत्र से ल्युट् (यु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से यु को अन, अजन, 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र से ङीप् (ई), 'यस्येति च' इस सूत्र से अ लोप होने पर अजनी शब्द बना है, 'अश्वस्य अजनी इति अश्वाजनी' इस विग्रह में अश्व का और अजनी का षष्ठीतत्पुरुष समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् लुक् और सवर्ण दीर्घ होने पर अश्वाजनी शब्द बना है। यह प्रत्यक्षवृत्ति होने से इसका निर्वचन न कर इसके पर्याय वाची कशा शब्द का निर्वचन करते है—

अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा—प्रकाशयतिभयमश्वाय। कृश्यतेर्वा अणूभावात्।

अश्वाजनम् = अश्वाजनी को, कशा इति = कशा अर्थात् चाबुक, आहुः = कहते हैं। अश्वाय = अश्व के लिये, भयम् = भय, प्रकाशयति = प्रकाश करती है, वा = अथवा, कृश्यतेः = कृश धातु से अणूभावात् = सूक्ष्म होने से, कशा = कशा शब्द बना है। कशा (चाबुक) बहुत पतली होती है। अर्थात् 'काशते अश्वाय भयं प्रकाशयति इति कशा' इस विग्रह में अन्तर्भावितण्यर्थक 'काशृ दीप्तौ' धातु से पचाद्यच्, काश् अ, छान्दस ह्रस्व और टाप्, एवं दीर्घ होने पर कशा शब्द बना है।

चाबुक का नाम है। क्योंकि, चाबुक घोड़ा को भय दिखाता है। दिखाना प्रकाश करना है। अथवा 'कृशयति तनूभावंप्राप्नोति इति कशा' इस विग्रह में 'कृश तनूकरणे' धातु से पचाद्यच्, गुण, कर्श्, अ, पृषोदरादित्वात् र् लोप टाप्, दीर्घ होने पर कशा शब्द बना है। चाबुक का ही नाम है। यह चर्म का तनूभाव = अणूभाव = सूक्ष्म = बहुत पतला होता है।

चाबुक को कशा कहते हैं यह कहा गया। अब वाक् को भी कशा-कहते हैं वह कहते हैं—

वाक्-पुनः प्रकाशयत्यर्थान् ।

पुनः = और, वाक् = वाणी भी, कशा = कशा कही जाती है। क्योंकि, यह भी, अर्थान् = अर्थों को, प्रकाशयति = प्रकाश करती है। व्युत्पत्ति दोनों अर्थों में समान है।

खशया। क्रोशतेर्वा।

अथवा, खशया = मुखाकाश में सोने वाली होने से वाक् खशया होती हुई कशा हो जाती है। अर्थात् 'खे शते इति खशया' इस विग्रह में आकाश वाचक ख शब्द पूर्वक 'शीङ् स्वप्ने' धातु से पचाद्यच्, गुण, अयादेश, टाप्, खशया, पृषोदरादित्वात् य लोप और वर्णविपर्यय ख को क होने पर कशा शब्द बना है। वाणी का नाम है। क्योंकि, वाणी ख = मुखाकाश में सोती है। वा = अथवा, क्रुशतेः = क्रुश धातु से कशा शब्द बना है। अर्थात् 'क्रोशति शब्दं करोति इति कशा वाक्' इस विग्रह में धातूनामनेकार्थत्वात् सामान्य शब्दार्थ 'क्रुश आह्वाने रोदने च' धातु से पृषोदरादित्वात् अच् प्रत्यय, क्रु को क आदेश और टाप् होने पर कशा शब्द बना है। वाणी का नाम है। क्योंकि, वाणी शब्द करती है। जैसे कशा = चाबुक = कोड़े से चोट लगती है वैसे ही मर्मवेधक वाणी से भी चोट लगती है। अतः वाणी भी कशा कही जाती है।

अश्वकशाया एषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥ ९-१९ ॥

कशा के दो अर्थ हुए। चाबुक और वाक्। उन में, अश्वकशायाः = अश्वकशा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य विंशः खण्डः ।

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते ।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय ॥ ऋ सं. ५-१-२१-१३ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज-पुत्र पायु ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और प्रतोद देवता है। मन्त्रार्थ— अश्वाजनि = हे कशे ! (चाबुक !), तुम्हारे द्वारा, प्रचेतसः = प्रकृष्ट ज्ञानी सारथि लोग, एषाम् =

इन अश्वों के, सानु = उन्नत प्रदेशों पर, आजङ्घन्ति = मारते है, और, जघनान् = जघनों पर, उपजिघ्नते = मारते हैं। वही तुम, समत्सु = संग्रामों में, अश्वान् – घोड़ों को, चोदय = प्रेरित करो।

इस मन्त्र का भाष्य—

आघ्नन्ति सानून्येषां सरणानि सक्थीनि। सक्थिः सचतेः। आसक्तोऽस्मिन्कायः। जघनानि चोपघ्नन्ति। जघनं जङ्घन्यते। अश्वाजनि प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्त्समत्सु समरेषु संग्रामेषु चोदय।

एषाम् = इन अश्वों के, सानु = सानूनि = सरणानि = सक्थीनि = उन्नत देशों पर, आघ्नन्ति = मारते हैं। सचतेः = षच धातु से, सक्थिः = सक्थि शब्द बना है अर्थात् 'सचते इति सक्थिः' इस विग्रह में 'षच सेवने' धातु से 'असिसञ्जिभ्यांक्थिन्' इस उणादि सूत्र से क्थिन् (थि) प्रत्यय, सच् थि, 'चो:कुः' इस सूत्र से कुत्व होने पर सक्थि शब्द बना है। उन्नत प्रदेश का नाम है। अस्मिन् = इस (सक्थि) में, कायः = सारा शरीर, आसक्तः = आश्रित होता है। जघनानि च = और जघन प्रदेशों पर, उपघ्नन्ति = मारते है। जघनम् जङ्घन्यते = अश्व के शरीर का जघन भाग बहुत करके चाबुक से ताडा जाता है। अश्वाजनि = हे कशे! तुमसे, प्रचेतसः = प्रवृद्ध चेतसः = विशेष ज्ञानी सारथि लोग, समत्सु = समरेषु = संग्रामेषु = योद्धों में, अश्वान् = घोड़ों को, चोदय = प्रेरित करो।

१६ – उलूखलम्।

'उलूखल' ऊखल को कहते हैं। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

उलूखलमुरुकरं वोर्ध्वखं वा, उर्करं वा, "उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत्" उरुकरं चैतदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षेणेति च ब्राह्मणम्।

उलूखलम् = उरुकरम् = बहुत अन्न को करनेवाला होता है, वा = अथवा, ऊर्ध्वखम् = ऊपर को छेदवाला होता है, वा = अथवा, उर्करम् = ऊर्क् शब्द करने वाला होता है, इस लिये उलूखल कहा जाता है। उत्पत्तिकाल में उसने, मे उरु कुरु = 'मेरा छिद्र बहुत बड़ा करो' इति = यह, अब्रवीत् = कहा, तद् = इस कारण से, उलखलम् = उलूखल, अभवत् = हो गया। च = और, एतत् = यह, ऊरुकरम् = प्रत्यक्ष रूप से उरु कर (बहुत करने वाला) और, परोक्षेण = परोक्ष रूप से, उलूखलम् = उलूखल, इति आचक्षते = यह कहते हैं' इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है। अर्थात् 'उरुकर का उलूखल हो गया है' इस कथन मे उक्त ब्राह्मण वचन प्रमाण है।

अर्थात् 'उरु बहुमन्नं करोति इति उरुकरम् उलूखलम्' इस विग्रह में उरु उपपद 'डुकृञ् करणे' धातु से पचाद्यच्, रपरगुण, उरुकर, और पृषोदरादित्वात् वर्णव्यत्यय र को ल्, क को ख, तथा र को ल होने पर उलूखल शब्द बना है। ऊखल का नाम है। क्योंकि, उलूखल बहुत अन्न का संस्कार करता है।

'उर्ध्वम् उपरिभागे खम् खातम् आकाशम् यस्य तत् उलूखलम्' इस विग्रह में ऊर्ध्व और ख शब्दों का समास और पृषोदरादित्वात् ऊर्ध्व को उलू एवं ख को खल आदेश होने पर उलूखल शब्द बना है। ऊखल का नाम है। क्योंकि, ऊखल का उपरिभाग मुख खात छिद्र होता है।

'ऊर्क् अन्नं तत् करोति इति उलूखलम्' इस विग्रह में ऊर्ज् उपपद् कृ धातु से अच्, रपर गुण ऊर्ज् कर, पृषोदरादित्वात् र्ज् को लू, ऊ को ह्रस्व, क को ख और र को ल होने पर उलूखल शब्द बना है। ऊखल का नाम है। क्योंकि, ऊखल अन्न को तुष निकालकर साफ करता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य विंशः खण्डः ॥ ९-२० ॥

तस्य = उस उलूखल शब्द की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।

इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ ऋ. सं. १-२-२५-५ ॥

इस मन्त्र का शुनःशेप ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और उलूखल देवता है। मन्त्रार्थ—उलूखलक = हे ऊखल !, यच्चिद्धि = यद्यपि तू, गृहे गृहे = घर घर में, युज्यसे = अन्न के संस्कार के लिये रहता है तथापि, त्वम् = तू, इह = इस हमारे यज्ञ मे, जयताम् = जय प्राप्त करने वालों के, दुन्दुभिः इव = नगारे के समान, द्युमत्तमम् = अतिशय गम्भीर शब्द, वद = बोल, कर।

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥ ९-२१ ॥

इति सा = यह ऋचा, *निगदव्याख्याता = उच्चारण से ही व्याख्यात है। व्याख्या करने की* आवश्यकता नही।

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ।

१७ – वृषभः ।

वृषभ सांढ़ को कहते हैं। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

वृषभः प्रजां वर्षतीति वा, अति बृहति रेत इति वा, तद् वृषकर्मणा, वर्षणाद्वृषभः ।

प्रजाम् = सन्तान को, वर्षति = बरसता है, इति = इस लिये, वा = अथवा, रेतः = वीर्य को सेचन मे अति बृहति = अतिशय उद्यत रहता है, इति = इस लिये, तद् = वही, वृषकर्मणा = वृष

(बैल) के कर्म वाला, वर्षणात् = वर्षण कर्म से, वृषभ. = साँड वृषभ कहलाता है। अर्थात् 'वर्षति प्रजामुत्पादयति इति वृषभ.' इस विग्रह मे 'वृषु सेचने' धातु से, 'ऋषिवृषिभ्या कित्' इस उणादि सूत्र से अभच् (अभ) प्रत्यय, कित्त्वात् गुणाभाव होने पर वृषभ शब्द बना है। बैल का नाम है। क्योंकि, बैल प्रजा को बरसता है। अथवा 'अति बृहति योनौ रेतः सेक्तुम् आत्मानम् उद्यच्छति इति वृषभः' इस विग्रह मे 'बृह उद्यमने' धातु से उक्त उणादि सूत्र से अभच् प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् ह को ष होने पर वृषभ शब्द बना है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्ड. ।। ९-२२ ।।

तस्य = उस वृषभ की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्ड. ।

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन् वृषभं मध्य आजेः ।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥

ऋ मं. ८-५-२०-५ ।।

इस मन्त्र का मुद्गल ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और मुद्गर या इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—मुद्गल ऋषि कहते हैं, उपयन्तः = मनुष्यों ने पास जा कर, एनम् = इस वृषभ को, न्यक्रन्दयन् = गर्जना कराया, जिस से शत्रु डर के मारे भाग जाय और, आजेः मध्ये = युद्ध के बीच, वृषभम् = बैल से, अमेहयन् = मूत्र त्याग कराया एवं, सूभर्वम् = शोभन आहार करवाया तेन = उस से मुद्गलः ने (मैं ने), शतवत् गवाम् सहस्रम् = सैंकडों सहस्रो गायों को, प्रधने = संग्राम मे, जिगाय = जीता। यह मन्त्र वृषभ की स्तुति करता है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

'न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमितिव्याख्यातम्। अमेहयन्वृषभं मध्य आजेराजयनस्याजवस्येति वा। तेन तं सूभर्वं राजानम्। भर्वतिरत्तिकर्मा। यद्वा सूभर्वं सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय। प्रधन इति संग्रामनाम। प्रकीर्णान्यस्मिन्धनानि भवन्ति।

'न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनम्' इति = यह स्पष्ट होने से, व्याख्यातम् = स्वयमेव व्याख्यात है। आजेः मध्ये = संग्राम के बीच, वृषभम् = बैल से, अमेहयन् = मूत्र त्याग करते हुए। आजयनस्य = आजवस्य इति वा = संग्राम विजय दिलाने वाला या गतिवाला। तेन = इससे, तम् सूभर्वम् = उस शोभन आहार वाले, राजानम् = राजा को। भर्वतिः = भर्व धातु, अत्तिकर्मा = भक्षणार्थक निघण्टु पठित है। उसी से सूभर्व शब्द बना है। यद्वा = अथवा, सूभर्वम् = शोभन भक्षण करने

वाली, सहस्रम् = हजारों, गवाम् = गायों को, मुद्गलः = मुद्गल ने (मैंने), प्रधने = संग्राम में, जिगाय = जीता, प्रधन इति = प्रधन यह संग्रामनाम = युद्ध का नाम है। अस्मिन् इस में (युद्ध मे) प्रकीर्णानि = बहुत प्रकार के, धनानि = धन, भवन्ति = होते है।

१८ – द्रुघणः।

द्रुघण गदा को कहते है। इसका निर्वचन करते हैं—

द्रुघणः द्रुममयो घनः।

द्रुममयः = काष्ठ का बना हुआ, घन = यन्त्र विशेष, द्रुघणः = द्रुघण कहलाता है। जिसको गदा कहते है। द्रु शब्द द्रुम (वृक्ष) पर्याय है। द्रोर्विकार. द्रुमय ' इस विग्रह मे द्रु शब्द से 'तस्यविकार ' इस सूत्र से विकार अर्थ मे मयट् (मय) प्रत्यय, होने पर द्रुम्य शब्द बना है। 'हन्ति इति घन ' इस विग्रह मे काठिन्य अर्थ मे 'हन हिंसागत्योः' धातु से 'मूर्त्तौ घनः' इस सूत्र के निपातन से अप् (अ) प्रत्यय और घन आदेश होने पर घन शब्द बना है। द्रुमय और घन का 'द्रुमयश्चासौ घनश्चेति द्रुघण.' इस विग्रह मे कर्मधारय समास, पृषोदरादित्वात् मयट् का लोप और णत्व होने पर द्रुघण शब्द बना है। गदा का नाम है। क्योंकि गदा काष्ठ निर्मित काठिन्य पदार्थ है और शत्रु को मारता है। द्रुमय के स्थान मे द्रुममय लिखा है यह क्वचित् नित्य समान होने से अस्वपद विग्रह किया गया है।

अत्रेतिहासमाचक्षते ।

अत्र = इस विषय मे अर्थात् उस द्रुघण के सम्बन्ध मे, इतिहासम् = पूर्ववृत्तरूप इतिहास, आचक्षते = कहते हैं—

मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय।

मुद्गलः भार्म्यश्व. ऋषिः = भृम्यश्व के पुत्र मुद्गल ऋषि ने, वृषभम् च द्रुघणम् च = बैल को और द्रुघण (मुद्गर) को शकट में, युक्त्वा = जोड कर, संग्रामे = संग्राम में, व्यवहृत्य = युद्ध कर के, आजिम् = युद्ध को, जिगाय = जिता। अर्थात् गाडी मे एक बैल था। दूसरा न रहने के कारण उस के स्थान पर गदा को ही जोड कर मुद्गल ऋषि युद्ध में गये और विजय प्राप्त कर घर आये। इस प्रकार वृषभ का काम गदा से लिया। यह गदा की स्तुति है।

तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रयोविंश खण्डः ॥ ९-२३ ॥

तद् अभिवादिनी = उसी यथोक्त इतिहास को कहने वाली, एषा ऋक् = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्विंश खण्डः ।

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् ।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥

ऋ सं. ८-५-२१-९ ॥

इस मन्त्र का मुद्गल ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और द्रुघण नामक मुद्गर वा इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ— युद्ध के समाप्त होने पर ही जब कि, वृषभ के साथ गाड़ी में जुता हुआ ही द्रुघण (मुद्गर) था। किसी ने मुद्गल ऋषि से पूछा कि, तुमने किस की सहायता से राजा को जीता? मुद्गल ने द्रुघण की तरफ हाथ करके कहा कि, मित्र!, तम् इमम् = उस इस, काष्ठायाः मध्ये = गाड़ी के बीच में, हन्तव्य शत्रुओं को मार कर सुख पूर्वक, शयानम् = सोया हुआ, वृषभस्य युञ्जम् = वृषभ के साथ शकट में जुता हुआ, द्रुघणम् = मद्गर (गदा) को, पश्य = देखो, येन = जिस द्रुघण के साथ, अर्थात् द्रुघण की सहायता से, शतवत् गवाम् सहस्रम् = सैकड़ों हजार गायों को, पृतनाज्येषु = संग्रामों में, जिगाय = जीता है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजम् । काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् । येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ।

वृषभस्य सहयुजम् = बैल के साथ गाड़ी में जुता हुआ, इमम् तम् = उस इस द्रुघण को, पश्य = देखो। काष्ठायाः मध्ये = शकट के मध्य में, शयानम् = सोया हुआ, द्रुघणम् = मुदगर को। येन = जिस से, मुद्गलः = मद्गल ऋषि ने (मैं ने), पृतनाज्येषु = संग्रामों मे, शतवत्सहस्रंगवाम् = सैकड़ो हजार गायों को, जिगाय = जीता है।

पृतनाज्यमिति संग्रामनाम । पृतनानामजनाद्वा, जयनाद्वा ।

पृतनाज्यम् इति = पृतनाज्य यह, संग्रामनाम = संग्राम का नाम है। पृतनानाम् = सेनाओं के, अजनात् = गमन करने से, वा = अथवा, जयनात् = जय करने से। अर्थात् संग्राम में सेना गमन करती है वा विजय प्राप्त करती है। अतः संग्राम पृतनाज्य कहा जाता है। अर्थात् 'पृतनाः सैनिकजनाः अजन्ति गच्छन्ति यस्मिन् इति पृतनाज्यम्' इस विग्रह में पृतना उपपद 'अजगतिक्षेपणयोः' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र से यक् (य) प्रत्यय और सवर्ण दीर्घ होने पर 'पृतनाज्य' शब्द बना है। संग्राम का नाम है। क्योंकि, संग्राम में सैनिक लोग गमन करते हैं। अथवा 'पृतनाः जयन्ति यस्मिन् सत् पृतनाज्यम्' इस विग्रह मे पूर्ववत् पृतना उपपद 'जिजये' धातु से यक् प्रत्यय, पृतना जि य, पृषोदरादित्वात् इकार लोप होने पर पृतनाज्य शब्द बना है। संग्राम का नाम है। क्योंकि, संग्राम मे सेनाओं का विजय किया जाता है।

मुद्गल शब्द का निर्वचन करते हैं—

मुद्गलो मुद्गवान्, मुद्गगिलो वा, मदनं गिलतीति वा, मदङ्गिलो वा, मुदङ्गिलो वा।

मुद्गवान् = मुंगवाला, मुद्गलः = मुद्गल कहा जाता है। अर्थात् 'मुद्गः - अन्नविशेषः अस्यास्मिन् अस्ति इति मुद्गलः' इस विग्रह में मुद्ग शब्द से मत्वर्थीय लच् (ल) प्रत्यय होने पर मुद्गल शब्द बना है। मुग वाला अर्थ है।

वा = अथवा, मुद्गगिलः मुद्गलः = मुंगों को गिलने वाला मुद्गल कहा जाता है। अर्थात् 'मद्गं गिलति इति मुद्गलः' इस विग्रह में मुद्ग उपपद 'गृ निगरणे' धातु से ड प्रत्यय, टि लोप, मुद्गग् अ, पृषोदरादित्वात् ग् को ल् होने पर मुद्गल शब्द बना है। मुद्ग भक्षण करने वाला अर्थ है। सात्त्विक अन्नभोजी।

वा = अथवा, 'मदनं गिलति इति = काम को गिलता है इस लिये मुद्गल कहा जाता है। अर्थात् 'मदनं कामं गिलति वशीकरोति इति मुद्गलः' इस विग्रह में मदन उपपद 'ग निगरणे' धातु से पचाद्यच्, रपर गुण मदनगर, पृषोदरादित्वात् मुद्गल शब्द बना है। काम को गिल जाने वाला अर्थात् जितेन्द्रिय अर्थ है।

वा = अथवा, मदङ्गिलः = मद को गिलने वाला। अर्थात् 'मदं गिलति इति मुद्गलः' इस विग्रह में मद उपपद 'गृ निगरणे' धातु से अच् प्रत्यय, रपर गुण, मद गर, पृषोदरादित्वात् मदगर = मुद्गल बना है। निरभिमान शान्त अर्थ है।

वा = अथवा, मुदङ्गिलः = हर्ष को गिलने वाला मुद्गल कहा जाता है। अर्थात् 'मुदं हर्षं गिलति इति मुद्गलः' इस विग्रह में मुद उपपद 'गृ निगरणे' धातु से अच् प्रत्यय, रपर गुण, मुदगर, पृषोदरादित्वात् मुद्गल शब्द बना है। हर्ष रहित = निवृत्त सर्व इन्द्रिय विषय मुद्गल कहा जाता है।

'भृम्यश्व के पुत्र भार्म्यश्व मुद्गल है' यह पूर्व कहा गया है। सिंहावलोकनन्याय से उस का निर्वचन करते हैं—

भार्म्यश्वः भृम्यश्वस्य पुत्रः । भृम्यश्वः भृमयोऽस्याश्वाः। अश्वभरणाद्वा।

भृम्यश्वस्य = भृम्यश्व के, पुत्रः = पुत्र मुद्गल ऋषि, भार्म्यश्वः = भार्म्यश्व कहलाते हैं। अस्य अश्वा = इस के घोड़े सब, भृमयः = अनवस्थायी अर्थात् बहुत चञ्चल हैं इस लिये यह, भृम्यश्वः = भृम्यश्व कहा जाता है। वा = अथवा, अश्वभरणात् = अश्वों के भरण पोषण करने से, भृम्यश्वः = भृम्यश्व कहा जाता है। अर्थात् अश्वों के भरण पोषण करने से भृम्यश्व और भृम्यश्व के पुत्र होने से मुद्गल भार्म्यश्व कहलाते है। 'भ्रियन्ते इति भृमयः' इस विग्रह मे 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' धातु में उणादि मिङ् प्रत्यय होने से भृमि शब्द बना है, चञ्चल अर्थ है। 'भृमयः अश्वा अस्य इति भृम्यश्वः' इस विग्रह मे भृमि और अश्व का बहुव्रीहि समास, भृम्यश्वस्य अपत्यम् इति भार्म्यश्वः' इस विग्रह में भृम्यश्व शब्द से 'तस्यापत्यम्' इस सूत्र से तद्धित अण् (अ) प्रत्यय 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्र से आदि अच् वृद्धि होने पर भार्म्यश्व शब्द बना है।

१९ – पितुः।

'पितु' यह अन्न का नाम है। इसका निर्वचन करते हैं—

पितुरित्यन्ननाम। पातेर्वा, पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा।

पितुः इति = पितु यह, अन्ननाम = अन्न का नाम है। पातेः वा = 'पा रक्षणे' धातु से, वा = अथवा, पिबतेः = 'पा पाने' धातु से, वा = अथवा, प्यायतेः = 'ओप्यायी वृद्धौ' धातु से 'पितु' शब्द बना है। अर्थात् 'पाति प्राणान् रक्षति इति पितुः' इस विग्रह में 'पा रक्षणे' धातु से 'कमिमनिजनि' इत्यादि उणादि सूत्र से बाहुलकात् तु प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु को इकारान्तादेश होने पर पितु शब्द बना है। अन्न का नाम है। क्योंकि, अन्न प्राणों की रक्षा करता है। अथवा 'पिबति इति पितुः' इस विग्रह में 'पा पाने' धातु से उक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् तु प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु को अन्तादेश इकार होने पर 'पितु' शब्द बना है। पेय पदार्थ का नाम है। दुग्ध जलादि भी अन्न ही हैं। क्योंकि, अद्यते यत् तत् अन्नम्' जो खाया जाय वह सब अन्न कहे जाते हैं। अथवा, 'प्यायते शरीरवृद्धिं करोति इति पितुः अन्नम्' इस विग्रह में 'ओप्यायी वृद्धौ' धातु से उक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् तु प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु को पि आदेश होने पर 'पितु' शब्द बना है। अन्न का ही नाम है। क्योंकि, अन्न शरीर की वृद्धि करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥ ९-२४ ॥

तस्य = पितु शब्द की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ऋ सं. २-५-६-१ ॥

इस मन्त्र का अगस्त्य ऋषि, अनुष्टुपगर्भा उष्णिक् छन्द और पितु (अन्न) देवता है। मन्त्रार्थ—अगस्त्य ऋषि कहते हैं—मैं, नु = क्षिप्रकारी (शीघ्रकारी), महः = महान्, धर्माणम् = सर्व के धारक, तविषीम् = बलात्मक, पितुम् = पालक अन्न देव को, स्तोषम् = स्तुति करता हूँ। यस्य = जिस अन्न की, ओजसा = सामर्थ्य से, त्रितः = विस्तीर्ण इन्द्र ने, वृत्रम् = वृत्रासुर को और उस की, विपर्वम् = सन्धियों को, अर्दयत् = काट डाला था। अर्थात् उसका वध किया था। इस मन्त्र में पितु शब्द अन्न वाचक है।

इस मन्त्र का भाष्य—

तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य । तविषीति बलनाम । तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः । यस्य त्रित ओजसा बलेन, त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति ।

महतः = महान्, बलस्य = बल के, धारयितारम् = धारण करने वाला, तम् पितुम् = उस अन्न की मैं, स्तौमि = स्तुति करता हूँ । तविषी इति = तविषी यह, बलनाम = बल का नाम है । वा = अथवा, वृद्धिकर्मण = वृद्धयर्थक, तवतेः = तु धातु से तविषी रूप बना है । क्योंकि वह सब वस्तुओं से बड़ा है । अर्थात् 'तूयते इति तविषी' इस विग्रह में वृद्धयर्थक सौत्र तु धातु से उणादि कल्पित टिषच् (इष) प्रत्यय, तु इष, गुण, अवादेश, तविष, टित्त्वात् ङीप्, अलोप होने पर तविषी शब्द बना है । यस्य = जिस अन्न की, ओजसा = बलेन = सामर्थ्य से, त्रितः = विस्तीर्ण, त्रितः = त्रिस्थान = तीन लोकों के स्वामी, इन्द्रः = इन्द्र ने, वृत्रम् = वृत्र को और, विपर्वाणम् = उसकी सन्धियों को तोड़ कर, व्यर्दयति = उसका वध किया था ।

२० – नद्यः ।

'नदन्ति इति नद्यः' इस विग्रह में 'णद अव्यक्ते शब्दे' धातु से पचाद्यच् । वहां 'नदट्' ऐसा टित् पढा है । अतः टित्त्वात् ङीप् होने पर नदी शब्द बना है । 'नद्यः' यह जस् का रूप है । नदी का ही नाम है । क्योंकि, वह अव्यक्त शब्द करती है । भाष्यकार कहते हैं—

नद्यो व्याख्याताः ।

नद्यः = नदियाँ, व्याख्याताः = व्याख्यात हैं । अर्थात् नदी शब्द की व्याख्या नदीनामों में 'नदना भवन्ति शब्दवत्यः' इत्यादि पङ्क्तियों से हो चुकी है । यहाँ प्रसंगतः लिखी गई हैं ।

तासामेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः । ९ – २५ ॥

तासाम् = उन नदियों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

ऋ. सं. ८-३-७-५ ॥

इस मन्त्र का प्रियमेध के पुत्र सिन्धुक्षित ऋषि, जगती छन्द और नदी देवता है । मन्त्रार्थ इस मन्त्र में नदियों की स्तुति है । गङ्गे = हे गङ्गा !, यमुने = हे यमुना !, सरस्वति = हे सरस्वती !, शुतुद्रि = हे शुतुद्री ! तुम सब मिल कर, मे = मेरे, इमम् स्तोमम् = इस स्तोत्र का आसचत =

सेवन करो और, मरुद्‌वृधे = हे मरुद्‌वृधा तथा, आर्जीकीये = हे आर्जीकीया ! तुम दोनों, परुष्ण्या = परुष्णी के साथ, असिक्न्या = असिक्नी के साथ, वितस्तया = वितस्ताके साथ और, सुषोमया = सुषोमा के साथ मेरे स्तोत्रों को ध्यान देकर, आश्रृणुहि = सुनो ।

इस का भाष्य—

इमं मे गङ्गे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि ! परुष्णि ! स्तोममासेध्वम्, असिक्न्या च सह मरुद्‌वृधे ! वितस्तया चार्जीकीये ! आश्रृणुहि सुषोमया चेति समस्तार्थः ।

गङ्गे = हे गङ्गा !, यमुने = हे यमुना !, सरस्वति = हे सरस्वती !, शुतुद्रि = हे शुतुद्री !, परुष्णि = हे परुष्णी! मरुद्‌वृधे = हे मरुद्‌वृधा!, आर्जीकीये = हे आर्जीकी! तुम सब मिलकर, असिक्न्या च सह = असिक्नी के साथ, च = और, वितस्तया च = वितस्ता के साथ, च = और, सुषमयाच = सुषोमा के साथ, मे = मेरे, इमम् स्तोमम् = इस स्तोत्रों का, आसेध्वम् = सेवन करो और ध्यान से सुनो, इति = यह, समस्तार्थः = सम्मिलित अर्थ है । इन नदियों के वर्तमान नाम—शुतुद्री = सतलज । परुष्णी = रावी । असिक्नी = चिनाव । वितस्ता = जेलम । सुषोमा = सोहान । आर्जीकीया = व्यास । इस प्रकार इस मन्त्र में नदियां नव (९) आई हैं । मरुद्‌वृधा सब नदियों को कहते हैं । यह स्वतन्त्र नदी नहीं है ।

अथैकपदनिरुक्तम् — गङ्गा गमनात् ।

अथ = अब, एकपदनिरुक्तम् = एक एक पदका निर्वचन किया जाता है—गमनात् = गमन करने से, गङ्गा = गङ्गा कही जाती है । अथवा प्राणियों को स्वर्ग लोक में गमन कराने से गङ्गा कहलाती है । अर्थात् 'गच्छति हिमालयात् सागरं व्रजति इति गङ्गा' इस विग्रह में 'गम्लृ गतौ' धातु से 'गन् गम्यद्योः' इस उणादि सूत्र से गन् (ग) प्रत्यय, गम् के मकार को अनुस्वार परसवर्ण, टाप् और दीर्घ होने पर गङ्गा शब्द बना है । अथवा 'गमयति प्राणिनः स्वर्गम् इति गङ्गा' इस विग्रह में अन्तर्भावित ण्यर्थक 'गम्लृ गतौ' धातु से उक्त उणादि सूत्र से गन् प्रत्यय, अनुस्वार परसवर्ण और टाप् होने पर गङ्गा शब्द बना है । गङ्गा नदी का नाम है । क्योंकि, गङ्गा हिमालय से सागर की ओर जाती है एवं प्राणियों को स्वर्ग ले जाती है इस लिये यह नदी गङ्गा कहलाती है ॥ १ ॥

यमुना—प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा ।

प्रयुवती = अपने को गङ्गा के साथ मिश्रण करती हुई, गच्छति = जाती है, इति = इस लिये, वा = अथवा, प्रवियुतम् = अपने तरङ्गों से स्तिमित = स्थिर हुई जैसे, गच्छति = चलती है, इति = इस लिये, यमुना = वह नदी यमुना कही जाती है । अर्थात् 'यौति आत्मानं गङ्गया सह मिश्रीकरोति इति यमुना' इस विग्रह में 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से 'ल्युट् च' इस सूत्र से बाहुलकात् कर्ता में ल्युट् (यु) प्रत्यय, अन आदेश गुण अवादेश, यवन, टाप्, यवना, पृषोदरादित्वात् व को मु होने पर यमुना शब्द बना है । यमुना नदी का नाम है । क्योंकि, वह स्थिर जैसी मालूम पड़ती हुई अपने को गङ्गा में मिला देती है ॥ २ ॥

सरस्वती–सर इत्युदकनाम, सर्तेः, तद्वती ।

'सरण सरः उदकम्' इस विग्रह मे 'सृ गतौ' धातु से, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, रपर गुण होने पर सरस् शब्द बना है। उदक (जल) का नाम है। इसी को कहते हैं—सर इत्युदकनाम = सरस् यह जल का नाम है, सर्तेः = सृ धातु से बना है। तद्वती = उस जल वाली जो हो-वह, सरस्वती = सरस्वती नदी कहलाती है। अर्थात् 'सरोऽस्यास्मिन्नस्ति इति सरस्वती' इस विग्रह मे उक्त सरस् शब्द से मतुप्, मतुप् के मकार को वकार और ङीप् होने पर सरस्वती शब्द बना है। सरस्वती नदी का नाम है। क्योकि, वह गमनशील जल वाली है। नदीनामो मे विस्तार से इस का निर्वचन किया गया है ॥ ३ ॥

शुतुद्री–शुद्राविणी–क्षिप्रद्राविण्या–शु तुन्नेन–द्रवतीति वा ।

शुतुद्री = शुद्राविणी = क्षिप्रद्राविणी = शीघ्र गमन करने के स्वभाव वाली, वा = अथवा, शु = क्षिप, तुन्ना इव = किसी से वेधी हुई की जैसी, द्रवति = गमन करती है (वहती है), इति = इस लिये, शुतुद्री = शुतुद्री कही जाती है। शु यह क्षिप्रनामो में (निघ० २-१५-१५) पढ़ा है। इसका शीघ्र अर्थ है। 'शु क्षिप्र द्रवति तच्छीला इति शुतुद्री' इस विग्रह मे शु उपपद 'द्रु गतौ' धातु से 'सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये' इस सूत्र से णिनि (इन्) प्रत्यय, शु द्रु इन्, वृद्धि, आव् आदेश, शु द्राविन्, पृषोदरादित्वात् द्राविन् के स्थान मे तुद्रा आदेश, शुतुद्रा, ङीप् (ई), 'यस्येति च' इस सूत्र से अकार लोप होने पर शुतुद्री शब्द बना है। नदी विशेष का नाम है। क्योंकि, वह नदी शीघ्र गमन करने के स्वभाव वाली है। अथवा 'शु आशु क्षिप्रम् तन्ना इव केनचित् विद्धा इव द्रवति इति शुतुद्री' इस विग्रह मे शु उपपद 'तुद व्यथने' धातु से, क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, शु तुद, पृषोदरादित्वात् दकार लोप, शुतु, शुतु उपपद 'द्रु गतौ धातु से डट् प्रत्यय (अ), शुतुद्रुअ, डित्वात् टि लोप, शुतुद्र, टित्वात् ङीप् (ई), 'यस्येति च' इस सूत्र से अकार लोप होने पर शुतुद्री शब्द बना है। नदी का नाम है। क्योंकि, वह नदी किसी से वेधन की हुई की जैसी गमन करती है ॥ ४ ॥

इरावती परुष्णीत्याहुः ।

इरावती = जो लोक में इरावती नाम से प्रसिद्ध है उसको मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग इस मन्त्र मे, परुष्णी = पुरुष्णी नदी, इति = यह, आहुः = कहते है। अर्थात् इरावती का दूसरा वैदिक नाम परुष्णी है।

पर्ववती – भास्वती। कुटिलगामिनी ।

वह, पर्ववती = ग्रन्थि वाली और भास्वती = देदीप्यमान है एव, कुटिल गामिनी = टेढ़ी चलने वाली है। अर्थात् 'परुष पर्व कौटिल्य अस्यास्ति इति परुष्णी', इस विग्रह मे परुष् शब्द से मत्वर्थीय न प्रत्यय, णत्व, गौरादित्वात् ङीप् होने पर परुष्णी शब्द बना है। इरावती नदी का नाम है। क्योकि वह टेढी चलती है ॥ ५ ॥

असिक्नी = अशुक्ला – असिता । सितमिति वर्णनाम । तत्प्रतिषेधोऽसितम् ।

अशुक्ला = असिता = जो काली हो वह, असिक्नी = असिक्नी कही जाती है। क्योंकि, सितम् इति = सित यह, वर्णनाम = सफेद वर्ण (रंग) का नाम है। तत्प्रतिषेधः = उसका निषेध विपरीत, असितम् = असित (काला) कहा जाता है। अतः कृष्णोदका नदी असिक्नी कही जाती है। अर्थात् 'सिता = शुक्ला, न सिता असिता कृष्णा, पृषोदरादित्वात् असिता के त् को क् और टाप् के स्थान मे ङीप् होने पर असिक्नी शब्द बना है। नदी विशेष का नाम है। क्योंकि, उसका जल श्याम होता है ॥ ६ ॥

मरुद्वृधा सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति ।

सर्वाः नद्यः = सभी नदियाँ, मरुद्वृधाः = मरुद्वृधा कही जाती हैं। यह साधारणतया सब नदियो का विशेषण है। जैसे हे मरुद्वृधे गङ्गे ! हे मरुद्वृधे यमुने ! इत्यादि। क्योंकि, मरुतः = पवन, एनाः = इन्हे, वर्धयन्ति = वृष्टि द्वारा बढाते हैं। अर्थात् 'मरुत. वर्धयन्ति इति मरुद्वृधाः' इस विग्रह मे मरुत् उपपद 'वृधु वृद्धौ' धातु से इगुपध लक्षण क प्रत्यय और टाप् होने पर मरुद्वृधा शब्द बना है। सभी नदियों का विशेषण है। क्योंकि, सभी नदियाँ वायु से फैलाई जाती हैं।

वितस्ता – अविदग्धा, विवृधा, महाकूला ।

अविदग्धा = वह अविदग्ध है इस लिये, वितस्ता = वितस्ता कही जाती है। अन्य नदियो के समान यह जली नही अतः यह वितस्ता कही जाती है। सुना जाता है कि, वैदेहक नामक एक अग्नि है। उस ने अन्य सब नदियो को जला दिया था। इस को नहीं जलाया था। अतः यह अविदग्धा = वितस्ता कहलाती है। यह कथा सामिधेनी ब्राह्मण मे है। अतासि इति तस्तः, तस्तेन विगता इति वितस्ता = अविदग्धा' इस विग्रह मे दग्धार्थक 'तसु उपक्षये' धातु से क्त (त) प्रत्यय, छान्दसत्वात् इडभाव, वि और तस्त का गति समास, वितस्ता = अविदग्धा । अथवा विवृधा = विस्तीर्णा = बहुत बड़ी, अत एव, महाकूला = बड़े बड़े तट वाली होने से यह, वितस्ता = वितस्ता कही जाती है। अर्थात् जो स्वयं बडी हो और जिसके बड़े बड़े तट हो वह वितस्ता नदी कहलाती है ॥ ७ ॥

आर्जीकीयां विपाडित्याहुः ।

आर्जीकीयाम् = आर्जीकीया नदी को, विपाट् इति = विपाट् नदी यह, आहुः = कहते हैं। लोक मे जिसको विपाशा नदी कहते हैं। अर्थात् विपाशा के दो नाम हैं। अर्जीकीया और विपाट् ।

ऋजीकप्रभवा वा ।

वा = अथवा, ऋजीकप्रभवा = ऋजीक नामक पर्वत से निकली है इस लिये इस को आर्जीकीया कहते हैं। अर्थात् 'ऋजीकात् एतन्नामकपर्वतात् प्रभवति इति आर्जीका' ऋजीक शब्द से 'प्रभावति'

इस सूत्र से अण् (अ) प्रत्यय तद्धित 'तद्धितेष्वचामादे' इस सूत्र से आदि अच् वृद्धि और टाप् होने पर आर्जीका शब्द बना है। आर्जीका एव आर्जीकीया' इस विग्रह मे आर्जीका शब्द से 'गहादिभ्यश्च' इस सूत्र से स्वार्थ में छ प्रत्यय, छ को ईय् और टाप् होने पर आर्जीकीया शब्द बना है। नदी का नाम है। क्योकि, यह नदी ऋजीक नामक पर्वत से उत्पन्न हुई है।

ऋजुगामिनी वा।

वा = अथवा, ऋजुगामिनी = सीधा गमन करने वाली है। अत यह नदी आर्जीकीया कहलाती है। ऋजु पूर्वक गम् धातु से णिनि प्रत्यय, वृद्धि, ङीप् होने पर ऋजुगामिनी = ऋजुगामिनी होती हुई पृषोदरादित्वात् आर्जीकीया बना है।

विपाट्! विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा, विप्रापणाद्वा।

विपाटनात् वा = विपाटन अर्थात् पृथिवी भेदन करने से, वा = अथवा, विपाशनात् = पाश का विमोचन करने से वा = अथवा, विप्रापणात् = विशेष वेग से गमन करने से, विपाट् = यह नदी विपाट् कहलाती है। अर्थात् 'विपाटयति अतिवेगात् भूमिम् भेदयति इति विपाट्' इस विग्रह मे विपूर्वक णिजन्त 'पट भेदने' धातु से कर्तरि क्विप् (०), 'णेरनिटि' इस सूत्र से णिलोप होने पर 'विपाट्'-बना है। अथवा 'विपाशयति पाशविमोचन करोति इति विपाट्' इस विग्रह मे विपूर्वक ण्यन्त 'पश बन्धने' धातु से क्विप् (०), णि लोप, विपाश् व्रश्चादि षत्व, जस्त्व और 'चर्त्व' होने पर विपाट् शब्द बना है। नदी विशेष का नाम है। क्योकि, इस ने वसिष्ठ ऋषि के फासी को जल के वेग से तोड दिया था। इसी को कहते हैं—

पाशा अस्या व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद् विपाडुच्यते।

मुमूर्षत = पुत्र शोक से मरने की इच्छा वाले, वसिष्ठस्य = वसिष्ठ ऋषि के, पाशा = फासिया, अस्याम् = इस नदी मे, व्यापाश्यन्त = टूट गई थी, तस्मात् = इसी से, यह नदी, विपाड् उच्यते = विपाट् कही जाती है। इस विषय मे कथा है कि, विश्वामित्र ने वसिष्ठ के सौ पुत्रो को मार डाला था। पुत्र-मरण के शोक से अपने को पासो से बांध कर वसिष्ठ ऋषि इस नदी में मरने के लिये डूब गये थे। उनकी वे सब फासिया जल से टूट गई। उसी समय से इस का नाम विपाट् पडा।

पूर्वमासीदुरुञ्जिरा।

पूर्वम् = इस से पहले इस का नाम, उरुञ्जिरा = उरुञ्जिरा, आसीत् = था। उरुञ्जिरा का अर्थ बहुजला है ॥ ८ ॥

सुषोमा-सिन्धुः। यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्।

सिन्धु = सिन्धु नदी, सुषोमा = सुषोमा कहलाती है। यद् = क्योकि, नद्य = अन्य सब नदियां, एनाम् = इसे, अभिप्रसुवन्ति = अभिप्रसव अर्थात् सगम करती हैं। स्यन्दनात् = बहने से यह, सिन्धुः = सिन्धु नदी कहलाती है। क्योकि, यह नदी अन्य की अपेक्षा अधिक वेग से बहती है ॥ ९ ॥

'नद्य' के पश्चात् 'आप' का क्रम आता है—

२१ – आपः ।

आपः = जल । इसका निर्वचन करते हैं—

'आपः' आप्नोतेः ।

आप्नोते = आप् धातु से, आप = 'आप' यह रूप बना है। 'आप्नोति सर्वम् आप्यम् इति आप.' इस विग्रह मे 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' इस उणादि सूत्र से क्विप् (०) प्रत्यय और ह्रस्व होने पर 'अप्' शब्द बना है। जल का नाम है। नित्य बहुवचनान्त है। 'अप्तृन्तृच्' इत्यादि सूत्र से दीर्घ होने पर 'आप' रूप बना है।

तासामेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य षड्विंश' खण्ड ।

तासाम् = उन जलो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तविंश. खण्ड. ।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

महे रणाय चक्षसे ॥ ऋ स ७-६-५-१ ॥

इस मन्त्र का अम्बरीषराजा के पुत्र सिन्धुद्वीप ऋषि, गायत्री छन्द और आप् (जल) देवता है। मन्त्रार्थ-आपः = हे जल !, हि = क्योंकि, तुम, मयोभुवः = सुख का आधार, स्थ = हो। ता = वह तुम, न = हमे, ऊर्जे = अन्न के लिये, दधातन = धारण करो, हमे अन्न प्राप्ति के योग्य बनाओ, हमे अन्न दो। हमे, महे = महान्, रणाय = रमणीय, चक्षसे = ज्ञान के लिये, दधातन = धारण करो, हमे ज्ञान के योग्य बनाओ, हमे ज्ञान दो।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

आपो हि स्था सुखभुवस्ता नोऽन्नाय धत्त । महते च नो रणाय रमणीयाय च दर्शनाय ।

आप = हे जल !, हि = क्योंकि, तुम, सुखभुव = सुख का आधार, स्था = हो। ता. = वह तुम, नः = हमे, अन्नाय = अन्न के लिये, धत्त = धारण करो, अन्न दो। च = और, नः = हमें, महते रणाय = रमणीयाय = महारमणीय, दर्शनाय = ज्ञान के लिये, धत्त = धारण करो, ज्ञान दो।

२२ – ओषधयः ।

ओषधय = ओषधियाँ । इस का निर्वचन करते हैं—

ओषधय ओषद्धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा ।

ओषद् धयन्ति = क्षय आदि रोगों को दग्ध (भस्म) करती हुईं पान करती हैं। नाश करती हैं, इति = इस लिये, वा = अथवा, ओषति = शरीर के किसी अङ्ग को दग्ध (रोग से पीडित) होने पर, प्राणी द्वारा, एनाः = ये, धयन्ति = पान की जाती हैं, इति = इस लिये, वा = अथवा, दोषम् = वात पीत कफ के वैषम्य से उत्पन्न रोग रूप दोष को शमन करने के लिये प्राणी जिसको, धयन्ति = पान करते हैं, इति = इस लिये, ओषधयः = ओषधी कही जाती हैं। 'ओषति इति ओषद्' इस विग्रह में 'उष दाहे' धातु से, लट्, उसके स्थान में शतृ (अत्), लघूपध गुण होने पर ओषद् शब्द बना है। 'ओषद् धयन्ति पिबन्ति नाशयन्ति इति ओषध यः' इस विग्रह मे ओषद् उपपद 'धेट् पाने' (धा) धातु से 'कर्मण्यधिकरणे च' इस सूत्र से कर्ता में कि (इ) प्रत्यय, 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आ लोप और पृषोदरादित्वात् ओषद् के दकार का लोप होने पर 'ओषधि' शब्द बना है। ओषधि का ही नाम है। क्योंकि, ओषधियाँ जलाते हुए रोगों को पी जाती है, नाश करती है।

अथवा, 'ओषति = कस्मिंश्चित् उदरादौ क्लिश्यमाने सति प्रणिनः दाहोपशमनाय एनाः धयन्ति पिबन्ति इति ओषधयः' इस विग्रह में ओषद् उपपद उक्त 'धेट् पाने' धातु से 'कर्मण्यधिकरणे च' सूत्र से कर्म में कि प्रत्यय, आ लोप, दकार लोप होने पर ओषधि शब्द बना है। ओषधि का ही नाम है। क्योंकि, दाहक व्याधियों शमन करने के लिये प्राणी इन को पीते हैं।

अथवा 'दोषं धयन्ति इति ओषधयः' इस विग्रह में दोष शब्द उपपद धेट् धातु से कर्तरि कि प्रत्यय, आ लोप, दोष धि, पृषोदरादित्वात् दोष के दकार का लोप होने पर ओषधि, शब्द बना है। ओषधि का ही नाम है। क्योंकि, वातादिकृत शरीर में उत्पन्न दोष को ये पी जाती हैं। ये दोषों को नाश करती हैं इस लिये ओषधि कही जाती हैं। 'ओषधयः' यह प्रथमा बहुवचन का रूप है।

तासामेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः ॥ ९-२७ ॥

तासाम् = उन ओषधियो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः ।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।

मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ ऋ. सं. ८-५-८-१ ॥

इस मन्त्र का अथर्वा के पुत्र भिषक् ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और ओषधि देवता है। मन्त्रार्थ—याः = जो, पूर्वाः = पुरातन, ओषधीः = ओषधियाँ, त्रियुगम् = सत्य, त्रेता और द्वापर युगों में, पुरा = तीनों युगों से पूर्व, देवेभ्यः = देवों से, जाताः = उत्पन्न हुई हैं। वे सब, बभ्रूणाम् =

पिङ्गलवर्णा सोमादि ओषधियाँ, शतम् सप्त च धामानि = एक सौ सात स्थानों में विद्यमान हैं। अहम् = मैं, नु = ऐसा, मन्ये = मानता हूँ ।

इस का भाष्य—

या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानिपुरा। मन्ये नु तद्बभ्रूणामहं बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा। 'शतं धामानि सप्त च'। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानि-नामानि जन्मानीति, जन्मान्यत्राभिप्रेतानि। सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणां तेष्वेना दधातीति वा।

याः = जो, पूर्वाः = पुरातन, ओषधयः = ओषधियाँ, त्रीणि युगानिपुरा = तीनों युगों से पहले, देवेभ्यः = देवों से, जाताः = उत्पन्न हुई हैं। तद् = उन, बभ्रूणाम् बभ्रुवर्णानाम् = कपिल वर्ण वाली, हरणानाम् = क्षुधा हरण करने वाली, वा = अथवा, भरणानाम् = प्राणियों के भरणपोषण करने वाली हैं, नु = ऐसा, अहम् = मैं, मन्ये = मानता हूँ। क्योंकि, वे ओषधियाँ, शतम् सप्त च धामानि = एक सौ सात स्थानों में विद्यमान हैं। धामानि त्रयाणि भवन्ति = धाम तीन होते हैं स्थानि नामानि जन्मानि इति = स्थान नाम और जन्म। उन में से, अत्र = यहां, जन्मानि अभिप्रेतानि = जन्म अभिप्रेत है। अर्थात् ओषधियों की एक सौ सात जातियों को मानता हूँ। वा = अथवा, पुरुषस्य = पुरुष के, सप्तशतम् = एक सौ सात, मर्मणाम् = मर्म स्थान हैं, तेषु = उन्हीं में, एनाः = ये ओषधियाँ, दधाति = प्राणियों को धारण पोषण करती हैं। इति = इत्यर्थः। पुरुष के शरीर में एक सौ मर्म स्थान हैं। उन सब को धारण करने वाली ओषधियाँ ही हैं। अतः इस पक्ष में धाम का अर्थ स्थान घट जाता है।

२३ – रात्रिः ।

रात्रि रात को कहते हैं। भाष्यकार कहते हैं—

रात्रिर्व्याख्याता ।

रात्रिः = रात्रि, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या रात्रिनामनिर्वचन के प्रारम्भ में कर दी गई है। वही देखना चाहिये।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः । ९-२८ ॥

तस्याः = उस रात्रि की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः ।

आ रात्रि ! पार्थिवं रजः पितुरप्रायिधामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥

अथ. १९-४७-१ ॥

इस मन्त्र का कुशिक वा रात्रि ऋषि है। मन्त्रार्थ—रात्रि = हे रात्रि ! (ङीषन्त नदी ह्रस्वत्व), तुमने, पार्थिवम्, रज = पृथिवी लोक को, आमप्रायि = पूर्ण किया है। अन्धकार से व्याप्त किया है। पितुः धामभिः आ अप्रायि = मध्यम लोक के स्थानो के सहित अन्तरिक्ष लोक को भी अन्धकार से पूर दिया है। दिव सदासि आ अप्रायि = द्युलोक के स्थानो को भी अन्धकार से आच्छादित किया है। तुम, बृहती = बडी होती हुई, वितिष्ठसे = दया कर के स्थित होती हो। त्वेषम् तम आ वर्तते = अपार अन्धकार लौट आता है। अर्थात् तुम्हारा अन्धकार इतना अधिक है कि वह समस्त ससार को पूरण करके भी अवशेष रहता है और पार्थिव लोक मे पुन लौट आता है। ऐसे प्रभाव वाली तुम हमारे लिये कल्याण करो।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

आपूपुरस्त्वं रात्रि ! पार्थिवं रजः स्थानैर्मध्यमस्य दिवः सदांसि बृहती महती वितिष्ठस आवर्तते त्वेषं तमो रजः ।

रात्रि = हे रात्रि !, त्वम् = तुमने, पार्थिवम् रज = पृथिवी लोक को आपूपुरः = पूर्ण किया है। मध्यमस्य = मध्यम लोक के, स्थानै = स्थानो के सहित अन्तरिक्ष लोक को भी पूर्ण किया है। दिव सदासि = द्युलोक के स्थानो को भी पूर्ण किया है। बृहतो = महती = तुम बडी होती हुई, वितिष्ठसे = खडी रहती हो। त्वेषम् तम रज आवर्तते = तुम्हारा अपार अन्धकार पृथिवी पर लौट आता है।

२४ – अरण्यानी ।

अरण्य (वन) पालक अधिष्ठात्री देवता अरण्यानी। 'इन्द्रवरुणभव' इत्यादि पाणिनि सूत्र के 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इस वार्तिक से कात्यायन महर्षिने अरण्यानी का अर्थ 'महद् अरण्यम् अरण्यानी' (बडा वन) किया है। उस से महर्षि यास्क सहमत नही हैं। क्योकि, 'अरण्यानी' की ऋचा में इस का अर्थ अरण्य अधिदेवता है। किसी ने अरण्यानी का अर्थ 'जगली स्त्री' किया है। सो समीचीन नही, क्योकि, यह दैवतकाण्ड चल रहा है। इसको भूलना नही चाहिये। यदि कहे कि, यास्क 'अरण्यस्य पत्नी अरण्यानी' विग्रह करते हैं। जिसका अर्थ जगली स्त्री होता है तो अधिदेवता अर्थ कैसे ? । इस का उत्तर यह है कि, पत्नी का अर्थ पालयित्री है। स्त्री नही। अरण्य की अधिष्ठात्री देवता अरण्य का पालन करती है। अत. अरण्यानी का अर्थ वनदेवता ही है। 'अरण्यस्य पत्नी पालयित्री देवता इति अरण्यानी' इस विग्रह में अरण्य शब्द से 'इन्द्रवरुण' इत्यादि सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय, आनुक् (आन्) आगम और दीर्घ

होनेपर अरण्यानी शब्द बना है। वन-देवी अर्थ है। क्योंकि वनदेवी वन का पालन करती है। ईश्वर प्रत्येक पदार्थ में अधिष्ठात्री देवता रूप से स्थित हो कर सब का पालन करते हैं। वही अधिष्ठात्री देवता कहलाते है। इत्यलम्।

यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

अरण्यान्यरण्यस्य पत्नी। अरन्यमपार्णं ग्रामात्। अरमणं भवतीति वा।

अरण्यस्य = अरण्य की, पत्नी = पालन करने वाली अधिदेवी, अरण्यानी = अरण्यानी कहलाती है। जो, ग्रामात् = ग्राम से, अपार्णम् = अपगत (दूर) हो वह, अरण्यम् = अरण्य कहलाता है। वा = अथवा, अरमणम् = ग्राम नगरादि की अपेक्षा अरमण अर्थात् असुन्दर, भवति = होता है, इति = इस लिये, अरण्यम् = अरण्य कहलाता है। 'ग्रामात् अप ऋणम् अपगतम् इति अपाणम् अरण्यम्' इस विग्रह मे 'ऋ गतौ' धातु से 'ऋणमाधमर्ण्ये' इस सूत्र के निपातन से क्त (त) प्रत्यय, कित्वात् गुणाभाव, त को ण, अप ऋण, 'उपसर्गादृति धातौ' इस सूत्र से वृद्धि, रपर, अपार्णं, पृषोदरादित्वात् अपाण के स्थान मे अरण्य आदेश हो कर अरण्य शब्द बना है। वन का नाम है। क्योंकि, वन ग्रामनगरादि से दूर रहता है। अथवा 'न रम्यते अस्मिन् इति अरमणम् अरण्यम्' इस विग्रह मे नञ् पूर्वक 'रमु क्रीडायाम्' धातु से 'ल्युट् च' इस सूत्र से ल्युट् (यु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से यु को अन आदेश, णत्व, 'नलोपो नञः' इस सूत्र से नञ् के *नकार का लोप होने पर अरमण शब्द बना है। और पृषोदरादित्वात् अरमण के स्थान मे अरण्य* आदेश होने पर अरण्य शब्द बना है। वन का नाम है। क्योंकि, अरण्य मे किसी को रति नही होती है। किसी ने ऋ धातु से अन्यत् प्रत्यय करके और किसी ने अप पूर्वक रिण् धातु से अघ्न्यादि यत् प्रत्यय करके अरण्य शब्द बनाया है। सो समीचीन नही। क्योंकि, यास्क 'अपार्णमरण्यम्' तथा 'अरमणमरण्यम्' ऐसा विग्रह कर रहे हैं। अतः यथोक्त साधनिका ही निरुक्त अनुसारी है।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकोनत्रिंश. खण्ड.। ९-२९॥

तस्याः = उस अरण्यानी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रिंश. खण्ड.।

अर॑ण्यान्यर॑ण्यान्यसौ या प्रेव॒ नश्य॑सि।

क॒था ग्रामं॒ न पृ॑च्छसि॒ न त्वा॒ भीरि॑व विन्दती३ ॥

ऋ॰ सं॰ ८-८-४-१॥

इस मन्त्र का इरम्मद-पुत्र देवमुनि ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और अरण्यानी देवता है। मन्त्रार्थ— ऋषि वनदेवी से कहते हैं—अरण्यानि = हे अरण्याभिमानिनी देवते!, या = जो, असौ = तुम, इव =

इस समय, अरण्यानि = वन में, प्रनश्यसि = अदृश्य हो जाती हो, छिप जाती हो । तुम, कथा = कथम् = क्यों, न = नही, ग्रामम् = ग्राम जाने के मार्ग को, पृच्छसि = पूछती हो, त्वा भोः न विन्दति = तुम को वन में भय उत्पन्न नही होता है? इस मन्त्र मे अरण्यानी का अर्थ वनदेवी है ।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

अरण्यानीत्येनामामन्त्रयते या सावरण्यानि वनानि पराचीव नश्यसि । कथं ग्रामं न पृच्छसि । न त्वा भीविन्दतीय । इतीवः परिभयार्थे वा ।

अरण्यानि इति = 'अरण्यानि' इस पद से, एनाम् = इस वनदेवता को, ऋषि, आमन्त्रयते = सम्बोधन करते हैं—अरण्यानि = वनानि = हे वनदेवते ! या = जो, असौ = दृश्यमान होती हुई तुम, पराचीव = नही लौटती हुई के समान, नश्यसि = अदृश्य हो जाती हो, कथम् = क्यों, ग्रामम् = ग्राम जाने के मार्ग को किसी से, न पृच्छसि = नही पूछती हो । भीः इव = भय के जैसे, त्वा = तुझे, न विन्दति = नही प्राप्त होता हैं । वा = अथवा, इवः = इव पद, परिभयार्थे = थोड़े भय अर्थ में है । जरा भी तुझे भय प्रतीत नही होता ? । अतः 'मुझे भी तुम निर्भय बनाओ' यह भाव है ।

२५ – श्रद्धा ।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष विषय मे जो अटल विश्वास वह श्रद्धा कहलाती है । जिसको दूसरे शब्दो में आस्तिक बुद्धि कहते हैं । जो पुरुषगत अभिलाष विशेषरूप है । इस का निर्वचन करते हैं—

श्रद्धा श्रद्धानात् ।

श्रद्धानात् = सत्य के धारण करने से, श्रद्धा = अस्तिबुद्धि श्रद्धा कहलाती है । श्रत् सत्य का नाम है । 'श्रत् सत्य धीयते अस्यामिति श्रद्धा' इस विग्रह मे, सत्य वाचक श्रत् उपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से 'आतश्चोपसर्गे' इस सूत्र से अङ् (अ) प्रत्यय, श्रत् धा अ, 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आ लोप, श्रत् ध् अ, 'झलां जश् झशि' इस सूत्र से त् को द, श्रद्ध, टाप्, सवर्णदीर्घ होने पर श्रद्धा शब्द बना है । बुद्धि के अधिष्ठात्री देवता का नाम है । क्योंकि, इस में सत्य का निश्चय किया जाता है ।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ॥ ९–३० ॥

तस्याः = उस श्रद्धा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा से स्तुति, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ।

श्र॒द्धया॒ग्निः समि॑ध्यते श्र॒द्धया॑ हूयते ह॒विः ।

श्र॒द्धां भग॑स्य मू॒र्धनि॒ वच॒सा वे॑दयामसि ॥ ऋ सं. ८–८–९–१ ॥

इस मन्त्र का कामगोत्रीय श्रद्धा ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और श्रद्धा देवता है। मन्त्रार्थ श्रद्धया = श्रद्धा के द्वारा, अग्निः = गार्हपत्याग्नि, समिध्यते = प्रज्वलित होते हैं और, श्रद्धया = श्रद्धा के द्वारा ही, हविः = आहुति, हूयते = दी जाती है। श्रद्धाम् = श्रद्धा को, भगस्य = धन और धर्म के, मूर्धनि = मस्तक पर, वचसा = स्तुति–वचन के द्वारा, आवेदयामसि = आवेदन करते हैं। प्रख्यात करते हैं। अर्थात् श्रद्धा ही धर्मादि चतुर्वर्ग का मस्तक है। श्रद्धा के बिना धर्मादिका लाभ होना असम्भव है।

इसका भाष्य—

श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते, श्रद्धया हविः साधु हूयते। श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयामः।

श्रद्धया = श्रद्धा के द्वारा, अग्निः = अग्नि, साधु = भलीभाँति, समिध्यते = दीपन किया जाता है। श्रद्धया = श्रद्धा के द्वारा ही, हवि. = आहुति, साधु = भली प्रकार, हूयते = होम किया जाता है। श्रद्धाम् = श्रद्धा कों, भगस्य = भागधेयस्य = धन और धर्म के, मूर्धनि = प्रधानाङ्गे = प्रधान अङ्ग मस्तक पर, वचनेन = स्तुति वचन के द्वारा, आवेदयामः = आवेदन = प्रसिद्ध करते हैं।

२६ – पृथिवी।

'पृथिवी' भूमि का नाम है। 'प्रथते इति पृथिवी' इस विग्रह मे 'प्रथ प्रख्याने' धातु से 'प्रथेः षिवन् संप्रसारणंच' इस उणादि सूत्र से षिवन् (इव) प्रत्यय और सप्रसारण, पृथ् इव, पृथिव, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से षित्वात् ङीष् (ई) 'यस्येतिच' इस सूत्र से अकार लोप होने पर 'पृथिवी' शब्द बना है। जो पञ्चाशत्कोटि योजनविस्तीर्ण हो वह पृथिवी (भूमि) कही जाती है। भाष्यकार कहते हैं—

पृथिवी व्याख्याता।

पृथिवी व्याख्याता = पृथिवी शब्द व्याख्यात है अर्थात् पृथिवी शब्द की व्याख्या 'अथ यं दर्शनेन पृथुः' (नि. अ. १, खं. ३) इत्यादि पंक्तियो से की जा चुकी है।

तस्या एसा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ॥ ९-३१ ॥

तस्याः = उस पृथिवी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः।

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ ऋ. सं. १-२-६-१५॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और पृथिवी देवता है । मन्त्रार्थ—पृथिवि = हे पृथिवी ! तुम, विस्तृत, अनृक्षरा = कण्टक रहित, निवेशनी = निवासभूता, भव = हो जाओ । नः = हमें, सप्रथः = विस्तारयुक्त यथेष्ट, शर्म = सुख, यच्छ = दो ।

इस का यास्क भाष्य—

सुखा नः पृथिवि भवानृक्षरा निवेशन्यृक्षरः कण्टक, ऋच्छतेः । कण्टकः कन्तपो वा, कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः उद्गततमो भवति । यच्छ नः शर्म यच्छन्तु शरणं सर्वतः पृथु ।

पृथिवि = हे पृथिवी तुम, न. = हमारे लिये, सुखा = सुख रूप, अनृक्षरा = कण्टकरहित, निवेशनी = निवासभूत, भव = होओ । ऋक्षरः कण्टकः = ऋक्षर कण्टक को कहते हैं ।, ऋच्छतेः = ऋच्छ धातु से ऋक्षर शब्द बना है । अर्थात् 'ऋच्छति हन्ति इति ऋक्षरः कण्टकः' इस विग्रह में धातूनामनेकार्थत्वात् हिंसार्थक 'ऋच्छगतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु' धातु से उणादि कल्पित करच् (अर) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् च्छ को क्ष् होने पर ऋक्षर शब्द बना है । कण्टक का नाम है। क्योंकि, कण्टक (काटा) लगने से हिंसा होती है ।

गतिकर्मों में कण्टति (निघ. २-४-२०) पढा है । यहा हिंसा अर्थ है । 'कण्टति हिंसति इति कण्टकः' इस विग्रह मे उक्त कण्ट् धातु से ण्वुल् (वु) प्रत्यय, अक आदेश होने पर कण्टक शब्द बना है । कांटा का नाम है । क्योंकि काटा हिसा करता है ।

वा = अथवा, कन्तपः कण्टकः = कन्तप को कण्टक कहते हैं । अर्थात् कन्तप होता हुआ कण्टक बना है । मै किसको तपाऊँ' ऐसा कहता हुआ जो उत्पन्न हुआ हो वह कन्तप = कण्टक कहा जाता है । अथवा, 'क सुख तर्पात दहति इति कतपः कण्टकः' इस विग्रह में सुख वाचक कम् शब्द पूर्वक 'तप दाहे' धातु से पचाद्यच् (अ), णि लोप होने पर 'कन्तप' शब्द बना है। पृषोदरादित्वात् त और प को वर्णविपर्यय ट और क होने पर कण्टक शब्द बना है । कांटा का नाम है । क्योकि, कांटा सुख को दाह = नाश करता है ।

वा = अथवा, कृन्ततेः = कृती धातु से कण्टक शब्द बना है । अर्थात् 'कृन्तति छिनत्ति इति कण्टकः' इस विग्रह मे 'कृती छेदने' धातु से छान्दस नुम् 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से ण्वुल् (वु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से वु को अक आदेश, कृन्त अक, पृषोदरादित्वात् ऋकार को अकार और तकार को टकार, एव नकार को णत्व होने पर कण्टक शब्द बना है । कांटा का नाम है। क्योकि, कांटा लगने पर छेद हो जाता है ।

वा = अथवा, गतिकर्मणः = गत्यर्थक, कण्टतेः = कठि धातु से, कण्टकः स्याद् = कण्टक शब्द शायद बना हो । क्योंकि, वह, उद्गततमः = वृक्ष से ऊपरको गया हुआ अर्थात् निकला हुआ होता है । अर्थात् 'कण्ठते अतिशयेन उद्गच्छति इति कण्टकः' इस विग्रह मे कठि गतौ' धातु से ण्वुल्, अक, कण्क् अक, कठार को टकार होने पर कण्टक शब्द बना है। कांटा का नाम है। क्योकि कांटा वृक्ष से ऊपर निकला हुआ दिखाई देता है ।

नः = हमें, सर्वतः पृथु = सर्व तरफ से विस्तारयुक्त, शर्म = शरणम् = सुख, यच्छ = यच्छन्तु = दो ।

२७ — अप्वा ।

अप्वा का अर्थ रोग वा भय है। अर्थात् 'अपययति अपगमयति सुखं प्राणांश्च इति अप्वा' इस विग्रह में अपपूर्वक अन्तर्भावित ण्यर्थक 'वेञ् तन्तुसन्ताने' धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से ड (अ) प्रत्यय, अप वे अ, डित्वात् टिलोप, छान्दसत्वात् अप के अन्त्य लोप और टाप् होने पर 'अप्वा' शब्द बना है। व्याधि और भय का नाम है। क्योंकि रोग और भय सुख तथा प्राण को भगा देता है। भाष्यकार कहते हैं—

अप्वा व्याख्याता ।

अप्वा = अप्वा शब्द, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या नैगम काण्ड में (षष्ठाध्याय में) हो चुकी है। षष्ठाध्याय में सब मिला कर १३२ पद हैं उनमें ४८ वां 'अप्वे' पद है। वहां 'अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते' इत्यादि पङ्क्ति से इस की व्याख्या की गई है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः । ९-३२ ॥

तस्याः = उस अप्वा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रिंशिः खण्डः ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

ऋ सं. ८-५-२३-१२ ॥

इस मन्त्र का इन्द्र-पुत्र अप्रतिरथ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अप्वा देवता है। मन्त्रार्थ—अप्वे = हे रोग तथा भय रूप पापाभिमानिनी देवता! तुम, अमीषाम् = इन शत्रुओं के, चित्तम् = मन को, प्रतिलोभयन्ती = प्रलुब्ध करती हुई, अङ्गानि = उनके शिर आदि अवयवों को, गृहाण = स्वीकार करो। उनको रोग वा भयमुक्त करो। अभिप्रेहि = उन की ओर जाओ जा कर, हृत्सु = उन के हृदय में, शोकैः = शोक के द्वारा, निर्दह = दाह उत्पन्न करो। उनके हृदय को जलाओ। अमित्राः = हमारे शत्रु लोग, अन्धेन तमसा = अन्धतम में, सचन्ताम् = पड़े। अन्धकारमयी रजनी में प्रवेश करें। इस ऋचा में 'अप्वा' शब्द रोग वा भय वाची है।

इसका भाष्य—

अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गान्यप्वेपरेहि अभिप्रेहि। निर्दहैषां हृदयानि शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम् ।

अमीषाम् = इन शत्रुओं के, चित्तानि = प्रज्ञानानि = मन को, प्रतिलोभयमाना = लुब्ध करती हुई, अङ्गानि = उनके शिर आदि अङ्गों को, गृहाण = स्वीकार करो, उनको व्याधि वा भय से युक्त करो । अप्वे = हे रोग वा भय अभिमानिनी देवते ! तुम, परेहि = एक को मार के दूसरे के प्रति जाओ । अभिप्रेहि = उन की ओर जाओ और जा कर, एषाम् = उन के, हृदयानि = हृदयों को, शोकैः = शोक के द्वारा, निर्दह = दग्ध करो । अमित्राः = हमारे शत्रु लोग, अन्धेन तमसा = बुद्धि-संमोहरूप अन्धतम में, संसेव्यन्ताम् = पड़े । अन्धतम का सेवन करें अर्थात् अन्धकार में पड़ें ।

२८ – अग्नायी ।

अग्नायी का अग्नि की पत्नी स्वाहा अर्थ है । यास्क इस का निर्वचन करते हैं—

अग्नाय्यग्नेः पत्नी ।

अग्नेः = अग्नि की, पत्नी = स्वाहा नामक स्त्री, अग्नायी = अग्नायी कही जाती है । अर्थात् 'अग्नेः स्त्री अग्नायी' इस विग्रह में 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः' इस सूत्र से अग्नि शब्द को ऐकार आदेश और ङीप् प्रत्यय, अग्नै ई, 'एचोऽयवायावः' इस सूत्र से आय् आदेश होने पर 'अग्नायी' शब्द बना है । अग्नि की स्त्री अर्थ है । अग्नि की स्त्री स्वाहा कही जाती है । अतः अग्नायी का अर्थ स्वाहा है ।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ॥ ९–३३ ॥

तस्याः = उस अग्नायी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः ।

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये ।
अग्नायीं सोमपीतये ॥ ऋ. मं. १–२–६–१२ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्राणी, वरुणानी तथा अग्नायी ये तीन देवता हैं । मन्त्रार्थ—इह = इस यज्ञ में, इन्द्राणीम् = इन्द्र की पत्नी को, वरुणानीम् = वरुण की पत्नी को, अग्नायीम् = अग्नि की पत्नी को, सोमपीतये = सोमपान करने के लिये, स्वस्तये = अपने कल्याण के लिये, उपह्वये = बुलाता हूं । इस मन्त्र में अग्नायी का अर्थ अग्नि-पत्नी है ।

यास्क कहते हैं—

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = सुलभ होने से पाठ मात्र से व्याख्यात है । व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः ॥ ९–३४ ॥

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः ।

अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि ।

अथ अतः = यहां से, अष्टौ = आठ, द्वन्द्वानि = द्वन्द्व पद हैं । अर्थात् दो दो पदों का द्वन्द्व समास होने से एक एक पद के रूप में हैं । वे आठ द्वन्द्व ये हैं—उलूखलमुसले, हविर्धाने, द्यावापृथिव्यौ, विपाट्छुतुद्र्यौ, आर्त्नीं, शुनासीरौ, देवीजोष्ट्री और देवीऊर्जाहुती । इन में प्रथम 'उलूखलमुसले' पद है ।

२९ – उलूखलमुसले ।

उलूखल ऊखल को और मुसल समाठ को कहते हैं । उलूखलं च मुसलं च इति उलूखलमुसले' इस विग्रह में उलूखल शब्द और मुसल शब्द का 'चार्थे द्वन्द्वः' इस सूत्र से द्वन्द्व समास होने पर 'उलूखलमुसले' पद बना है । नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा द्विवचन का रूप है । भाष्यकार कहते हैं—

उलूखलं व्याख्यातम् ।

उलूखलम् = उलूखल, व्याख्यातम् = व्याख्यात है । अर्थात् इसी प्रकृत नवमा अध्याय मे १६वा शब्द उलूखल है । उसकी व्याख्या 'उरुकरम्' इत्यादि पंक्तिसे हो चुकी है ।

मुसलं – मुहुसरम् ।

मुहुसरम् = बार बार चलने वाला, मुसलम् = मुसल कहा जाता है । अर्थात् 'मुहुः सरति वारं वारं उत्क्षिप्य उत्क्षिप्य सरति गच्छति पतति' इति 'मुसलम्' इस विग्रह मे मुहुस् उपपद 'सृ गतौ' धातु से पचाद्यच् प्रत्यय, गुण, पृषोदरादित्वात् मुहुस् के हुस का लोप और र को ल होने पर मुसल शब्द बना है । समाठ अर्थात् समेला का नाम है । क्योंकि, वह बार बार ऊपर नीचे जाया आया करता है । इस का वारम्वार उद्यमन निपतन हुआ करता है ।

तयोरेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः ॥ ९–३५ ॥

तयोः = उन उलूखल और मुसल की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः ।

आयजी वाजसातमा ता ह्युच्चा विजर्भृतः ।
हरी इवान्धांसि बप्सता ॥ ऋ. सं. १-२-२५-७॥

इस मन्त्र का शुनःशेप ऋषि, गायत्री छन्द और उलूखल और मुसल दोनों देवता हैं। मन्त्रार्थ— ये उलूखल और मुसल दोनों, आयजी = सर्व तरफ से यज्ञ के साधन तथा, वाजसातमा = अतिशय अन्नप्रद हैं और, अन्धांसि = 'चना आदि खाद्य अन्न को, बप्सता = खाते हुए, हरी इव = इन्द्र के दोनों अश्वों के समान अर्थात् इन्द्र के दोनों घोड़े जैसे हिनहिनाते है = शब्द करते हैं वैसे ही, ता हि = ये दोनों ही, उच्चा अर्थात् तुमुल ध्वनि से युक्त हो कर, विजर्भृतः = विशेष रूप से पुनः पुनः विहार करते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

आयष्टव्ये अन्नानां संभक्ततमे ते ह्युच्चैर्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने ।

ये उलूखल और मुसल दोनों, आयष्टव्ये = सर्व ओर से, यज्ञ के साधन और, अन्नानाम् संभक्ततमे = अन्नों के भलीभांति सेवन करने वाले = देने वाले हैं। ते हि = वे दोनों ही, उच्चैः = उच्च ध्वनि से युक्त होकर, विह्रियेते = विहार करते हैं। इस में दृष्टान्त अन्नानि = चना आदि अन्न के, भुञ्जाने = खाते हुए, हरी इव = इन्द्र के दो अश्वों के समान। अर्थात् जैसे इन्द्र के अश्व चना आदि अन्न खाते हुए शब्द करते हैं, वैसे ही उलूखल और मुसल भी शब्द करते हैं। इस मन्त्र में उलूखल और मुसल की स्तुति है।

३० — हविर्धाने।

हविर्धान शकट अर्थात् बैलगाड़ी को कहते हैं। क्योंकि, इस में रखकर सोम रूप हवि को यज्ञ में लाया जाता है। 'हवींषि सोमलतारूपहव्यद्रव्याणि धीयन्ते निधीयन्ते ययोः इति हविर्धाने' इस विग्रह में हविष् उपपद धा धातु से 'करणाधिकरणयोश्च' इस सूत्र से अधिकरण में ल्युट् (यु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से यु के स्थान में अन आदेश, सवर्णदीर्घ और हविष् के षकार का लोप होने पर हविर्धान शब्द बना है। शकट का नाम है। क्योंकि, सोम रूप हवि यज्ञ में लाने के लिये शकट में रखा जाता है। 'हविर्धाने' यह द्विवचन है। यहां दो हविर्धान शब्द थे। 'चार्थे द्वन्द्वः' इस सूत्र से द्वन्द्व समास होने पर 'सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ' इस सूत्र से एकशेष हुआ है। अतः आठ द्वन्द्वों में यह दूसरा द्वन्द्व समझना चाहिये। और जब एकशेष द्वन्द्व समास का बाधक है तब इस में द्वन्द्व व्यवहार गौण समझना चाहिये।

भाष्यकार इसका निर्वचन करते हैं—

हविर्धाने हविषां निधाने।

हविषाम् = सोमरूप हवियों के, निधाने = धारण करने वाले, हविर्धाने = हविर्धाने कहे जाते हैं।

तयोरेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः । ९-३६ ॥

तयोः = उन हविर्धानो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः ।

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः ।

इहाद्य सोमपीतये ॥ ऋ स २-८-१०-२१ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, गायत्री छन्द और हविर्धान देवता है । मन्त्रार्थ—अद्रुहा = हे द्रोह रहित हविर्धाने ?, वाम् = तुम दोनो के, उपस्थम् = समीप मे, यज्ञिया = यज्ञ के योग्य, देवा: = देवगण, इह = इस यज्ञ मे, अद्य = आज, सोमपीतये = सोम पान के लिये, आसीदन्तु = बैठें । इस मन्त्र मे दोनो हविर्धान (शकट) की स्तुति है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

आसीदन्तु वामुपस्थ उपस्थाने यज्ञिया देवा यज्ञसंपादिन इहाद्य सोमपानाय ।

हे हविर्धाने !, वाम् = तुम दोनो के, उपस्थे = उपस्थाने = समीप, यज्ञिया = यज्ञसपादिन. = यज्ञ सपादन करने वाले, देवा = देवगण, इह = इस यज्ञ मे, अद्य = आज, सोमपानाय = सोमपान करने के लिये, आसीदन्तु = बैठे ।

३१ – द्यावापृथिवी

द्यावापृथिवी = द्यावापृथिवी का द्युलोक और पृथिवी लोक अर्थ है । 'दीप्यति द्योतते इति द्यौ.' इस विग्रह मे द्युति अर्थक दिव् धातु से उणादि परिकल्पित अथवा 'दिवेर्डिवि.' इस भोज सूत्र से डिवि (इव्) प्रत्यय, दिव् इव, डित्वात् टि लोप होने पर, द् इव्, 'दिव्' शब्द बना है । द्युलोक का नाम है । एव 'प्रथते इति पृथिवी' इस विग्रह मे 'प्रथ प्रख्याने' धातु से, 'प्रथेः षिवन् सप्रसारण च' इस उणादि सूत्र से षिवन् (इव) प्रत्यय और सप्रसारण प्र के र को ऋ होने पर पृथ् इव, पृथिव, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से षित्वात् ङीप् (ई), 'यस्येतिच' इस सूत्र से अकार लोप होने पर पृथिवी शब्द बना है । पृथिवीलोक का नाम है । 'द्यौश्च पृथिवी च इति द्यावापृथिवी' इस विग्रह मे दिव् शब्द और पृथिवी शब्द का 'चार्थे द्वन्द्व' इस सूत्र से द्वन्द्व समास, दिव् पृथिवी, 'दिवो द्यावा' इस सूत्र से दिव् के स्थान मे द्यावा आदेश, द्यावापृथिवी, प्रथमा के द्विवचन औ आने पर, द्यावापृथिवी औ, 'वा छन्दसि' इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर 'द्यावापृथिवी' रूप बना है । द्युलोक और पृथिवीलोक अर्थ है । 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इस परिभाषा से जहा पूर्वसवर्णदीर्घ नही होता है वहा 'द्यावापृथिव्यौ' रूप बनता है ।

यास्क कहते हैं—

द्यावापृथिव्यौ व्याख्याते ।

द्यावापृथिव्यौ = द्यु और पृथिवी ये दोनों, व्याख्याते = व्याख्यात हैं अर्थात् इन का व्याख्यान पृथ्वी नामों में हो चुका है। वस्तुतस्तु जैसा चाहिये वैसा व्याख्यान न होने से यहां विस्तार से व्याख्यान कर दिया है।

तयोरेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः । ९-३७ ॥

तयोः = उन द्यावापृथिवी का, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टात्रिंशः खण्डः ।

द्यावा॑ नः पृथि॒वी इ॒मं सि॒ध्रम॒द्य दि॑वि॒स्पृश॑म् ।

य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ यच्छताम् ॥ ऋ. सं. २-८-१०-२० ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, गायत्री छन्द और द्यावापृथिवी देवता है। मन्त्रार्थ—सिध्रम् = स्वर्गादि के साधक, दिवस्पृशम् = द्युलोक को स्पर्श करने वाले, द्यावा = द्युलोक और पृथिवी = पृथिवीलोक ये दोनो देवता हैं। ये दोनो देवतायें, नः = हमारे, इमम् यज्ञम् = इस यज्ञ को, अद्य = आज, देवेषु = देव समाज में, यच्छताम् = पहुँचा देवें। इस मन्त्र में द्यावापृथिवी की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिवस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छतम् ।

साधनम् = स्वर्गादि के साधक, दिवस्पृशम् = द्युलोक को स्पर्श करने वाले, द्यावापृथिव्यौ = द्यावापृथिवी ये दोनों देवतायें, नः = हमारे, इमम् यज्ञम् = इस यज्ञ को, अद्य = आज, देवेषु = देव समाज में, नियच्छतम् = पहुँचा देवें।

३२ – विपाट्छुतुद्री ।

विपाट् और शुतुद्री ये दोनों नदी वाचक शब्द हैं। विपाटयति = अतिवेगाद् भूमिं भेदयति इति विपाट्' इस विग्रह में विपूर्वक णिजन्त 'पट भेदने' धातु से कर्तरि क्विप्, सर्वापहारी लोप, 'णेरनिटि' इस सूत्र से णि लोप होने पर विपाट् शब्द बना है। 'शु = क्षिप्रं द्रवति तच्छीला इति शुतुद्री' इस विग्रह में शु उपपद 'द्रु गतौ' धातु से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इस सूत्र से, णिनि (इन्) प्रत्यय शु द्रु इन्, वृद्धि, आव् आदेश, शुद्राविन्, पृषोदरादित्वाद् द्राविन् के स्थान मे तुद्रा आदेश, शुतुद्रा, ङीप्, अ लोप होने पर शुतुद्री शब्द बना है। नदी विशेष का नाम है। क्योंकि, वह नदी शीघ्र गमन करने के स्वभाव वाली है। 'विपाट् च शुतुद्री

च इति 'विपाट्शुतुद्री' इस विग्रह में विपाट् और शुतुद्री का 'चार्थे द्वन्द्वः' इस सूत्र से द्वन्द्व समास 'शश्छोऽटि' इस सूत्र से विकल्प छत्व विपाट् छुतुद्री औ, 'वा छन्दसि' इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ होने पर 'विपाट्छुतुद्री' पद बना है।

भाष्यकार कहते हैं—

विपाट्छुतुद्र्यौ व्याख्याते।

विपाट्छुतुद्र्यौ = विपाट् और शुतुद्री ये दोनों, व्याख्याते = व्याख्यात हैं। अर्थात् इन दोनों का व्याख्यान पूर्व हो चुका है। इसी प्रकरण में 'विपाट् च विपाटनात्' इस पंक्ति से विपाट् का और 'शुतुद्री शुद्राविणी' इस पंक्ति से, शुतुद्री का व्याख्यान किया गया है।

तयोरेषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्याष्टात्रिंश: खण्डः ।। ९-३८ ।।

तयो: = उन विपाट् और शुतुद्री को, ऐषा = यह आगे आने वाली ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकोनचत्वारिंश: खण्ड:।

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥

ऋ. सं. ३-२-१२-१ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—विपाट् = विपाशा (व्यास) और, शुतुद्री = शुतुद्री (सतलज) नाम की दो नदियाँ, पर्वताम् = पर्वतों की, उपस्थात् = उत्सङ्ग = गोद से निकल कर, उशती = सागरसङ्गमाभिलाषिनी होती हुई, विषिते = घोड़शाल से वियुक्त, अश्वे इव = दो घोड़ियो के समान, हासमाने = अन्योऽन्य वेग के द्वारा स्पर्द्धा करती हुई, गावेव = दो गायों के समान शुभ्रे = सुशोभित होकर, पयसा = दूध से संयुक्त, रिहाणे = बछड़ों को जिह्वा से चाटने की इच्छा वाली, मातरा = गाय माता के समान, प्रजवेते = वेग से समुद्र की तरफ जाती हैं। इस ऋचा से यथोक्त दोनों नदियों की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

पर्वतानामुपस्थादुपस्थानादुशन्त्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णे इति वा हासमाने। हासतिः स्पर्धायाम्। हर्षमाणे वा गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते।

पर्वतानाम् = दो पर्वतों की, उपस्थात् = उपस्थानात् = गोद से निकल कर, उशन्त्यौ = कामयमाने = सागर के साथ मिलने की इच्छा वाली, विमुक्ते अश्वे इव इति वा = घोड़शाल से

छुटी हुई घोड़ियों के समान यह या, वा = अथवा, विपण्णे इति वा = शीघ्रता से एक दूसरी से मिलने की इच्छा वाली यह अर्थ, हासमाने = एक दूसरो से स्पर्धा करती हुई, वा = अथवा, हर्षमाणे = हर्ष को प्राप्त होती हुई, गावौ इव = दो गायों के समान, शुभ्रे = शोभने = सुशोभित, मातरौ = दो गाय माता के समान, सरिहाणे = बछड़ो को जीभ से चाटने की इच्छा वाली, पयसा = दूध से युक्त, गो माता के समान, विपाट्छुतुद्रयौ = विपाट् और शुतुद्री नामको दोनो नदियां, प्रजवेते = वेग से समुद्र की तरफ जाती हैं । स्पर्धायाम् सपर्धा अर्थ मे, हासति. = नैरुक्त हास धातु है। जिस से हासमाने वना है। अर्थात् 'हासति इति हासमाने' इम विग्रह मे स्पर्धा अर्थक नैरुक्त हास धातु से लट्, शानच् होने पर हासमान रूप वना है। वा = अथवा हर्ष अर्थ मे नैरुक्त हास धातु से लट्, शानच् होने पर हासमान रूप वना है। 'हासमाने' यह प्रथमा द्विवचन का रूप है।

३२ – आर्त्नी

आर्त्नी = धनुष्प्रान्ते = धनुष्कोटिये = धनुष् के सिरे। ऋच्छतः गच्छतः इति आर्त्नी धनुष्कोटयौ' इस विग्रह मे 'ऋ गतिप्रापणयो' धातु से 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' इस उणादि सूत्र से वाहुलकात् नित् (नि) प्रत्यय, धातु को आर्तभाव, आर्त्नि, 'कृदिकारादक्तिनः' इस वार्तिक से ङीष् (ई), 'यस्येतिच' इस सूत्र से इकार लोप होने पर आर्त्नी रूप वना है। धनुष्कोटी का नाम है। क्योंकि, धनुष्कोटिये गमन करती है। अथवा 'ऋच्छत गमयतः इति आर्त्नी' इस विग्रह मे अन्तर्भावित ण्यर्थक उक्त ऋ धातु से पूर्ववत् रूप सिद्धि समझना चाहिये। आर्त्नी बाण को गमन कराती है। धनुष्कोटी धनुष् के दोनो तरफ होती है। अतः दो है। आर्त्नी च आर्त्नी च अनयोरितरेतरयोग इति आर्त्नी' इस विग्रह मे दोनो आर्त्नी शब्दो का 'चार्थे द्वन्द्वः' इस सूत्र से द्वन्द्व समास, आर्त्नी आर्त्नी औ, इस अवस्था मे 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इस सूत्र से एकशेष, 'वा छन्दसि' इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ होने पर 'आर्त्नी' पद वना है। जब एक शेष द्वन्द्व का अपवाद है तब आर्त्नी मे द्वन्द्व व्यवहार भाक्त अर्थात् गौण समझना चाहिये ।

आचार्य निर्वचन करते हैं—

आर्त्नी—अर्तन्यौ वा, अरण्यौ वा, अरिषण्यौ वा।

अर्तन्यौ वा = वाणो को चलाने वाली, आर्त्नी = आर्त्नी (धनुष्कोटी) कही जाती है। वा = अथवा, अरण्यौ = बाणो को गमन कराने वाली, आर्त्नी = आर्त्नी कही जाती है। वा = अथवा, अरिषण्यौ = शत्रुओ को मारने वाली, आर्त्नी = आर्त्नी कही जाती है।

तयोरेषा भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकोनचत्वारिंशः खण्डः । ९–३९ ॥

तयोः = उन दोनो आर्त्नियो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः ।

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं विभृतामुपस्थे
अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् ॥

ऋ. सं. ५-१-१९-४ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज-पुत्र पायु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आर्त्नी देवता है। मन्त्रार्थ—ते = वे दोनों धनुष्कोटियाँ, समना योषा इव = समनस्क स्त्री की तरह, आचरन्ती = आचरण करती हुई, उपस्थे = शत्रु के ऊपर आक्रमण करते समय, माता पुत्रम् इव = माता जैसे पुत्र को धारण करती है वैसे ही राजा को, विभृताम् = धारण करें । इमे आर्त्नी = ये दोनों गमनशील धनुष्कोटियाँ, अमित्रान् शत्रून् = विरोधी शत्रुओं का, विस्फुरन्ती = वध करती हुई, अपविध्यताम् = वेधन कर डालें । यह मन्त्र आर्त्नी = धनुष्कोटियों की स्तुति करता है ।

इस का भाष्य—

ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थ उपस्थानेऽपविध्यतां शत्रून् संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नन्त्यावमित्रान् ।

ते = वे दोनों धनुष्कोटियाँ, समनसौ योषे इव = समनस्क स्त्री की तरह और, माता पुत्रम् इव = माता पुत्र के समान अर्थात् माता जैसे पुत्र को धारण करती है वैसे ही, आचरन्त्यौ = आचरण करती हुई, उपस्थे = उपस्थाने = शत्रु पर आक्रमण करते समय, राजा को, बिभृताम् = धारण करें और, संविदाने = अपने कार्य को भलीभाँति जानती हुई, इमे आर्त्न्यौ = ये दोनों गमनशील अरत्न्याँ, अमित्रान् शत्रून् = विरोधी शत्रुओं को, अपविध्यताम् = विघ्नन्त्यौ = मार डालें ।

३४ – शुनासीरौ ।

शुन नाम वायु का और सीर नाम आदित्य का है। दोनों का द्वन्द्व समास होकर 'शुनासीरौ' रूप बना है। इस का निर्वचन करते हैं—

शुनासीरौ-शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे, सीर आदित्यः, सरणात् ।

शुनः वायुः = शुन वायु होता है। क्योंकि, शु = शीघ्र, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में, एति = गमन करता है। अर्थात् 'शु = शीघ्रम् नयति गच्छति इति शुनः वायुः' इस विग्रह में शीघ्र वाचक शु उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से ड (अ) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर शुन शब्द बना है। वायु का नाम है। क्योंकि वायु अन्तरिक्ष में शीघ्र गमन करता है। सीरः आदित्यः = सीर आदित्य होता है। क्योंकि सरणात् = गमन करने से। 'सरति नित्यम् गच्छति इति सीरः आदित्यः' इस विग्रह में 'सृ गतौ' धातु से उणादि परिकल्पित ईरन् (ईर) प्रत्यय, सृ ईर, पृषोदरादित्वात् टिलोप, होने पर सीर शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि,

आदित्य प्रतिदिन गमन करता है। 'शुनश्च सीरश्च अनयोः इतरेतर योगः इति शुनासीरौ' इस विग्रह में शुन शब्द और सीर शब्द का 'चार्थे द्वन्द्व' इस सूत्र से द्वन्द्व समास, शुनसीर, 'देवता द्वन्द्वेच' इस सूत्र से पूर्व पद का आनङ् (आन्), दीर्घ, नलोप, शुनासीर औ, वृद्धि होने पर 'शुनासीरौ' पद बना है। वायु और आदित्य अर्थ है।

तयोरेषा भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः। ९-४०॥

तयोः = उन शुनासीर अर्थात् वायु और आदित्य की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः।

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः।
तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ऋ. सं. ३-८-९-५॥

इस ऋचा का वामदेव ऋषि, गायत्री छन्द और शुनासीर देवता हैं। मन्त्रार्थ—शुनासीरौ = हेशुन! और हे सीर! (हे वायो! और हे आदित्य!) तुम दोनों हमारी, इमाम् वाचम् = इस स्तुति का, जुषेताम् = सेवन करो। तुम दोनों ने, दिवि = द्युलोक में, यद् पयः = जिस जल को, चक्रथुः = उत्पन्न किया है, तेन = उसी के द्वारा, इमाम् उ = इस पृथिवी का, सिञ्चतम् = सिञ्चन करो। इस मन्त्र में शुन और सीर की स्तुति है।

इति सा निगदव्याख्याता।

इति सा = वह यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठमात्र से व्याख्यात है। सुलभ होने से इस की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

३४ – देवी जोष्ट्री

देवी का अर्थ द्युलोक और जोष्ट्री का अर्थ पृथिवी लोक (तदभिमानी देवता) है दोनों का द्वन्द्व समास हो कर समस्त पद देवीजोष्ट्री है। पृथक्पाठ चिन्त्य है। क्योंकि, यह द्वन्द्व का प्रकरण चल रहा है। समस्त पद ही होना चाहिये 'दीव्यति इति देवी' इस विग्रह मे 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' धातु से पचाद्यच्, उपधा गुण होने पर देव शब्द बना है। पचादि गण में 'देवट्' ऐसा पाठ है। 'हलन्त्यम्' इस सूत्र से ट् की इत्संज्ञा होने से 'देव' शब्द टित् है। 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र से टित्वात् ङीप् (ई) प्रत्यय, 'यस्येति च' इस सूत्र से अकार लोप होने पर देवी शब्द बना है। द्युलोक का नाम है। क्योंकि, द्युलोक में इस के सभी अर्थ घटते हैं। और 'जुषते तर्पयति इति जोष्ट्री' इस विग्रह में 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' धातु से 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इस उणादि सूत्र से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय, लघूपध गुण, षत्व, ष्टुत्व, जोष्ट्र, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस

सूत्र से षित्वात् ङीष् (ई) 'यस्येति च' इस सूत्र से अकार लोप होने पर 'जोष्ट्री' शब्द बना है। पृथिवीलोक का नाम है। क्योंकि, यह सब को तृप्त कराता है। 'देवी च जोष्ट्री च अनयोः इतरेतर योगः इति देवीजोष्ट्री' देवीजोष्ट्री औ, इस अवस्था में 'वा छन्दसि' इस सूत्र से सवर्णदीर्घ होने पर 'देवीजोष्ट्री' पद बना है। द्यावापृथिवी अर्थ है।

यास्क इस का मतभेद से अनेक अर्थ करते हैं—

देवीजोष्ट्री–देव्यौ जोषयित्र्यौ। द्यावापृथिव्याविति वा, अहोरात्रे इति वा, शस्यं च समाचेति कात्थक्यः।

जोषयित्र्यौ = समस्त संसार को तृप्त करने वाली, देव्यौ = देवियाँ। वा = अथवा, द्यावापृथिव्यौ इति = द्युलोक और पृथिवीलोक यह। वा = अथवा, अहोरात्रे = दिन और रात्रि यह। शस्यम् च समा च = व्रीहि = धान और संवत्सर, इति = यह, कात्थक्यः = महर्षि कात्थक्य कहते हैं।

तयोरेषः संप्रैषो भवति।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः ॥ ९-४१ ॥

तयोः = उन देवी और जोष्ट्री का, एषः = यह अग्रिम, संप्रैषः = प्रेरणार्थक मन्त्र विशेष, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वाचत्वारिंशः खण्डः।

दे॒वीजोष्ट्री॑ वसु॑धीती॒ यय्यो॒र॑न्या॒घा द्वेषां॑ऽसि यूयव॒दान्याव॑-
क्षद्व॒सु वार्या॑णि यज॑मानाय वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वी॒तां यज॑ ॥

इस मन्त्र के मुद्रित पुस्तकों में पाठभेद बहुत देखे जाते हैं। दुर्गाचार्य ने जो भाष्यसंमत रखा है उसी का उपन्यास यहां किया गया है। इस मन्त्र का वरुण ऋषि, एकाधिकाति जगती छन्द और देवीजोष्ट्री देवता है। यज्ञ में ऋत्विक् विशेष जिस मन्त्र से अन्य ऋत्विजों को 'अमुं यज अमुं यज' इस प्रकार आज्ञा देता है वह मन्त्र प्रैषमन्त्र कहा जाता है। इसी प्रकार का यह मन्त्र है। अतः यह प्रैषमन्त्र कहा जाता है। मन्त्रार्थ—देवीजोष्ट्री = द्यावापृथिवी, वसुधीती = धनधान्यादि रूप वसुओं को धारण करनेवाली, ययोः = जिन दोनों में से, अन्या = एक, अघाद्वेषांसि = पाप रूप शत्रुओं को, यूयवत् = हम से अलग करती है अर्थात् नाश करती है और, अन्या = दूसरी देवी, यजमानाय = यजमान के लिये एवं, वसुवने = धन के संयोग के लिये, वसुवार्याणि = वाञ्छनीय धनसंपत्तियों को, आवक्षत् = लाती है। वे दोनों देवियाँ, वीताम् = इस पृषदाज्य को (घृत विशेष को) पीवें या कामना करें। हे ऋत्विजों ! आप लोग, यज = यजन करो। यहां 'यज' यह संप्रैष (प्रेरणा) है।

इस मन्त्र का भाष्य—

देवीजोष्ट्री – देव्यौ जोषयित्र्यौ वसुधीती – वसुधान्यौ । ययोरन्याऽघानि द्वेषांस्य वयावयत्यावहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेतां कामयेतां वा यजेति संप्रैषः ।

देवीजोष्ट्री = दैव्यौ जोषयित्र्यौ = समस्त संसार को तृप्त करने वाली उक्त दोनों देवियाँ, वसुधीती = वसुधान्यौ = धनधान्य तथा वसुओं को धारण करने वाली । ययोः = जिन दोनों में से, अन्या = एक, अघानि = द्वेषांसि = पाप रूप शत्रुओं को, अवयावयति = हम से अलग करती है = नाश करती है और, अन्या = दूसरी देवी, यजमानाय = यजमान के लिये, च = और, वसुवननाय च = धन के संयोग के लिये, च = वीताम् = पिबेताम् = इस पृषदाज्य को पीवें, वा = अथवा, कामयेताम् = कामना करें । 'यज' इति संप्रैषः = 'यज' यह संप्रैष अर्थात् प्रेरणा है ।

३६ – देवी ऊर्जाहुती ।

पूर्ववत् देवी का अर्थ द्युलोक और आदित्य ज्योति एवं ऊर्जाहुती का अर्थ पृथिवीलोक है । तदभिमानिनी देवता । दोनों का द्वन्द्व समास हो कर समस्त एक पद देवीऊर्जाहुती है । देवी शब्द की सिद्धि पूर्व शब्द में हो चुकी है । ऊर्ज् शब्द की सिद्धि भी अन्न नामों में इस प्रकार हुई है—'ऊर्ज्यते प्राण्यते जीव्यतेऽनेनेति ऊर्क् अन्नम्' इस विग्रह में 'ऊर्ज् बलप्राणयोः' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से बाहुलकात् करण में क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर ऊर्ज् शब्द बना है । 'रात्सस्य' इस सूत्र के नियम से संयोगान्त लोप का अभाव, अन्न का नाम है । क्योंकि, अन्न से प्राणी सब जीते हैं । 'ऊर्जा अनेन आहूयते इति ऊर्जाहुतिः' इस विग्रह में ऊर्ज् उपपद 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' धातु से 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इस सूत्र से क्तिच् (ति) प्रत्यय, 'वचिस्वपि' इत्यादि सूत्र से संप्रसारण, पूर्वरूप, 'हलः' इस सूत्र से प्राप्त दीर्घ का व्यत्यय से अभाव होने पर 'ऊर्जाहुति' शब्द बना है । 'कृदिकारादक्तिनः' इस वार्तिक से ङीप् (ई) प्रत्यय, इकार लोप, होने पर ऊर्जाहुती शब्द बना है । 'देवी च ऊर्जाहुती च इति देवीऊर्जाहुती' इस विग्रह में 'चार्थे द्वन्द्वः' इस सूत्र से द्वन्द्व समास होने पर 'देवीऊर्जाहुती' पद बना है । निघण्टु का पाठ छान्दस है ।

यास्क इस का पूर्ववत् ही अर्थ करते हैं—

देवी ऊर्जाहुती–देव्या ऊर्जाह्वान्यौ । द्यावापृथिव्याविति वा, अहोरात्रे इति वा, शस्यं च समा चेति कात्थक्यः ।

देवी ऊर्जाहुती = देव्या ऊर्जाह्वान्यौ = ऊर्जाह्वानी इस नाम से अन्न के लाने वाली दो देवियाँ वा = अथवा, द्यावापृथिव्यौ इति = द्यु और पृथिवी यह, वा = अथवा, अहोरात्रे इति = दिन और रात्रि यह, शस्यम् च समा च = व्रीहि धान और संवत्सर, इति = यह, कात्थक्यः = महर्षि कात्थक्य कहते हैं । इस प्रकार देवीऊर्जाहुती का द्यावापृथिवी, दिन रात्रि और धान संवत्सर अर्थ हुए ।

तयोरेषः संप्रैषो भवति ।

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य द्विचत्वारिंशः खण्डः । ९-४२ ॥

तयोः = उन देवी और ऊर्जाहुती का, एषः = यह अग्रिम, संप्रैषः = प्रेरणा-मन्त्र, भवति = है—

अथ निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः ॥

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्याऽवक्षत्सग्धिं सपीतिमन्या, न वेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जा यमाने अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥

यह य० वा० स० का मन्त्र है । इस के भी पाठभेद बहुत हैं । पता कहां का दिया जाय, समझना कठिन है । मन्त्रार्थ—देवी ऊर्जाहुती = अन्न के लानेवाली दो देवियां हैं । जो अन्नपूर्णा कही जाती हैं । अन्या = उन दोनो मे से एक, इषम् = धान आदि अन्न को और, ऊर्जम् = धान आदि अन्न को सिंचने वाले रस अर्थात् दुग्ध आदि को, आवक्षत् = सम्मुख लाती है और, अन्या = दूसरी देवी, सग्धिम् = बन्धुओ के साथ सह भोजन को और, सपीतिम् = सहपान को, आवक्षत् = सम्मुख लाती है । जिस से हम, नवेन = नए धान्य से, पूर्वम् = पुराने धान्य को और, पुराणेन = पुराने धान्य से, नवम् = नए धान्य को, दयमानाः = रक्षा करते हुए, स्याम = होवें । ताम् ऊर्जम् = उस अन्नादि को ऊर्जाहुती = ऊर्जाहानी देवियां, ऊर्जायमाने = बल करती हुई, अधाताम् = हमे देवें । वसुवने = धन के सभोग के लिये और, वसुधेयस्य = धन के सग्रह के लिये वे दोनों देवियां, वीताम् = पृषदाज्य नामक घी को पीवें अथवा कामना करें । हे होता ! तूं, यज = यजन कर । 'यज' यह संप्रैष अर्थात् प्रेरणा है ।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

देवी ऊर्जाहुती-देव्या ऊर्जाह्वान्यावन्नं च रसं चावहत्या वहत्यन्या सह जग्धिंच सह पीतिं चान्या, नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवम्, तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेतां कामयेतां वा । यजेति संप्रैषो यजेति संप्रैषः ॥

इति निरुक्ते नवमाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः ॥ ९-४४ ॥

देवी ऊर्जाहुती = देव्याः ऊर्जाह्वान्यौ = अन्न के लाने वाली दो देव्यां हैं । अन्या = उन दोनों मे से एक, अन्नं च रस च = अन्न और रस को, आह्वति = सम्मुख लाती है और, अन्या = दूसरी देवी, जग्धिं च सह = बन्धुओ के साथ सहभोजन को और, पीतिं च सह = सहपान को, आवहति = सम्मुख लाती है । जिस से हम, नवेन पूर्वम् = नए धान्य से पुराने धान्य को, और, पुराणेन नवम् = पुराने धान्य से नए धान्य को, दयमानाः = रक्षा करते हुए, स्याम = होवें । ताम् ऊर्जम् = उस अन्नादि को, ऊर्जाहुती = ऊर्जाहानी देवियां ऊर्जायमाने = बल करती हुई अधाताम् = हमें

देवें। वसुवननाय च = धन के संभोग के लिये और, वसुधानाय च = धन के संग्रह के लिये ये दोनों देवियाँ, वीताम् = पिवेताम् = पृषदाज्य नामक घी को पीवें, वा = अथवा, कामयेताम् = कामना करें। यज इति = 'यज' यह, सम्प्रैषः = संप्रैष है। 'यजेति संप्रैषः' इस की द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति का सूचक है।

निरुक्त के नवम अध्याय का खण्डसूत्र—

अथ यान्यश्वोयोळ्हामानोमित्रः कनिक्रदज्जद्वदर्संवत्सरमुपह्वय दमविपामाप्रैतवेदन्त्वनन्दाम्य-दासंयोगाद्धनस्पत उपश्वासयवद्धीनामहिरिवभोगैरथेतिष्ठन्धन्वनागावक्ष्यन्तीवेदासुपर्णंवस्त आः ह्वन्तिय-च्चिद्धित्थंचूपमोन्यकन्दयन्निमंतपितुम्विमंम आपो हिष्ठा या ओपधीराः=यरण्याणिश्रद्धयाग्निस्योना-पीपांचित्तमि हेन्द्राण्यधातोऽग्नावामज्यायोवानप्रपपनानंते आचरन्तीशुनासीरौदेवीजोष्ट्रीदेवीऊर्जाहुती त्रिचत्वारिंशत ।

इति निरुक्ते नवमोऽध्यायः ।

ॐ शान्ति शान्तिः शान्तिः ।

श्रीगणेशाय नमः ।

निरुक्तम्

अथ दशमोऽध्यायः

तत्र प्रथम खण्ड

निघण्टुः—

वायुः १। वरुणः २। रुद्रः ३। इन्द्रः ४। पर्जन्यः ५। बृहस्पतिः ६। ब्रह्मणस्पतिः ७। क्षेत्रस्यपतिः ८। वास्तोष्पतिः ९। वाचस्पतिः १०। अपांनपात् ११। यमः १२। मित्रः १३। कः १४। सरस्वान् १५। विश्वकर्मा १६। तार्क्ष्यः १७। मन्युः १८। दधिक्राः १९। सविता २०। त्वष्टा २१। वातः २२। अग्निः २३। वेन २४। असुनीतिः २५। ऋतः २६। इन्दुः २७। प्रजापतिः २८। अहिः २९। अहिर्बुध्न्यः ३०। सुपर्णः ३१। पुरूरवाः ३२। इति द्वात्रिंशत् पदानि ॥

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य प्रथम खण्ड ।

अथातो मध्यस्थाना देवताः ।

निरुक्त मत मे तीन ही देवता हैं। अग्नि वायु और सूर्य। उन मे अग्नि पृथिवी स्थान, वायु अन्तरिक्षस्थान और सूर्य द्युस्थान हैं। समाम्नाय के अनुक्रम से पृथिवीस्थान देवता वाचक पदो की उक्त प्रकार से व्याख्या की गई। अत = उस के अनन्तर, मध्यस्थानाः देवता. = मध्यम-स्थान देवता वाचक वायु आदि पदो की व्याख्या का यहा से, अथ = प्रारम्भ होता है।

तासां वायुः प्रथमगामी भवति ।

तासाम् = उन मे, वायु = वायु, प्रथमगामी = सब से प्रथम आने वाला अर्थात् मुख्य देवता, भवति = है।

वायु का निर्वचन करते हैं—

वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः । एतेरिति स्थौलाष्ठिविरनर्थको वकारः ।

गतिकर्मणः = गत्यर्थक, वातेः = वा धातु से, वा = अथवा, वेतेः = वी धातु से, वायुः = वायु शब्द, स्याद् = संभव है बना हो । एतेः = इण् धातु से वायु शब्द बना है, इति = यह, स्थौलाष्ठिविः = स्थौलाष्ठिवि नामक आचार्य मानते हैं और कहते हैं कि, वायु शब्द में, वकारः = वकार का आगम, अनर्थकः = अनर्थक है, अर्थात् उसका स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं । अर्थात् 'वाति गच्छति इति वायुः' इस विग्रह में 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से 'कृवापा...' इत्यादि उणादि सूत्र से, उण् (उ) प्रत्यय, वा उ, 'आतोयुक्....' इस सूत्र से युक् (य्) आगम, होने पर 'वायु' शब्द बना है । वायु का ही नाम है । क्योंकि, वायु गमन करता है । अथवा, 'वेति गच्छति इति वायुः' इस विग्रह मे 'वी गतिव्याप्ति प्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से बाहुलकात् उण्, वी उ, वृद्धि, वै उ, आय् आदेश होने पर 'वायु' शब्द बना है । अर्थ वही है । अथवा 'एति गच्छति इति वायुः' इस विग्रह में 'इण् गतौ' धातु से 'छन्दसीणः' इस उणादि सूत्र से उण् प्रत्यय, इ उ, वृद्धि, ऐ उ, आय् आदेश आयु, वकार आगम (उपजन) होने पर वायु शब्द बना है । अर्थ वही है । स्थूलाष्ठीव के अपत्य को स्थौलाष्ठीवि कहते है । अत इञ् । आदि वृद्धि ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्याययस्य प्रथमः खण्डः । १०–१ ॥

तस्य = उस वायु की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।

तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ ऋ. सं. १–१–३–१ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और वायु देवता है । मन्त्रार्थ—दर्शत वायो = हे दर्शनीय वायुदेव ! तुम इस यज्ञ कर्म मे, आ याहि = आओ । तुम्हारे लिये, इमे सोमाः = ये सोमरस, अरकृताः = अलंकृत अर्थात् तैयार हैं । तेषाम् = तान् = उन को, पाहि = पीयो या उन में से अपने भाग का पान को । उसको पीने के लिये, हवम् = हमारा आह्वान को, श्रुधी = सुनो । इस मन्त्र मे वायु शब्द से मध्यमस्थान देवता इन्द्र लिया गया है ।

इस का यास्क भाष्य—

वायवा याहि दर्शनीयेमे सोमा अरंकृता अलंकृतास्तेषां पिब । शृणु मे ह्वानम् इति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ।

दर्शनीय वायो = हे दर्शनीय वायु देव ! तुम इस यज्ञ में, आयाहि = आओ । तुम्हारे लिये, इमे सोमाः = ये सोमरस, अरंकृताः अलकृताः = अलंकृत अर्थात् तैयार हैं । तेषाम् = तान् = उनको,

पाहि = पिब = पीयो । मे = हमारा, इति = इस, ह्वानम् = आह्वान को, श्रृणु = सुनो । इस ऋचा में वायु शब्द से मध्यमलोक का देवता इन्द्र ही लिया गया है । अन्यथा, मध्यमादेवम् = मध्यमदेव, अन्यम् = इन्द्र से अन्य, कम् = किस देव को ऋषि, अवक्ष्यत् = कहते ? ।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । १०-२ ॥

तस्य = उस इन्द्र वायु की, एषा = यह, अपरा = अग्रिम दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः ।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत् ॥

ऋ. सं ४-७-९-३ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है । मन्त्रार्थ—आसस्राणासः = चतुर्दिग् गमन करने वाले, रथ्यासः = रथ में युक्त, अश्वाः = अश्वगण, ऋज्यन्तः = सरलता पूर्वक गमन करते हुए, सुचक्रे शवसानम् = सुदृढचक्ररथ पर अवस्थित, इन्द्रम् = इन्द्र को अभि अच्छ = हमारे अभिमुख लावें । ताकि, अमृतम् श्रवः = अमृतमय सोमरस रूप हवि, वायोः = पवन से, नु = जब तक, नूचित् वि दस्येत् = नष्ट न हो अर्थात् शुष्क न हो उसके पहले ही इन्द्र उसे पी जायें ।

इस मन्त्र का भाष्य—

आससृवांसोऽभिबलायमानमिन्द्रं कल्याणचक्रे रथे योगाय रथ्या अश्वा रथस्य वोढारः ऋज्यन्त ऋजुगामिनोऽन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च । श्रव इत्यन्ननाम, श्रूयत इति सतो वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येदितीन्द्रप्रधानेत्येके नैघण्टुकं वायुकर्म । उभयप्रधानेत्यपरम् ।

आससृवांसः = नित्य ही हमारे यज्ञ में आने के लिये आसर्पण (गमन) करने वाले, अभिबलायमानम् = अपने को अधिक बलवान् मानते हुए, इन्द्रम् = इन्द्र को, कल्याणचक्रे रथे = सुन्दर चक्र वाले रथ में, योगाय = जुड़ने के लिये, रथ्याः अश्वाः = रथस्य वोढारः = रथ में युक्त अश्वगण, ऋज्यन्त = ऋजुगामिनः = सीधे गमन करते हुए, नवम् च पुराणम् च अन्नम् = नया और पुराना हवि को, अभिवहेयुः = हमारे यज्ञ में लावें । श्रवः इति अन्ननाम = 'श्रव' यह अन्न का नाम है । क्योंकि वह, श्रूयते इति सतः = सर्वत्र सुना जाता है । 'श्रूयते इति श्रवः' इस विग्रह में 'श्रु श्रवणे' धातु से 'सर्व धातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से कर्म में असुन् (अस्) प्रत्यय, गुण, अवादेश होने पर श्रवस् शब्द बना है । अन्न का नाम है । क्योंकि, वर्ण्यमान अन्न सर्व स्थानों में सुनाई देता है । अन्नदान से यश होता है । यथा = जैसे, वायोः च = वायु से, अस्य = इस सोम का, भक्षः = भक्ष = भाग, न विदस्येत् = न

हो जाय, इति = इस कारण उस के प्रथम ही इन्द्र को यज्ञ में सोमपान के लिये ले आवें। इन्द्रप्रधाना = यह ऋचा इन्द्र प्रधान है। इस ऋचा में इन्द्र ही प्रधान देवता है, इति = यह, एके = एक कोई आचार्य कहते हैं और, वायुकर्म = वायु अर्थ, नैघण्टुकम् = नैघण्टुक नाम इन्द्र का विशेषण होने से गौण है। उभयप्रधाना = यह ऋचा इन्द्र और वायु उभयप्रधाना है। अर्थात् इस ऋचा के इन्द्र और वायु दोनों स्वतन्त्र देवता हैं, इति = यह, अपरम् = दूसरा मत है।

नैरुक्त मत में तीन ही देवता है। अग्नि, वायु (इन्द्र) और आदित्य। अग्नि पृथिवीस्थान, वायु मध्यम स्थान (अन्तरिक्षस्थान) और आदित्य द्युस्थान हैं। इस मन्त्र में इन्द्र और वायु दोनों पठित हैं। अतः चार देवता न हो जायँ इस के लिये वायु पद इन्द्र पद का विशेषण माना गया है। और जो लोग देवता भेद मानते हैं अर्थात् तीन से अधिक देवता मानते हैं। उन के मत में इस ऋचा के दो देवता हैं। इन्द्र और वायु। दोनों ही स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का विशेषण नहीं।

२ – वरुणः ।

वरुण देवताविशेष का नाम है। 'वृणोति अन्तरिक्षे उदकम् आवृणोती इति वरुणः' इस विग्रह में 'वृञ् वरणे' धातु से 'कृवृदारिभ्य उनन्' इस उणादि सूत्र से उनन् (उन) प्रत्यय, वृ को रपर गुण और णत्व होने पर वरुण शब्द बना है। वरुण देवता का नाम है। क्योंकि, वह अन्तरिक्ष में जल को आवृत करता है। इसी को कहते हैं—

वरुणः–वृणोतीति सतः ।

वृणोति इति सतः = वृञ् इस धातु से, वरुणः = वरुण शब्द बना है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः । १०–३ ।।

तस्य = उस वरुण की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूमं ॥

ऋ. सं. ४-४-३०-३ ।।

इस मन्त्र का अत्रि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वरुण देवता है। मन्त्रार्थ—वरुणः = वरुणदेव, मेघ के मुख को, नीचीनवारम् = नीचे कर के, कवन्धम् = जल को, प्रससर्ज = वर्षा करता है। रोदसी अन्तरिक्षम् = द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को, प्रससर्ज = सृजता है। तेन = इसी लिये वह,

विश्वस्य भुवनस्य राजा = सारे भुवनों का राजा है। वृष्टिः = वृष्टि, यवम् न = स्वल्प स्थल के समान, भूम् = सारी पृथिवी को, व्युनत्ति = प्लावित (गीली) करती है। इस ऋचा मे मध्यमस्थान वरुण की स्तुति है। अतः इसका देवता मध्यमस्थान वरुण है।

इस मन्त्र का भाष्य—

नीचीनद्वारं वरुणः कवन्धं मेघम् । कवनमुदकं भवति । तदस्मिन्धीयते । उदकमपि कवन्धमुच्यते । बन्धिरनिभृतत्वे कमनिभृतं च । प्रसृजति द्यावापृथिव्यौचान्तरिक्षं च महत्त्वेन । तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम् ।

वरुणः = वरुणदेव, कबन्धम् = मेघम् = मेघ को, नीचीनद्वारम् = अधोमुख करके वृष्टि करता है। कवन्ध का अर्थ मेघ है। क्योकि, कवनम् = कवन, उदकम् = जल, भवति = होता है। तद् = वह (जल), अस्मिन् = इस मेघ में, धीयते = निहित किया जाता है = रखा जाता है। इस लिये मेघ कहा जाता है। उदकम् अपि = जल भी, कवन्धम् = कवन्ध, उच्यते = कहा जाता है। क्योकि, बन्धिः = बन्ध धातु, अनिभृतत्वे = चञ्चलत्व अर्थ मे है, उस से बन्ध शब्द बना है और क सुख अर्थ में है, क शब्द का और बन्ध शब्द का समास होने पर कबन्ध शब्द बना है। जिस का अर्थ, कम् अनिभृतम् च = सुखरूप और चञ्चल = चपल रूप होता है। निभृत = स्थिर, अनिभृत = अस्थिर = चञ्चल। अर्थात् 'बध्नाति इति बन्धम्' इस विग्रह में 'बन्ध बन्धने' धातु से पचाद्यच् होने से बन्ध बना है। 'कञ्च तद् बन्धञ्च इति कबन्धम्' इस विग्रह में क शब्द और बन्ध शब्द का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र से कर्मधारय समास होने पर कवन्ध शब्द बना है। मेघ और जल दोनों का नाम है। क्योंकि, ये दोनों अनवस्थायी सुख रूप हैं। वरुण, महत्त्वेन = अपने महत्त्व से, द्यावापृथिव्यौ च = द्युलोक पृथिवीलोक, च = और, अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्षलोक को, प्रसृजति = उत्पन्न करता है। तेन = इस लिये, सर्वस्य भुवनस्य = समस्त भुवनों का वह, राजा = सम्राट् है। वृष्टिः = वरुण से उत्पन्न वर्षा, यवम् इव = स्वल्प स्थल के समान, भूमिम् = सारी पृथिवी को, व्युनत्ति = भिगोय देती है।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः । १०—४ ॥

तस्य = उस वरुण की, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः ।

नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो

नभन्तामन्यके समे ॥ ऋ. सं. ६-३-२६-२ ॥

इस मन्त्र का नाभाक ऋषि, महापङ्क्ति छन्द और वरुण देवता है। मन्त्रार्थ—अहम् = मैं, समना गिरा = समान वाणी से अर्थात् योग्य स्तुति के द्वारा, तम् ऊ = उसी वरुण की, सु = स्तुति करता हूँ। च = और, मन्मभिः = मननीय स्तोत्रों के द्वारा, पितॄणाम् = पितरो की स्तुति करता हूँ। प्रशस्तिभि. = प्रशंसा के द्वारा, नाभाकस्य = नाभाक नामक ऋषि की स्तुति करता हूँ। यः = जो, सिन्धूनाम् = नदियों के, उप = पास, उदये = उद्गत है। उसकी, समे = सारे, अन्यके = शत्रुगण, नभन्ताम् = न होवें अर्थात् ये अपने सारे शत्रुओ को मारें। इस मन्त्र में वरुण को 'स मध्यमः' इस वाक्य से मध्यमस्थान देवता कहा है।

इस ऋचा का यास्क भाष्य—

तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीतया स्तुत्या। पितॄणां च मननीयैः स्तोमैर्नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव। यःस्यन्दमानानामासामपामुपोदये, सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः स मध्यम इति निरुच्यते, अथैष एव भवति माभूवन्नन्यके सर्वे ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापसंकल्पाः।

अहम् = मैं, समानया = योग्य, गिरा = गीतया = स्तुत्या = स्तुति के द्वारा, तम् = उस वरुण की, स्वभिष्टौमि = स्तुति करता हूँ। च = और, मननीयै = मननीय, स्तोमैः = स्तोत्रों के द्वारा, पितृणाम् = पितरो की स्तुति करता हूँ। प्रशस्तिभिः = प्रशसाओं के द्वारा, नाभाकस्य = नाभाक ऋषि की स्तुति करता हूँ। नाभाक. = नाभाक नामक, ऋषिः = कोई ऋषि, बभूव = हो गया। यः = जो, स्यन्दमानानाम् = बहने वाली, आसाम् अपाम् = इन नदियों के, उप = पास, उदये = उद्गत है। लोग, एनम् = इस को, सप्तस्वसारम् = सात बहिन वाला, आह = आहुः = कहते हैं। सः = वह वरुण, वाग्भि = वाणी के द्वारा, मध्यम· इति = मध्यम देवता ऐसा, निरुच्यते = कहा जाता है। अथ = इस के आगे, एषः एव = यही, भवति = होता है = रहें। सर्वे अन्यके = सारे शत्रुगण, मा भूवन् = न रहें, ये = जो, दुर्धियः = दुर्बुद्धि, पापसंकल्पाः = पापसंकल्प वाले, नः = हम से, द्विषन्ति = द्वेष करते हैं।

२ – रुद्रः।

मध्यमस्थान देवविशेष का नाम रुद्र है। इस का निर्वचन करते हैं—

रुद्रो रौतीति सतः। रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा। 'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति काठकम्। यदरोदीत्तद्रुद्रस्यरुद्रत्वम् इति हारिद्रविकम्।

रौति इति सतः = 'रु शब्दे' इस धातु से, रुद्रः = रुद्र शब्द बना है। अर्थात् 'रौति इति रुत्' इस विग्रह मे 'रु शब्दे' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से कर्ता मे क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र से तुक् (त्) आगम होने पर 'रुत्' शब्द बना है। और 'रुत् सन् राति अभिवर्षणेन उदकम् ददाति इति रुद्र.' इस विग्रह मे रुत् उपपद 'रा दाने'

धातु से योगविभाग से 'सुपि' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, रुत् रा अ, 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आ लोप, छान्दस तकार को दकार होने पर 'रुद्र' शब्द बना है। देवविशेष (मरुत) का नाम है। क्योंकि, वह शब्द करता हुआ जल वर्षा करता है। वा = अथवा, रोरूयमाणः = बार बार वा अतिशय रो रो कर, द्रवति = चलता है, इति = इस लिये, रुद्रः = रुद्र कहा जाता है। अर्थात् 'रोरूयमाणः मेघोदरस्थः शब्दं कुर्वाणः सन् द्रवति गच्छति इति रुद्रः' इस विग्रह मे रोरूयमाण शब्द उपपद 'द्रु गतौ' धातु से बाहुलकात् ड प्रत्यय, डित्वात् टिलोप, और छान्दसत्वात् रोरूयमाण को रुभाव होने पर 'रुद्र' शब्द बना है। मेघस्थ देवविशेष का नाम है। क्योंकि, वह आकाश में रोते हुए चलता है। वा = अथवा, रोदयतेः = णिजन्त रुद् धातु से, रुद्रः = रुद्र शब्द बना है। अर्थात् 'रोदयति शत्रुकलत्राणि अश्रुविमोचनं कारयति इति रुद्रः' इस विग्रह में ण्यन्त रुदिर् अश्रुविमोचने' धातु से 'रोदेर्णिलुक्च' इस उणादि सूत्र से रक् (र) प्रत्यय और णि लुक् होने पर 'रुद्र' शब्द बना है। देवविशेष का नाम है। क्योकि, वह शत्रुओं को मारकर उनकी स्त्रियों को रोदन कराता है। इस अर्थ में श्रुति प्रमाण देते हैं—यत् = अरुदत् = जो रोया, तत् = वह, रुद्रस्य = रुद्र की, रुद्रत्वम् = रुद्रपना हैं, इति = यह, काठकम् = कठशाखा की श्रुति है। यत् = जो, अरोदीत् = रोया, तत् = वह, रुद्रस्य = रुद्र की, रुद्रत्वम् = रुद्रपना है, इति = यह, हारिद्रविकम् = हरिद्रव शाखा की श्रुति है। ये दोनों श्रुतियां 'रोने से रुद्र नाम पड़ा है' यह कह रही हैं।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः । १०-५ ॥

तस्य = उस रुद्र की, एषा = यह आगे आने वाली ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधान्वे ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥

ऋ सं. ५-४-१३-१ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, जगती छन्द और रुद्र देवता है। मन्त्रार्थ—महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि, हे हमारे स्तोतृगण! आप लोग, स्थिरधन्वने = दृढ धनुष वाले, क्षिप्रेषवे = शीघ्रगामी बाण वाले, स्वधान्वे = अन्न वाले, अषाळ्हाय = किसी के लिये भी अजेय, सहमानाय = सब के विजेता, तिग्मायुधाय = तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले, वेधसे = विधाता, रुद्राय देवाय = रुद्र देव के लिये, इमाः गिरः = ये स्तुतियाँ हैं, उनको, भरत = धारण करो। अर्थात् आप लोग रुद्र की स्तुति करो और वे, नः = हमारी स्तुति, शृणोतु = सुनें। इस ऋचा मे मध्यमस्थान रुद्र देव की स्तुति है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायास्वधाव्ने। अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥

इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवेदेवायास्नवतेऽषाढायान्यैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु नः ॥

दृढधन्वने = दृढ धनुष वाले, क्षिप्रेषवे = शीघ्रगामी बाण वाले, अस्नवते = अन्न वाले, अन्यैः अषाढाय = किसी के लिये भी अजेय, सहमानाय = सब के विजेता, विधात्रे = विधाता, तिग्मायुधाय = तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले, रुद्राय देवाय = रुद्र देव के लिये, इमाः गिरः = ये स्तुतियां हैं। उनको, भरत = धारण करो । वह, नः = हमारी स्तुति को, शृणोतु = सुने ।

निगम प्रसक्त तिग्म शब्द का निर्वचन करते हैं—

तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः ।

उत्साहकर्मणः = उत्साह अर्थक, तेजतेः = तिज धातु से, तिग्मम् = तिग्म शब्द बना है । अर्थात् 'तेजयति उत्साहयति इति तिग्मम् तीक्ष्णम्' इस विग्रह में 'तिज निशाने' धातु से, 'युजि रुजि तिजां कुश्च' इस उणादि सूत्र से मक् (म) प्रत्यय और जकार को गकार कुत्व होने पर तिग्म शब्द बना है । तीक्ष्ण अर्थ है ।

आयुधमायोधनात् ।

आयोधनात् = आयोधन होने से अर्थात् उस से युद्ध किये जाने से, आयुधम् = आयुध कहा जाता है। अर्थात् 'आयुध्यते अनेन इति आयुधम्' इस विग्रह में आङ्पूर्वक 'युध संप्रहारे' धातु से 'घञर्थे कविधानम्' इस वार्तिक से करण में क (अ) प्रत्यय होने पर आयुध शब्द बना है। अस्त्र शस्त्र का नाम है । क्योंकि, इन के द्वारा शत्रुओं पर प्रहार किया जाता है ।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्तेदशमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः । १०–६ ॥

तस्य = उस रुद्र की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

या ते॑ दि॒द्युदव॑सृष्टा दि॒वस्परि॑ क्ष्म॒या चर॑ति॒ परि॒ सा वृ॑णक्तु नः।
स॒हस्रं॑ ते स्वपिवात भेष॒जा मा न॑स्तो॒केषु॒ तन॑येषु॒ रीरिषः ॥

ऋ. सं. ५-४-१३-३ ॥

इस मन्त्र का भी वसिष्ठ ऋषि, जगती छन्द और रुद्र देवता है। मन्त्रार्थ—हे रुद्र!, दिवस्परि = अन्तरिक्ष से, अवसृष्टा = छोड़ी गयी, या = जो, ते = तुम्हारी, दिद्युत् = आयुध रूप बिजली, क्ष्मया = पृथिवी पर, चरति = विचरण करती है, सा = वह, नः = हमें, परिवृणक्तु =

छोड़ दें । स्वपिवात = हे स्वपिवात रुद्र !, ते = तुम्हारे पास, सहस्रम् = हजारों, भेषजाः = ओषधियाँ हैं । नः = हमारे, तोकेषु तनयेषु = पुत्रपौत्रादि को, मा रीरिषः = हिंसा न करना । इस ऋचा में मध्यमस्थान रुद्र देवता की स्तुति है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

या ते दिद्युदवसृष्टादिवस्परि-दिवोधि । दिद्युद्-द्यतेर्वा, द्युतेर्वा, द्योततेर्वा ।

या = जो, ते = तुम्हारी, दिद्युत् = बिजली, दिवस्परि = दिवोधि = अन्तरिक्ष से, अवसृष्टा = छोड़ी गयी । एक 'वा कार' वाक्यालङ्कार में है । द्यतेः = 'दो अवखण्डने' धातु से, वा = अथवा, द्योततेः = द्युतेः = 'द्यु अभिगमने' धातु से, वा = अथवा, द्योततेः = द्युत दीप्तौ धातु से, दिद्युत् = दिद्युत् शब्द बना है । अर्थात् 'द्यति शत्रून अवखण्डति इति दिद्युत्' इस विग्रह में 'दोऽवखण्डने' धातु से क्विप् (०) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् द्वित्व, दा दा, इस के स्थान में दिद्युद्भाव होने पर दिद्युत् शब्द बना है । आयुध का नाम है । क्योंकि, आयुध शत्रुओं का नाश करता है । अथवा 'द्यौति प्राणिनः अभिगच्छति इति दिद्युत्' इस विग्रह में 'द्यु अभिगमने' धातु से पृषोदरादित्वात् क्विप् (०), द्वित्व, द्यु द्यु, अभ्यास को संप्रसारण, पूर्व रूप, दिद्यु, तुक् आगम होने पर, दिद्युत् शब्द बना है । आयुध का ही नाम है । क्योंकि, वह प्राणी के पास पहुंचता है । अथवा 'द्योतते प्रकाशते इति दिद्युत्' इस विग्रह में 'द्युत दीप्तौ' धातु से 'द्युतिगमिजुहोतीनांद्वे च' इस सूत्र से क्विप् (०) प्रत्यय और द्वित्व, द्युत द्युत, 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' इस सूत्र से अभ्यास को संप्रसारण, पूर्वरूप, दित् द्युत्, हलादि शेष होने पर दिद्युत् शब्द बना है । बिजली आयुध का नाम है । क्योंकि, वह प्रकाश करता है ।

क्ष्मया चरति-क्ष्मा पृथिवी तस्यां चरति । विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा, परिवृणक्तु नः सा । सहस्रं ते स्वाप्तवचनभेषज्यानि । मानस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः । तोकं तुद्यतेः । तनयं तनोतेः ।

क्ष्मया चरति = क्ष्मा पृथिवी तस्यां चरति = क्ष्मा पृथिवी का नाम है । उस में विचरण करती है । वा = अथवा, जो तुम्हारी रोगरूपी शक्ति है वह प्राणियों को, विक्ष्मापयन्ती = नाश करती हुई, चरति = विचरण करती है, इति = इत्यर्थः सा = वह शक्ति, नः = हम को, परिवृणक्तु = बचावें स्वाप्तवचन = हेस्वाप्तवचन रुद्र !, ते = तुम्हारे, सहस्रम् = हजारो, भेषज्यानि = औषध हैं, ये हमारे लिये हों । त्वम् = तुम, नः = हमारे, पुत्रेषु च = पुत्रो में, च = और, तनयेषु = पौत्रों में, मा रीरिषः = रोष न करो । क्रोध न करो, तुद्यतेः = 'तुद व्यथने' धातु से, तोकम् = तोक शब्द बना है । तनोतेः = 'तनु विस्तारे' धातु से, तनयम् = तनय शब्द बना है । 'तुद्यते व्यथ्यते इति तोकम् अपत्यम्' इस विग्रह में, 'तुद व्यथने' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इस सूत्र से घ (अ) प्रत्यय तुद् अ, उपधा गुण, तोद् अ, पृषोदरादित्वात् दकार को ककार होने पर तोक शब्द बना है । पुत्र का नाम है । क्योंकि, जब पिता-'यह कर, यह न कर' इस प्रकार शासन करता है तब पुत्र व्यथित होता है । 'तनोति वंशं विस्तारयति इति तनयम् अपत्यम्' इस विग्रह में 'तनु विस्तारे' धातु से 'वलिमलितनिभ्यः कयन्' इस उणादि सूत्र से कयन् (अय) प्रत्यय होने पर तनु

अय, तनय शब्द बना है। पौत्र का नाम है। क्योंकि, वह वंश का विस्तार करता है। यद्यपि तोक और तनय का एक ही अर्थ है तथापि एक वाक्य में दोनों का प्रयोग होने से तोक का पुत्र और तनय का पौत्र अर्थ किया गया है।

अग्निरपि रुद्र उच्यते।

कहीं कहीं मन्त्रों में, अग्निः अपि = अग्नि भी, रुद्रः = रुद्र, उच्यते = कहा जाता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः । १०–७ ॥

तस्य = उस अग्नि रूप रुद्र का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ ऋ. सं. १–२–२३–१० ॥

इस मन्त्र का शुनः शेप ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ जराबोध = हे स्तुति द्वारा बोधमान अग्नि देव!, विशे विशे = प्रत्येक यजमान पर कृपा करके, यज्ञियाय = यज्ञानुष्ठान के लिये, तत् = उस यज्ञ मे विविड्ढि = प्रवेश करो। यजमान लोग, रुद्राय = उग्ररूप तुम अग्नि के लिये, दृशीकम् = रुचिकर, स्तोमम् = स्तोत्र करते हैं। इस मन्त्र मे रुद्र शब्द का अर्थ उग्र अग्नि है। अतः रुद्र शब्द का अर्थ अग्नि भी है।

इस का भाष्य—

जरा स्तुतिः। जरतेः स्तुतिकर्मणः। तां बोध। तया बोधयितरिति वा। तद्विविड्ढि = तत्कुरु। मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजमानाय स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम्।

जरा स्तुतिः = जरा स्तुति कही जाती है। अर्थात् जरा शब्द का अर्थ यहां स्तुति है। स्तुतिकर्मणः = स्तुत्यर्थक, जरतेः = 'जष् वयोहानौ' धातु से जरा शब्द बना है। निघण्टु ४–१–५२ में स्तुति अर्थ कहा है। 'जीर्यति स्तौति अनया इति जरा स्तुतिः' इस विग्रह में 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इस सूत्र से अङ् (अ) प्रत्यय, रपर गुणः और टाप् होने पर जरा शब्द बना है। स्तुति का नाम है। ताम् = उस को, बोध = जानो। वा = अथवा, तया = उस से, बोधयितः = हे बोधायतः = हे बोधमान! तद् विविड्ढि = तद् कुरु = उसको करो। विशे विशे = मनुष्यस्य मनुष्यस्य = मनुष्याय = यजमानाय = प्रत्येक यजमान के लिये कृपा करो। रुद्राय = अग्निदेव के लिये, दर्शनीयम् = रुचिकर, स्तोमम् = स्तोत्र है।

४ – इन्द्रः ।

इन्द्र शब्द का अर्थ देवराज इन्द्र है। इस के अनेक निर्वचन करते हैं—

इन्द्र इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा।

इराम् = अन्न को, दृणाति = विदारण करता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इरां बीजभूतम् श्रीह्यादि अन्नं दृणाति विदारयति इति इन्द्रः' इस विग्रह में इरा उपपद 'दृ विदारणे' धातु से 'ऋज्रेन्द्राग्र....' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से रन् (र) प्रत्यय, इरा दृ र, इरा का इन्, दृ को द होने पर, इन् द् र, 'इन्द्र' शब्द बना है। देवराज इन्द्र का नाम है। क्योंकि, यह वर्षा से धान्यबीज को भिगो कर अङ्कुर उत्पन्न करता हुआ उसे विदारण कर देता है = फाड़ देता है। इस पक्ष में इन्द्र शब्द परोक्षवृत्ति है।

वा = अथवा, इरां = अन्नं, ददाति = देता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इरां ददाति इति इन्द्रः' इस विग्रह में, इरा उपपद 'डुदाञ् दाने' धातु से पूर्ववत् 'ऋज्रेन्द्राग्र' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से रन् प्रत्यय इरा को इन् और दा को द् होने पर इन द् र-'इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का ही नाम है। क्योंकि वह वर्षा द्वारा अन्न उत्पन्न कर के सब को देता है।

वा = अथवा, इराम् = अन्न को, दधाति = धारण करता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इरां दधाति = इति इन्द्रः' इस विग्रह में इरा उपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से पूर्वोक्त उणादि सूत्र के निपातन से रन् प्रत्यय इरा को इन् और धा को द् होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र अन्न को धारण करता है।

वा = अथवा, इराम् = अन्न को, दारयते = वर्षा जल द्वारा, बीज रूप अन्न को भिगो कर अङ्कुर रूप से फाड़ देता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इरां दारयते इति इन्द्रः' इस विग्रह में इरा उपपद णिजन्त 'दृ विदारणे' धातु से उक्त उणादि सूत्र के निपातन से रन् प्रत्यय, इरा को इन्, धातु को द् होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र अन्न विदारण करता है।

वा = अथवा, इराम् = अन्न को, धारयते = धारण करता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इरां धारयते इति इन्द्रः' इस विग्रह मे इरा उपपद धृञ् धारणे' धातु से उक्त उणादि सूत्र से रन् प्रत्यय, इरा को इन् और धातु को द् होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र अन्न को धारण करता है

इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा।

वा = अथवा, इन्दवे = सोम के लिये, द्रवति = गमन करता है = जाता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है अर्थात् 'इन्दवे सोमपानाय द्रवति गच्छति इति इन्द्रः' इस विग्रह में,

इन्दु उपपद 'द्रु गतौ' धातु से पूर्वोक्त उणादि सूत्र के निपातन से रन् प्रत्यय, इन्दु को इन् धातु के र्‌उ का लोप, होने पर इन्द्र शब्द बना है । इन्द्र का नाम है। क्योंकि इन्द्र सोमपान करने के लिये यज्ञ में जाता है ।

वा = अथवा, अति प्रिय होने से, इन्दौ = सोम में, रमते = रमण करता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इन्दौ सोमे रमते क्रीडति इति इन्द्रः' इस विग्रह में इन्दु उपपद 'रमु क्रीडायाम्' धातु से क्विप् (०) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् इन्दु के उ का और रम् के मका लोप होने पर इन्द्र शब्द बना है । इन्द्र का नाम है । क्योंकि, इन्द्र को सोम अतिप्रिय होने से वह उस में रमता रहता है।

इन्धे भूतानीति वा । "तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्" इति विज्ञायते ।

वा = अथवा, भूतानि = प्राणियों को, इन्धे = द्युतिमान् अर्थात् कान्तिमान् करता है, इति = इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इन्धे भूतानि दीप्यते इति इन्द्रः' इस विग्रह में 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से 'ऋज्रेन्द्रा' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से रन् (र) प्रत्यय, और धकार को दकार होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का ही नाम है। क्योंकि, वह अन्न की उत्पत्ति के अधिदेवादि रूप में स्थित होता हुआ भोजन द्वारा प्राणियों को कान्तियुक्त करता है। तद् यद् = वह जो, एनम् = इसे, प्राणैः = प्राणों के अधिदेवताओं ने, समैधन् = दीपन किया है, तत् = वही, इन्द्रस्य = इन्द्र का, इन्द्रत्वम् इन्द्रपना है, इति = यह इस ब्राह्मणवाक्य से, विज्ञायते = जाना जाता है । अर्थात् सब को अन्न द्वारा कान्तियुक्त करना ही इन्द्र में इन्द्रपना है।

इदं करणादित्याग्रायणः ।

इदम् करणात् = इदं करने से अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति करने से, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। इति = यह, आग्रायणः = आग्रायण आचार्य कहते हैं। अर्थात् 'इदं करोति इति इदंकरः इन्द्रः' इस विग्रह में इदम् उपपद 'डुकृञ् करणे' धातु से पचाद्यच्, रपर गुण, इदंकर, पृषोदरादित्वात् इदंकर के स्थान में इन्द्र आदेश होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र *इस जगत् को बनाता है। इस मत में इन्द्र का अर्थ ईश्वर है। क्योंकि, जगत् कर्ता ईश्वर है।*

इदंदर्शनादित्यौपमन्यवः ।

इदम् दर्शनात् = इदं दर्शन से अर्थात् इस जगत् को इस ने देखा है इस लिये, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है, इति = यह, औपमन्यवः = औपमन्यव नामक आचार्य कहते हैं। अर्थात् 'इदम् अद्राक्षीत् इति इदंदर्शन इन्द्रः' इस विग्रह में इदम् अद्राक्षीत् इति इदंदर्शन इन्द्रः' इस विग्रह में 'इदम् उपपद 'दृशिर प्रेक्षणे' धातु से भूत में ल्युट्, यु को अन आदेश, उपधाको रपर गुण, इदंदर्शन, पृषोदरादित्वात् इन्द्र आदेश होने पर इन्द्र शब्द बना है। जगद्द्रष्टा ईश्वर का नाम हैं। क्योंकि, सर्व प्रथम ईश्वर ने जगत् को देखा है।

इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः। इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा, द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम् ।

ऐश्वर्यकर्मणः = ऐश्वर्य अर्थक, इन्दतेः = 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से, इन्द्रः = इन्द्र शब्द बना है। अर्थात् 'इन्दति परमैश्वर्यं प्राप्नोति इति इन्द्रः' इस विग्रह में 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से 'ऋज्रेन्द्र' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से रन् (र) प्रत्यय होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र निरतिशय ऐश्वर्य वाला है।

वा = अथवा, इन्दन् = ऐश्वर्ययुक्त होता हुआ, शत्रूणाम् = शत्रुओं का, दारयिता = विदारण करने वाला होने से, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'इन्दति इति इन्दन्' इस विग्रह में 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से लट् शतृ होने पर इन्दत् शब्द बना है और 'दारयिता शत्रूणां विदारयिता इति इन्द्रः' इस विग्रह में ण्यन्त 'दृ विदारणे' धातु से तृच् प्रत्यय इट्, गुण, अयादेश होने पर दारयितृ शब्द बना है। इन्दन् चासौ दारयिता च इति इन्दद् दारयिता' इस विग्रह मे इन्दत् और दारयितृ का कर्मधारय समास होने पर इन्दद्दारयितृ शब्द बना है। इस समस्त के स्थान में पृषोदरादित्वात् इन्द्र आदेश होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का ही नाम है। क्योंकि, वह शत्रुओं को विदारण करता है।

वा = अथवा, द्रावयिता = शत्रुओं का द्रावण करने वाला अर्थात् भगाने वाला होने से, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'द्रावयति इति द्रावयिता' इस विग्रह मे ण्यन्त 'द्रु गतौ' धातु से तृच् प्रत्यय, द्रावि तृ, गुण आय् आदेश होने पर द्रावयितृ शब्द बना है। पूर्वोक्त शतृ प्रत्ययान्त इन्दत् का और द्रावयितृ का कर्मधारय समास होने पर इन्दत् द्रावयितृ शब्द बना है। उस के स्थान में पृषोदरादित्वात् इन्द्र आदेश होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का ही नाम है। क्योंकि, वह शत्रुओं को भगाता है।

च = और, यज्वनाम् = यज्ञ करने वाले यज्वनों का, आदरयिता = आदर करने वाला होने से, इन्द्रः = इन्द्र कहा जाता है। अर्थात् 'आद्रियते इति इन्द्रः' इस विग्रह में आङ् पूर्वक ण्यन्त 'दृङ् आदरे' धातु से तृन् प्रत्यय, इट्, गुण, अयादेश होने पर आदरयितृ शब्द बना है। 'इन्दन् चासौ आदरयिता च इति इन्दनादयिता' इस विग्रह में इन्दत् का और आदरयितृ का कर्मधारय समास होने पर इन्दनादरयितृ शब्द बना है। उस के स्थान में पृषोदरादित्वात् इन्द्र आदेश होने पर इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र का ही नाम है। क्योंकि वह परम ऐश्वर्य वाला होता हुआ यज्वनों का आदर करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टमः खण्डः। १०-८॥

तस्य = उस इन्द्र की, एषा = यह अग्रिम स्तुति रूप ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य नवमः खण्डः।

अर्दर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः।

महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्॥

ऋ. सं. ४-१-३२-१॥

इस मन्त्र का आत्रेय गातु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र !, त्वम् = तुमने, उत्सम् = मेघ को, अदर्दः = विदीर्ण किया है और, खानि = मेघस्थ जल के निर्गमन द्वार को, वि असृजः = विसृष्ट किया है अर्थात् बनाया है। यद्बधानान् = बाध्यमान, अर्णवान् = जल वाले मेघ को, अरम्णाः = उद्घाटित करके उस में से जल बरसाया है। यत् = जो तुमने, महान्तम् पर्वतम् = प्रभूत मेघ को, वि वः = खोल दिया है। धाराः = जलधारा को, विसृजः = विसृष्ट किया है। दानवम् = दनु के, पुत्र वृत्र का, अवहन् = हनन किया है। इस ऋचा में इन्द्र की स्तुति है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

अदृणा उत्समुत्सउत्सरणाद्वोत्सदनाद्वोत्स्यन्दनाद्वो नत्तेर्वा, व्यसृजोऽस्य खानि, त्वमर्णवान्‌र्णस्वतं एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान् बाबध्यमानानरम्णाः। रम्णातिः संयमनकर्मा। विसर्जनकर्मा वा। महान्तमिन्द्रपर्वतं मेघं यद्व्यवृणोर्व्यसृजोऽस्य धाराः। अवहन्नेनं दानवं दानकर्माणम् ।

हे इन्द्र ! तुमने, उत्सम् = मेघ को, अदृणाः = फाड़ा है। उत्सरणात् = ऊर्ध्वगमन करने से, वा = अथवा, उत्सदनात् = ऊपर मे बैठे हुए के जैसा होने से, वा = अथवा, उत्स्यन्दनात् = ऊपर रहकर बहने से, वा = अथवा, उनत्तेः = भिगोने से, उत्सः = मेघ उत्स कहा जाता है। अर्थात् 'उत्सरति अस्मात् उदकम् इति उत्सः मेघः' इस विग्रह मे उत् पूर्वक 'सृ गतौ' धातु से बाहुलकात् ड (अ) प्रत्यय और डित्वात् टि लोप होने पर उत्स शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ ऊपर को गमन करता है।

अथवा 'उत् ऊर्ध्वं सीदति इति उत्सः मेघः' इस विग्रह मे उत् पूर्वक 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से बाहुलकात् ड (अ) प्रत्यय और डित्वात् टि लोप होने पर उत्स शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ ऊपर बैठा हुआ सा प्रतीत होता है।

अथवा 'उत्स्यन्दते इति उत्सः मेघः' इस विग्रह में उत्पूर्वक 'स्यन्दू प्रस्रवणे' धातु से बाहुलकात् ड (अ) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप और य लोप होने पर उत्स शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ ऊपर हो कर बहता है।

अथवा 'उनत्ति क्लेदयति इति उत्सः मेघः' इस विग्रह में, 'उन्दी क्लेदने' धातु से 'उन्दतेर्नलोपश्च' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् स प्रत्यय, न लोप और द् को त् होने पर उत्स शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ जल के द्वारा सब को भिगो देता है।

अस्य खानि = मेघ के जल निकलने के द्वार (छिद्र) को, व्यसृजः = सरजन किया है = खोल दिया है। त्वम् = तुमने, अर्णवान् = अर्णस्वतः = जल से भरा हुआ,' बाबध्यमानान् = बाबध्यमान्, माध्यमिकान् = माध्यमिक, एतान् संस्त्यायान् = इन मेघ समूहों को, अरम्णाः = संयमन तथा विसर्जन किया है। 'अरम्णाः' इस पद में, संयमनकर्मा = संयमन अर्थक, रम्णातिः = रम

धातु है। वा = अथवा, विसर्जनकर्मा = विसर्जन अर्थक, रम्णातिः = रम धातु है। यद्यपि रम धातु लोक में क्रीडा अर्थ में है तथापि वेद मे संयमन तथा विसर्जन अर्थ में समझना चाहिये। 'अरम्णाः' यह क्रिया पद है। लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन का रूप है। व्यत्यय से आ प्रत्यय हुआ है।

इन्द्र = हे इन्द्र !, महान्तम् पर्वतम् = मेघम् = महान् मेघ को, यद् = जो तुमने. व्यवृणोः = खोल दिया है। अस्य = इसकी, धाराः = जल धाराओं को, व्यसृजः = खोल दिया है। एनम् दानकर्माणम् = इस दान देने वाला दनु के पुत्र वृत्र का, अव हन् = हनन किया है।

तस्येषाऽपरा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ १०-९ ॥

तस्य = उस इन्द्र का, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥

ऋ. सं. २-६-७-१ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—एक समय की बात है कि, वैन्य के याग में गृत्समद आदि ऋषि और इन्द्र आदि देवता सब एकत्रित हुए। असुर लोगों ने इन्द्र के ऊपर आक्रमण किया। इन्द्र गृत्समद के रूप धारण कर वहां से चले गये। इधर यज्ञ के कार्य समाप्त होने पर पूजा ग्रहण कर गृत्समद ऋषि अपने घर जा रहे थे। असुरों ने उनको इन्द्र समझ कर मारने के लिये घेर लिया। तब गृत्समद कहते हैं—जनासः = हे असुर जन ! यः = जिन्हों ने, जात एव = जन्मते ही, प्रथमः = सर्वदेवों में प्रधान होता हुआ, मनस्वान् = मनस्वी पुरुषों में अग्रगण्य होता हुआ और, देवः = द्योतमान होता हुआ, क्रतुना = वृत्रवध आदि वीर कर्म के द्वारा, देवान् = सारे देवों को, पर्यभूषत् = विभूषित किया था। यस्य = जिस के, शुष्मात् = शरीर-बल से, रोदसी = द्यावापृथिवी, अभ्यसेताम् = भयभीत हुई थी और जो, मह्ना नृम्णस्य = महती सेना का नायक था। सः = वह, इन्द्रः = इन्द्र है। मैं नहीं। इस मन्त्र में देवराज इन्द्र की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुनाकर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षत्। प्रत्यक्रामदिति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथिव्या वप्यबिभीतां नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन। स जनास इन्द्र इति।

यः = जिन्हों ने, जायमान एव, जन्म के साथ ही, प्रथमः = सर्व देवों में प्रधान हुआ, मनस्वी = मनुष्यों में अग्रगण्य होता हुआ और, देवः = द्योतमान होता हुआ, क्रतुना = कर्मणा = वृत्रवध आदि वीर कर्म के द्वारा, देवान् = देवों को, पर्यभवत् दवाया है, पर्यगृह्णात् = अधीन किया है = पर्यरक्षत् = रक्षण किया है। वा = अथवा, प्रत्यक्रामत् = अतिक्रमण (उलंघन) किया है। यस्य बलात् = जिसके बल से, द्यावापृथिव्यौ अपि = द्युलोक और पृथिवीलोक भी, विभीताम् = भयभीत हुआ था। महत्त्वेन = अपने महत्त्व से, अह्ना नृम्णस्य = महती सेना का नायक था। जनासः = हे असुर जनो!, सः = वह, इन्द्रः = इन्द्र है। मैं इन्द्र नहीं हूँ। ब्राह्मण हूँ। इन्द्र के वरदान से इन्द्र के समान रूप को प्राप्त हुआ हूँ।

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।

दृष्टार्थस्य ऋषेः = दृष्ट अर्थक गृत्समद ऋषि की, आख्यानसंयुक्ता = इतिहास संयुक्त, प्रीतिः = स्तुति, भवति = है। अर्थात् जिसने इन्द्र देव की मैत्री का अनुभव किया है उस इन्द्र के सखा गृत्समद ऋषि की यह प्रीति = स्तुति आख्यान = इतिहास संयुक्त है।

५ – पर्जन्यः ।

पर्जन्य मेघ को कहते है। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य । तर्पयिताजन्यः ।

आद्यन्तविपरीतस्य = आदि और अन्त के अक्षरों को विपरीत, तृपेः = तृप धातु से, पर्जन्यः = पर्जन्य शब्द बना है। तर्पयिता = सर्व देशों को तृप्ति कराने वाला और, जन्यः = सर्व जन का हित हो वह, पर्जन्यः = पर्जन्य कहा जाता है। अर्थात् 'तर्पयति इति तृप्' इस विग्रह में अन्तर्भाविण्यर्थक 'तृप तृप्तौ' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से, क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर 'तृप्' शब्द बना है। 'जनेभ्य हितः इति जन्यः' इस विग्रह में जन शब्द से हित अर्थ में छान्दस यत् (य) प्रत्यय, 'यस्येति च' इस सूत्र से अ लोप होने पर 'जन्य' शब्द बना है। 'तृप् चासौ जन्यश्च इति पर्जन्यः' इस विग्रह मे कर्मधारय समास, होने पर तृप् जन्य, तृप् को आद्यन्त विपर्यय परभाव होने पर पर्जन्य शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ वर्षा द्वारा सब देश को तृप्त करता है। पृथिवी को गीला और प्राणी को शान्त करता है।

परो जेता वा, जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसानाम् ।

परः जेता = बड़ा जीतने वाला, वा = अथवा, जनयिता = उत्पन्न करने वाला, वा = अथवा, रसानाम् प्रार्जयिता = रसों का संग्रह करने वाला, पर्जन्यः = पर्जन्य (मेघ) कहा जाता है। अर्थात् 'परम् उत्कृष्टं जयति इति पर्जन्यः मेघः' इस विग्रह में पर शब्द उपपद 'जि जये' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् (य) प्रत्यय, जि धातु को अनङ् (अन्) आदेश, पर जन् य, पर के र के अ का लोप होने पर पर्जन्य शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ दुष्काल को जीतता है।

अथवा 'परं जनयति इति पर्जन्यः मेघः' इस विग्रह में पर उपपद 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् प्रत्यय और पर के र के अ का लोप होने पर पर्जन्य शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ बरसने पर असंख्य जन्तु तथा वनस्पति आदि प्राणी उत्पन्न होते हैं।

अथवा 'रसान् जलानि प्रकर्षेण अर्जते इति पर्जन्यः मेघः' इस विग्रह में प्र पूर्वक 'ऋजगति स्थानार्जनोपार्जनेषु' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् (य) प्रत्यय, प्र ऋज् य, गुण, प्र अर्ज् य, प्र को पर् और अर्ज को जन् होने पर पर्जन्य शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ विशेष जलरूप रस का संग्रह करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १०–१० ॥

तस्य = उस मेघ की, एषा = यह अनुपद पठित ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकादशः खण्ड ।

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ॥

ऋ. सं. ४-४-२७-२ ॥

इस मन्त्र का अत्रि के अपत्य भौम ऋषि, जगती छन्द और पर्जन्य देवता है। मन्त्रार्थ— पर्जन्यः = मेघ, वज्रपात के द्वारा, वृक्षान् = वृक्षों को, विहन्ति = विनाश करते हैं, उत = और, रक्षसः = राक्षसों को, विहन्ति = नष्ट करते हैं। महावध्यात् = महान् वध द्वारा, विश्वम् भुवनम् = समग्र प्राणियों को, बिभाय = भय प्रदर्शित करते हैं। अनागाः उत = निरपराधी लोग भी, वृष्ण्यावतः = वर्षण करने वाले पर्जन्य के निकट से, ईषते = भाग जाते हैं। यत् = जो, स्तनयन् = स्तनयित्नु शब्द करता हुआ, दुष्कृतः = दुष्कर्म करने वाले पापियों का, हन्ति = संहार करता है वह भगवान् पर्जन्य हमारे लिये वर्षा करें। इस मन्त्र में पर्जन्य की प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

विहन्ति वृक्षान्, विहन्ति च रक्षांसि, सर्वाणि चास्माद्भूतानि बिभ्यति महावधात्। महान् हि अस्य वधः। भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः पापकृतः।

पर्जन्यः वृक्षान् विहन्ति = मेघ अशनिपात के द्वारा वृक्षों को विनाश करते हैं। रक्षांसि च विहन्ति = और राक्षसों को भी नष्ट करते हैं। च = और, अस्माद् महावधात् = इस महावध

पर्जन्य से, सर्वाणि भूतजातानि = सभी प्राणीवर्ग, बिभ्यति = डरते हैं। हि = क्योंकि, अस्य = इस का, महान् वधः = महान् वध है। यह जिस को मारता है वह फिर ऊठ कर खड़ा होने नहीं पाता है। वर्ष कर्मवतः = वर्षारूप कर्म करने वाले पर्जन्य से, भीतः = डरता हुआ पुरुष, पलायते = भागता है। यत् = जो, पर्जन्यः = मेघ, स्तनयन् = गर्जना करता हुआ, दुष्कृतः = पाप कृतः = पापा कर्म करने वाले पापियों को, हन्ति = मारता है वह महानुभाव हमारे लिये बरषे।

६ – बृहस्पतिः।

बृहस्पति देवगुरु का नाम है। अर्थात् 'वर्द्धतेऽस्मिन् ऐश्वर्यादि, अथवा वर्द्धतेऽनेन समाश्रितः इति बृहत् महान्' इस विग्रह में 'बृहि वृद्धौ' धातु से 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से अति (अत्) प्रत्यय, बृन्ह में नुम् के नकार का लोप होने पर बृहत् शब्द बना है। महत् (बड़े) का नाम है। क्योंकि, महत् में ऐश्वर्य बढता है और महत् पुरुष के आश्रित पुरुष भी बढता है। 'पिबति पानं करोति इति पाति रक्षति इति वा पतिः' इस विग्रह में बाहुलकात् 'पा पाने' धातु से अथवा 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति (अति) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर पति शब्द बना है। पीने वाले का वा रक्षण करनेवाले का नाम है। क्योंकि, पति पान करता है और रक्षा भी करता है। 'बृहतां पतिः इति बृहस्पतिः' इस विग्रह में बृहत् शब्द का और पति शब्द का 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास, बृहत् पति, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' इस वार्तिक से पति को सुट् (स्) आगम और बृहत् के तकार का लोप होने पर बृहस्पति शब्द बना है। देवताओं के गुरु का नाम है। क्योंकि, वह पान भी करता है और आश्रितों की रक्षा भी करता है।

भाष्यकार निर्वचन करते हैं—

बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा।

बृहतः = बड़ी वस्तु सोमादि का, पाता = पान करने वाला, वा = अथवा, बृहतः = विस्तृत जगत् का, पालयिता = पालन करने वाला, बृहस्पतिः = बृहस्पति कहलाता है। देवताओं के गुरु बृहस्पति देवताओं की सर्व प्रकार से रक्षा करते हैं।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकादशः खण्डः॥ १०–११॥

तस्य = उस बृहस्पति का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥

ऋ. सं. ८–२–१७–८॥

इस ऋचा का आङ्गिरस ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और बृहस्पति देवता है। मन्त्रार्थ—दीने = शुष्क, उदनि = उदक (जल) में, क्षियन्तम् = निवास करने वाले, मत्स्यम् न = व्याकुलमत्स्य (मछली)के समान, बृहस्पतिः = बृहस्पति देवने, अश्ना = अश्मना = पत्थरों से व्याप्त शिला से, पिनद्धम् = ढका हुआ अर्थात् पर्वत के बीच में बद्ध, मधु = गाय रूप प्रिय अभीष्ट मधु को, पर्यपश्यत् = देखा और, वृक्षात् = वृक्ष से, चमसम् न = सोमपात्र चमस के समान अर्थात् जैसे बढई (बढ़ई) वृक्ष से काट कर सोमपात्र चमस निकालता है, बनाता है वैसे ही, तत् = उस गोरूप मधु को, विरवेण = विविध प्रकार के शब्दों से, विकृत्य = पत्थरों को काट कर, निःजभार = पर्वत से बाहर निकाला। पक्षान्तर में बृहस्पति ने पर्वत में छिपा हुआ मेघ को देखा और उस को काट कर उसमें से जल को बाहर निकाला।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

अशनवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यमिव दीन उदके निवसन्तं निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षात्। चमसः कस्मात् चमन्त्यस्मिन्निति। बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य।

अशनवता मेघेन = व्यापन वाले मेघ से, *अपिनद्धं मधु* = ढके हुए जल को, *दीने* = *उदके* = शुष्क जल में. निवसन्तम् = निवास करने वाले, मत्स्यम् इव = व्याकुल मत्स्य के समान, पर्यपश्यत् = देखा और, तत् = उस मधुरूप जल को, वृक्षात् = वृक्ष से, चमसम् इव = चमस के समान, निर्जहार = निकाला। प्रश्न—चमसः कस्मात् = चमस किस से बना है? अर्थात् किस धातु से कौन प्रत्यय करने पर चमस शब्द बना है?। उत्तर—'चमन्ति अस्मिन् इति चमसः' इस विग्रह में 'चमुअदने' धातु से 'अत्यविचमि०?' इत्यादि उणादि सूत्र से असच् (अस) प्रत्यय होने पर चमस शब्द बना है। सोमपान करने के पात्र का नाम है। क्योंकि, वहाँ सोम पिया जाता है। बृहस्पतिः = बृहस्पति देव ने, विरवेण = शब्देन = शब्द से, विकृत्य = मेघ को फाडकर (जल निकाला)।

७ – ब्रह्मणस्पतिः।

अन्न वा ऋगादि वेदों को जो वृष्टि द्वारा पालन करे उस माध्यमिक देव का नाम ब्रह्मणस्पति है। अर्थात् 'बर्हति वृद्धिं करोति इति ब्रह्म' इस विग्रह में 'बृह वृद्धौ' धातु से 'अन्येभ्योऽपिदृश्यन्ते' इस सूत्र से मनिन् (मन्) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु के ऋकार को र आदेश होने पर ब्रह्मन् शब्द बना है। अन्न (वा वेद) का नाम है। क्योंकि, अन्न शरीर की वृद्धि करता है। एवं 'पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह में 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति (अति) प्रत्यय, डित्वात् टि लोप होने पर पति शब्द बना है। रक्षण करने वाला अर्थ है। 'ब्रह्मणः पतिः इति ब्रह्मणस्पतिः' इस विग्रह में ब्रह्मन् और पति का 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास और 'विसर्जनीयस्य सः' इस सूत्र से षष्ठी के विसर्ग को सकार आदेश, होने पर 'ब्रह्मणस्पति' शब्द बना है। माध्यमिक देव का नाम है। क्योंकि, वह अन्न और ऋगादि वेदों को वर्षा द्वारा ओषधि निष्पादन करते हुए पालन करता है। वर्षा के अभाव में अन्न उत्पन्न नहीं हो सकते हैं एवं अन्न खाये बिना ब्राह्मण लोग वेद का उच्चारण नहीं कर सकते हैं। अतः माध्यमिक देव इन दोनों का पालक है।

यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा ।

ब्रह्मणः = अन्न वा ऋगादि वेदो का, पाता वा पालयिता वा = पालन करने वाला माध्यमिक देव ब्रह्मणस्पतिः = ब्रह्मणस्पति कहा जाता है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ।। १०–१२ ।।

तस्य = उस ब्रह्मणस्पति की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥

ऋ. सं. २–७–१–४ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, जगती छन्द और ब्रह्मणस्पति देवता है। मन्त्रार्थ— ब्रह्मणस्पतिः = वृष्टि द्वारा अन्न तथा ऋगादि वेदो का पालन करने वाला माध्यमिक देव ने, अश्मास्यम् = पत्थर के समान दृढतर मुख वाला, मधुधारम् = मधुर जल से पूर्ण, अवतम् = नीचे झुका हुआ, यम् = जिस मेघ का, ओजसा = बल से अभि अतृणम् = विदीर्ण किया था और, तम् एव = उसी मेघ का, विश्वे स्वर्दृशः = सभी आदित्य की रश्मियो ने, पपिरे = पान किया था। उत्सम् = सीचने वाले, उद्रिणम् = उदक वाले मेघ को, साकम् = साथ अर्थात् उसी क्षण, बहु = पान किया था उस से सहस्रो गुण अधिक, सिसिचुः = सिञ्चन करती हैं। सूर्य की किरणे उष्ण काल मे जल को खीच लेती है और वर्षा काल मे उस से सहस्रो गुण अधिक बरसा देती हैं। इस मन्त्र मे माध्यमिक देवता की स्तुति हैं।

इस का भाष्य—

अशनवन्तमास्यन्दनवन्तमवाततिं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभियमोजसा बलेनाभ्यतृणत् तमेव सर्वे पिबन्ति रश्मयः सूर्यदृशो बहुनं सह सिञ्चन्त्युत्समुद्रिणमुदकवन्तम् ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।। १०–१३ ।।

ब्रह्मणस्पतिः = मध्यम लोक के देव ने, अशनवन्तम् = आस्यन्दनवन्तम् = जल की व्यापन क्रिया से व्यापन वाले, अवाततम् = नीचे की ओर पृथिवी पर गिरे हुए, मधुरधारम् = मधुर

जल को धारण करने वाले, अभियम् = जिस मेघ को, ओजसा = बलेन = बल के द्वारा, अभ्यतृणत् = सम्मुख मारा था, तम् एव = उसी, सर्वे = सब, रश्मयः = सूर्यदृशः = सूर्य की रश्मियों ने, पिबन्ति = पान किया था, और वर्षा काल मे, सह = उसी क्षण, उद्रिणम् = उदक वन्तम् = जल वाले, उरसम् = मेघ को, सिञ्चन्ति = वे सींच देती हैं। सूर्य की रश्मियां उष्ण काल में जल को खींच लेती हैं और वर्षा काल में पुनः अतिअधिक रूप में बरसा देती हैं।

८ – क्षेत्रस्य पतिः ।

'क्षेत्रस्य पतिः' इस शब्द के तीन अर्थ हैं। रुद्र अग्नि और स्वतन्त्र क्षेत्र के पति माध्यमिक देव। 'क्षियति इति क्षेत्रम्' इस विग्रह में 'क्षि निवासगत्योः' धातु से 'गुधृवीपचिवचियमिमनि-तनिसदिक्षदिभ्यस्त्रन्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् त्रन् प्रत्यय (त्र) और गुण होने पर 'क्षेत्र' शब्द बना है। 'पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह मे 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति (अति) प्रत्यय, डित्वाद् टिलोप होने पर पति शब्द बना है। 'क्षेत्रस्य पतिः इति क्षेत्रस्य पतिः' इस विग्रह मे 'षष्ठी' इस सूत्र से क्षेत्र और पति का षष्ठीतत्पुरुष समास, छान्दसत्वात् ङस् का अलुक् और उस के स्थान मे स्य होने पर 'क्षेत्रस्य पतिः' शब्द बना है। माध्यमिक देव का नाम है।

यास्क निर्वचन करते हैं—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

क्षेत्रस्य पतिः। क्षेत्रं क्षियते र्निवासकर्मणस्तस्य पाता वा पालयिता वा।

निवासकर्मणः = निवासार्थक, क्षियतेः = क्षि धातु से पूर्वोक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् त्रन् (त्र) प्रत्यय और गुण होने पर, क्षेत्रम् = क्षेत्र शब्द बना है। निवासस्थान अर्थ है। तस्य = उसका (निवासस्थान का), पाता या पालयिता वा = पालन करने वाला माध्यमिक देव, क्षेत्रस्य पतिः = क्षेत्रस्य पति कहा जाता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्ड. ॥ १०–१४ ॥

तस्य = उस क्षेत्रस्य पति की, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चदश. खण्डः ।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥

ऋ सं. ३-८-३-१ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, अनुष्टुप छन्द और क्षेत्रस्य पति देवता है। मन्त्रार्थ—वयम् = हम यजमान लोग, सुहितेन = हितकारी, क्षेत्रस्य पतिना = क्षेत्रपति देव के साथ, जयामसि = जय करेंगे। वह देव हम लोगोंको, गाम् अश्वम् च = गोओं और अश्वों की, पोषयित्नु = पुष्टि करने वाला होता हुआ गो अश्व रूप धन को, आ हरतु = ले आवे और ला कर हमें देवे। सः = वह देव, नः = हम लोगों को, इदृशे = इस के दातव्य धन को दे कर हमें, मृळाति = सुखी करें। इस मन्त्र में क्षेत्रपति देव की स्तुति है।

इस का भाष्य—

क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामो गामश्वं पुष्टिं पोषयितृ चाहरेति। स नो मृळातीदृशे। बलेन वा धनेन वा। मृळतिर्दानकर्मा, पूजाकर्मा वा।

वयम् = हम यजमान लोग, क्षेत्रस्य पतिना = क्षेत्रपतिदेव के साथ, सुहितेन इव = अच्छा हितकारी मित्र के समान, जयामः = जीतेंगे। पोषयितृ = पोषण करने वाला यह देव, गाम् अश्वम् च = गाय और अश्व की, पुष्टिम् = पुष्टि करें और हमारे यहां, आहर = लावें। सः = वह देव, नः = हम लोगों को, इदृशे = इस प्रकार के दातव्य धन को देकर हमें, मृळाति = सुखी करें। अर्थात्, बलेन = बल से, वा = या, धनेन = धन से सुखी करें। दानकर्मा = दान अर्थक धातुका रूप, मृळतिः = मृळति है, वा = अथवा, पूजाकर्मा = पूजा अर्थक धातु का, मृळतिः = मृलति रूप है। 'मृळ सुखने' धातु से मृलति रूप बना है। मृळाति में छान्दस दीर्घ है।

तस्यैषाऽपरा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ।१०।१५॥

तस्य = उस क्षेत्रस्य पति की, एषा अपरा = यह दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य षोडशः खण्डः।

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥

ऋ. सं. ३-८-९-२॥

इस मन्त्र का भी वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और क्षेत्रपति देवता है। मन्त्रार्थ—क्षेत्रस्यपते = हे क्षेत्रपति देव!, धेनुः पयः इव = जिस प्रकार गाय दुग्ध दान करती है उसी प्रकार तुम, अस्मासु = हमारे लिये, मधुमन्तम् = माधुर्ययुक्त, मधुश्चुतम् = माधुर्यस्रावी, घृतम् इव सुपूतम् = घृत के समान सुन्दर निर्मल, ऊर्मिम् = प्रभूत जल, धुक्ष्व = दुह वा दे वा बरस। ऋतस्य पतयः = जल के स्वामी क्षेत्रपति देव, नः = हमें, मृळयन्तु = रक्षा करें वा सत्कार करें। इस मन्त्र में भी क्षेत्रस्य पति की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयोऽस्मासुधुक्ष्वेति । मधुश्चुतं घृतमिवोदकं सुपूतमृतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृळयन्तु । मृळयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा ।

क्षेत्रस्य पते = हे क्षेत्रपति देव !, धेनु पय इव = गाय जिस प्रकार दूध दान करती है उसी प्रकार तुम, अस्मासु = हमारे लिये, मधुमन्तम् = माधुर्ययुक्त, ऊर्मिम् = प्रभूत जल, धुक्ष्व = बरसाव । मधुश्चुतम् = माधुर्यस्रावी, घृतम् इव = घृत के समान, सुपूतम् = सुन्दर निर्मल, उदकम् = जल, बरसाओ । ऋतस्य = जल के, पातार वा = स्वामी वा, पालयितार वा = अधिष्ठाता क्षेत्रपतिदेव, न = हमे, मृळयन्तु = रक्षा करें वा सुख देवें । मृळयति = णिजन्त मृळ धातु उपदयाकर्मा = उपदया अर्थ मे, वा = अथवा, पूजाकर्मा = सत्कार अर्थ मे है ।

पुनरुक्ति दोष पर विचार—

तद्यत्समान्यामृचि समानाभिव्याहार भवति तज्जामि भवतीत्येकं "मधुमन्तं मधुश्चुतम्" इति यथा ।

तद् यद् = वहाँ । जो पद, समान्याम् ऋचि = एक ऋचा में समानाभिव्याहारम् = एक ही अर्थ को कहने वाला, भवति = होता है, तद् = वह पद, जामि = पुनरुक्त, भवति = होता है, इति = यह एकम् = एक मत है, यथा = जैसे-मधुमन्तम् = माधुर्ययुक्त, मधुश्चुतम् = मधुस्रावी, इति = यह पद है । इस ऋचा में एक ही अर्थ के ये दोनो पद हैं । अत इस में पुनरुक्ति दोष है ।

यदेव समाने पादे समानाभिव्याहार भवति तज्जामि भवतीत्यपरम् । "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" इति यथा ।

यद् एव = जो पद, समाने पादे = एक ही पाद मे, समानाभिव्याहारम् = एक ही अर्थ को कहने वाला, भवति = होता है, तद् = वह पद, जामि = पुनरुक्त भवति = होता है, इति = यह, अपरम् = दूसरा मत है, यथा = जैसे, हिरण्यरूप = जो हिरण्यरूप होता है, स = वह अवश्य, हिरण्यसदृक् = हिरण्य जैसा होता है, इति = यह वाक्य है ।

यथा कथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम् । "मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव" इति यथा ।

वेदा में, यथा कथा च = जिस किसी प्रकार से जो कुछ भी, विशेष = विशेष हो सर्वथा, अजामि = अपुनरुक्त, भवति = होती है । इति = यह, अपरम् = तीसरा सिद्धान्त मत है । यथा = जैसे, मण्डूका इव उदकाद् = मण्डूक जैसे जल से, मण्डूका उदकाद् इव = मण्डूक जल से जैसे, इति = यह वाक्य है ।

भाव यह है कि, 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' अर्थात् वेद मे जैसा देखा जाता हो वैसा ही शुद्ध मान लेना चाहिये। उन मे दोषदृष्टि नही करना चाहिये। इस अभियुक्त वाक्य से यह सिद्ध है कि, वेद सर्वथा निर्दोष है। इस मे पुनरुक्ति आदि कोई भो किसी प्रकार का दोष नही है। क्योंकि वाक्य मे भ्रम प्रमाद आदि दोषयुक्त वक्ता प्रयुक्त ही दोष आता है। वेद-वाक्य का वक्ता भ्रम प्रमाद आदि सकल दोष रहित ईश्वर है। अत. वेद मे पुनरुक्ति आदि कोई भी दोष नही है। ईश्वर उच्चरित वैदिक वाक्य मे तथा माता पिता गुरु आदि हित चिन्तक पुरुष उच्चरित लौकिक वाक्य मे पुनरुक्ति दोष नही लगता है। क्योंकि पुनरुक्ति दोष समझ कर दूसरी बार उपदेश न करें तो शिष्य पुत्रादि को बोध नही हो सकता है। इसी लिये भगवान् श्री शङ्कराचार्यने ईशावास्य उपनिषद् भाष्य मे कहा है कि, 'न मन्त्राणा जामिता अस्ति' अर्थात् मन्त्र मे आलस्य नही है। शिष्य को बोध होने के लिये एक ही अर्थ को वारबार बोध किया जाता है।

९ – वास्तोष्पतिः।

वास्तु नाम अन्तरिक्ष का है। उसका पति = स्वामी माध्यमिक देव रुद्र का नाम वास्तोष्पति है। अर्थात् 'वसति अस्मिन् इति वास्तु अन्तरिक्षम्' इस विग्रह में 'वस निवासे' धातु से 'वसेस्तुन्' इस के अधिकार मे 'आगारेणिच्च' इस उणादि सूत्र से अधिकरण मे तुन् (तु) प्रत्यय णित्, णित्वात् वृद्धि, होने पर वास्तु शब्द बना है। 'पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह मे, 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस सूत्र से डति (अति) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर पति शब्द बना है। 'वास्तोः पतिः वास्तोष्पति.' इस विग्रह मे वास्तु शब्द और पति शब्द का 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास, छान्दसत्वात् षष्ठी का अलुक्, 'षष्ठ्याः पतिपुत्र' इत्यादि सूत्र से षष्ठी के विसर्ग को सकार आदेश और षत्व होने पर 'वास्तोष्पति' शब्द बना है। माध्यमिक देवता रुद्र का नाम है। क्योंकि, वह अन्तरिक्ष का पालन करता है।

यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

वास्तोष्पतिः—वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः। तस्य पाता वा पालयिता वा।

निवासकर्मणः = निवासार्थक, वसतेः = 'वस निवासे' धातु से, वास्तुः = वास्तु शब्द बना है और, तस्य = उसका, पाता = पालन करने वाला, वा = अथवा, पालयिता = अधिष्ठाता, वास्तोष्पतिः = वास्तोष्पति कहा जाता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य षोडशः खण्डः। १०-१६ ॥

तस्य = उस वास्तोष्पति की, एषा = यह अग्रिम ऋचा भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तदशः खण्ड।

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः॥ ऋ. सं. ५-४-२२-१ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, गायत्री छन्द और वास्तोष्पति देवता है। मन्त्रार्थ—वास्तोष्पते हे वास्तोष्पति माध्यमिक रुद्र देव! तुम, अमीवहा = रोगनाशक हो। विश्वा = सर्व प्रकार के, रूपाणि = रूपों मे, आविशन् = प्रवेश करते हुए, नः = हमारे, सखा = सखा और, सुशेव. = सुखकर, एधि = बनो। इस मन्त्र मे वास्तोष्पति देव की स्तुति की गई है।

इस का भाष्य—

अभ्यमनहा वास्तोष्पते। सर्वाणि रूपाण्याविशन् सखा नः सुसुखो भव।

वास्तोष्पते = हे वास्तोष्पति देव! तुम, हमारे, अभ्यमनहा = रोगों का नाश करने वाला होओ। सर्वाणि रूपाणि = सर्व रूपो मे, आविशन् = प्रवेश करता हुआ, न = हमारा, सखा = मित्र और, सुसुख. = सुन्दर सुख देने वाला, भव = होओ।

उक्त मन्त्र मे 'शेव' शब्द आया है। उस का निर्वचन करते हैं—

शेव इति सुखनाम। शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः। शिवमित्यप्यस्य भवति।

शेवः इति = 'शेव' यह, सुखनाम = सुख का नाम है। शिष्यते = नैरुक्त दिवादि सुखार्थक 'शिष्' धातु से अथवा दिवादि आकृतिगण होने से दिवादि सुखार्थक 'शिष्' धातु से, वकारो नामकरण. = सज्ञाबोधक वकार प्रत्यय, वह, अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी = धातु के अन्त मे रहने वाला षकार के भीतर गमन करने वाला = षकार का लोप करने वाला और, विभाषितगुण. = विकल्प से गुण करने वाला होता है। जिस से 'शेव' यह रूप बना है और, गुणाभाव पक्ष में, शिवम् = शिव, इति अपि = यह भी, अस्य = इस का रूप, भवति = होता है। अर्थात् "शिष्यति सुखं ददाति इति शेव." इस विग्रह मे सुखार्थक उक्त शिष् धातु से पृषोदरादित्वात् व प्रत्यय, धातु के अन्त्यषकार लोप और विकल्प गुण होने पर 'शेव' गुणाभाव पक्ष मे 'शिव' रूप बना है।

'विश्वा रूपाणि आविशन्' यह जो मन्त्र मे कहा गया है। इस विषय मे इस का सामर्थ्य दिखाते हैं—

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति। "रूपंरूपं मघवा बोभवीति" इत्यपि निगमो भवति।

देवताः = देवता लोग, यद् यद् रूपम् = जिस जिस रूप को, कामयते = कामना (इच्छा) करते हैं, तद् तद् = वही वही, भवति = हो जाते हैं। अतः वास्तोष्पति देव भी सर्व रूपों में प्रवेश कर सकते हैं। देवता के ऐश्वर्य स्थापक निगम दिखाते हैं—मघवा = इन्द्रदेव, रूपम् रूपम् = सर्व प्रकार के रूप, बोभवीति = पुन पुन. वा अतिशय से होता है, इति अपि = यह भी, निगम. = वेद मन्त्र प्रमाण, भवति = है। अर्थात् देवता लोग सर्व प्रकार के रूप को जब चाहे तब धारण कर सकते हैं।

सम्पूर्ण मन्त्र —

रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं१परि स्वाम् ।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥

ऋ सं. ३-३-२०-८ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—मघवा = धनवान् इन्द्र, रूपम् रूपम् = जिस जिस रूप की कामना करते हैं उस रूप के, बोभवीति = हो जाते हैं। मायाः = मायवी इन्द्र, स्वाम् तन्वम् परि = अपने शरीर से नानाविध शरीर का, कृण्वानः = निर्माण करते हुए, स्वैः मन्त्रैः = अपने स्तुति रूप मन्त्रों से आहूत होते हुए वे, ऋतावा = ऋतवान् हो कर भी, अनृतुपा = अऋतु मे सोमपान करते हैं। इन्द्र, दिव परि = स्वर्ग लोक से मुहूर्तम् = एक मुहूर्त मे, भिन्न भिन्न देश मे होने वाले यज्ञो के, त्रिः = तीनो सवनो में, आगात् = गमन करते हैं। आ जाते हैं।

१० — वाचस्पतिः ।

वाचस्पति वाणी के स्वामी का नाम है। जो प्राणरूप से इन्द्र है। अर्थात् 'उच्यते इति वाक्' इस विग्रह मे 'वच परिभाषणे' धातु से, 'क्विब्वचि' इत्यादि वार्तिक से क्विप् (०) प्रत्यय, दीर्घ और असम्प्रसारण होने पर वाच् शब्द बना है। वाणी का नाम है। क्योकि वाणी बोली जाती है। 'पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह मे 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति (अति) प्रत्यय, डित्वात् टि लोप होने पर पति शब्द बना है। 'वाचः पति इति वाचस्पतिः' इस विग्रह मे वाच् शब्द और पति शब्द का 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास, 'षष्ठ्याः पतिपुत्र' इत्यादि सूत्र से सत्व विधान सामर्थ्य से सुप् अलुक्, विसर्ग तथा सत्व होने पर 'वाचस्पति' शब्द बना है। वाणी का पति प्राणात्मना इन्द्र अर्थ है।

यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

वाचस्पतिः—वाचः पाता वा पालयिता वा ।

वाचः = वाणी का, पाता = पालन करने वाला, वा = अथवा, पालयिता = वाणी का अधिष्ठाता, वाचस्पतिः = वाचस्पति कहा जाता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तदश खण्डः । १०-१७ ॥

तस्य = उस वाचस्पति का, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वास्तोष्पते निरामय मय्येव तन्वं१मम ॥ अ. सं. १-१-२ ॥

मन्त्रार्थ—वाचस्पते = हे वाणी के स्वामी वाचस्पति देव ! तुम, देवेन = सब इन्द्रिय वृत्तियों को प्रकाश करने वाले, मनसा सह = मन के साथ पुन = फिर एक बार, एहि = आओ। और आकर, वास्तोष्पते = हे अन्नधनपते !, मय्येव = मुझ मे ही, निरामय = निरन्तर नियम से रमण करो।

यास्क कहते हैं—

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = अपने पाठमात्र (उच्चारणमात्र) से ही व्याख्यात है। सुलभ होने से व्याख्या करने की आवश्यकता नही।

११ – अपान्नपात् ।

अपान्नपात् मध्यमस्थान देवता का नाम है। इस पर यास्क कहते हैं—

अपान्नपात् तनूनप्त्रा व्याख्यातः ।

तनूनप्त्रा = तनूनप्तृ शब्द से, अपान्नपात् = अपान्नपात् शब्द भी व्याख्यात हो चुका है। इस प्रकार का निर्वचन शब्द निर्वचन कहा जाता है। अर्थात् जैसे तनूनप्तृ शब्द का निर्वचन किया गया है वैसे ही अपान्नपात् शब्द का भी निर्वचन कर लेना चाहिये। ऐसा जो निर्वचन वह शब्द निर्वचन कहा जाता है। तनूनपात् का निर्वचन अष्टम अध्याय षष्ठ खण्ड मे किया गया है। वही देखना चाहिये। वहाँ जैसे प्रथम गाय, दूसरा दूध और तीसरा आज्य (घृत) है। अत गाय का पौत्र स्थानापन्न आज्य है वैसे ही यहाँ जल से आदित्य और आदित्य से मध्यमदेव उत्पन्न होता है। अत प्रथम जल, द्वितीय आदित्य और तृतीय मध्यम देव। अत मध्यमदेव जल का पौत्र है। यह शब्दकी व्याख्या है। अर्थ से यह मध्यम देव है। अर्थात्—

'न पातयति पतति वा पिता अनेन इति नपात् अपत्यम्' इस विग्रह मे नञ उपपद ण्यन्त 'पत्लृ पतने' धातु से 'क्विप्‌च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसो' इस वार्तिक से णिलोप, 'नभ्राण्नपात्' इत्यादि सूत्र से नञ का प्रकृतिभाव (नलोपाभाव) होने पर 'नपात्' शब्द बना है। अपत्य का नाम है। क्योंकि, इस से पूर्वजोंका स्वर्ग से पतन नही होता है। यहा पौत्र रूप अपत्य का ग्रहण है। 'अपा नपात् इति अपान्नपात्' इस विग्रह में 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास, छान्दसत्वात् षष्ठी का अलुक मकार का अनुस्वार परसवर्ण होने पर अपान्नपात् शब्द बना है। अप् = जल का पौत्र अर्थ है। प्रथम जल द्वितीय जल का पुत्र आदित्य और तृतीय आदित्य का पुत्र एव जल का पौत्र मध्यमस्थान देव।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टादश खण्ड । १०-१८ ।।

तस्य = उस अपान्नपादकी, एषा = यह ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।

यो अ॑निध्मो दीद॑यद॒प्स्व१॒न्तर्यं विप्रा॑स ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑ ।
अ॒पां नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑य ॥

ऋ. सं. ७-७-२४-४ ॥

इस मन्त्र का ईळूष-पुत्र कवष ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अपान्नपात् देवता है। मन्त्रार्थ— यः = जो अपान्नपात् माध्यमिक देव, अप्स्वन्तः = जल के भीतर मेघस्थान में, अनिध्मः = काष्ठवर्जित होता हुआ भी, दीदयत् = प्रकाश करता है। विप्रासः = मेधावी ऋत्विक् लोग और यजमान लोग, अध्वरेषु = यज्ञों मे, यम् = जिस की, ईलते = स्तुति करते हैं। अपाम् नपात् = हे जल का पौत्र माध्यमिक देव ! तुम, मधुमतीः = मधुर रस युक्त, अपः = वृष्टिरूप जल, दाः = हमें दो। याभिः = जिन से, इन्द्रः = इन्द्र, वीर्याय = पराक्रम प्राप्त करने के लिये, ववृधे = बढ़े। अर्थात् ऐसा जल दो कि, जिस सोममिश्रित जल को पान करके इन्द्र वृत्रादिवध करने में समर्थ बने।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

योऽनिध्मोदीदयद्दीप्यसेऽभ्यन्तरमप्सु यं मेधाविनः स्तुवन्ति। यज्ञेषु सोऽपान्नपान्मधुमतीरपो देह्यभिषवाय। याभिरिन्द्रो वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे।

यः = जो तुम माध्यमिक देव, अनिध्मः = काष्ठ रहित होता हुआ भी, अप्सु अभ्यन्तरम् = जल के भीतर, दीदयत् = दीप्य से = प्रकाश करता है। यम् = जिस की, मेधाविनः = मेधावी ऋत्विक् और यजमान लोग यज्ञेषु = यज्ञों में, स्तुवन्ति स्तुति करते हैं। सः = वह, अपान्नपात् = माध्यमिक देव, अभिषवाय = सोम निचोडने के लिये, मधुमतीः = मधुर रस युक्त, अपः = वृष्टिरूप जल, देहि = हमें दो। याभिः = जिन के द्वारा, इन्द्रः = इन्द्र, वीर्याय = वीरकर्मणे = वृत्रादिवध रूप वीर कर्म करने के लिये, वर्धते = वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

१२ — यमः

यम माध्यमिक देव यमराज का नाम है। यास्क निर्वचन करते हैं—

यमो यच्छतीति सतः।

यच्छति इति सतः = 'यम उपरमे' इस धातु से, यमः = यम शब्द बना है। अर्थात् 'यच्छति उपरमयति जीवितात् सर्वं भूतग्रामम् इति यमः' इस विग्रह मे, 'यम उपरमे' धातु से पचाद्यच् होने पर यम शब्द बना है। माध्यमिक देव यमराज का नाम है। क्योंकि, यमराज सर्व प्राणियों को जीवन से उपराम (निवृत्त) करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः। १०-१९ ॥

तस्य = उस यम की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य विंश खण्ड ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥

ऋ स ७-६-१४-१ ॥

इस मन्त्र का विवस्वत् के पुत्र यम ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और यम देवता है। मन्त्रार्थ—हे यजमान !, प्रवत = उत्तम कर्म करने वालो को मही = उत्तम भूमि मे, परेयिवासम् = प्राप्त करने वाले, अनु = बाद, बहुभ्य = बहुतो के लिये, पन्थाम् = मार्ग, अनुपस्पशानम् = दिखाने वाले, वैवस्वतम् = सूर्य के पुत्र, जनानाम् सगमनम् = मनुष्यो के एक स्थान पर ले जाने का आश्रय, यमम् राजानम् = यमराजा की, हविषा = हवि के द्वारा, दुवस्य = पूजा करो। भाष्य—

परेयिवासं पर्यागतवन्तं प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पाशयमानं, वैवस्वतं संगमनं जनाना यमं राजानं हविषा दुवस्येति। दुवस्यती राध्नोतिकर्मा।

प्रवत = उत्तम कर्म उपासन करने वालो को, उद्वत = उत्तम यज्ञादि कर्म करने वालों को और, निवत = नीच कर्म करने वालो को क्रमश उत्तरायण दक्षिणायन मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक और नीच योनिरूप मही भूमियो मे, परेयिवासम् = पर्यागतवन्तम् = प्राप्त कराने वाले इति = इत्यर्थ । अवति = अव धातु गतिकर्मा = गत्यर्थक है। जिस से प्रवत् शब्द बना है। 'प्रकृष्ट अवति गच्छति इति प्रवत् तान् प्रवत ' इस विग्रह मे प्र पूर्वक अव् धातु से लट् शतृ (अत्) प्रत्यय, छान्दसत्वात् अव के अकार का लोप होने पर प्र व् अत् प्रवत् द्वितीया बहुवचन मे प्रवत रूप बना है। प्रवत् शब्द तीना भूमियो का उपलक्षण है। इसी लिये यास्क ने प्रवत का अर्थ 'प्रवत ' 'उद्वत ' और 'निवत ' किया है। 'प्रवत ' से ब्रह्म लोक, 'उद्वत ' से स्वर्ग लोक और 'निवत ' से नीचयोनि रूप लोक लिया गया है। यमराज उपासक योगियो को देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक, कर्मियो को पितृयाण मार्ग से स्वग लोक और नीच कर्म करने वालों को नीच योनि मे ले जाने वाले हैं। बहुभ्य पन्थानम् अनुपस्पाशयमानम् = सूर्य पुत्र, जनानां सगमनम् = मनुष्यो को एक स्थान पर ले जान का एक आश्रय, यमम् राजानम् = यमराज को, हविषा = पुरोडाशादिहवि द्वारा, दुवस्य = पूजा करो। इस मन्त्र मे, दुवस्यती = दुवस् धातु, राध्नोतिकर्मा = ससिद्धि अर्थक है। (कण्वादि)।

यम शब्द का दूसरा अर्थ बताते हैं—

अग्निरपि यम उच्यते। तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य विंश खण्ड ॥ १०-२० ॥

अग्निः अपि = अग्नि भी, यमः = यम, उच्यते = कहा जाता है । तम् = उस यम अग्नि को, एताः ऋचः = ये ऋचायें, अनुप्रवदन्ति = अनुप्रवचन करती है = स्तुति करती हैं—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेष प्रतीका ॥ ७ ॥

यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥ ८ ॥

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम् ॥ ९ ॥

इन मन्त्रों का पराशर ऋषि, द्विपदा विराट् छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—सृष्टा = प्रेरित यह अग्नि, सेना इव = सेना के समान शत्रुओं को, अमम् = भय, दधाति = उत्पन्न करता है। अस्तुः = फेंकने वाले, दिद्युत् = आयुध के, न = समान, त्वेषप्रतीका = शत्रुओं के लिये भयप्रतीक अर्थात् भयरूप है। जातः = संसार में आज तक जो कुछ उत्पन्न हुआ और जनित्वम् = उत्पन्न होने वाला है यह सब, यमः = अग्नि ही है। वह अग्नि, कनीनाम् = कन्याओं का, जारः = जरयिता अर्थात् कन्याभाव को मिटा कर भार्याभाव लाने वाला है। वह अग्नि, जनीनाम् = जाया-भाव को प्राप्त स्त्रियों का, पतिः = पालन करने वाला है। तम् = उस, इद्धम् = प्रज्वलित अग्नि को, वयम् = हम लोग, चराथा = चलने वाले जङ्गम पशुरूप आहुतियों से तथा, वसत्याः = न चलने वाले ओषधरूप स्थावर आहुतियों से, न = जैसे, गावः = गायें अस्तम् = घर में प्राप्त होती हैं वैसे ही, नक्षन्ते = प्राप्त करेंगे।

इन तीनों मन्त्रों का भाष्य—

इति द्विपदाः। सेनेव सृष्टाभयं वा बलं वा, दधात्यस्तुरिव-दिद्युत्त्वेषप्रतीका = भयप्रतीका, बलप्रतीका, यशःप्रतीका, महाप्रतीका, दीप्तप्रतीका वा।

इति = उक्त तीनों ऋचायें, द्विपदा = दो पादवाली विराट हैं। सृष्टा = प्रेरित अग्नि, सेना इव = सेना के समान, शत्रुओं का, भयम् वा = भय, वा = अथवा, भक्त को बलम् = बल, दधाति = धारण करता है। अस्तुः दिद्युत् इव = फेंकने वाले आयुध के समान, त्वेषप्रतीका = भयप्रतीका = शत्रुओंके लिये भयप्रतीक (भयरूप), भक्तों के लिये, बलप्रतीका = बलप्रतीक, महाप्रतीका = महद्रूप, यशःप्रतीका = यशरूप, वा = अथवा, दीप्तप्रतीका = प्रकाश रूप है। यम नियमन करने से और 'अग्नि इन्द्र' के साथ यमल उत्पन्न होने से यम कहे जाते हैं।

दो बालक एक साथ उत्पन्न होवे तो उनको यम कहते हैं। इन्द्र और अग्नि सूर्य से एक साथ उत्पन्न हुए हैं। अतः अग्नि यम है यह पूर्व कहा गया है। उस में ब्राह्मण वाक्य प्रमाण देते हैं—

"यमो ह जात इन्द्रेण सहसङ्गतः ।"

ह = पुरानी कथा है कि, इन्द्रेण सह = इन्द्र के साथ, सङ्गतः = मिल कर, यमः = अग्नि, जातः = उत्पन्न हुआ है । इस ब्राह्मण वचन से यह सिद्ध है कि, यम का अर्थ पार्थिव अग्नि है और वह इन्द्र के साथ ही उत्पन्न हुआ है ।

इसी अर्थ मे ब्राह्मण वचन प्रमाण दे कर अब मन्त्र प्रमाण देते हैं—

"यमाविहेह मातरा" इत्यपि निगमो भवति ।

इन्द्र और अग्नि ये दोनों सूर्य के पुत्र है । एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं । इस लिये यम कहे जाते है । यमौ = एक पितृक एक जन्मी इन्द्र और अग्नि दनों भ्राता, उनमे से इह = एक इन्द्र अन्तरिक्ष लोक का और, इह = दूसरा अग्नि पृथिवी लोक का, मातरा = निर्माता हैं । इति अपि = यह भी, निगमः = वेद मन्त्र उक्तार्थ मे प्रमाण, भवति = है । सम्पूर्ण मन्त्र—

बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ ।
समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा ॥

ऋ. सं. ४-८-२५-२ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज ऋषि, बृहती छन्द और इन्द्र तथा अग्नि दोनो देवता हैं । मन्त्रार्थ— हे इन्द्र ! और हे अग्ने !, वाम् = तुम लोगों का जो, महिमा = जन्म माहात्म्य, इत्था = इस प्रकार प्रतिपादित है वह, वट् = यथार्थ ही और पनिष्ठ आ = अतीव प्रशस्य ही है । वाम् = तुम दोनों का, समानः = एक ही, जनिता = पिता है । अतः, युवम् = तुम दोनों, यमौ = यमल = सहोत्पन्न, भ्रातरा = भ्राता हो । तुम दोनों में से एक जो इन्द्र है वह, इह = इस अन्तरिक्ष लोक का और, दूसरा जो अग्नि है वह, इह = इस पृथिवी लोक का, मातरा = निर्माता है ।

द्वितीया द्विपदा का भाष्य—

यम एव जातो यमो जनिष्यमाणो, जारः कनीनां—जरयिता कन्यानां पतिर्जनीनां पालयिता जायानां, तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति ।

जातः = संसार में जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब, यमः एव = अग्नि ही है और जो कुछ, जनिष्यमाणः = उत्पन्न होने वाला है वह सब भी, यम एव = अग्नि ही है । कनीनाम् = कन्यानाम् = कन्याओं का, जारः = जरयिता = कन्यात्व को मिटा कर भार्यात्व लाने वाला अग्नि है । जनीनाम् = जायानाम् = जायात्व प्राप्त स्त्रियों का, पतिः = पालयिता = पालन करने वाला अग्नि है । हि = क्योंकि, स्त्रियाँ विवाह के बाद, यज्ञसंयोगेन = यज्ञ के साथ संयोग के द्वारा, तत्प्रधानाः = अग्निप्रधाना =

अग्नि के अधीन होती है। स्त्रियों को अग्नि के द्वारा पति के साथ यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त होता है। विशेष रूप से स्त्रियाँ गृह मे अग्नि की रक्षा करने के लिये अग्नि की सेवा मे तत्पर रहती है। स्त्री का जो कुछ सुकृत कर्म होता है सब अग्नि अधीन होता है। अत स्त्री का पति अग्नि है। स्त्री अग्निपरतन्त्र है।

इसी अर्थ को प्रतिपादन करने वाली दूसरी ऋचा दिखाते है—

"तृतीयो अग्निष्टे पतिः" इत्यपि निगमो भवति।

ते = तेरा, तृतीय = तीसरा, पति = पालक पति, अग्नि = अग्नि है। इति अपि = यह भी, निगम = मन्त्र, भवति = है। सम्पूर्ण मन्त्र—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ऋ स ८-३-२७-४०॥

इस मन्त्र का सूर्या ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और सूर्या ही देवता भी है। मन्त्रार्थ विवाह काल मे आशीर्वाद देते समय पिता कन्या से कहता है कि, हे कन्ये! उत्पन्न होते ही तुझे, प्रथम = सर्व प्रथम सोम = सोमने, विविदे = प्राप्त किया। अर्थात् पहला पति तेरा सोम हुआ। उत्तर = उसके आगे दूसरे, गन्धर्व = गन्धर्व ने तुझे, विविदे = प्राप्त किया। अर्थात् दूसरा पति तेरा गन्धर्व हुआ। तृतीय = तीसरा, अग्नि = अग्नि, ते = तेरा, पति = पति हुआ और, तुरीय = चौथा, ते = तेरा, पति = पति, मनुष्यजा = मनुष्यवंशज हुआ। प्रथम के तीन सोम, गन्धव और अग्नि रक्षक रूप पति और अन्त के चौथा मनुष्यज जिस के साथ विवाह हुआ वह भर्ता रूप पति समझना चाहिये। इस विषय को समझे विना आज लोग व्यर्थ कलह करते हैं। इस मन्त्र मे कन्या का तीसरा रक्षक अग्नि कहा गया है। जो जार अर्थात् कन्याभाव को जीर्ण करने वाला है। भाव यह है कि, अग्नि को साक्षी रख वर कन्या का विवाह होने के पश्चात् कन्या कन्या नहीं किन्तु भार्या हो जाती है। यही अग्नि का कन्याभाव को जीर्ण करना है।

तृतीया द्विपदा ऋचा का भाष्य—

तं वश्चराथा चरन्त्या पशुहुत्या वसत्या च निवसन्त्यौषधाहुत्याऽस्तं यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयामेद्धं समिद्धं भोगैः।

तम् व = उस तुम अग्नि को हम, चराथा = चरन्त्या = चलने वाले जङ्गम, पश्वाहुत्या = पशु रूप आहुति से, च = और, वसत्या = निवसन्त्या = औषधाहुत्या = न चलने वाले औषध रूप स्थावर आहुतियो से, यथा = जैसे, गावः = गायें, अस्तम् = घर मे, आप्नुवन्ति = प्राप्त होती हैं, तथा = वैसे ही, भोगै = भोगो से, इद्धम् = समिद्धम् = प्रज्वलित अग्नि, आप्नुयाम् = प्राप्त करेंगे।

१३ – मित्रः।

मित्र शब्द का माध्यमिक देव सूर्य अर्थ है। इस का निर्वचन यास्क करते हैं—

मित्रः—प्रमीतेस्त्रायते। संमिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा।

प्रमीतेः = मरण से वर्षा द्वारा सर्व लोकों को जो, त्रायते = पालन करे वह, मित्रः—मित्र अर्थात् सूर्य कहा जाता है। अर्थात् 'प्रकर्षेण मीयते इति प्रमीतिः' इस विग्रह मे प्र पूर्वक 'मीन् हिंसायाम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र से भाव मे क्तिन् (ति) प्रत्यय होने पर प्रमति शब्द बना है। मरण अर्थ है। 'प्रमीतेः मरणात् त्रायते इति मित्रः' इस विग्रह में प्रमीति उपपद 'त्रैङ् पालने' धातु से 'सुपि स्थः' इस सूत्र मे 'सपि' इस प्रकार योगविभाग करने से क (अ) प्रत्यय, प्रमीति त्रा अ, 'आतोलोप इटि च' इस सूत्र से आ लोप, प्रमीति त्र् अ, पृषोदरादित्वात् प्रमीति के स्थान मे मि आदेश होने पर 'मित्र' शब्द बना है। सूर्य का नाम है। क्योंकि, सूर्य प्राणी की मरण से रक्षा करता है। अथवा वायु का नाम है। क्योंकि, वायु माध्यमिक देवता है और प्राण रूप से सब को रक्षा करता है।

वा = अथवा, संमिन्वानः = अच्छी तरह जल को फेंकते हुए, द्रवति = अन्तरिक्षलोके गच्छति = अन्तरिक्षलोक मे गमन करता है, इति = इस लिये, मित्रः = मित्र कहा जाता है। अर्थात् 'सम्यक् मिन्वानः वृष्टि सतत प्रक्षिपन् अन्तरिक्षे द्रवति इति मित्रः' इस विग्रह मे सम् पूर्वक 'डुमिञ् प्रक्षेपने' धातु से लट्, लट् के स्थान मे चानश् (आन), सम् मि नु आन, म् को अनुस्वार, उ को यण् वकार, समिन्वाना संमिन्वान उपपद 'द्रु गतौ' धातु से ड (अ) प्रत्यय, डित्वात् टि लोप, समिन्वान द्र, पृषोदरादित्वात् समिन्वान के स्थान मे मि आदेश और द्र के स्थान मे त्र आदेश होने पर मित्र शब्द बना है। माध्यमिक देवता का नाम है। क्योंकि वह भली भांति जल को फेंकते हुए आकाश में दौड़ता है।

वा = अथवा, मेदयतेः = अन्तर्भावित ण्यर्थक मिद धातु से, मित्रः = मित्र शब्द बना है। अर्थात् 'मेदते सर्वं उदकेन स्नेहयति इति मित्रः' इस विग्रह मे 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से 'अमिचिमि मिदिशसिभ्यः क्त्रः' इस उणादि सूत्र से क्त्र (त्र) प्रत्यय, कित्वात् गुणाभाव होने पर मित्र शब्द बना है। माध्यमिक देवता का नाम है। क्योंकि वह जल वृष्टि के द्वारा सभी पदार्थ को स्निग्ध करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥ १०-२१ ॥

तस्य = उस मित्र की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥

ऋ सं. ३-४-५-१ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और मित्र देवता है। मन्त्रार्थ—ब्रुवाण: = शब्द करते हुए या स्तुत होते हुए, मित्र = माध्यमिक देवता मित्र, जनान् = सब लोगो को यातयति = कृष्यादि कार्य मे प्रवर्तित करते है। मित्र - मित्र देव ही, पृथिवीम् उत द्याम् = पृथिवी लोक और द्युलोक को दाधार = धारण करते है। मित्र = मित्र देव ही, अनिमिषा = अनुग्रह दृष्टि से, कृष्टी = कर्मवान् मनुष्यो को, अभिचष्टे = चारो ओर से देखते हैं। मित्राय = मित्रदेव के लिये घृतवत् = घृतयुक्त, हव्यम् = पुरोडाशादि हव्य जुहोत = प्रदान करो, होम करो। इस मन्त्र मे मित्र की स्तुति है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

मित्रो जनान्यातयति, प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन् मित्र एव धारयति पृथिवीं च दिवं च, मित्रः कृष्टीरनिमिषन्नभिविपश्यतीति ।

मित्र = मित्र देव, प्रब्रुवाण = शब्द कुर्वन् = शब्द करते हुए, जनान् = मनुष्यो को, यातयति = कार्य मे लगाते है। मित्र एव = मित्र ही, पृथिवीम् च दिवम् च = पृथिवी लोक और द्युलोक को, धारयति = धारण करते हैं। मित्र मित्र ही, कृष्टी = कर्म वाले मनुष्यो को, अनिमिषन् = दया दृष्टि से, अभिविपश्यति = चारो तरफ से देखते है।

मन्त्रगत कृष्टि शब्द का निर्वचन करते है—

कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति, विकृष्टदेहा वा ।

कृष्टय: इति = कृष्टि यह, मनुष्यनाम = मनुष्य का नाम है। क्योकि, वे = कर्मवन्त = कर्मवाले, भवन्ति = होते हैं। वा = अथवा, विकृष्टदेहा = इच्छानुसार फैलने वाले देहवान् होते हैं। पशु आदि अन्य प्राणी संसृष्ट देह वाले अर्थात् जुडे हुए देह वाले होते हैं। अर्थात् 'अकारि इति कृष्टम् कर्म' इस विग्रह मे करणार्थक 'कृष विलेखने' धातु से 'निष्ठा' इस सूत्र से क्त (त) प्रत्यय, कित्वात् गुणाभाव और ष्टुत्व होने पर कृष्ट शब्द बना है। कर्म का नाम है। 'कृष्टमस्यास्तीति कृष्टि:' इस विग्रह मे, 'मत्वर्थ मासतन्वो' इस सूत्र के 'लुगकारेकार-रेफाश्चेति वाच्यम्' इस वार्तिक से मत्वर्थीय इ प्रत्यय, 'यस्येति च' इस सूत्र से अकार लोप होने पर कृष्टि शब्द बना है। 'कृष्टय:' यह जस् का रूप है। कर्मवाले मनुष्य का नाम है। अथवा शुद्ध भी कृष् धातु विपूर्व के अर्थ मे है। उस से 'अकारि इति कृष्ट' इस विग्रह मे 'निष्ठा' इस सूत्र से कर्म म क्त (त) प्रत्यय और ष्टुत्व होने पर 'कृष्ट' शब्द बना है। विविध कृष्ट

अर्थात् विस्तारित अङ्गवाला शरीर अर्थ है। 'कृष्टोऽस्यास्ति इति कृष्टिः' इस विग्रह में कृष्ट शब्द से पूर्ववत् मत्वर्थीय इ प्रत्यय होने पर कृष्टि शब्द बना है। 'कृष्टय' जस् का रूप है। मन्त्र में 'कृष्टी' यह शस् का रूप है। इधर उधर अङ्गों को फैला सके ऐसे शरीर वाला मनुष्य अर्थ है।

मन्त्र के चौथे पाद का व्याख्यान करते है—

"मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत" इति व्याख्यातम्। जुहोतिर्दानकर्मा।

मित्राय = मित्र देव के, घृतवत् = घृतसंयुक्त, हव्यम् = हव्य द्रव्य का, जुहोत = होम करो। इति = यह, व्याख्यातम् = व्याख्यात है अर्थात् इसकी व्याख्या पूर्व को जा चुकी है। जुहोतिः = हु धातु, दान कर्मा = दानार्थ है। अर्थात् 'हु दानादनयो' इस धातु से लोट्, ति, द्वित्व, अभ्यास कार्य, गुण, जुहोति, छान्दस ति को त आदेश होने पर 'जुहोत' रूप बना है।

१४ – कः।

मध्यम देव प्रजापति का नाम क है। यास्क निर्वचन करते है—

कः कमनो वा क्रमणो वा। सुखो वा।

कमनः = कामियों के काम्य अर्थों में साधन, वा = अथवा, क्रमण = क्रमण मे साधन, कः = क कहा जाता है। वा = अथवा, सुखः = सुखस्वरूप, क = क कहा जाता है। 'कामयते इति कः' इस विग्रह में 'कमु कान्तौ' धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से ड (अ) प्रत्यय, डित्वात् टि लोप होने पर 'क' शब्द बना है। 'प्रजापतिरकामयत' इस श्रुति से प्रजापति बहुकाम वाला होने से प्रजापति का नाम 'क' है।

अथवा 'क्रामति इति कः' इस विग्रह में 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से ड (अ) प्रत्यय, डित्वात् टि लोप और बाहुलकात् क्रम् के रेफ का लोप होने पर क शब्द बना है। प्रजापति का नाम है। क्योंकि, प्रजापति समस्त ससार मे सङ्क्रमण करता है।

अथवा, 'क' सुख का नाम है। 'कम् सुखम् अस्यास्ति इति कः प्रजापतिः' इस विग्रह मे क शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच्' इस सूत्र से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय (अ), 'यस्येतिच' इस सूत्र मे अ लोप होने पर क शब्द बना है। प्रजापति का नाम है। क्योंकि, प्रजापति सुख रूप है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ १०–२२ ॥

तस्य = उस कनामक प्रजापति की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ. सं. ८-७-३-१ ॥

इस मन्त्र का हिरण्यगर्भ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और कनामक प्रजापति देवता हैं । मन्त्रार्थ अग्रे = संसार उत्पत्ति के प्रथम माया के अध्यक्ष परमात्मा से, हिरण्यगर्भः = हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति मध्यम देव, समवर्तत = उत्पन्न हुए और, जातः = उत्पन्न होते हुए, एक. = अद्वितीय अधीश्वर होते हुए, भूतस्य = भूत पद से उपलक्षित समस्त संसार का, पतिः = ईश्वर, आसीत् = थे । केवल इतना ही नही किन्तु, सः = वे, इमाम् पृथिवीम् = इस पृथिवी लोक, उत = और, द्याम् = द्युलोक को, दाधार = धारण किया, कस्मै = कनामक प्रजापति, देवाय = देव के लिये हम, हविषा = हवि के द्वारा, विधेय = पूजा करेंगे । इस मन्त्र में क का अर्थ प्रजापति है ।

किम् शब्द व्युत्पन्न अव्युत्पन्न के भेद से दो प्रकार का है । उन में जो अव्युत्पन्न हैं उसकी तो सर्वनाम संज्ञा क आदेश हो कर ङे को स्मै होने पर 'कस्मै' रूप बनता है और जो मन्त्र मे व्युत्पन्न है उसकी सर्वनाम संज्ञा न होने पर भी व्यत्यय से ङे को स्मै आदेश समझना चाहिये । यह सायण का कहना है । वस्तुतः मन्त्र मे 'कस्मै' रूप किम् सर्वनाम का नही किन्तु असर्वनाम क शब्द का है । इस की सर्वनाम संज्ञा नही है तो भी व्यत्यय से स्मै समझना चाहिये । वह किम् और वह क शब्द है । दोनो एक नही किन्तु दो है ।

मन्त्र का यास्क भाष्य—

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो, हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा ।

हिरण्यगर्भः = हिरण्यमयः गर्भ = हिरण्यमय जो गर्भ वह हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अर्थात् 'हिरण्यमयश्चासौगर्भश्च इति हिरण्यगर्भ.' इस विग्रह में हिरण्यमय शब्द का और गर्भ शब्द का कर्मधारय समास और छान्दसत्वात् मयट् का लोप होने पर हिरण्यगर्भ शब्द बना है । इसका अर्थ विज्ञानमयगर्भ है । वा = अथवा, हिरण्यमयः गर्भ. अस्य = हिरण्मय गर्भ है जिसका वह, हिरण्यगर्भः = हिरण्यगर्भ कहा जाता है । अर्थात् 'हिरण्मयः गर्भो यस्य इति हिरण्यगर्भः इस विग्रह मे हिरण्मय शब्द का और गर्भ शब्द का बहुव्रीहि समास और पूर्ववत् मयट् का लोप होने पर हिरण्यगर्भ शब्द बना है । हिरण्मय रूप जो गर्भ अथवा हिरण्मय रूप गर्भ है जिसका ।

मन्त्र मे आया हुआ गर्भ शब्द का निर्वचन करते हैं—

गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा ।

गृणाति अर्थे = गृणाति अर्थात् 'गॄ शब्दे' धातु के अर्थ मे, स्तुति अर्थ मे, गृभेः = नैघण्टुक (३,१४,६) गृभ धातु से, गर्भ. = गर्भ शब्द बना है । अर्थात् 'गृभ्यते स्तूयते इति गर्भः' इस विग्रहमें

स्तुत्यर्थं नैघण्टुक गृभ धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इस सूत्र से कर्म में घ (अ) प्रत्यय, लघूपद रपर गुण होने पर गर्भ शब्द बना है। गर्भ स्तुत्य होता है। वा = अथवा, अनर्थान् = अनर्थों को, गिरति = गिलति = नाशयति = नाश करता है, इति = इस कारण, गर्भः = गर्भ कहा जाता है। अर्थात् 'अनर्थान् गिरति नाशयति इति गर्भः' इस विग्रह में 'गॄ निगरणे' धातु से 'अर्तिगृभ्यां भन्' इस सूत्र से कर्ता में भन् (भ) प्रत्यय, प्वादि ह्रस्व, लघूपध रपर गुण होने पर गर्भ शब्द बना है।

प्रसंगवश स्त्री-गर्भ का विवेचन करते हैं—

यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति, गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति।

यदा हि = जब, स्त्री = स्त्री, गुणान् = पुरुष के गुणों को, गृह्णाति = ग्रहण करती है, च = और, पुरुष के द्वारा, अस्याः = इस स्त्री के, गुणाः = गुण, गृह्यन्ते = ग्रहण किये जाते हैं, अथ = तब, गर्भः = गर्भ, भवति = होता है। इस प्रकार परस्पर के गुण गृहीत होने पर गर्भ होता है। जब स्त्री के रज, पुरुष के वीर्य के अस्थि, स्नायु और मज्जा इन तीन गुणों को ग्रहण करता है। एवं जब पुरुष के वीर्य, स्त्री के रज के त्वक्, मांस और रुधिर इन तीन गुणों को ग्रहण करता है तब इन दोनों रज वीर्यो के मिलने से गर्भ रहता है। स्त्री पुरुषों के सद्गुणों के कारण से ही शरीर षाट्कौशिक कहा जाता है। इस पक्ष में 'गृणाति इति गर्भः' इस विग्रह में 'ग्रह उपादाने' धातु से पृषोदरादित्वात् क (अ) प्रत्यय, ग्रह अ, संप्रसारण, गृह् अ, लघूपध रपर गुण, गर्ह् अ, हकार को भकार होने पर गर्भ शब्द बना है। स्त्री गर्भ का नाम है। क्योंकि वह पूर्वोक्त छः (६) गुणों को ग्रहण करता है।

समभवदग्रे भूतस्य जातःपतिरेको बभूव। स धारयति पृथिवीं च दिवं च, कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम्। विदधतिर्दानकर्मा।

अग्रे = सृष्टि उत्पत्ति से प्रथम, हिरण्यगर्भ, समभवत् = उत्पन्न हुआ था और, जातः = उत्पन्न होता हुआ, एकः = अद्वितीय अधीश्वर होता हुआ, भूतस्य = सर्वप्राणियों का, पतिः = स्वामी, बभूव = था। सः = वह, पृथिवीम् च दिवम् च = पृथिवीलोक और द्युलोक को, धारयति = धारण करता है। कस्मै = कनामक प्रजापति, देवाय = देव के लिये, हविषा = हवि के द्वारा, विधेम = पूजा अर्चना करेंगे। इति = इस प्रकार, व्याख्यातम् = व्याख्या की गई है। विदधतिः = धा धातु यहां, दानकर्मा = दान अर्थक है। हविषा विधेम अर्थात् हवि प्रदान करेंगे।

१५ – सरस्वान्।

निरुक्त अ. २ खं. २३ में वाणी के नाम ५७ हैं। उन में सरस्वती शब्द २२ वां है। जिस के अर्थ यास्क ने दो किये हैं। एक नदी और दूसरा देवता। वहां सरस्वती स्त्रीलिङ्ग है और यहां सरस्वान् पुल्लिङ्ग। अर्थ दोनों का एक ही है। 'सरणंसरः' इस विग्रह में 'सृ गतौ' धातु से

'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, 'उरण् रपरः' इस सूत्र के सहकार से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से रपर गुण होने पर 'सरस्' शब्द बना है। जल वा तडाग (तलाव) अर्थ है। क्योंकि, जल सर्वत्र फैला हुआ होता है और तडाग भी। 'सरः गद्यपद्यादि रूपेण प्रसरणमस्या अस्ति इति सरस्वान्' इस विग्रह में यद्यपि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इस सूत्र से विनि प्रत्यय की प्राप्ति थी तथापि 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से बाहुलकात् मतुप् प्रत्यय, सरस् मत्, 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इस सूत्र से मतुप् के मकार को वकार होने पर 'सरस्वत्' शब्द बना है। 'सरस्वान्' यह प्रथमा एक वचन का रूप है। मध्यम देव का नाम है। क्योंकि, वह अन्तरिक्ष में सर्वत्र फैला हुआ होता है।

यास्क कहते हैं—

सरस्वान् व्याख्यातः।

सरस्वान् = सरस्वान् शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. २-२३ में हो चुकी है। वहां सरस्वती स्त्रीलिङ्ग था और यहाँ सरस्वान् पुलिङ्ग है। केवल इतना ही भेद है। अर्थ एक ही है। सरस् जल, तद्वान् माध्यमिक देव है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ १०-२३ ॥

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ।

तस्य = उस सरस्वान् की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

ये ते॑ सरस्व ऊ॒र्मयो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुतः॑ ।

तेभि॑र्नोऽवि॒ता भ॑व ॥ ऋ सं. ५-६-२०-५ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, गायत्री छन्द और सरस्वान् देवता है। मन्त्रार्थ—सरस्वः = हे सरस्वन् मध्यम देव !, ते = तुम्हारे, ये = जो, ऊर्मय. = जल सङ्घ, मधुमन्तः = रसवान् और, घृतश्चुतः = वृष्टि जल देने वाले है, तेभि. = उन्ही के द्वारा, नः = हमारा, अविता = रक्षक, भव = होओ। इस मन्त्र में सरस्वत् शब्द मध्यम देव वाचक है।

भाष्यकार कहते है—

इति सा निगद व्याख्याता।

इति सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठमात्र से व्याख्यात है। अर्थात् स्पष्ट है। व्याख्या की आवश्यकता नही है।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः। १०-२४ ॥

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

१६ – विश्वकर्मा।

मध्यमस्थान वायुदेव का नाम विश्वकर्मा है। इसका निर्वचन करते हैं—

विश्वकर्मा–सर्वस्य कर्ता।

सर्वस्य = सब का, कर्ता = उत्पन्न करने वाला, विश्वकर्मा = विश्वकर्मा कहा जाता है। जो कृत *करिष्यमाण* और *क्रियमाण अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल के सभी पदार्थों का* कर्ता हो वह विश्वकर्मा (मध्यम देव) कहा जाता है। सर्व चेष्टा आदित्यरूप है। आदित्यवृष्टि द्वारा सर्व का कर्ता है। अतः विश्वकर्मा मध्यम देव आदित्य है। अर्थात् 'करोति इति कर्मा, विश्वस्य कर्मा इति विश्वकर्मा' इस विग्रह में 'डुकृञ् करणे' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इस सूत्र से कर्ता मे मनिन् (मन्) प्रत्यय, 'उरण् रपरः' इस सूत्र के सहकार से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से रपर गुण होने पर कर्मन् शब्द बना है। विश्व शब्द और कर्मन् शब्द का 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास होने पर विश्वकर्मन् शब्द बना है। 'विश्वकर्मा' यह प्रथमा एकवचन का रूप है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ॥ १०-२५ ॥

तस्य = उस विश्वकर्मा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

वि॒श्वक॑र्मा॒ विम॑ना॒ आद्वि॑हा॒या धा॒ता वि॑धा॒ता प॑र॒मोत सं॒दृक्।
तेषा॑मि॒ष्टानि॒ समि॒षा म॑दन्ति॒ यत्रा॑ सप्तऋ॒षीन् प॒र एक॑मा॒हुः ॥

ऋ. सं. ८-३-१७-२ ॥

इस मन्त्र का भुवनपुत्र विश्वकर्मा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वकर्मा देवता है। मन्त्रार्थ—इस मन्त्र के दो *अर्थ हैं। अधिदैवत और अध्यात्म। देवता का वर्णन अधिदैवत और आत्मा का वर्णन अध्यात्म* अर्थ कहा जाता है। उन मे प्रथम अधिदैव अर्थ किया जाता है—विश्वकर्मा = विश्व के कर्ता आदित्य, विमनाः = महान् मन वाला, विहायाः = आत्मरूप से व्याप्त = स्वयं महान्, धाता = वृष्ट्यादि कर्ता, विधाता = जगत्कर्ता, परमासंदृक् = सर्व प्राणियों के सम्यक् द्रष्टा। तेषाम् = ज्योतियों के रश्मियों के, *इष्टानि = प्रिय स्थानों को, संदृक् = सम्यक द्रष्टा है। जो विश्वकर्मारूप*

'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, 'उरण् रपरः' इस सूत्र के सहकार से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से रपर गुण होने पर 'सरस्' शब्द बना है। जल वा तडाग (तलाव) अर्थ है। क्योंकि, जल सर्वत्र फैला हुआ होता है और तडाग भी। 'सरः गद्यपद्यादि रूपेण प्रसरणमस्या अस्ति इति सरस्वान्' इस विग्रह में यद्यपि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इस सूत्र से विनि प्रत्यय की प्राप्ति थी तथापि 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से बाहुलकात् मतुप् प्रत्यय, सरस् मत्, 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इस सूत्र से मतुप् के मकार को वकार होने पर 'सरस्वत्' शब्द बना है। 'सरस्वान्' यह प्रथमा एक वचन का रूप है। मध्यम देव का नाम है। क्योंकि, वह अन्तरिक्ष में सर्वत्र फैला हुआ होता है।

यास्क कहते हैं—

सरस्वान् व्याख्यातः ।

सरस्वान् = सरस्वान् शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. २-२३ में हो चुकी है। वहां सरस्वती स्त्रीलिङ्ग था और यहाँ सरस्वान् पुलिङ्ग है। केवल इतना ही भेद है। अर्थ एक ही है। सरस् जल, तद्वान् माध्यमिक देव है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥ १०-२३ ॥

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ।

तस्य = उस सरस्वान् की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

ये ते॑ सरस्व ऊ॒र्मयो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुत॑: ।
तेभि॑र्नोऽवि॒ता भ॑व ॥ ऋ. सं. ५-६-२०-५ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, गायत्री छन्द और सरस्वान् देवता है। मन्त्रार्थ—सरस्वः = हे सरस्वन् मध्यम देव !, ते = तुम्हारे, ये = जो, ऊर्मयः = जल सङ्घ, मधुमन्तः = रसवान् और, घृतश्चुतः = वृष्टि जल देने वाले है, तेभिः = उन्हीं के द्वारा, नः = हमारा, अविता = रक्षक, भव = होओ। इस मन्त्र में सरस्वत् शब्द मध्यम देव वाचक है।

भाष्यकार कहते है—

इति सा निगद व्याख्याता ।

इति सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठमात्र से व्याख्यात है। अर्थात् स्पष्ट है। व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुर्विंश खण्ड । १०-२४ ॥

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चविंश. खण्डः ।

१६ – विश्वकर्मा ।

मध्यमस्थान वायुदेव का नाम विश्वकर्मा है । इसका निर्वचन करते हैं—

विश्वकर्मा–सर्वस्य कर्ता ।

सर्वस्य = सब का, कर्ता = उत्पन्न करने वाला, विश्वकर्मा = विश्वकर्मा कहा जाता है। जो कृत करिष्यमाण और क्रियमाण अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान तीनो काल के सभी पदार्थों का कर्ता हो वह विश्वकर्मा (मध्यम देव) कहा जाता है। सर्व चेष्टा आदित्यरूप है। आदित्यवृष्टि द्वारा सर्व का कर्ता है। अतः विश्वकर्मा मध्यम देव आदित्य है। अर्थात् 'करोति इति कर्मा, विश्वस्य कर्मा इति विश्वकर्मा' इस विग्रह मे 'डुकृञ् करणे' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इस सूत्र से कर्ता मे मनिन् (मन्) प्रत्यय, 'उरण् रपर' इस सूत्र के सहकार से 'सार्वधातुकार्धधातुकयो.' इस सूत्र से रपर गुण होने पर कर्मन् शब्द बना है। विश्व शब्द और कर्मन् शब्द का 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास होने पर विश्वकर्मन् शब्द बना है। 'विश्वकर्मा' यह प्रथमा एकवचन का रूप है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चविंश खण्डः ॥ १०-२५ ॥

तस्य = उस विश्वकर्मा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥

ऋ स. ८-३-१७-२ ॥

इस मन्त्र का भुवनपुत्र विश्वकर्मा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वकर्मा देवता है। मन्त्रार्थ—इस मन्त्र के दो अर्थ हैं। अधिदैवत और अध्यात्म। देवता का वर्णन अधिदैवत और आत्मा का वर्णन अध्यात्म अर्थ कहा जाता है। उन मे प्रथम अधिदेव अर्थ किया जाता है—विश्वकर्मा = विश्व के कर्ता आदित्य, विमना. = महान् मन वाला, विहायाः = आत्मरूप से व्याप्त = स्वय महान्, धाता = वृष्ट्यादि कर्ता, विधाता = जगत्कर्ता, परमासंदृक् = सर्व प्राणियों के सम्यक् द्रष्टा। तेषाम् = ज्योतियों के रश्मियो के, इष्टानि = प्रिय स्थानों को, संदृक् = सम्यक द्रष्टा है। जो विश्वकर्मारूप

देवभाव को प्राप्त हुए है वे, इषा = सूक्ष्म जल के साथ, समदन्ति = आनन्द भोगते है। मन्त्रविद् अर्थात् देवतातत्त्वविद् महात्मा लोग, यत्र = जिस विश्वकर्मा आदित्य को, सप्तऋषीन् = सप्तऋषियों से, परः = परे, एकम् = एक, आहुः = कहते है। इस प्रकार विश्वकर्मा का आदित्य देवरूप से वर्णन है। इस लिये यह अर्थ अधिदेव अर्थ कहा जाता है।

अध्यात्म अर्थ—विश्वकर्मा = सर्व का कर्ता परमात्मा, विमना = महान मन वाला = सर्व-विषयक ज्ञानवान्, विहायाः = स्वयं महान्, धाता = सर्वस्रष्टा, विधाता = जगत कर्ता, उत = और, परमासंदृक् = इन्द्रियों का उत्कृष्ट द्रष्टा, तेषाम् = उन भक्तों के, इष्टानि = अभिलषित पदार्थ को देनेवाला है। उसके भक्तजन उसके दिये हुए, इषा = अन्नादि वैभवों के साथ, समदन्ति = आनन्द भोगते है। आत्मतत्त्व के जानने वाले ज्ञानीजन, यत्र = जिस विश्वकर्मा परमात्मा को, सप्तऋषीन् = सर्व इन्द्रियों से, परः = परे और, एकम् = एक, आहुः = कहते हैं। मन्त्र का यह अर्थ आध्यात्म अर्थ कहा जाता है।

मन्त्र का यास्क भाष्य—

विश्वकर्मा–विभूतमनाः व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च संद्रष्टा भूतानाम्। तेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वाऽद्भिः सह संमोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि, तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम् ।

विभूतमनाः = अप्रतिहत-ज्ञान, व्याप्ता = सर्वत्र व्याप्त, धाता = वृष्टयादि कर्ता, च = और, विधाता = जगत्कर्ता, भूतानाम् = सर्वप्राणियो के, परमश्च संद्रष्टा = परमोत्तम संद्रष्टा, विश्वकर्मा = आदित्य है। तेषाम् = उन प्राणियों के. इष्टानि वा = प्रिय, कान्तानि वा = अति प्रिय, क्रान्तानि वा = उत्कृष्ट, गतानि वा = प्राप्त, मतानि वा = अभिमत, वा = अथवा, नतानि वा = प्रह्वीभूत, स्थानो को देखता है। जो देवभाव को प्राप्त हुए हैं वे, अद्भिः सह = सूक्ष्म जल के साथ, संमोदन्ते = आनन्द भोगते हैं। यत्र = जिस आदित्य को, एतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि = सप्तऋषिरूप ज्योतियाँ, तेभ्यः = उन से, परः आदित्यः = परे आदित्य हैं। तानि = ये सब ज्योतियाँ, एतस्मिन् = इस विश्वकर्मारूप आदित्य में, एकम् भवन्ति = एकीभाव को प्राप्त होते हैं। इति = यह अर्थ, अधिदैवतम् = अधिदैवत = अधिदेव है।

अथाध्यात्मम्–विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च संदर्शयितेन्द्रियाणामेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वान्नेन सह संमोदन्ते, यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाणि, तेभ्यः पर आत्मा, तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ।

उक्त मन्त्र गत विश्वकर्मा का, अथ = अब, अध्यात्मम् = अध्यात्म अर्थ किया जाता है— विभूतमनाः = अप्रतिहतज्ञान, व्याप्ता = सर्वत्र व्याप्त, धाता = वृष्टयादि कर्ता, च = और, विधाता =

जगत्कर्ता, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के, परमश्च सन्दर्शयिता = परमोत्तम संद्रष्टा, विश्वकर्मा = परमात्मा है। एषाम् = उन प्राणियों के, इष्टानि वा, प्रिय, कान्तानि वा = अतिप्रिय, क्रान्तानि वा = उत्कृष्ट, गतानि वा = प्राप्त, मतानि वा = अभिमत, वा = अथवा, नतानि वा = प्रह्वीभूत, स्थानों को देखता है। जो परमात्मा के भक्त हैं वे परमात्मा के दिये हुए, अन्नेन सह = अन्नादि भोगों के साथ, संमोदन्ते = आनन्द भोगते हैं। यत्र = जिस विश्वकर्मा परमात्मा को, इमानि सप्त ऋषीणानि इन्द्रियाणि = ये सप्त इन्द्रियां हैं। तेभ्य. परः आत्मा = उन से परे आत्मा है। तानि एतस्मिन् एकम् भवन्ति = वे इन्द्रियां इस विश्वकर्मा परमात्मा में एकीभाव को प्राप्त होती हैं। इति = इस प्रकार यह मन्त्र, आत्मगतिम् = अध्यात्म अर्थ को, आचष्टे = कहता है।

तत्रेतिहासमाचक्षते ।

तत्र = इस अध्यात्मपक्ष में आत्मज्ञानी लोग, इतिहासम् = पूर्वघटित घटना रूप इतिहास आचक्षते = कहते हैं—

विश्वकर्मा ह भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार ।

'ह' यह निपात पुराने आख्यान का सूचक है। एक समय की बात है कि, भौवन· = भुवन का पुत्र, विश्वकर्मा = विश्वकर्मा ने, सर्वमेधे = सर्वमेध नामक याग में, सर्वाणि भूतानि = सर्व भूतों को, जुहवाञ्चकार = होम कर दिया, और, सः = वह, अन्ततः = अन्त में, आत्मानम् अपि = आत्मा को भी अर्थात् आप को भी, जुहवाञ्चकार = होम कर दिया।

तदभिवादिन्येषर्ग्भवति-"य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्" इति ।

तद् अभिवादिनी = इस अर्थ को कहने वाली, एषा ऋक् = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है यः = जिसने, इमा. विश्वा भुवनानि = इन सब भुवनों को = चतुर्दश भुवनों को, जुह्वत् = होम किया। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ॥

ऋ स ८-३-१६-१ ॥

इस मन्त्र का भुवन-पुत्र विश्वकर्मा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वकर्मा देवता है। मन्त्रार्थ—यः ऋषि. = जो विश्वकर्मा भुवन के पुत्र ऋषि, होता = होमनिष्पादक होता हुआ, विश्वा भुवनानि = सर्वभुवनों को, जुह्वत् = होम करता हुआ अर्थात् प्रथम सर्व जगत का होम करके, पश्चात्, पिता = वह जगत् पिता, न्यसीदत् = पूर्ववत् बैठ रहा। सः = वह ऋषि,

आशिषा = सूक्तवाकादिरूप आशीर्वाद के द्वारा, द्रविणम् = स्वर्गरूप धन को, इच्छमानः = कामना करता हुआ, प्रथमच्छत् = प्रथम सारे जगत् से अग्नि का आच्छादन करके, अवरान् = अन्य छोटे छोटे प्राणियों के साथ स्वयं भी, आविवेशः = हुत हो गये = अग्नि में पैठ गये।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ॥ १०-२६ ॥

तस्य = इसका, भूयसे = बहुत, निर्वचनाय = निर्वचन के लिये अर्थात् और अधिक स्पष्टीकरण करने के लिये, उत्तरा = अग्रिम ऋचा है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः ।

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥

ऋ. सं. ८-३-१६-६ ॥

इस मन्त्र का भी भुवन-पुत्र विश्वकर्मा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वकर्मा देवता है। मन्त्रार्थ—विश्वकर्मन् = हे विश्वकर्ता परमेश्वर !, हविषा = हमारे दिये हुए हवि के द्वारा, वावृधानः = प्रवृद्ध तुम, स्वयम् = स्वयं, पृथिवीम् उत द्याम् = पृथिवीलोक और द्युलोक का, यजस्व = पूजन करो। अन्ये जनासः = हम से अन्य जो यज्ञ नही करने वाले जन वा यज्ञविरोधी जन हैं वे, मुह्यन्तु = मोहित अर्थात् मूर्छित हो। अभितः = सर्व तरफ से, इह = इस यज्ञ मे, अस्माकम् = हमारे, मघवा = धनवान् विश्वकर्मा, सूरिः = स्वर्गादि फल का प्रेरक = दाता, अस्तु = हों।

इस मन्त्र का भाष्य—

विश्वकर्मन् हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च, मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्नाः इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु प्रज्ञाता।

विश्वकर्मन् = हे विश्वकर्ता परमेश्वर ! तुम हमारे दिये हुए, हविषा = हवि के द्वारा, वर्धयमानः = प्रवृद्ध होता हुआ, स्वयम् = स्वयं, पृथिवीम् = पृथिवीलोक, उत = और, दिवम् च = द्युलोक का, यजस्व = पूजन करो। अन्ये = हम से अन्य, सपत्नाः जनाः = शत्रु जन, मुह्यन्तु = मूर्छित हों। अभितः = सर्व तरफ से, इह = इस यज्ञ में, अस्माकम् = हमारे, मघवा = धनवान् विश्वकर्मा, सूरिः = स्वर्गादि फल का प्रेरक = दाता, और, प्रज्ञाता = जानने वाला, अस्तु = हों।

१७ — तार्क्ष्यः।

मध्यमस्थान देवता का नाम तार्क्ष्य है। इस का निर्वचन करते हैं—

तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः । तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियति । तूर्णमर्थं रक्षति । अश्नोतेर्वा ।

तार्क्ष्यः = तार्क्ष्य शब्द, त्वष्ट्रा = त्वष्टृ शब्द से, व्याख्यातः = व्याख्यात है । अर्थात् त्वष्टृ शब्द के समान ही इस की व्याख्या है । जैसे—तीर्णे = विस्तृत, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में जो, क्षियति = निवास करे वह, तार्क्ष्यः = तार्क्ष्य कहा जाता है । तूर्णम् = शीघ्र उदक रूप, अर्थम् = अर्थ की जो, रक्षति = रक्षा करे वह, तार्क्ष्यः = तार्क्ष्य कहा जाता है । वा = अथवा, अश्नोतेः = व्याप्ति अर्थक अश धातु से, तार्क्ष्यः = तार्क्ष्य शब्द बना है । क्योंकि, वह व्यापन कर लेता है ।

'तीर्णे सर्वतोगते अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके क्षियति निवसति इति तार्क्ष्यः' इस विग्रह में तीर्ण शब्द उपपद 'क्षि निवासगत्योः' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् (य) प्रत्यय, तीर्ण क्षि य, तीर्ण को तार् और क्षि के इकार का लोप होने पर तार्क्ष्य शब्द बना है । मध्यम देव का नाम है । क्योंकि, वह विस्तृत अन्तरिक्ष में निवास करता है ।

अथवा 'तूर्णम् उदकरूपम् अर्थम् रक्षति पालयति इति तार्क्ष्यः' इस विग्रह में तूर्ण उपपद 'रक्ष पालने' धातु से पूर्ववत् 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् प्रत्यय, तूर्ण रक्ष् य, तूर्ण को तार् और रक्ष् के र का लोप होने पर तार्क्ष्य शब्द बना है । मध्यम देव का नाम है । क्योंकि, वह उदक रूप अर्थ की रक्षा करता है ।

अथवा 'तूर्णम् अश्नुते इति तार्क्ष्यः' इस विग्रह में तूर्ण उपपद 'अशू व्याप्तौ संघाते च' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यक् प्रत्यय, तूर्ण अश् य, तूर्ण को तार् और अश को क्ष् होने पर तार्क्ष्यः शब्द बना है । मध्यम देव का नाम है । क्योंकि, वह शीघ्र जल को व्याप्त होता है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः ॥ १०-२७ ॥

तस्य = उस तार्क्ष्य की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः ।

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥

ऋ. सं. ८-८-३६-१ ॥

इस मन्त्र का तार्क्ष्य के पुत्र अरिष्टनेमि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और तार्क्ष्य देवता है । मन्त्रार्थ—त्यमु = उस प्रसिद्ध, वाजिनम् = अतिशय अन्न वाले, देवजूतम् = देवताओं से प्रेम रखने वाले, सहावानम् = बल वाले, रथानाम् तरुतारम् = शत्रुओं के रथों को जीतने वाले, अरिष्टनेमिम् =

अहिंसित रथ वाले, पृतनाजम् = शत्रुओं की सेना को जीतने वाले, आशुम् = शीघ्र गमन करने वाले, तार्क्ष्यम् = सुपर्ण अर्थात् गरुडरूप मध्यम देव तार्क्ष्य को हम, इह = यहाँ अपने यज्ञ में, स्वस्तये = कल्याण के लिये, हुवेम = आह्वान करते है = बुलाते है। इस मन्त्र में तार्क्ष्य का अर्थ मध्यम देव गरुड़ है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

तं भृशमन्नवन्तं, जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा—देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा। सहस्वन्तं, तारयितारं रथानाम्, अरिष्टनेमिम्, पृतनाजितमाशुंस्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्।

तम् = उस, भृशम् अन्नवन्तम् = अतिशय अन्न वाले। 'देवजूतम्' में जो 'जूत' शब्द है उसके तीन अर्थ है—जूतिः = जुति, गतिः = गति, वा = अथवा, प्रीतिः = प्रीति। अर्थात् जूतम् = गतम्, प्रीतम्। इन तीनों के साथ देव शब्द मिलने से देवजूतम्, देवगतम् और देवप्रीतम्। देवजूतम् = देवताओं की सेवा करने वाले, देवगतम् = देवताओं के साथ गमन करने वाले (जु गतौ) देवप्रीतम् = देवताओं से प्रेम करने वाले। (जुषी प्रीतिसेवनयोः)। सहस्वन्तम् = बल वाले, रथानाम् तारयितारम् = शत्रुओं के रथों को जीतने वाले अरिष्टनेमिम् = अहिंसित रथ वाले, पृतनाजितम् = शत्रुओं की सेना को जीतने वाले, आशुम् = शीघ्र गमन करने वाले, तार्क्ष्यम् = सुपर्ण अर्थात् गरुड रूप मध्यम देव तार्क्ष्य को, हम, स्वस्तये = अपने कल्याण के लिये, इह = यहाँ अपने यज्ञ में, ह्वयेम = बुलाते हैं। इस प्रकार, मध्यम देवम् अन्यम् = मध्यम देव के अतिरिक्त, कम् अवक्ष्यत् = किस देव को कहता ?। अर्थात् किसी को नही।

तस्यैषाऽपरा भवति।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टा विंशः खण्डः ॥ १०-२८ ॥

तस्य = उस तार्क्ष्य देव की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः।

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् ॥

ऋ सं. ८-८-३६-१ ॥

इस मन्त्र का अरिष्टनेमि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और तार्क्ष्य देवता है। मन्त्रार्थ—ज्योतिषा सूर्यः इव = तेज से सूर्य के समान अर्थात् जैसे अपने तेज के द्वारा सूर्य, पञ्च कृष्टीः = पांच प्रकार के मनुष्यों के प्रति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और पांचवां निषाद के प्रति वृष्टि जल का

विस्तार करते हैं वैसे ही, यः = जो तार्क्ष्य गरुड, सद्यश्चित् = शीघ्र, शवसा = अपने वल के द्वारा, अपः = अमृत रूप जल का, ततान = विस्तार किया है। अस्य = इस तार्क्ष्य (गरुड) की, रंहिः = गति, शतसाः = सैकड़ों और, सहस्रसाः = हजारों धनसंपत्तियों के दात्री है। न = जैसे, धनुष पर, युवतिम् = जुटे हुए, शर्याम् = वाण की गति को कोई, न इम वारन्ते = रोक नहीं सकता है वैसे ही तार्क्ष्य की गति को रोक नहीं सकता है।

इस मन्त्र का भाष्य—

सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि, सहस्रसानिनी शतसा निन्यस्य सा गतिर्न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतिमिव शरमयीमिषुम्।

ज्योतिषा सूर्यः इव = तेज से सूर्य के समान अर्थात् जैसे अपने तेज के द्वारा सूर्य वृष्टि जल का विस्तार करते हैं वैसे ही, पञ्च मनुष्यजातानि = पांच प्रकार के मनुष्यों के प्रति, सहस्रसानिनी शतसानिनी = हजारों सैंकड़ों धनादि सम्पतियों के दात्री है। अस्य = इस तार्क्ष्य की, सा रंहिः = वह गति, प्रयुवतिम् = धनुष पर जुटे हुए, शरमयीम् = शरमय, इषुम् इव = वाण के समान, एनाम् = इस गति को, कोई, न वारयन्ति = वारण नही कर सकता है।

१८ – मन्युः।

- 'मन्यु' यह मध्यम देव विशेष का नाम है। इसका निर्वचन करते हैं—

मन्युर्मन्यते र्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा। मन्यन्त्यस्मादिषवः।

दीप्तिकर्मणः = दीप्त्यर्थक, मन्यतेः = नैरुक्त मन धातु से, मन्युः = मन्यु शब्द बना है। अर्थात् 'मन्यते प्रकाशयति इति मन्युः' इस विग्रह में दीप्ति अर्थक मन धातु से 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' इस उणादि सूत्र से युच् (यु) प्रत्यय और बाहुलकात् अन आदेश का अभाव होने पर मन्यु शब्द बना है। वा = अथवा, क्रोधकर्मणः = क्रोध अर्थक, मन्यतेः = नैरुक्त मन धातु से, मन्युः = मन्यु शब्द बना है। अर्थात् 'मन्यते क्रुध्यते इति मन्युः' इस विग्रह में पूर्ववद् युच् प्रत्यय और अन आदेश का अभाव होने पर, मन्युः = मन्यु शब्द बना है। वा = अथवा, वधकर्मणः = वधार्थक नैरुक्त मन्यतेः = मन धातु से मन्युः = मन्यु शब्द बना है। अर्थात् 'मन्यते हिनस्ति इति मन्युः' इस विग्रह मे वधार्थक नैरुक्त मन धातु से पूर्ववत् युच् प्रत्यय और अन आदेश का अभाव होने पर मन्यु शब्द बना है। मध्यम देव का नाम है। क्योंकि मध्यम देव प्रकाश करता है, क्रोध करता है और शत्रुओं का वध भी करता है। इसी को कहते हैं—अस्मात् = इस से, इषवः = बाण, मन्यन्ति = प्रकाशित होत हैं। जिस को क्रोध होता है वही बाण फेंकता है।

'मन्यन्त्यस्मादिषवः' इतना पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। क्योंकि, अर्थ सङ्गति नहीं बैठती है। अत एव दुर्गाचार्यने इसकी व्याख्या नहीं की है। सायणने भी इस पाठ का उल्लेख नहीं किया है।

पाणिनि धातु पाठ मे मन धातु दो हैं। मन ज्ञाने और मनु अवबोधने। प्रथम दिवादि और द्वितीय तनादि है। यास्कने 'मन्यते' से दिवादि दिखाते हुए तीन अर्थ किये हैं। दीप्ति, क्रोध और वध। अतः मन धातु को स्वतन्त्र नैरुक्त दिवादि मानना पड़ा है। दिवादि आकृतिगण है। साथ ही 'धातुनामनेकार्थः' इस नियम के अनुसार दि० मन धातु अनेकार्थ है ऐसा समझना चाहिये।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः ॥ १०-२९ ॥

तस्य = उस मन्यु की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ।

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥

ऋ. सं. ८-३-१९-१ ॥

इस मन्त्र का तपः पुत्र मन्यु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और मन्यु देवता है। मन्त्रार्थ—मरुत्वः मन्यो = हे वायुवाले मन्यु देव!, त्वया = तुम्हारे साथ, सरथम् = एक रथ पर चढ कर, आरुजन्तः = सर्व तरफ से शत्रुओ को पीड़ा पहुँचाते हुए, हर्षमाणास = तुम्हारे आश्रय से हर्ष को प्राप्त होते हुए, धृषितः = धृष्ट = निडर होते हुए, तिग्मेषवः = तीक्ष्णवाण वाले, आयुधाः = आयुधो को, संशिशानाः = भलीभांति चलाते हुए, अग्निरूपाः = अग्नि के समान कर्मवाले, नरः = ये हमारे योधा, अभिप्रयन्तु = शत्रुओं के सम्मुख जावें।

प्रकृत मन्त्र का भाष्य—

त्वया मन्यो स रथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः तिग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नरोऽग्निरूपा अग्नि कर्माणः। सन्नद्धाः कवचिन इति वा।

मन्यो = हे मन्युदेव! और मरुत्वः = हे वायुवाले!, त्वया = तुम्हारे साथ, सरथम् 'आरुह्य' = एक रथ पर चढ कर, रुजन्तः = शत्रुओ को पीडा पहुँचाते हुए = हर्षमाणासः = हर्ष को प्राप्त होते हुए, अधृषिताः = शत्रुओं से न दबे हुए, तिग्मेषवः = तीक्ष्ण बाण वाले, आयुधा. संशिशानाः = संशिश्यमानाः = आयुधो को भलीभांति चलाने वाले, अग्निरूपाः = अग्निकर्माणः = अग्नि के समान कर्मवाले, नरः = ये हमारे योधा गण, अभिप्रयन्तु = शत्रुओ के सम्मुख जावें। वा = अथवा, सन्नद्धाः = कसे हुए, कवचिनः = कवचो को धारण किये हुए, नरः = योधा गण, अभिप्रयन्तु = शत्रुओं के सम्मुख जावें। इति = इत्यर्थः।

१९–दधिक्राः ।

दधिक्रा शब्द के दो अर्थ हैं । एक अश्व और दूसरा मध्यमदेव । उन मे अश्व परक निर्वचन द्वीतियाध्याय के सत्ताइसवां खण्ड मे कर चुके है । मध्यमदेव परक निर्वचन यहा किया जाता है । 'दधातीति दधत्' इस विग्रह में 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से 'वर्तमाने लट्' इस सूत्र से लट् लकार, 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इस सूत्र से लट् के स्थान मे शतृ (अत्) प्रत्यय, शप्, श्लु, 'श्लौ' इस सूत्र से द्वित्व, अभ्यास कार्य और 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इस सूत्र से नुम् का निषेध होने पर दधत्' शब्द बना है । जिस का अर्थ धारण करते हुए' होता है । 'दधत् उदकं धारयत् क्रामति इति दधिक्रा' इस विग्रह मे दधत् उपपद 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु से 'जन सन खन क्रमोविट्' इस सूत्र से विट् (०) प्रत्यय, 'विड्वनोरनुनासिकस्मात्' इस सूत्र से मकार को आकार और सवर्ण दीर्घ, दधत् क्रा, पृषोदरादित्वात् दधत् के तकार का लोप और इकारान्तादेश होने पर 'दधिक्रा' शब्द बना है । मध्यमदेव का नाम है । क्योंकि, वह जल को धारण करके दौडता है ।

यास्क कहते हैं—

दधिक्रा व्याख्यातः ।

दधिक्रा = दधिक्रा शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है । अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. २ ख २७ में की गई है । वहा तीन प्रकार के निर्वचन विस्तार से किया गया है । पाठकों को वही देखना चाहिये ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ।। १०–३० ।।

तस्य = दधिक्रा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ।

आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि ॥

ऋ. सं. ३-७-१२-१० ।।

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और दधिक्रा देवता है । मन्त्रार्थ—ज्योतिषा सूर्यः अपः इव = तेज से सूर्य जल के समान अर्थात् जैसे सूर्य अपने तेज द्वारा जल को आच्छादित करते हैं वैसे ही, दधिक्राः = दधिक्रादेव, शवसा = बल के द्वारा, पञ्चकृष्टीः = पञ्चकृष्टि को (देव, मनुष्य, असुर, राक्षस और पितृगण अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र ये चार वर्ण और पञ्चम निषाद), आततान = आच्छादित करते हैं । शतसाः = सैकड़ों और, सहस्रसाः = हजारों दाता,

वाजी = वेगवान्, अर्वा = अरण कुशल दधिक्रादेव, इमाः = इन स्तुति वाक्यों को, मध्वा = मधुर फल से, संपृणक्तु = संयोजित करें ।

इस मन्त्र का भाष्य—

आतनोति दधिक्राः शवसा बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि सहस्रसाः शतसा वाजी वेजनवानर्वेरणवान् संपृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति ।

ज्योतिषा = तेजसे, सूर्यः = सूर्य, अपः इव = जल के समान अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपने तेज द्वारा, जल को विस्तृत करते हैं उसी प्रकार, दधिक्रा = दधिक्रा मध्यम देव, शवसा = अपने बल द्वारा, पञ्च मनुष्यजातानि = पूर्वोक्त पांच प्रकार के मनुष्य समूहों को, आतनोति = विस्तृत करते हैं । शतसाः = सैकड़ों, सहस्रसाः = हजारों प्रकार के फल दाता, वाजी = वेजनवान् = वेगवान्, अर्वा = अरणवान् (गमनवान्) दधिक्रादेव, नः = हमारे, इमानि वचनानि = इन स्तुति वाक्यों को, मधुना = मधुर, उदकेन = जलरूपी फल से, संपृणक्तु = संयोजित करें ।

मन्त्र प्रसक्त मधु शब्द का निर्वचन करते हैं—

मधु धमतेर्विपरीतस्य ।

धमतेः = धम धातु का, विपरीतस्य = उलटा रूप, मधु = मधु है । अर्थात् 'धाम्यते मेघात् निष्कास्यते इति मधु जलम्' इस विग्रह में अन्तर्भावित ण्यर्थक नैघण्टुक (निघं० २–१४) गत्यर्थक धम् धातु से उणादि उप्रत्यय, धम् उ, वर्ण विपर्यय होने पर मध् उ, मधु शब्द बना है । जिस का मन्त्र मे 'मध्वा' और भाष्य में 'मधुना' = 'उदकेन' पाठ है । जल का नाम है । क्योंकि जल मेघ से निकलता है ।

२० — सविता ।

सविता सर्वस्व प्रसविता प्रेरक मध्यमस्थान देव का नाम है । यास्क इस का निर्वचन करते हैं—

सविता सर्वस्य प्रसविता ।

सर्वस्य = सब का, प्रसविता = उत्पन्न करने वाला मध्यम देव सविता = सवितृ देव कहा जाता है । अर्थात् 'सवति इति सविता' इस विग्रह में 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से तृच् (तृ) प्रत्यय, सु तृ, इट् आगम गुण, अवादेश होने पर सवितृ शब्द बना है । अन्तरिक्ष में रहने वाले देवता का नाम है । क्योंकि, वह सब का प्रेरक है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः । १०–३१ ॥

तस्य = उस सवितृ देव को, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः ।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥

ऋ सं. ८-८-७-१ ॥

इस मन्त्र का हिरण्यस्तूप के पुत्र अर्चत् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सविता देवता है । मन्त्रार्थ—सविता = सर्व के प्रेरक मध्यमस्थान सविता देव ने, यन्त्रैः = वृष्टिदान आदि यन्त्रों के द्वारा, पृथिवीम् = पृथिवी को, अरम्भणात् = सुख पूर्वक स्थापन किया । सविता = उसी सविता देवने, अस्कम्भने = विना अवलम्बन के; द्याम् = द्युलोक को, अदृंहत = दृढ रूप से बांध दिया । और, सविता = उसी सविता देवने, अतूर्ते = अत्वरयाण = अचल, अन्तरिक्षम् = आकाश में, समुद्रम् = समुद्र रूप, बद्धम् = बँधे हुए, अश्वम् इव = घोड़े के समान, धुनिम् = मेघ को, अधुक्षत् = कम्पाया अर्थात् झाड़ दिया । इस मन्त्र में सविता की स्तुति है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहदश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षे मेघं बद्धममूर्ते बद्धमतूर्ण इति वात्वरमाण इति वा, सविता समुन्दितारमिति ।

सविता = सविता देव ने, यन्त्रैः = नियन्त्रण के द्वारा, पृथिवीम् = पृथिवी को, अनारम्भणे = अमूर्त्त, अन्तरिक्षे = आकाश में, अरमयत् = सुख पूर्वक स्थापन किया । सविता = सविता देव ने ही, द्याम् = द्युलोक को, अदृंहत् = दृढ रूप से बांध दिया । अन्तरिक्षे बद्धम् = अमूर्त्तबद्धम् = अतूर्णबद्धम् = अचल अन्तरिक्ष में बँधे हुए, धुनिम् = मेघम्, अश्वम् इव = अश्व के समान, अधुक्षत् = दुहा = झाड़ दिया । वा = अथवा, अतूर्णे = अचल, वा = अथवा, त्वरमाणे-शीघ्रताकरनेवाले, इति यह अर्थ है । सविता = समुन्दितारम् = भलीभांति गीला करने वाले मेघ । मन्त्र में 'समुद्रम्' पद है । जिसका पर्याय 'समुन्दितारम्' है । क्योंकि, समुनत्तिवर्षेण भुवन क्लेदयति इति समुद्रः सम् समुद्रम्' इस विग्रह में सम् पूर्वक 'उन्दो क्लेदने' धातु से 'स्फायितञ्चि' इत्यादि उणादि सूत्र से रक् प्रत्यय, किद्त्वात् नलोप, होने पर समुद्र बना है । मेघ का नाम है । क्योंकि, मेघ वृष्टि द्वारा समस्त भुवन को अर्द्र कर देता है ।

कमन्यं मध्यमादेवम वक्ष्यत् ।

मध्यमात् अन्यम् = मध्यमदेव के अतिरिक्त अन्य, कम् देवम् = किस देव को, अवक्ष्यत् = कहता ? । अर्थात् मध्यमदेव के सिवाय ऐसा और कौन देव है जिसकी स्तुति की जाती अर्थात् कोई नहीं ।

आदित्योऽपि सविता उच्यते । इति ।

मध्यम देव से अन्य, आदित्यः अपि = आदित्य भी, सविता = सविता, उच्यते = कहा जाता है ।

तथाच हैरण्यस्तूपे स्तुतोऽर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच ।

तथाच = जिस प्रकार सविता आदित्य है उस प्रकार, हैरण्यस्तूपे = हैरण्यस्तूप सूक्त मे स्तुत = स्तुति किये गये, अर्चन् = पूजन करते हुए, हिरण्यस्तूप ऋषि = हिरण्यस्तूप ऋषि ने, इदम् सूक्तम् = इस सूक्त को प्रोवाच = कहा था।

तदभिवादिन्येपर्भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वात्रिंश खण्ड ।। १०-१२ ।।

तद् अभिवानी = उसी अर्थ को कहने वाली, एपा ऋक् = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयस्त्रिंश खण्डः ।।

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ॥

ऋ स ८-८-७-५ ।।

इस मन्त्र का हिरण्यस्तूप के पुत्र अर्चत् ऋषि, त्रिष्टुप छन्द और सविता देवता है। मन्त्रार्थ— सवित = हे प्रेरक सवितृदेव आदित्य [1], यथा = जिस प्रकार दूसरे कल्प के, आङ्गिरस = अङ्गिरा के पुत्र, हिरण्यस्तूप = हिरण्यस्तूप ऋषि ने, त्वा = तुम को, अस्मिन् वाजे = इस हविरूप अन्न के तैयार होने पर, जुह्वे = आह्वान किया था, एवा = एवम् = उसी प्रकार वे अहम् अर्चन् = अर्चन् नामक हिरण्यस्तूप ऋषि मैं त्वा = तुम को, अवसे = रक्षा के लिये, वन्दमान = वन्दना करता हुआ, सोमस्य इव = सोम के समान, अशुम् प्रति = सोम रस के प्रति, जागर = जागता हूँ। अर्थात् यज्ञ पर्यन्त तुम्हारी उपासना करता हूँ।

इस मन्त्र का भाष्य—

हिरण्यस्तूपो हिरण्मयस्तूपोऽस्येति वा। स्तूपः स्त्यायतेः संघातः। सवितर्यथात्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अन्ने अस्मिन्, एवं त्वर्चन्नवनायवन्दमानः सोमस्वे वाशुप्रतिजागर्म्यहम् ।

[1] हिरण्यस्तूप = हिरण्यस्य स्तूप = सुवर्ण का समूह, वा = अथवा, हिरण्मय स्तूप अस्य = सुवर्ण का, स्तूप (कीतिस्तम्भ) है जिस का इति = वह हिरण्यस्तूप कहा जाता है। स्त्यायते = स्त्यै धातु से, स्तूप = स्तूप शब्द बना है, सघात = सघात इस का अर्थ है। 'स्त्यायति सघीभवति इति स्तूप कीतिस्तम्भ' इस विग्रह मे 'स्त्यै शब्द सघातयो' धातु से 'पानीविषिभ्य प' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् प प्रत्यय, स्त्या प, धातु को स्तूभाव और कित्त्वात् गुणाभाव होने पर स्तूप शब्द बना है। सघात का नाम है। क्योकि, वह बहुत पदार्थों का समूह होता है।

सवितः = हे सवित. = हे आदित्य !, यथा = जैसे दूसरे कल्प के, आङ्गिरसः = अङ्गिरा के पुत्र ने, त्वा = तुम्हे. अस्मिन् वाजे = अन्ने = इस हवि रूप अन्न के तैयार होने पर, जुहृवे = आह्वान किया था, एवम् = वैसे ही, अर्चन् = अर्चन् नामक ऋषि अर्थात्, अहम् = मैं, त्वा = तुम्हें, भवनाय = अपनी रक्षा के लिये, वन्दमानः = वन्दना करता हुआ, सोमस्य इव = सोम के समान, अंशुम् प्रति = सोमरस के प्रति, जागर्भि = जागता हूँ। अर्थात् यज्ञ पर्यन्त उपासना करता हूँ।

२१ – त्वष्टा ।

मध्यमस्थान देवता का नाम त्वष्टा है। अर्थात् 'तूर्णम् अश्नुते व्याप्नोति इति त्वष्टा मध्यम देवः' इस विग्रह में, क्षिप्र वाची तूर्ण शब्द उपपद 'अशू व्याप्तौ संघाते च' धातु से 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र के निपातन से तृन् (तृ), 'र्ण' का लोप, तू अश् तृ, यण्, त्वश् तृ, षत्व, ष्टुत्व होने पर 'त्वष्टृ' शब्द बना है। 'त्वष्टा' यह सु का रूप है। मध्यम देव का नाम है। क्योंकि, वह शीघ्र व्याप्त होने वाला है।

यास्क कहते हैं—

त्वष्टा व्याख्यातः ।

त्वष्टा = त्वष्टृ शब्द, व्याख्यात. = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या इसी अध्याय तेरहवें खण्ड में हो चुकी है। वहां वायु वा अग्नि वाचक है और यहां तार्क्ष्य के समान मध्यमदेव वाचक है। इतना ही भेद है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयस्त्रिंश. खण्ड· १० – ३३ ।

तस्य = उस त्वष्टा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुस्त्रिंश. खण्ड. ।

दे॒वस्त्वष्टा॑ सवि॒ता वि॒श्वरू॑पः पु॒पोष॑ प्र॒जाः पु॑रु॒धा ज॑जान ।

इ॒मा च॒ विश्वा॒ भुव॑नान्यस्य म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म् ॥

देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषयति प्रजा रसानुप्रदानेन बहुधाचेमा जनयति, इमानि च सर्वाणि भूतानि, उदकान्यस्य, महच्चास्मैदेवानामसुरत्वमेकं प्रज्ञा वत्त्वंवाऽनवत्त्वं वाऽपि वाऽसुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ।

त्वष्टा देवः = यह त्वष्टा नामक देव, सविता = सर्व प्रेरक और, सर्वरूपः = सर्वरूप है। यह, रसानुप्रदानेन = जल के दान से, प्रजाः = सर्व प्रजाओ को, पोषयति = पोषण करता है। च = और, बहुधा = बहुत प्रकार से, इमाः = इन प्रजाओ को, जनयति = वर्द्धयति = बढाता है। इमानि सर्वाणि भूतानि = ये सब प्राणी, च = और, उदकानि = जल अस्य = इसके है। देवानाम् = देवो मे यह त्वष्टा देव, महत् = महान्, एकम् = मुख्य है। देवानाम् = देवो मे इसका, असुरत्वम् = प्राबल्य, वा = अथवा, प्रज्ञावत्त्वम् = बुद्धिमत्ता, अपिवा = अथवा, अनवत्त्वम् = प्राणवत्ता है। 'असु.' इति = असु यह, प्रज्ञानाम = प्रज्ञा अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि का नाम है क्योकि, अनर्थान् = यह बुद्धि अनर्थों को, अस्यति = असन करती है = दूर हटाती है। च = और, अस्याम् = इस (बुद्धि) मे, अर्थाः = सब अर्थ, अस्ता. = अस्त है। असुरत्वम् आदिलुप्तम् = असुर शब्द के आदि अक्षर का लोप होने पर अर्थात् अकार का लोप होने पर सुर शब्द बन जाता है।

२२ – वातः ।

मध्यमदेव वायु का नाम वात है। यास्क निर्वचन करते हैं—

वातः—वातीति सतः ।

वाति इति सतः = वाति इस अर्थ मे वा धातु से तन् प्रत्यय होने पर, वातः = वात शब्द बना है। अर्थात् 'वाति गच्छति इति वातः वायुः' इस विग्रह मे 'वा गतिगन्धनयो' धातु से 'हसिमृग्रिण् वाऽमिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन्' इस उणादि सूत्र से कर्ता अर्थ मे तन् (त) प्रत्यय 'वात' शब्द बना है। वायु का नाम है। क्योकि, वायु गमन करता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्ड. ।। १० – ३४ ।।

तस्य = उस वात की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चत्रिंश. खण्ड. ।

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत ॥ ऋ सं. ८-८-४४-१ ॥

इस मन्त्र का उल्व वातायन ऋषि, गायत्री छन्द और वायु देवता है। मन्त्रार्थ—वातः = माध्यमिक वायुदेव, नः = हमारे लिये और, हृदे = हमारे हृदय के लिये, भेषजम् = जो जो पथ्य हो उनको, आ वातु = ले आवें। शंभु = रोग शमन करने वाला, मयोभु = सुख देने वाला वायुदेव, नः = हमारी, आयुषि = आयु को, प्रतारिषत् = प्रवर्धयतु = बढावें। इस मन्त्र में वायु से प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

वात आवातु भैषज्यानि शम्भु मयोभु च नोहृदयाय। प्रवर्धयतु च न आयुः।

वातः = वायु देव, भैषज्यानि = जो जो हमारे लिये पथ्य हो उन सब को, आवातु = ले आवें। शम्भु = रोग शमन करने वाला, च = और, मयोभु = सुख देने वाला वायुदेव, नः = हमारे, हृदयाय = हृदय के लिये। च = और, नः = हमारी, आयुः = आयु को, प्रवर्धयतु = बढावें।

२३ – अग्निः ।

मध्यमस्थान विद्युत् रूप अग्नि का नाम अग्नि है। इसकी व्याख्या निरुक्त अध्याय ७ खण्ड १४ वहां में हो चुकी है। वां पृथिवी स्थान अग्नि और यहां मध्यमस्थान अग्नि अर्थ है। इसीको कहते हैं—

अग्निर्व्याख्यातः ।

अग्निः = अग्नि शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् सप्तम अध्याय चतुर्दश खण्ड के प्रारम्भ में ही इसकी व्याख्या हो चुकी है। वहां 'अग्रं नयति इति अग्निः' इस विग्रह मे अग्र शब्द उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, अग्र नी, पृषोदरादित्वात् अग्र के रैफ तथा अकार का लोप और नी को ह्रस्व होने पर अग्नि शब्द बना है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः । १० – ३५ ॥

तस्य = मध्यम स्थान अग्नि की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः ।

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयते ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ऋ सं. १-१-३५-१ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि और मरुद्गण देवता है। मन्त्रार्थ— अग्ने = हे अग्निदेव! त्यम् = उस, चारुम् = सुन्दर, अध्वरम् प्रति = यज्ञ के प्रति तुम,

गोपीथाय = सोमपान के लिये, प्रहूयसे = बुलाये जाते हो। अतः, मरुद्भिः = मरुतों के साथ, आगहि = आओ। इस मन्त्र मे अग्नि से प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ।

तम् चारुम् अध्वरम् प्रति = उस सुन्दर यज्ञ के प्रति, सोमपानाय = सोमपान के लिये तुम, प्रहूयसे = बुलाये जाते हो, अग्ने = हे अग्नि देव !, सः = वह तुम, मरुद्भिः सह = मरुद् देवताओ के साथ, आगच्छ = आओ। इति = इस प्रकार, मध्यमात् = मध्यमदेव से, अन्यम् = अन्य देव को कम् = किस को, एवम् = ऐसा, अवक्ष्यत् = कहा जाय ? अर्थात् मध्यम देव के अतिरिक्त अन्य किस देव को ऐसा कहा जाय ? अर्थात् किसी को नही। अतः अग्नि शब्द से यहा मध्यम ही है, पार्थिव नही।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः । १०–३६ ॥

तस्य = उस अग्नि की, एषा अपरा = यह दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्ड. ।

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ऋ सं. १–१–३७–९ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और अग्नि तथा मरुद्गण देवता है। मन्त्रार्थ-अग्ने = हे अग्निदेव !, त्वा = तुम को, पूर्वपीतये = प्रथम पान के लिये. अभिसृजामि = वदामि = कहता हूँ कि, सोम्यम् = यह सोम. मधु = मधुर है। तुम, मरुद्भिः = मरुद् देवो के साथ, आगहि = आगच्छ = आओ। इस मन्त्र मे भी सोमपान के लिये अग्नि से प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयं सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः । १०–३७ ॥

अग्ने = हे अग्निदेव !, त्वा = तुम को, पूर्वपीतये = पूर्वपानाय = प्रथमपान के लिये, अभिसृजामि = अभिवदामि = कहता हूँ कि, सोम्यम् = सोममयम् = सोम रूप, मधु = यह, मधुर है। सः = वह तुम, मरुद्भिः सह = मरुतो के साथ, आगच्छ = आओ, इति = इत्यर्थः ।

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टात्रिंश: खण्ड: ।

२४ – वेनः ।

मध्यमस्थान देव विशेष का नाम वेन है । इसका निर्वचन यास्क करते हैं—

वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः ।

कान्तिकर्मणः = कान्ति अर्थक, वेनते: = वेन धातु से, वेनः = वेन शब्द बना है । अर्थात् 'वेन्यते दीप्यते इति वेनः मध्यमस्थानदेवः' इस विग्रह मे कान्त्यर्थक नैघण्टुक वेन धातु से पचाद्यच् प्रत्यय होने पर 'वेन' शब्द बना है । मध्यमस्थान देवता का नाम है । क्योंकि, यह सर्वलोककान्त होता है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्याष्टात्रिंश: खण्ड: । १०–३८ ।।

तस्य = उस वेन की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकोनचत्वारिंश: खण्ड: ।

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥

ऋ. सं. ८–७–७–१ ।।

इस मन्त्र का भार्गव वेन ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वेन देवता है । मन्त्रार्थ—अयम् वेनः = यह सर्वलोककान्त मध्यमदेव वेन, ज्योतिर्जरायुः = ज्योति गर्भ की जरायु के समान मिला हुआ है । रजसः विमाने = जल के संग्रह स्थान अन्तरिक्ष में बैठा हुआ, पृश्निगर्भा = आदित्यगर्भरूप जल को पृथिवी के प्रति, चोदयत् = चोदयति = प्रेरणा करता है । इमम् = इस वेनदेव को, अपाम् = जलों के, सूर्यस्य = सूर्य के, संगमे = संगमन के स्थान अन्तरिक्ष में, स्थित को, विप्राः = मेधावी ब्राह्मण, शिशुम् न = बालक के समान, मतिभिः = स्तुति द्वारा, हिन्ति = लिहन्ति = चाटते हैं, या, स्तुवन्ति = स्तुति करते हैं या, वर्द्धयन्ति = बढाते हैं या पूजयति = पूजा करते हैं = सराहते हैं ।

इस का भाष्य—

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा प्राष्टवर्ण–गर्भा अप इति वा ज्योतिर्जरायुः–ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति । जरायुर्जरया गर्भस्य, जरयायूयत इति वा । इममपां च सङ्गमने सूर्यस्य च, शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति–लिहन्ति–स्तुवन्ति–वर्धयन्ति–पूजयन्तीति वा ।

अयम् वेनः = यह वेनदेव, पृश्निगर्भाः = सूर्य के गर्भरूप से प्राप्त जलों को, इति वा = अथवा, प्राप्टवर्ण गर्भाः = प्रकृष्ट अर्थात् बहुत तेजवर्ण वाले सूर्य के गर्भभाव को प्राप्त जलों को, ज्योतिर्जरायुः = अपनी ज्योति से जरायु के समान मिश्रित, अर्थात्, अस्य = इसकी, ज्योतिः = ज्योति, जरायुस्थानीयम् = जरायु = गर्भ के आवरण के स्थानापन्न, भवति = होती है। गर्भस्य = गर्भ की, जरया = जरा के साथ उत्पन्न होता है इस लिये उल्व (बच्चादानी), जरायुः = जरायु कहा जाता है। जैसे जैसे गर्भ बढ़ता जाता है। वैसे वैसे जरायु (बच्चादानी) भी बढ़ता जाता है। वा = अथवा, जरया = जरा से, यूयते = मिश्रित होता है। इस लिये, जरायुः = उल्व जरायु कहा जाता है। इमम् च सूर्यस्य च = इस वेन और सूर्य के, संगमने = संगमन स्थान अन्तरिक्ष में स्थित को, शिशुम् इव = बालक के समान, विप्राः = मेधावी ब्राह्मण, मतिभिः = स्तुति द्वारा, रिहन्ति = लिहन्ति = आस्वादन करते हैं, स्तुवन्ति = स्तुति करते हैं, वर्धयन्ति = बढाते है, वा = अथवा, पूजयन्ति = पूजते हैं, इति = इत्यर्थः।

मन्त्र मे आया हुआ शिशु शब्द का निर्वचन करते हैं—

शिशुः शंसनीयो भवति। शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः। चिरलब्धो गर्भ इति।

शिशुः = बालक, शंसनीयः = माता पिता आदि के द्वारा प्रशंसनीय, भवति = होता है। वा = अथवा, दानकर्मणः = दानार्थक, शिशीतेः = शी धातु से, शिशु शब्द, स्यात् = शायद बना हो। अर्थात् शी धातु से शिशु शब्द बना है। जैसे नया गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों में कहा जाता है कि, इसने, गर्भ = गर्भ, चिरलब्धः = देर से प्राप्त किया है। अर्थात् 'शंस्यते पित्रादिना प्रशंस्यते इति शिशुः' इस विग्रह मे 'शंसु स्तुतौ' धातु से उणादि उप्रत्यय और पृषोदरादित्वात् शंस् को शिश् आदेश होने पर 'शिशु' शब्द बना है। बालक का नाम है। क्योंकि, बालक माता पिता आदि के द्वारा प्रशंसित होता है।

अथवा 'शीयते पुरुषेण स्त्रियै गर्भतया धारणाय दीयते इति शिशुः' इस विग्रह में दानार्थक नैरुक्त शी धातु से उणादि उ प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु को शिश् आदेश होने पर शिशु शब्द बना है। नव जात बालक का नाम है। क्योंकि, वह पुरुष के द्वारा स्त्री को गर्भ रूप से धारण करने के लिये दिया जाता है। अत एव स्त्रियों मे यह सम्वाद प्रसिद्ध है—'चिरलब्धो गर्भ इति' अर्थात् इसने बहुत देर से गर्भ प्राप्त किया है।

२५ — असुनीतिः।

असुनीति मध्यमस्थान इन्द्र रूप वायु देवता का नाम है। इस का निर्वचन करते हैं—

असुनीतिरसून् नयति।

वायु, असून् = प्राणो को मरण काल मे अन्यत्र, नयति = ले जाता है इस लिये, असुनीतिः = असुनीति कहा जाता है। अर्थात् 'असून् इतरान् प्राणान्, नयति = अन्यत्र प्रापयति इति असुनीतिः' इस विग्रह मे असु शब्द उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र से कर्ता में

क्तिन् (ति) प्रत्यय होने पर 'असुनीति' शब्द बना है। मध्यमदेवता प्राणवायु का नाम है। क्योंकि, यह मुख्यप्राण जब निकलने लगता है तब इन्द्रियादि गौण प्राण को साथ ले जाता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकोनचत्वारिंशः खण्डः । १०-३९ ॥

तस्य = उस असुनीति देव की. एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः ।

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥

ऋ. सं. ७-८-१८-५ ॥

इस मन्त्र का श्रुतबन्धु ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और असुनीति नामक प्राण देवता है। मन्त्रार्थ— असुनीते = हे प्राणियों के प्राण की अधिनेत्रि देवि ! (हे मध्यमस्थ वायुरूप प्राण देव !) तुम, अस्मासु = हम में, मनः = मन को, धारय = धारण करो। जीवातवे = हमारे बहुत काल तक जीने के लिये, सुप्रतिर = आयुष को बढाओ। नः = हम में, आयुः = आयुष, रारन्धि = सिद्ध करो अर्थात् स्थापन करो। नः = हमें, सूर्यस्य = सूर्य के, संदृशि = दर्शन के लिये समर्थ बनाओ। त्वम् = तुम, हमारे दिये हुए, घृतेन = घृत से, तन्वम् = अपने शरीर को, वर्धयस्व = बढ़ाओ। अथवा, इस मन्त्र में प्राणरूप मध्यम देव से प्राण की याचना की गई है।

इस मन्त्र का भाष्य—

असुनीते मनः अस्मासु धारय, चिरंजीवनाय प्रवर्धय च न आयू रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय ॥

असुनीते = हे असुनीते ! अस्मासु = हम में, मनः = मन को, धारय = धारण करो। अर्थात्, चिरंजीवनाय = बहुत काल तक जीने के लिये, प्रवर्धय = आयुष को बढ़ाओ। नः = हमारे में, अयुः = आयुष को, रन्धय = बढाओ अर्थात् स्थापन करो। नः = हमें, सूर्यस्य = सूर्य के, सन्दर्शनाय = दर्शन के लिये समर्थ बनाओ।

मन्त्र में 'रारन्धि' पद है। जो यङ्लुगन्त है। जिसका अर्थ यास्कने 'रन्धय' अर्थात् निष्पादय किया है। जो णिजन्त 'रध हिंसासंराद्ध्योः' धातु के लोट् का रूप है। इसका दूसरा अर्थ बताते हैं—

रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते ।

रध्यति = रध धातु, वशगमने अपि = वशगमन अर्थात् अधीन चलने अर्थ में भी, दृश्यते = देखा जाता है। जैसे—

"मा रंधाम द्विषते सोमराजन्" इत्यपि निगमो भवति ।

सोमराजन् = हे सोमराजन्! हम, द्विषते = शत्रुओं के वश मे, मा रधाम = न होवें । इति अपि = यह भी, निगमः = उदाहरण मन्त्र, भवति = है । सम्पूर्ण मन्त्र—

देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रंधाम द्विषते सोम राजन् ॥

ऋ सं. ८-७-१५-५ ॥

इस मन्त्र का आङ्गिरस विहव्य ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव देवता है। मन्त्रार्थ—षट् उर्वी देवीः = छह देवियां अर्थात् द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और ओषधि रूप छ. देवियाँ, न. = हमारी, उरु कृणोत = विस्तीर्ण श्री वृद्धि करें। विश्वे देवासः = सर्व देवगण, इह = यहां, वीरयध्वम् = ऐसा पराक्रम दिखवे कि, मा प्रजया तनूभिः हास्महि = हम सन्तान और शरीर से वियुक्त न होवें। अर्थात् हमारी और हमारी सन्तान की अकालमृत्यु न होने पावे। सोमराजन् = हे सोमराजन्! हम कभी, द्विषते = द्वेष करने वाले शत्रुओ के, मा रधाम = वश मे न होवें। इस मन्त्र मे 'रधाम' यह 'रध' धातु का रूप है। जिसका अर्थ वशगमन है।

अब असुनीति मन्त्र के चतुर्थ पाद की व्याख्या करते हैं—

घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व ।

त्वम् = तुम, हमारे दिये हुए, घृतेन = घृत से, आत्मानम् तन्वम् = अपने शरीर को, वर्धयस्व = बढाओ ।

२६ – ऋतः ।

'ऋतः' यह मध्यमदेव मेघ या विजली का नाम है। 'ऋच्छति अन्तरिक्षे गच्छति इति ऋतः मध्यमदेवः मेघ.' इति विग्रह मे 'ऋ गतिप्रापणयोः' धातु से 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादि सूत्र से कर्ता में क्त (त) प्रत्यय होने पर ऋत शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ आकाश में गमन करता है। यास्क कहते हैं—

ऋतो व्याख्यातः ।

ऋतः = ऋत शब्द, व्याख्यात. = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या, उदक नामों में 'ऋतमित्युदकनाम-प्रत्यृत भवति' इत्यादि पंक्ति (नि. २-२५) से हो चुकी है। वहा इस का अर्थ जल और यहा मेघ या विद्युत् है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः ॥ १०-४० ॥

तस्य = उस ऋतदेव की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः ।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥

ऋ. ३-६-१०-८ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और ऋत देवता है। मन्त्रार्थ—ऋतस्य हि शुरुधः पूर्वीः सन्ति = मेघ का जल प्रथम सञ्चित होता रहता है। ऋतस्य धीतिः वृजिनानि हन्ति = मेघ की वृष्टि-प्रज्ञा दुष्काल-तम का नाश करके पापों का भी नाश करती है। ऋतस्यबुधानः शुचमानः श्लोकः = तथा मेघ की उच्च गर्जना देदीप्यमान होकर मनुष्यों के कर्तव्य का बोध कराती है। बधिरा आयोः = बहिरे मनुष्य के भी, कर्णा आततर्द = कानों को खोल देती है। इस मन्त्र में ऋत नामक मेघ देव की प्रशंसा है।

इस मन्त्र का भाष्य—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य प्रज्ञावर्जनीयानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णा वातृणक्ति बधिरो बद्धश्रोत्रः। कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य मनुष्यस्य, ज्योतिषो वोदकस्य वा ॥

ऋतस्य हि शुरुधः पूर्वीः सन्ति = मेघ का जल प्रथम सञ्चित होता रहता है। ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति = मेघ की वृष्टि प्रज्ञा दुष्काल तम का नाश करके पापों का भी नाश करती है। ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णौ आतृणत्ति = मेघ की उच्च गर्जना देदीप्यमान होकर मनुष्यों के कर्तव्य का बोध कराती है। बद्धश्रोत्रः = बद्धकर्ण को, बधिरः = बधिर कहते हैं। मेघ की गर्जना, कर्णौ = कान को, बोधयन् = बोध कराती हुई, च = और, दीप्यमानः = दीप्यमान होती हुई, आयोः = अयनस्य मनुष्यस्य = बहिरे मनुष्य के भी कानों को खोल देती है। वा = अथवा, ज्योतिषः = ज्योति का, वा = अथवा, उदकस्य = जल का। भाव यह है कि बहिरे भी उस के यश को जानते हैं ऐसा ऋतदेव हैं।

२७ — इन्दुः ।

इन्दु नाम चन्द्रमा का है। यास्क इसकी सिद्धि बताते हैं—

इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा ।

इन्धेः = इन्ध धातु से, वा = अथवा, उनत्तेः = उन्दी धातु से, इन्दुः = इन्दु शब्द बना है। अर्थात् 'इन्धे दीप्यते इति इन्दुः चन्द्र.' इस विग्रह में 'ञि इन्धी दीप्तौ' धातु से 'भृमृशीतृचरित्' इत्यादि उणादि सूत्र से बाहुलकात् उ प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् धकार को दकार होने पर इन्दु शब्द बना है। मध्यमदेव चन्द्रमा का नाम है। क्योंकि, वह प्रकाश करता है। अथवा 'उनत्ति वर्षण क्लेदयति इति इन्दुः चन्द्रमा' इस विग्रह में 'उन्दी क्लेदने' धातु से 'उन्देरिच्चादेः' इस उणादि सूत्र से उ प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु के उकार को इकार होने पर इन्दु शब्द बना है। मध्यमस्थान चन्द्र का नाम है। क्योंकि, वह वर्षा के द्वारा सब को भिजा देता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः । १०-४१ ॥

तस्य = उस इन्दु की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्यद्वाचत्वारिंशः खण्डः ।

प्र तद्वो॑चेयं भ॒व्याये॒न्द॑वे ह॒व्यो॑ न य इ॒षवा॒न्मन्म॒ रेज॑ति रक्षो॒हा मन्म॒ रेज॑ति।
स्वयं सो अ॒स्मदा नि॒दो व॒धैर॑जेत दु॒र्मति॑म् ।
अव॑ स्रवेद॒घशं॑सोऽवत॒रमव॑ क्षु॒द्रमि॑व स्रवेत् ॥ ऋ सं २-१-१६-६ ॥

इस मन्त्र का दिवोदास के पुत्र परुच्छेद ऋषि, अतिधृति छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ— भव्याय = भवनशील, इन्दवे = चन्द्र के लिये हम, तत् = उस वक्ष्यमाण स्तोत्र को, प्रवोचेयम् = पढते हैं। यः = जो चन्द्र, इषवान् = इच्छा करते हुए, मन्म = मननीय स्तोत्र का उद्देश करके, रेजति = आते है और जो चन्द्र, हव्यः न = आह्वान करने योग्य इन्द्र के समान, रक्षोहा = यज्ञविघातक राक्षसों के मारने वाले हैं और, मन्म = उन के कर्म हननादिकों, रेजति = नाश करते हैं। सः = वही चन्द्र, स्वयम् = स्वयं, अस्मत् = हमारे, निदः = निन्दा करने वाले, दुर्मतिम् = दुर्बुद्धि शत्रुओं को. वधैः = हनन-उपाय शस्त्रों के द्वारा, आ अजेत् = नाश करे। अघशंसः = पाप को कह देने वाला चोर का, क्षुद्रम् इव, क्षुद्र जल के समान, अवतरम् = अधोमुख हो कर, अवस्रवेत् = अधःपतन हो। इस मन्त्र मे मध्यम देव चन्द्र (इन्दु) की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे हवनार्ह इव इषवानन्नवान् कामवान् वा मननानि च नो रेजयति। रक्षोहा च बलेन रेजयति। स्वयं सो अस्मदभिनिन्दितादरम् वधैरजेत दुर्मतिम्। अवस्रवेदघशंसः सतश्चावरंक्षुद्रमिवावस्रवेत्।

भव्याय इन्दवे = भवनशील चन्द्र के लिये मैं, तत् = उस स्तोत्र को, प्रब्रवीमि = पढता हूँ। जो चन्द्र, हवनार्ह इव = आह्वान करने योग्य इन्द्र के समान, यः = जो चन्द्र, इषवान् = अन्नवान् = अन्नवाला, वा = अथवा, कामवान् = इच्छा वाला अर्थात् इच्छा करते हुए, नः = हमारे, मननानि च = मननीय स्तोत्र का उद्देश करके, रेजयति = आते हैं। और जो चन्द्र, रक्षोहा = यज्ञ विघातक राक्षसों के, बलेन = अपने बल से, रेजयति = मारने वाले हैं। सः = वह चन्द्र, स्वयम् = स्वयं, अस्मद् = हमारे, अभिनिन्दितारम् = निन्दा करने वाले, दुर्मतिम् = दुष्ट बुद्धि शत्रुओं को, वधैः = शस्त्रों के द्वारा, अजेत = नाश करे। अघशंसः = पाप को कह देने वाले का, अवस्रवेत् = अधःपतन हो। च = और, सता = पतन होता हुआ, अवरम् = अधोमुख हो कर, क्षुद्रम् इव = क्षुद्र के समान, अवस्रवेत् = गिरे।

प्रश्न—इस मन्त्र में रेजति और 'स्रवेत्' का अभ्यास (दो दो वार पाठ) क्योंकि किया गया है? इसका उत्तर—

अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते।

मन्त्रों के अर्थ तत्त्व के जानने वाले आचार्य लोग, अभ्यासे = अभ्यास में अर्थात् एक एक पद को दो दो वार पढने में, भूयांसम् अर्थम् = बाहुल्य अर्थ, मन्यन्ते = मानते हैं। लोक में भी ऐसा प्रयोग देखा गया है—

यथा—अहो दर्शनीया, अहो दर्शनीयेति।

इस वाक्य में 'अहो' पद आश्चर्य अर्थ में है। यथा = जैसे, अहो दर्शनीया = अहो यह स्त्री दर्शनीय है, अहो दर्शनीया = अहो यह स्त्री दर्शनीय है। यहाँ 'अहो दर्शनीया' का अभ्यास अर्थात् दो बार पाठ है। जिस से अर्थ बाहुल्य भासता है। वैसे ही मन्त्रों में भी समझना चाहिये।

तत्परुच्छेपस्य शीलम्।

तत् = वह यह, परुच्छेपस्य = इस मन्त्र के द्रष्टा परुच्छेप ऋषि का, शीलम् = स्वभाव है कि, अपने देवता की स्तुति में एक एक शब्द को दो दो वार बोलते हैं। जिस से अर्थबाहुल्य प्रतीत हो। केवल इन्ही का नही अपितु सभी मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का यह स्वभाव समझना चाहिये।

परुच्छेप ऋषिः। पर्ववच्छेपः। परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा।

परुच्छेपः = परुच्छेप नामक, ऋषिः = एक मन्त्र द्रष्टा ऋषि हैं। उसका, पर्ववत् = ग्रन्थिवाला महान शेपः = लिङ्ग (मेढ्) है। वा = अथवा, परुषि परुषि = अङ्गों की सन्धि सन्धि में शेपः = शेप है जिसका। अर्थात् शेपकृत सर्वाङ्गीणकाम के द्वारा सर्व अङ्गों पर स्पर्श होता है। 'पर्ववत् शेपः इति परुच्छेपः' इस विग्रह में पर्व शब्द और शेप शब्द का 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र से कर्मधारय समास, पर्व शेप पृषोदरादित्वात् पर्व के स्थान में परुत् आदेश, परुत् शेप, 'झुल्वेऽन्, परवर्ण च्, परुच् शेप, 'शश्छोऽटि' इस सूत्र से शकार को छकार होने पर परुच्छेप शब्द बना है। ग्रन्थि वाला शेप = लिङ्ग वाला।

इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि ।

इति = इस प्रकार, इमानि = ये (वायु से ले कर इन्दु तक) सप्तविंशतिः = सत्ताईस, देवतानामधेयानि = देवताओ के नाम, अनुक्रान्तानि = कहे गये ।

सूक्तभाञ्जि–हविर्भाञ्जि ।

उन सत्ताईस देवताओं मे से कितने तो, सूक्तभाञ्जि = सूक्तभाक् और कितने, हविर्भाञ्जि = हविर्भाक हैं। जिनकी सूक्तों मे प्रधानता से स्तुति हो वे सूक्तभाक् और जिनकी यज्ञ में हवि दी जाती हो वे हविर्भाक कहे जाते है। भाव यह है कि, इन सत्ताईस देवताओं में कोई सूक्तभाक है, हविर्भाक् नही और कोई सूक्तभाक् और हविर्भाक् दोनों हैं। इसी को दिखाते है—

तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि – वेनोऽसुनीतिऋत इन्दुः ।

तेषाम् = उन में ये चार देवता, अहविर्भाञ्जि = हविर्भाक् नही हैं। केवल सूक्तभाक् हैं। जैसे-वेनः असुनीतिः ऋतः इन्दुः = वेन, असुनीति, ऋत और इन्दु इन चारों की सूक्तों में स्तुति-मात्र है और यज्ञ में इन्हे हवि नही दी जाती है। शेष तेईस देवता हवि और सूक्त दोनों के भागी हैं।

२८ – प्रजापतिः ।

प्रजापति मध्यमस्थ देव का नाम हैं। इसका निर्वचन करते हैं—

प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा।

प्रजानाम् = प्रजाओं का, पाता वा पालयिता वा = पालन करने वाला, प्रजापतिः = प्रजापति कहा जाता है। अर्थात् 'प्रकर्षेण जायन्ते इति प्रजाः' इस विग्रह में प्रपूर्वक 'जनी प्रादुर्भावे' धातुसे 'उपसर्गेच संज्ञायाम्' इस सूत्र से 'ड' प्रत्यय (अ), प्रजन् अ, डित्वात् टि लोप और टाप् होने पर प्रजा शब्द बना है। सन्तान और रैयत का नाम है। पाति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह मे, 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति (अति) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर पति शब्द बना है। अथवा 'पालयति रक्षति इति पतिः' इस विग्रह में 'पाल रक्षणे' धातु से उक्त डति प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् पाल को प् आदेश होने पर पति शब्द बना है। इस प्रकार 'पा' और 'पल' इन दो धातुओं से पति शब्द बना है। अर्थ एक ही है। 'प्रजानां पतिः इति प्रजापतिः मध्यमदेवः' इस विग्रह मे 'षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठीतत्पुरुष समास होने पर प्रजापति द बना है। मध्यमदेव का नाम है। क्योंकि, वह सब प्रजाओं का पालन करने वाला है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य द्विचत्वारिंशः खण्डः । १० – ४२ ॥

तस्य = उस प्रजापति का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

ऋ सं. ८-७-४-१० ॥

इस मन्त्र का प्रजापति के पुत्र हिरण्यगर्भ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और प्रजापति देवता है। मन्त्रार्थ—प्रजापते = हे प्रजापते !, त्वत् = तुम्हारे अतिरिक्त और कोई, याः एतानि विश्वा जातानि = जो ये समस्त उत्पन्न वस्तु हैं, ताः = उनको, न परि बभूव = अधीन करके न रख सकता है। तुम्ही सबको अपने अधीन रख सकते हो। यत्कामाः = हम जिस फल के अभिलाष से, ते = तुम्हारा, जुहुमः = हवन करते हैं, तत् = वह, नः = हमे, अस्तु = हो अर्थात् मिले। वयम् = हम, रयीणाम् = बहुत धनों के, पतयः = अधिपति, स्याम = होवें। इस मन्त्र में प्रजापति से धन के लिये प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परिबभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु-वयं स्याम पतयो रयीणां इत्याशीः।

प्रजापते = हे प्रजापते !, त्वद् अन्यः = तुम से अन्य, यानि एतानि सर्वाणि जातानि = जो ये सब उत्पन्न वस्तु हैं, तानि = उनको, न हि परिबभूव = अधीन करके नहीं रख सकता है। किन्तु तुम्ही सबको अपने अधीन रख सकते हो। वयम् = हम, यत्कामाः = जिस फल की इच्छा से, ते = तुम्हारा, जुहुमः = हवन करते हैं, तद् = वह, नः = हमें, अस्तु = मिले। वयम् = हम, रयीणाम् = धनो के, पतयः = स्वामी, स्याम = होवें। इति = इस मन्त्र में यह, आशीः = आशीर्वाद है। 'अप्राप्त प्रार्थनमाशीः' अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना अशीर्वाद कही जाती है।

२९ – अहिः ।

मध्यमस्थान देवता इन्द्र का नाम अहि है। यास्क कहते हैं—

अहिर्व्याख्यातः ।

अहिः = अहि शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या मेघ नामों में (नि. २-१७) 'अहिरयनात्' इत्यादि पंक्ति से हो चुकी है। वहाँ इसका अर्थ मेघ था और यहां मध्यम देव इन्द्र है। अर्थात् 'अह्नोति अन्तरिक्षे व्याप्नोति इति अहिः इन्द्रः' इस विग्रह में 'अह व्याप्तौ' धातु से 'इन् सर्वधातुभ्यः' इस उणादि सूत्र से इन् (इ) प्रत्यय होने पर 'अहि' शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र सर्वत्र व्याप्त है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य त्रयश्चत्वरिंशः खण्डः । १०-४३ ॥

तस्य = उस अहि की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः ।

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन् ॥

ऋ. सं. ५-३-२६-१६ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, द्विपदा विराट् अर्धर्च छन्द, अहि देवता है । मन्त्रार्थ—हे स्तोतः = स्तुति करने वाला ऋत्विक्! तुम, रजःसु सीदन् = जल में बैठे हुए, अब्जाम् = जल में उत्पन्न, नदीनाम् बुध्ने = नदी स्थान अन्तरिक्ष में विद्यमान अहिम् = मेघ घातक इस मध्यम देव इन्द्र की, उक्थैः = स्तोत्र के द्वारा, गृणीषे = स्तुति करते हो ।

इस मन्त्र का भाष्य—

अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु उदकेषु सीदन् । बुध्नमन्तरिक्षम्, बद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा । इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव, बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति ।

अप्सुजम् = जल में उत्पन्न, बुध्ने = अन्तरिक्ष में, नदीनाम् = नदके, रजःसु = उदकेषु = जलों में, सीदन् = बैठे हुए, अहिम् = मध्यम देव इन्द्र की, उक्थैः = स्तोत्रों से, गृणीषे = स्तुति करते हो । बुध्नम् अन्तरिक्षम् = बुध्न अन्तरिक्ष कहा जाता है । क्योंकि, अस्मिन् = इस में, आपः = जल, बद्धाः = बद्ध होते हैं, इति वा = अथवा, धृताः = धरे हुए होते हैं । इदम् अपि = यह भी, इतरत् = दूसरा शरीर वाचक, बुध्नम् = बुध्न शब्द, एतस्मात् एव = इसी धातु से बना है जिस से अन्तरिक्ष वाचक बुध्न शब्द बना है । क्योंकि, अस्मिन् = इस शरीर में, प्राणाः = प्राण, बद्धाः = बद्ध हैं अर्थात्, धृताः = धरे हुए हैं । इति = इत्यर्थः । अर्थात् 'बध बन्धने' धातु से 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' इस उणादि सूत्र से नक् (न) प्रत्यय और चकार से अकार को उकार होने पर बुध्न शब्द बना है । अन्तरिक्ष का नाम है । क्योंकि, अन्तरिक्ष में जल बद्ध होते हैं । शरीर का भी बुध्न नाम है । क्योंकि, इस का भी प्राण बद्ध होते हैं ।

३० – अहिर्बुध्न्यः ।

जो 'अहि' शब्द का मध्यमदेव इन्द्र अर्थ है वही 'अहिबुध्न्य' शब्द का भी मध्यमदेव इन्द्र अर्थ है । नाम में भेद है अर्थ मे नहीं असमस्त पद है । इसी को कहते हैं—

योऽहिः स बुध्न्यः । बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात् ।

य = जो, अहिः = अहि है, सः = वह, बुध्न्यः = बुध्न्य है । बुध्नम् अन्तरिक्षम् = बुध्न अन्तरिक्ष कहा जाता है, तन्निवासात् = उस मे निवास करने से बुध्न्य कहा जाता है । अर्थात्—

'बुघ्ने अन्तरिक्षे निवसति इति बुध्न्यः मध्यमदेवः' इस विग्रह में बुघ्न शब्द से 'छन्दसि च' इस सूत्र से यत् (य) प्रत्यय होने से 'बुध्न्य' शब्द बना है। अहि का अर्थ अन्तरिक्ष में व्याप्त और बुध्न्य का अर्थ अन्तरिक्ष में निवास करने वाला। अतः दोनों का अर्थ एक ही है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः । १०-४४ ॥

तस्य = उस अहिबुध्न्य की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः ।

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः ॥

ऋ. सं. ५-३-२६-१७ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, द्विपदा विराट् अर्धर्च छन्द और अहि देवता है। मन्त्रार्थ— अहिर्बुध्न्यः = अहिर्बुध्न्य मध्यम देव इन्द्र, नः = हमें, रिषे = हिंसक के लिये, मा धात = न देवें। अस्य ऋतायोः = इस यज्ञ काम यजमान का, यज्ञः = यज्ञ, मा स्रिधत् = नष्ट न हो। किन्तु सदा ही अविनाशी बना रहे। इस मन्त्र में अहिर्बुध्न्य मध्यम देव इन्द्र से प्रार्थना है। सायण ने अहि और अहिर्बुध्न्य का अर्थ अग्नि किया है।

इस मन्त्र का भाष्य—

मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धान्मास्य यज्ञोखा च स्रिधद् यज्ञकामस्य ।

अहिर्बुध्न्यः = व्याप्त तथा अन्तरिक्ष में रहने वाला मध्यम देव इन्द्र, नः = हमें, रेषणाय = हिंसक के लिये, मा च धात् = न देवें। च = और, अस्य यज्ञ कामस्य = यज्ञकाम यजमान का, यज्ञ = यज्ञोखा = यज्ञस्थाली = मा स्रिधत् = नष्ट न हो। किन्तु सदा यज्ञ होता ही रहे।

३१ — सुपर्णः ।

सुपर्ण शोभन पतन मध्यम देव गरुड समान वायु का नाम है। यास्क कहते हैं—

सुपर्णो व्याख्यातः ।

सुपर्णः = सुपर्ण शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या रश्मिनामों में (नि. ३-१२) 'सुपर्णाः सुपतनाः' इत्यादि पंक्तियों से की गई है। वहां सूर्य की रश्मि और यहां मध्यम देव वायु अर्थ है। इतना भेद है। अर्थात् 'सुष्ठु पिपर्ति पालनं करोति इति सुपर्णः मध्यम देवः' इस विग्रह में सुपूर्वक 'पृ पालनपूरणयोः' धातु से 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' इस उणादि सूत्र से न प्रत्यय, गुण और णत्व होने पर सुपर्ण शब्द बना है। मध्यमस्थानी वायु देव का नाम है। क्योंकि, वह मध्यमदेव मेघ को चालित कर वृष्ट्यादि द्वारा सब का पालन करता है।

तस्यषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः ॥ १०-४५ ॥

तस्य = उस सुपर्ण की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः ॥

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥

ऋ. सं. ८-६-१६-४ ॥

इस मन्त्र का सध्रि नामक वैरूप ऋषि, जगती छन्द और विश्वदेव देवता है। मन्त्रार्थ—एकः = एक, सुपर्णः = सुपतन मध्यमस्थान वायु देव, समुद्रम् = अन्तरिक्ष में, आविवेश = आ बैठा है और, बैठ कर, सः = वह, इदम् विश्वम् भुवनम् = सारे विश्व रूप भुवनों को, विचष्टे = देखता है। तम् = उस देव को मैं ने, पाकेन मनसा = प्रशस्य मन के द्वारा, अपश्यम् = देखा। अन्तितः = समीप में, माता = जल के निर्मात्री माध्यमिका वाक् उसका, रेळिह् = आस्वादन करती है और, स उ = वह वायुदेव भी, मातरम् = माध्यमिका वाक् का, रेळिह् = आस्वादन करता है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविशति स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति, तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितः। इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। तं माता रेळ्हि वागेषा माध्यमिका स उ मातरं रेळ्हि ।

एकः सुपर्णः = एक सुपतन मध्यम देव है, सः = वह, समुद्रम् = अन्तरिक्ष मे, आविशति = प्रवेश करता है = रहता है। सः = वह, इमानि सर्वाणि भूतानि = इन सब प्राणियों को, अभिविपश्यति = देखता है। मैं ने, तम् = उस को, पाकेन मनसा = प्रशस्य मन से, अन्तितः = समीप में, अपश्यम् = देखा। इति = इस प्रकार, दृष्टार्थस्य ऋषेः = मन्त्रद्रष्टा ऋषि को, प्रीतिः भवति = प्रीति उत्पन्न हुई जो, आख्यासंयुक्ता = आख्यान के रूप में वर्णित है। तम् = उस देव को, माता = माध्यमिका वाक्, रेळ्हि = लेढि = चाटती है। एषा = वह चाटने वाली, माध्यमिका वाक् = मध्यम देवता वाणी है और, सः उ = वह मध्यमदेव, मातरम् = माध्यमिका वाक् को, रेळ्हि = लेढि = चाटता है। दोनों मध्यम देव और देवी, अन्तरिक्ष रूप एक आश्रय होने से आपस में प्रेम करते हैं।

३२ – पुरूरवाः ।

इति द्वात्रिंशत्पदानि ।

पुरूरवस् बहुत शब्द करने वाला मध्यमदेव मेघ का नाम है। इसी को कहते हैं—

पुरूरवाः—बहुधा रोरूयते ।

बहुधा = बहुत प्रकार रोरूयते = रोता है अर्थात् अतिशय मेघ गर्जना रूप शब्द करता है इस लिये मेघ पुरूरवाः = पुरूरवस् कहा जाता है। अर्थात् 'पुरु = बहुधा रोरूयते = स्तनयति इति पुरूरवाः मेघः' इस विग्रह में पुरुउपपद 'रु शब्दे' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, गुण, अवादेश, पुरुरवस्, 'अन्येषामपि दृश्यते' इस सूत्र से पूर्वपद को दीर्घ होने पर 'पुरूरवस्' शब्द बना है। मेघ का नाम है। क्योंकि, मेघ बार बार गर्जना करता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः ॥ १० – ४६ ॥

तस्य = पुरूरवस् की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तचत्वारिंशः खण्डः ।

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः ।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन् दस्युहत्याय देवाः ॥

ऋ सं. ८-५-२-७ ॥

इस मन्त्र का उर्वशी ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और पुरूरवा देवता है। मन्त्रार्थ—उर्वशी कहती है कि, अस्मिन् जायमाने = इस पुरुरवा के जन्म ग्रहण करने पर अर्थात् जिस समय पुरूरवा ने जन्म लिया उस समय, ग्नाः = देवपत्नियाँ भी उनको देखने के लिये आईं, उत = और, ईम् = इस पुरूरवा को, स्वगूर्ता नद्यः = स्वयं अपने बल से गमन करने वाली नदियों ने भी, अवर्धयन् = उनकी संवर्धना की। पुरूरवः = हे पुरूरवा!; यत् वाक्यालङ्कारे। देवाः = देवोंने, त्वा = तुम्हें, दस्युहत्याय = दस्यु को मारने को महेरणाय = महान् संग्राम में जाने के लिये, अवर्धयन् = संवर्धना की है। इस सूक्त में पुरूरवा और उर्वशी का लम्बा आख्यान है।

इस मन्त्र का यास्क भाष्य—

समासतास्मिञ्जायमाने ग्ना गमनादापो–देवपत्न्यो वा। अपि चैनमवर्धयन्नद्यः स्वगूर्ताः स्वयं गामिन्यो महते च यत्त्वा पुरूरवो रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्। दस्युहत्याय च देवा देवाः।

इति निरुक्ते दशमाध्यायस्य सप्तचत्वारिंशः खण्डः ॥ १०–४७ ॥

अस्मिन् जायमाने = इस पुरूरवा के वृष्टिकर्म में प्राप्त होने पर, ग्नाः = गमनाद् = गमन स्वभाव, आपः = जलों ने, सम् आसत = उसे चारों ओर से घेर लिया। वा = अथवा, अस्मिन्

जायमाने = इस पुरूरवा के जन्म लेने पर, ग्ना: = देव पत्नियाँ भी, सम् आसत = इस को देखने के लिये आई। अपि च = और, स्वगूर्ता: = स्वयं गामिन्य: = स्वयं अपने बल से गमन करने वाली, नद्य: = नदियों ने भी, एनम् = इसको, अवर्धयन् = संवर्धना की। च = और पुरूरव: = हे पुरूरवा !, देवा: = सर्व देवों ने, महते रणाय = रमणीयाय = संग्रामाय = महान् संग्राम में जाने के लिये, च = और, दस्युहत्याय = डाकुओं को मारने के लिये, त्वा = तुम्हे, अवर्धयन् = बढाया है। 'देवा:' इस पद का दो बार पाठ अध्याय समाप्ति का सूचक है।

इति निरुक्तव्याख्यायां दशमाध्यायस्य सप्तचत्वारिंशः खण्डः। १०–४७।

निरुक्त के दशम अध्याय का खण्ड सूत्र

अथातो मध्यस्थाना वायवायाह्यासस्त्राणासो नीचीन वारम् तमुष्वि माराद्राय यातेदिद्युज्ज-रात्रोधाद्ददसद्योजात एव विवृक्षानश्रापिनद्धमष्मास्यमवतंक्षेत्रस्यपतिः क्षेत्रस्यपतिनो क्षत्रस्य पतेऽभी व द्यायुनरेद्वियो अनिष्य: परेयिवांसंसेनेवसृष्टा मित्रो जनान्हि रण्यगर्भों ते सरस्वन्विश्व कर्मासर्वस्य विश्वकर्माविमना विश्वकर्मन् हविषास्यमूपुसद्यश्चिधस्त्वया मन्ययादधिक्राः सवितायन्त्रै-हिरण्यस्तूपोदेवस्त्वष्टा धात आपातुप्रतित्यमभित्याचेनोवेनतेरयवेनोऽसुनीत ऋतस्य हिमद्योषेयं प्रजापतेऽन्जामुक्थैर्मानोहिरेकः सुपर्णः समस्मिन् सप्तचत्वारिंशत् ।

इति निरुक्ते दशमोऽध्यायः समाप्तः ।। १० ।।

श्रीगणेशाय नमः ।

निरुक्तम्

अथैकादशोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः खण्डः ।

निघण्टुः

श्येनः १ । सोमः २ । चन्द्रमाः ३ । मृत्युः ४ । विश्वानरः ५ । धाता ६ । विधाता ७ । मरुतः ८ । रुद्राः ९ । ऋभवः १० । अङ्गिरसः ११ । पितरः १२ । अथर्वाणः १३ । भृगवः १४ । आप्त्याः १५ । अदितिः १६ । सरमा १७ । सरस्वती १८ । वाक् १९ । अनुमतिः २० । राका २१ । सिनीवाली २२ । कुहूः २३ । यमी २४ । उर्वशी २५ । पृथिवी २६ । इन्द्राणी २७ । गौरी २८ । गौः २९ । धेनुः ३० । अघ्न्या ३१ । पथ्या ३२ । स्वस्तिः ३३ । उषाः ३४ । इळा ३५ । रोदसी ३६ । इति षट्त्रिंशत्पदानि ॥

१ – श्येनः ।

श्येन मध्यम देवता का नाम है। मध्यम देवता वायु है। जिसको इन्द्र भी कहते हैं। 'श्यायते शंसनीयं गच्छति इति श्येनः वायुः' इस विग्रह मे 'श्यैङ्गतौ' धातु से 'श्यास्त्याहृञ्विभ्य इनच्' इस उणादि सूत्र से इनच् (इन) प्रत्यय, श्या इन्, 'आद्गुणः' इस सूत्र से गुण होने पर श्येन शब्द बना है। वायु का नाम है। क्योंकि, वायु की गति बड़ी प्रशस्त होती है। यास्क कहते हैं—

श्येनो व्याख्यातः ।

श्येनः = श्येन शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है अर्थात् इस की व्याख्या अश्वनामों में 'श्येन. शंसनीयं गच्छति' (नि. ४-२४) इत्यादि पंक्ति से हो चुकी है। वहां इस का अर्थ अश्व था और यहां मध्यम देव है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः । ११-१ ॥

तस्य = उस श्येन की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥

ऋ. ३-६-२५-७ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—श्येनः = इन्द्र ने, सहस्रम् अयुतम् च = हजार और दशहजार संख्याक, सवान् साकम् = यज्ञों के साथ, सोमम् = सोम को, आदाय = ले कर, अभरत् = पान कर लिया। अत्र = तत्र = उस सोम के लाये जाने पर, पुरन्धिः = बहुकर्म विशिष्ट, अमूरः = अमूढ अर्थात् प्राज्ञ इन्द्र ने, सोमस्य मदे = सोम सम्बन्धी हर्ष के उत्पन्न होने पर, मूराः = मूढ, आरातीः = शत्रुओं का, अजहात् = वध किया था।

इस मन्त्र का भाष्य—

आदाय श्येनोऽहरत्सोमं सहस्रं सवान युतं च सह। सहस्रंसहस्रसाव्यमभिप्रेत्य, तत्रायुतं सोमभक्षाः, तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा। तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान्। अदानानिति वा। मदे सोमस्य मूरा अमूरः। ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन स्तुतस्तस्मादिन्द्रंमन्यन्ते।

श्येनः = इन्द्र ने, सहस्रम् अयुतम् च = हजार और दशहजार संख्यक, सवान् सह = यज्ञों के साथ, सोमम् आदाय = सोम को ले कर, अहरत् = पान कर लिया। सहस्र साव्यम् अभिप्रेत्य = हजारों यज्ञों के अभिप्राय से, सहस्रम् = सहस्रम् कहा गया है। अर्थात् हजार दश हजार ही नहीं किन्तु असंख्य। तत्र = उस सहस्र संवत्सर साध्य यज्ञ में, अयुतम् = दशहजार, सोमभक्षाः = सोम भक्षण करने वाले ऋत्विक् होते हैं। वा = अथवा, तत्सम्बन्धेन = उन के सम्बन्ध से, अयुतम् = दश हजार की, दक्षिणाः = दक्षिणा होती है। अपरिमित संख्याक दक्षिणा होती हैं। तत्र = उस यज्ञ में, पुरन्धिः = इन्द्र ने, अमित्रान् शत्रुओं का, अजहात् = वध किया था। वा = अथवा, अदानान् = न दान करने वाले शत्रुओं का वध किया था। सोमस्य = सोम पान के, मदे = हर्ष प्राप्त होने पर, अमूरः = अमूढ अर्थात् प्राज्ञ इन्द्र ने, मूराः = मूढ शत्रुओं का वध किया था। च = और, ऐन्द्रे सूक्ते = इन्द्र के सूक्त में भी, सोमपानेन = सोम के पान से, इसकी, स्तुतः = स्तुति हुई है, तस्मात् = इस से भी इसे, लोग, इन्द्रम् = इन्द्र, मन्यन्ते = मानते हैं।

२ – सोमः ।

हिमालय या मोजवन पर्वत की वनस्पति विशेष का नाम 'सोम' है। इस का निर्वचन करते हैं—

ओषधिः सोमः। सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति।

ओषधि = वनस्पति विशेष, सोम = सोम कहा जाता है। सुनोते = 'षुञ् अभिषवे' धातु से बना है। यत् = जिस से, एनम् = इस को अभिषुण्वन्ति = निचोडते है। अर्थात् 'सूयते यज्ञे अभिषूयते इति सोम.' इस विग्रह मे 'षुञ् अभिषवे' धातु से 'अर्तिस्तुसुहु..' इत्यादि उणादि सूत्र से कर्म मे मन् (म) प्रत्यय, सुम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इस सूत्र से गुण होने पर 'सोम' शब्द बना है। ओषधि विशेष का नाम है। क्योकि वह निचोडा जाता है।

बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्यमिव प्राधान्येन। तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वितीय खण्ड । ११-२ ॥

अस्य = इस सोम का वेद मे, बहुलम् = बहुत करके, नैघण्टुकम् = नैघण्टुक, वृत्तम् = वृत्त है अर्थात् दूसरे की प्रधानता मे गौण स्तुति है। गौण प्रयोग है और कही कही, प्राधान्येन = प्रधान रूप से स्तुति भी मिलती है। जो, आश्चर्यम् इव = आश्चर्य जैसी है। तस्य = उस प्रधान का, पावमानीषु = पवमान सोम देवता वाली ऋचाओ मे, निदर्शनाय = निदर्शन के रूप मे हम उदाहरिष्याम = उदाहरण देंगे। जैसे—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य तृतीयः खण्ड ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।

इन्द्राय पातवे सुतः ॥ ऋ स ६-७-१७-१ ॥

इस मन्त्र का मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और सोम देवता है। मन्त्रार्थ—सोम = हे सोम!, स्वादिष्ठया = बहुत ही स्वादु, मदिष्ठया = बहुत ही हर्ष के देने वाली, धारया = धारा से, सुत = निचोडा हुआ तुम इन्द्राय = इन्द्र के, पातवे = पान के लिये, पवस्व = क्षरण कर, झर।

इति सा निगदव्याख्याता। अथैषाऽपरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य तृतीयः खण्ड । ११-३ ॥

इति सा = वह पूर्वोक्त ऋचा, निगदव्याख्याता = उच्चारण से व्याख्यात है। सुगम है। यहा 'इन्द्र के लिये झर' ऐसा कहने से ही सोम की स्तुति परार्थ अर्थात् गौण जानी जाती है। अथ = और, एषा = यह अग्रिम ऋचा, अपरा = दूसरी, भवति = है जो, चन्द्रम स. = चन्द्रमा की है, वा = अथवा, एतस्य = इस सोम की है। एक वाकार वाक्यालकार में है।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्थ खण्डः।

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिंषन्त्योषधिम् ।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ ऋ स ८-३-२०-३ ॥

इस ऋचा का सविता की पुत्री सूर्या ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और सोम देवता है। मन्त्रार्थ— यत् = जो, सोमम् ओषधिम् = सोम ओषधि को, संपिषन्ति = पीसते हैं और, पपिवान् = पीते हैं, तथा पीकर, मन्यते = मानते हैं कि, सोमम् पपिवान् = हमने सोम पान किया, वे सोम के पान करने वाले नहीं हैं और वह सोम भी सोम नहीं है। किन्तु, यम् सोमम् = जिस सोम को, ब्रह्माणो विदुः = ब्राह्मण लोग जानते हैं अर्थात् जिस को ब्राह्मण लोग विधिवत् यज्ञ में निचोड़ते हैं उसका पान करने वाला सोमपा और वह सोम सोम कहलाता है। और जो अपज्वान हैं उन में से, कश्चन = कोई, तस्य = उस को, न अश्नाति = पान नहीं कर सकता है।

इस मन्त्र का भाष्य—

"सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिंषन्त्योषधिम्"। इति वृथा सुतमसोममाह। "सोमं यं ब्रह्माणो विदुः" इति "न तस्याश्नाति कश्चन" अयज्वेत्यधियज्ञम्।

यत् = जो, सोमम् ओषधिम् = सोम रूप ओषधि को, संपिषन्ति = पीसते है और, पपिवान् = पीते हैं तथा पीकर, इति मन्यते = यह मानते हैं कि, हमने सोम पान किया वह, वृथा = व्यर्थ, असोमम् सुतम् = असोम को सोम, आह = कहता है। और, यम् सोमम् = जिस सोम को, ब्रह्माणः = अधिकारी ब्राह्मण लोग विधिवत् निचोड़ कर 'यह सोम है' ऐसा, विदुः = जानते हैं वह सोम है और उसके पीने वाले सोमपा हैं। कश्चन अयज्वा = कोई अनधिकारी, न तस्य अश्नाति = उसका पान नहीं कर सकता है। इति = यह अर्थ अधियज्ञम् = अधियज्ञ है।' क्योंकि, इस में यज्ञ की प्रशंसा है।

अथाधिदैवतम्। "सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्" इति यजुः सुतसोममाह। "सोमं यं ब्रह्माणो विदुः" चन्द्रमसम्, "न तस्याश्नाति कश्चन" अदेव इति।

अथ = अब, अधिदैवतम् = अधिदैवत अर्थ किया जाता है—

यत् = जो, सोमम् ओषधिम् = सोम रूप ओषधि को, संपिषन्ति = पीसते हैं और, पपिवान् = पीते है तथा पी कर, मन्यते = मानते हैं कि हमने सोम पान किया। इति = यह, यजुः = यजु, सुतसोमम् = सुत सोम, आह = कहता है। वह सोम सोम नहीं और उसको पीने वाला सोमपा नहीं है किन्तु यम्सोमम् = जिस सोम को, ब्रह्माणः = ब्राह्मण लोग, चन्द्रमसम् = चन्द्रमां, विदुः = जानते हैं वह सोम सोम है। तस्य = उसको, कश्चन अदेवः = कोई अदेव अर्थात् जो देव नहीं है वह, न अश्नाति = भक्षण नहीं कर सकता है। इस पक्ष में चन्द्रमा देव की प्रशंसा है। अतः यह अर्थ आधिदैव है।

भाव यह है कि 'सोमं मन्यते' इस एक ही मन्त्र का पूर्वार्द्ध निन्दा परक और उत्तरार्द्ध स्तुति परक है। इसके दो अर्थ किये गये हैं—अधियज्ञ और अधिदेव। प्रथम अर्थ में यह कहा गया

है कि, जो अयज्वा है, यज्ञ नहीं करनेवाला है उस का निचोड़ा हुआ सोम सोम नहीं है और सोम के पान करनेवाला सोमपा नहीं है । यह अयज्ञ तथा अयज्वा की निन्दा है । और जो यज्वा यज्ञ में विधिवत् सोम निचोड़ता है । उस का निचोड़ा हुआ सोम सोम है और उस सोम का पान करनेवाला सोमपा है । यह यज्ञ तथा यज्वा की प्रशंसा है । इस प्रकार यज्ञ की प्रशंसा होने से यह अर्थ अधियज्ञ कहलाता है । द्वितीय अर्थ में यह कहा गया है कि जो यह कहता है कि, मैं सोमपा हूँ । सोम का पान किया है । सो समीचीन नहीं, क्योंकि, सोम का अर्थ चन्द्रमा है। उसका पान कोई अदेव अर्थात् जो देव नहीं है वह नहीं कर सकता है । यह अदेव की निन्दा है और जो देव है वही सोम का पान कर सकता है । यह देव की प्रशंसा है । इस प्रकार देव की प्रशंसा होने से यह अर्थ अधिदेव कहलाता है ।

अथैषाऽपरा भवति । चन्द्रमसो वैतस्य वा ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः । ११ – ४ ।।

अथ = और, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है जो, चन्द्रमसः वा = चन्द्रमा है, वा = अथवा, एतस्य = इस सोम की है।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥

ऋ. सं. ८–३–२०–५ ।।

इस ऋचा का सविता की पुत्री सूर्या ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और सोम देवता है । मन्त्रार्थ— सोम के अर्थ दो हैं। एक ओषधि विशेष और दूसरा चन्द्रमा । उनमें ओषधि पक्ष में मन्त्र का यह अर्थ है—देव = हे सोम देव !, यत् = जब, त्वा = तुम्हें, ऋत्विक् तथा यजमन लोग तीनों सवनों में (प्रातः सवन, मध्याह्न सवन और सायं सवन में), प्रपिबन्ति = पान करते हैं, ततः = तब तुम, पुनः = फिर, आप्यायसे = वृद्धि को प्राप्त होते हो। वायुः = वायु, सोमस्य = तुम सोम का, रक्षिता = रक्षक है। वायु शोषक है। वह तुम को सुखाता नहीं है। रक्षा करता है। मासः = सोम, समानाम् = संवत्सरो की, आकृतिः = आकृति है। व्यवच्छेक है। चन्द्रमा पक्ष में—

देव = हे चन्द्र देव !, यत् = जब, त्वा = तुम्हे, कृष्णपक्ष में सूर्य की रश्मियां, प्रपिबन्ति = पान कर जाती हैं, ततः = तब तुम, पुनः = फिर शुक्लपक्ष में कलाओ से, आप्यायसे = बढ़ जाते हो। वायुः = वायु, सोमस्य = तुम चन्द्र का, रक्षिता = रक्षक है। वायु के साथ चन्द्र आकाश में चलता है और वायु कला की वृद्धि में सहायक है। अतः वायु चन्द्र का रक्षक है। मासः = चन्द्रमा द्वारा परिच्छेद को प्राप्त बारह मास, समानाम् = संवत्सरों की, आकृतिः = आकृति है। बारह महीना यही वर्ष का आकार है।

भाव यह है कि, सोम रूप वनस्पति के सोलह पत्ते होते हैं। कृष्णपक्ष में प्रतिदिन उस के एक एक पत्ते गिरते रहते हैं। अमावस्या को उस का एक पत्र शेष रह जाता है। पुनः शुक्लपक्ष में प्रतिदिन उस के एक एक पत्ते उत्पन्न होते रहते हैं। पूर्णिमा के दिन वह पूर्ण सोलह पत्ता वाला हो जाता है। यही सोम ओषधि का पहचान है। इधर चन्द्रमा में सोलह कलायें होती हैं। कृष्णपक्ष में प्रतिदिन उसकी एक-एक कला क्षीण होती रहती है। अमावास्या को उस की एक कला शेष रह जाती है। पुनः शुक्लपक्ष में प्रतिदिन उस की एक एक कला बढती रहती है। पूर्णिमा को वह षोडश कला संम्पन्न हो जाता है। इस दोनों पक्ष मिला कर एक मास होता है। और बारह मास का एक वर्ष होता है। इस प्रकार दोनों सोम वर्ष की आकृति हैं।

इस का भाष्य—

"यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः" इति नाराशंसानभिप्रेत्य। पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा।

देव = हे देव!, यत् = जो, त्वा = तुम को, प्रपिबन्ति = ऋत्विक् आदि पीते हैं, ततः = इस से तुम, पुनः फिर, आप्यायसे = बढते हो, इति = यह व्याख्या, नाराशंसान् = नाराशसों के, अभिप्रेत्य = अभिप्राय से है। इस में सोम को मनुष्य पीते हैं और यह बढता है। इस लिये मनुष्यों के सम्बन्ध से यह व्याख्या अधियज्ञ पक्ष का है। वा = अथवा, पूर्वपक्षौ अपरपक्षौ इति = ये पूर्वपक्ष = शुक्लपक्ष और अपरपक्ष = कृष्णपक्ष हैं। हे देव चन्द्र!, यत् = जब अपर पक्ष = कृष्णपक्ष आता है तब, त्वा = तुम को, रश्मियाँ, प्रपिबन्ति = पीती हैं, ततः = इस से तुम, पुनः = फिर, पूर्वपक्ष = शुक्लपक्ष में, आप्ययसे = बढते हो। यह अधिदेव पक्ष की व्याख्या है।

"वायुः सोमस्य रक्षिता"। वायुमस्य रक्षितारमाह। साहचर्याद् रसहरणाद् वा।

वायुः = वायु, सोमस्य = सोम का, रक्षिता = रक्षा करनेवाला है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि, वायुम् = वायु को, अस्य = इस सोम की, रक्षितारम् = रक्षा करने वाला, आह = कहता है। साहचर्यात् = ओषधि रूप सोम तथा चन्द्र रूप सोम दोनो वायु के साथ रहने से, वा = अथवा, रसहरणात् = रस के हरण से वायु सोम का रक्षक है। मन्त्र का यह पाद दोनों पक्षमें समान है।

समानां-संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा।

मासः = ओषधि रूप सोम और चन्द्र रूप सोम दोनो, समानाम् = सम्वत्सराणाम् = वर्ष की, आकृतिः = आकृति हैं। क्योंकि, सोमः ओषधिः वा चन्द्रमा = ओषधि रूप सोम और चन्द्र रूप सोम दोनों, रूपविशेषैः = अपने अपने रूप विशेष से अर्थात् अपने रूपों के भेद से, संवत्सरों का निर्माण करने वाले है। पूर्वोक्त प्रकार से सोमवेली पत्तो के घटने बढने से और चन्द्र कला के घटने बढने से दोनों सम्वत्सर के निर्माता हैं।

३ — चन्द्रमाः।

'चन्द्रमस्' यह चन्द्र का नाम है। मध्यम देव है। इसका निर्वचन ऋषि करते हैं—

चन्द्रमाश्चायन्द्रमति । चन्द्रो माता । चान्द्रंमानमस्येति वा ।

चायन् = देखते हुए जो, द्रमति = चलता हो वह, चन्द्रमाः = चन्द्रमा कहलाता है । अर्थात् 'चायति इति चायन्' इस विग्रह में धातूनामनेकार्थत्वात् दर्शनार्थक 'चायृ पूजानिशामनयोः' धातु से लट्, शतृ, प्रथमा एक वचन में चायन् । और 'चायन् द्रमति पश्यन्गच्छति इति चन्द्रमाः' इस विग्रह में चायन् उपपद. 'द्रम गतौ' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, चायन् द्रम् अस्, पृषोदरादित्वात् चायन् को चन् भाव (आदेश) होने पर, चन् द्रम् अस्, चन्द्रमस् शब्द बना है । चन्द्रमा का नाम है । क्योंकि, चन्द्रमा ऊपर रह कर सर्वभूतों को देखता हुआ आकाश में गमन करता है ।

चन्द्रः = चन्द्र जो, माता = निर्माता = कालमान का कर्ता वह, चन्द्रमाः = चन्द्रमा कहलाता है । अर्थात् 'चन्द्रश्चासौ माता चेति चन्द्रमाः' इस विग्रह में चन्द्र शब्द उपपद 'माङ् माने शब्दे च' धातु से 'चन्द्रे मो डित्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर, चन्द्र म् अस्, चन्द्रमस् शब्द बना है । चन्द्रमा का नाम है । क्योंकि, चन्द्रमा सब का निर्माता है । विशेष कर कालमान का कर्ता तो है ही ।

वा = अथवा, अस्य = इस का, चान्द्रम् = चन्द्रसंबन्धी, मानम् = मान है, इति = इस लिये, चन्द्रमाः = चन्द्रमा कहलाता है । अर्थात् 'चान्द्रम् मानम् यस्य इति चन्द्रमाः' इस विग्रह में पूर्ववत् चान्द्र उपपद माङ् धातु से असुन् प्रत्यय, डित्वात् टिलोप, छान्दसत्वात् चान्द्र को ह्रस्व होने पर चन्द्रमस् शब्द बना है । चन्द्रमा का नाम है । क्योंकि, इस का चन्द्र सम्बन्धी मान है ।

इस प्रकार चन्द्रमस् शब्द का तीन प्रकार से निर्वचन किया है । प्रथम पक्ष में 'चायृ' और 'द्रम्' इन दो धातु से चन्द्रमस् शब्द बना है । द्वितोय पक्ष में चन्द्र उपपद माङ् धातु से कर्मधारय समास होकर चन्द्रमस् शब्द बना है । और तृतीय पक्ष में कर्मधारय नहीं किन्तु बहुव्रीहि समास है ।

निर्वचन के प्रसङ्ग में आया हुआ चन्द्र शब्द का निर्वचन करते है—

चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः । चन्दनमित्यप्यस्य भवति ।

कान्तिकर्मणः = कान्त्यर्थक, चन्दतेः = चन्द धातु से, चन्द्रः = चन्द्र शब्द बना है । अर्थात् 'चद्यते काम्यते इति चन्द्रः' इस विग्रह में 'चदि आह्लादे' धातु से, 'स्फायितञ्चि' इत्यादि उणादि सूत्र से रक् (र) प्रत्यय होने पर, चन्द् र, चन्द्र शब्द बना है । चन्द्रमा का नाम है । क्योंकि, यह नित्यकान्त होता है । चन्दनम् इति अपि = चन्दन यह शब्द भी, अस्य = इसी चदि धातु का बना हुआ, भवति = है । अर्थात् 'चद्यतेकाम्यते इति चन्दनम्' इस विग्रह में चदि आह्लादे धातु से 'ल्युट् च' इस सूत्र से ल्युट् (यु) प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से यु को अन आदेश, चन्द् अन, 'चन्दन' शब्द बना है । मलयज = मलयागिरि चन्दन का नाम है । क्योंकि, वह भी कान्त ही होता है । अथवा—

चारु द्रमति चिरं द्रमति । चमेर्वा पूर्वम् ।

चारु = सुन्दर, द्रमति = द्रमण = गमन करता है इस लिये चन्द्र कहा जाता है । चिरम् = चिर काल तक, द्रमति = द्रमण (गमन) करता है इस लिये चन्द्र कहलाता है । वा = अथवा, चमेः = चम धातु, पूर्वम् = पूर्व और द्रम धातु उत्तर होने से चन्द्र शब्द बना है । चारुद्रम-चारन्द्र-चन्द्र । चिरद्रम्-चिरन्द्र-चन्द्र पृषोदरादित्वात् । चम् + द्रम् + ड — चन्द्र ।

निर्वचन प्रसक्त चारु शब्द का निर्वचन करते है—

चारु – रुचोर्विपरीतस्य ।

रुचेः = 'रुच दीप्तौ' धातु के, विपरीतस्य = आदिअन्त विपर्यय से बना हुआ, चारु = चारु शब्द है । यह भी पृषोदरादित्वात् समझना चाहिये ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।। ११ - ५ ।।

तस्य = उस चन्द्रमा की, एषा = यह आगे आने वाली ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥

ऋ. सं. ८-३-२३-१९ ॥

इस मन्त्र का सूर्या ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और चन्द्रमा देवता है । मन्त्रार्थ—यह चन्द्रमा, जायमानः = शुक्लपक्ष में प्रतिदिन जायमान अर्थात् एक एक कला के आधिक्य से उत्पन्न होता हुआ नवः नवः = नया नया, भवति = होता है । तथा कृष्णपक्ष में प्रतिपदा आदि तिथियों में चन्द्र की कला के ह्रासवृद्धि के अधीन होने से, अह्नाम् = दिनों के, केतुः = प्रज्ञापक (सूचक) चन्द्रमा, उषसाम् = उषाओं के, अग्रम् = आगे, एति = चलता है । देवेभ्यः = देवताओं को, भागम् = हविर्भाग, विदधाति = विधान करता है = देता है । इस प्रकार प्रतिदिन, आयन् = आता हुआ, चन्द्रमाः = चन्द्रमा देव, दीर्घम् आयुः तिरते = दीर्घ आयु प्रदान करता है = आयु की वृद्धि करता है ।

कोई मन्त्र के द्वितीयपाद का देवता आदित्य है ऐसा कहते हैं और इस का अर्थ आदित्यपरक करते हैं—अह्नाम् दिवसों के, केतुः प्रज्ञापक आदित्य, उषसाम् = उषाओं के, अग्रम् = आगे, एति = चलता है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

"नवो नवो भवति जायमानः" इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य । "अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्" इत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य ।

यह चन्द्रमा, जायमानः = उत्पन्न होता हुआ, नवः नवः = नया नया, भवति = होता है, इति = यह, पूर्वपक्षादिम् = शुक्लपक्ष के उदय के, अभिप्रेत्य = अभिप्राय से कहा है । अह्नाम् = दिवसों के, केतुः = प्रज्ञापक, उषसाम् = उषाओं के, अग्रम् = आगे, एति = चलता है, इति = यह, अपरपक्षान्तम् = कृष्णपक्ष के अस्त के अभिप्राय से कहा है ।

मन्त्र के द्वितीय पाद के विषय जो किसी का मत दिखाया गया है उसी को कहते हैं—

आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके ।

आदित्यदैवतः = आदित्य देवता वाला, द्वितीयः पाद = मन्त्र का द्वितीय पाद है, इति = यह, एके = कोई आचार्य कहते हैं । दिनों के सूचक आदित्य है । चन्द्रमा नहीं यह उन का कहना है ।

४ – मृत्युः ।

सर्वमारक मध्यमदेव का नाम मृत्यु है । जिस को मध्यम प्राण और यमराज भी कहते हैं । वह अन्तिम श्वास काल में प्राणी को प्राण से वियोग कराता है । वही प्राणी को वर्तमान शरीर से वियोग करा कर भावी शरीर के साथ संयोग भी कराता है । भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

मृत्युर्मारयतीति सतः ।

मारयति इति सतः = अन्तर्भावित ण्यर्थक मृङ् धातु से, मृत्युः = मृत्यु शब्द बना है । अर्थात् 'मारयति इति मृत्युः यमः मध्यमो देवः' इस विग्रह में अन्तर्भावित ण्यर्थक 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से 'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ' इस उणादि सूत्र से त्युक् (त्यु) प्रत्यय होने से मृत्यु शब्द बना है । यम का नाम है । क्योंकि, वह जब प्राणो को मारता है तब प्राणी मरता है ।

मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः ।

वा = अथवा, मृतम् = मृत प्राणी को, च्यावयति = अन्य किसी योनि में ले जाता है, इस लिये यम मृत्यु कहा जाता है, इति यह, मौद्गल्यः = मुद्गल के पुत्र, शतबलाक्षः = शतबलाक्ष नामक ऋषि कहते हैं । अर्थात् 'मृतं च्यावयति इति मृत्युः' इस विग्रह में मृत शब्द उपपद ण्यन्त 'च्युङ् गतौ' धातु से 'अन्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से उ प्रत्यय, मृत च्यावी उ, मृत के तकार के अकार का लोप और च्यावी को यु भाव होने पर, मृत् यु उ, मृत्यु शब्द बना है । सर्वहर यम का नाम है । क्योंकि, वह अन्तकाल के समय प्राणो को वर्तमान शरीर से निकाल कर भावी शरीर में पहुँचा देता है ।

शतबल शब्द बहुबलार्थक है। 'शतबलानि बहुबलानि अक्षाणि इन्द्रियाणि यस्य स शतबलाक्षः' इस विग्रह में 'अनेकमन्यपदार्थे' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास होने पर शतबलाक्ष शब्द बना है। जिस की आँखों में बड़ा बल हो वह तत्त्वदर्शी शतबलाक्ष कहा जाता है। मुद्गलस्य अपत्यं मौद्गल्यः' इस विग्रह में मुद्गल शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' इस सूत्र से अपत्य अर्थ यञ् (य) प्रत्यय, आदि अच् वृद्धि, यस्येतिच लोप होने पर मौद्गल्य शब्द बना है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ११-६ ॥

तस्य = उस मृत्यु का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥

ऋ सं. ७-६-२७-१ ॥

इस मन्त्र का यमपुत्र संकुसुक ऋषि, जगती छन्द और मृत्यु देवता है। मन्त्रार्थ—मृत्यो = हे मृत्यु ! तुम हमें, परम् = सर्वोत्कृष्ट, अनपन्थाम् = पितृयाण मार्ग की ओर, परेहि = ले चलो। यः = जो, ते = तुम्हारा, देवयानात् = देवयान मार्ग से, इतरः = दूसरा, स्वः = अपना मार्ग है, चक्षुष्मते = देखने वाले और शृण्वते = सुनने वाले, ते = तुम से मैं, ब्रवीमि = कहता हूँ कि, तुम, नः = हमारी, प्रजाम् = सन्तानों को, मा रीरिषः = जन्म मरण रूप मार्ग की ओर ले जा कर नष्ट न करो। उत = और, मा वीरान् = हमारे वीर पुत्रादि पुरुषों को बुरे मार्ग से ले जा कर नष्ट न करो।

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = 'परं मृत्यो अनु' यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठ मात्र से व्याख्यात है। सुलभ होने से इसका भाष्य नहीं किया जाता है।

५ – विश्वानरः ।

स्मरण रहे कि, निरुक्त मत में तीन ही देवता हैं। पृथिवीस्थान अग्नि, मध्यम अन्तरिक्ष स्थान वायु और द्युस्थान आदित्य। अन्य सब देवों का इन्हीं तीनों के अन्दर अन्तर्भाव है। अतः यहां विश्वानर का अर्थ इन्द्र है। जो मध्यम देव वायु के अन्दर आ जाने से यह भी मध्यम देव है। 'विश्वान् नरति इति विश्वानरः इन्द्रः' इस विग्रह में विश्व उपपद 'नृ नये' धातु से 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अण् (अ) प्रत्यय, 'उपपदमतिङ्' इस सूत्र से समास, सुब्लुक्,

'नरेसंज्ञायाम्' इस सूत्र से विश्व के अकार को दीर्घ होने से विश्वानर शब्द बना है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि, इन्द्र सब का नेता है। यास्क कहते हैं—

विश्वानरो व्याख्यातः ।

विश्वानरः = विश्वानर शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या हो चुकी है (नि० ७-२१)।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ११-७ ॥

तस्य = विश्वानर की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ।

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑मानाया॒न्धसोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑ ।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑खं॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सपर्य॑तः ॥

ऋ. सं. ८-१-९-१ ॥

इस ऋचा का वैकुण्ठ इन्द्र ऋषि, जगती छन्द और वैकुण्ठ इन्द्र ही देवता भी है। मन्त्रार्थ—हे स्तोता!, वः = तुम, महे = महान्, अन्धसः = सोम से, मन्दमानाय = मोदमान, विश्वाभुवे = सर्व का भावयिता, विश्वानराय = सर्व के नेता इन्द्र की, प्रअर्च = स्तुति करो। यस्य इन्द्रस्य = जिस इन्द्र के, सुमखम् = सुन्दर महनीय, सहः = बल, महि = महान्, श्रवः = अन्न, च = और, नृम्णम् = सुख को, रोदसी द्युलोक तथा पृथिवी लोक सब, सपर्यतः = प्रशंसा करते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रार्चत यूयं स्तुतिं महते अन्धसोऽन्नस्य दात्रे मन्दमानाय मोदमानाय स्तूयमानाय शब्दाय मानायेति वा विश्वानराय सर्वं विभूतायेन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद्बलं महच्च श्रवणीयं यशो नृम्णं च बलं नृन्नतं, द्यावापृथिव्यौ वः परिचरत इति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ।

हे स्तोता!, यूयम् = तुम, महते = महान्, अन्धसः = अन्धसः अन्नस्य = सोम रूप अन्न के, दात्रे = दाता, मन्दमानाय = मोदमानाय = हर्ष किये जाते हुए, स्तूयमानाय = स्तुति करते हुए, वा = अथवा, शब्दायमानाय = शब्द करते हुए, सर्वम् विभूताय = सर्व का भावयिता, विश्वानराय = इन्द्र की, स्तुतिम् प्रार्चत = स्तुति पूजा करो। यस्य इन्द्रस्य = जिस इन्द्र की, प्रीतौ = प्रीति = प्रसन्नता में, सुमहद्बलम् = सुन्दर महनीय बल को, महद् श्रवणीययशः = महान् सुनने योग्य यश को,

च = और, नृम्णम् बलम् = मानुषिक बल को, नृन् नतम् = मनुष्यों के प्रति विशेषरूप से झुकी हुई, वः = तुम्हारी स्तुति को सब कोई, द्यावापृथिव्यौ = द्यावापृथिवी पर्यन्त, परिचरतः = सेवा पूर्वक सराहना करते हैं। इति = यह मन्त्र, मध्यमात् = मध्यमदेव इन्द्र से, अन्यम् = अन्य, कम् = किस देव को, एवम् = इस प्रकार, अवक्ष्यत् = कहता ? । अर्थात् किसी को नहीं।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टमः खण्डः । ११–८ ॥

तस्य = उस विश्वानर की, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् ।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥

ऋ. सं. ५-५-२३-१ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और, पूर्वार्ध का विश्वानर तथा उत्तरार्ध का उषा देवता है। यास्क ने आधी ऋचा उद्धृत की है। सम्पूर्ण लिख कर मन्त्रार्थ किया जाता है—सविता = सर्व को कर्म में प्रेरणा करने वाले, विश्वानरः देवः = विश्वानर वायु रूप इन्द्र देव ने, विश्वजन्यम् = सर्व जनों के लिये हित, अमृतम् ज्योतिः = अमर ज्योति को, उद् अश्रेत् = ऊपर उठाया। उषाः = वह उषा, देवानाम् = देवो के अर्थात् दिव्य यजमानो के, क्रत्वा = याग के अनुष्ठान के लिये, चक्षुः = उषा-ज्योति रूप से, अजनिष्ट = प्रगट हुई। उषाः = वह उषा, विश्वम् भुवनम् = सम्पूर्ण चतुर्दश भुवनो को, आविरकः = प्रकाशित करने वाली है।

इस मन्त्र का भाष्य—

उदशिश्रयज्जोतिमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति ।

सविता = सब को कर्म में प्रेरणा करने वाले, विश्वानरः देवः = वायु रूप इन्द्र देव ने, सर्वजन्यम् = सर्व जनों के लिये हित, अमृतम् ज्योतिः = अमर ज्योति को, उद् अशिश्रयत् = ऊपर को उठाया। यह पूर्वार्द्धआधी ऋचा का भाष्य है। यास्क ने इतना का उद्धरण किया है। क्योंकि, इतना ही का देवता विश्वानर है।

६ – धाता ।

धाता मध्यम देव ब्रह्मा का नाम है। क्योंकि, वह सर्व का विधाता स्रष्टा है। 'दधाति सर्वं सृजति इति धाता = विधाता मध्यमदेवः' इस विग्रह मे 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से तृच् (तृ) प्रत्यय होने पर धातृ शब्द बना। मध्यम देव विधाता का नाम है। क्योंकि, वह सब को सृजता है। इसी को कहते हैं—

धाता सर्वस्य विधाता ।

सर्वस्य = सब का, विधाता = करने वाला, धाता = धाता कहलाता है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ११-९ ॥

तस्य = उस धातृ का, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

धाता द॒दातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॒ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम् ।
व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सुम॒तिं स॒त्यध॑र्मणः ॥ अ. स. ७-१७ ॥

इस-मन्त्र का वामदेव ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और धातृ देवता है । मन्त्रार्थ—धाता = धातृदेव, दाशुषे = हविर्दान करने वाले के लिये, प्राचीम् = बढी हुई, अक्षिताम् = अक्षय अर्थात् कभी न खुटने वाली, जीवातुम् = जीविका को, ददातु = देवें । वयम् = और हम उस, सत्य धर्माणः = सत्य धर्म वाले, देवस्य = देव की, सुमतिम् = शुभबुद्धि को, धीमहि = धारण करें । इस ऋचा में शुभ बुद्धि के लिये धातृदेव से प्रार्थना है । अतः इस का देवता धातृदेव है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

धाता ददातु दाशुषे दत्तवते प्रवृद्धां जीविकामनुपक्षीणां वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः ।

धाता = मध्यमस्थान धातृदेव, दाशुषे = दत्तवते = हवि दान करने वाले हम यजमानों के लिये, अनुपक्षीणाम् = अक्षय, प्रवृद्धाम् = बढी हुई, जीविकाम् = जीविका को, ददातु = देवें और, वयम् = हम, सत्यधर्मणः = सत्यधर्म वाले, देवस्य = धातृ देव को, सुमतिम् = कल्याणीम् मतिम् = शुभ बुद्धि को, धीमहि = धारण करें ।

७ – विधाता ।

मध्यमस्थानक देव-विशेष का नाम विधाता है । किसी टीकाकार ने विधाता का अर्थ यमराज किया है । सायण ने भी 'विधाता एतत्संज्ञक देव' यही कह कर छोड दिया है । वस्तुतः 'वि = विशेषेण दधाति इति विधाता' इस विग्रह मे विपूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय होने पर विधातृ शब्द बना है । एतत्संज्ञक एक मध्यमस्थान देव है । यास्क कहते हैं—

विधाता-धात्रा व्याख्यातः ।

विधाता = विधातृ शब्द, धात्रा = धातृ शब्द से, व्याख्यातः = व्याख्यात है । अर्थात् धातृ शब्द जैसे तृच् प्रत्ययान्त बना है वैसे ही विधातृ शब्द भी बना है । इस में केवल वि उपसर्ग अधिक है ।

तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि ।

तस्य = उस विधाता का, एषः = यह, बहुदेवतायाम् = बहुत देवताओं की, ऋचि = ऋचा में, निपातः = निपात है ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य दशमः खण्डः ।। ११-१० ।।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकादशः खण्डः ।

सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णि॒ बृह॒स्पते॒रनु॑मत्या उ॒ शर्म॑णि ।
तवा॒हम॒द्य म॑घव॒न्नुप॑स्तुतौ॒ धात॒र्विधा॑तः क॒लशाँ॑ अभक्षयम् ॥

ऋ. सं. ८-८-२५-३ ॥

इस मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि, जगती छन्द और इन्द्रादि बहुत देवता हैं । मन्त्रार्थ—मघवन् = हे मघवन् इन्द्र !, राज्ञः सोमस्य वरुणस्य = राजा सोम और वरुण के, धर्मणि = धर्म में प्रवृत्त, धातः = हे धातृदेव !, बृहस्पतेः शर्मणि = बृहस्पति के आश्रय में स्थित और, विधातः = हे विधातृ देव !, अनुमत्याः शर्मणि = अनुमति के आश्रय में स्थित, अहम् = मैंने, अद्य = आज, तव = तुम्हारी, उपस्तुतौ = उपस्तुति में, कलशान् अभक्षयम् = सोम कलश का पान किया है । इस ऋचा के सोम, वरुण, बृहस्पति, अनुमति, धाता और विधाता ये सब देवता हैं । अतः इस में प्रकृत विधाता भी आ गये हैं ।

इस मन्त्र का भाष्य—

इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति ।

इति = इस प्रकार, एताभिः देवताभिः = इन देवताओं से, अभिप्रसूतः = अभ्यनुज्ञात मैंने, सोमकलशान् = सोमकलशों का, अभक्षयम् = भक्षण किया था । इति = इत्यर्थः ।

कलशः कस्मात् । कला अस्मिन् शेरते मात्राः ।

प्रश्न—कस्मात् = किस धातु से कौन प्रत्यय करने से, कलशः = कलश शब्द बना है ? । उत्तर—अस्मिन् = इस में (कलश में) सोम की, कलाः = मात्राः = कुछ मात्रायें, शेरते = सोम के निकाल लेने पर भी शेष बनी रहती हैं । इस लिये कलश कहा जाता है । अर्थात् 'कलाः मात्राः

शेरते अवशिष्यते इति कलशः' इस विग्रह में कला शब्द उपपद 'शीङ् स्वप्ने' धातु से उणादि ड (अ) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप और पृषोदरादित्वात्, कला को ह्रस्व होने पर 'कलश' शब्द बना है। सोमपात्र का नाम है। क्योंकि, सोमरस को उस में से निकाल लेने पर भी उस में कुछ शेष लगा रहता है। प्रसंग से कहते हैं—

कलिश्च कलाश्च किरतेः—विकर्ण मात्राः ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वादशः खण्डः । ११–१२ ॥

कलिश्च कलाश्च = कलि शब्द और कला शब्द, दोनों, किरतेः = 'कृ विक्षेपे' धातु से बना है। विकीर्णमात्राः = कला किसी समुदाय में विक्षिप्त मात्राः अर्थात् फैली हुई जैसी होनी है। अर्थात् 'किरति विक्षिपति इति कलिः' इस विग्रह में 'कृ विक्षेपे' धातु से 'सर्वधातुभ्यः इन्' इस उणादि सूत्र से इन् (इ) प्रत्यय, कृ इ, रपर गुण, कर् इ, करि, पृषोदरादित्वात् र् को ल् होने पर कलि शब्द बना है। एवं 'किरति विक्षिपति इति कला' इस विग्रह में उसी कृ धातु से पचाद्यच्, क अ, रपर गुण, कर् अ, कर, टाप, दीर्घ, करा, पृषोदरादित्वात् र् को ल् होने पर कला शब्द बना है। कलि और कला दोनों विशेषक हैं।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।

अथातो मध्यस्थाना देवगणाः ।

अतः = विधातृ पद के निर्वचन के पश्चात्, मध्यस्थानाः = मध्यस्थान, देवगणाः = देवगण वाचक 'मरुतः' आदि पदों की व्याख्या का यहाँ से, अथ = प्रारम्भ होता है। भाव यह है कि, दशम अध्याय के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि, 'अथातो मध्यस्थाना देवताः' और यहां अर्थात् एकादशवां अध्याय के तेरहवां खण्ड के प्रारम्भ में यह कह रहे हैं कि, 'अथातो मध्यस्थाना देवगणाः' इस से आपाततः देखने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है। परन्तु विचार करने पर पुनरुक्ति नहीं। क्योंकि, दशम अध्याय और ग्यारहवें अध्याय के बारहवें खण्ड में मध्यस्थान के 'वायुः' से लेकर 'पुरूरवाः' पर्यन्त बत्तीस पद और ग्यारहवां का तेरहवां खण्डः में 'श्येनः' से 'विधाता' पर्यन्त सात पद कहे गये हैं। वे सब एक एक देवता वाचक हैं। अतः सब एकवचनान्त हैं। अब यहां से अर्थात् ग्यारहवां अध्याय के तेरहवां खण्ड में 'मरुतः' से लेकर 'आप्त्याः' पर्यन्त आठ पद मध्यस्थान के देवगण वाचक हैं अर्थात् एक देव के वाचक नहीं किन्तु देवताओं के गण = समूह वाचक हैं। अतः सभी पद बहुवचनान्त हैं। इन पदों से देवताओं की जाति तथा अवान्तर जाती कही जाती है। इन्ही की सूचना देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'अथातो मध्यस्थाना देवगणाः'। अर्थात् मध्यस्थान देव नहीं किन्तु देवगण के वाचक 'मरुतः' आदि पद का निर्वचन का यहां से प्रारम्भ होता है।

तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति ।

तेषाम् = उन देवगणों में, मरुतः = मरुत्, प्रथमागामिनः = प्रथमगामी = पहले आने वाले, देव, भवन्ति = हैं। क्योंकि, वृष्टि कर्म में प्रथम कार्य यही करते हैं। मरुत् देव सब मिला कर ४९ हैं। अतः ये देवगण हैं। इसी लिये बहुवचनान्त है।

८ – मरुतः ।

मरुत् नाम वायु का है। ये सब मिला कर ४९ हैं। अतः देवगणों में से यह भी एक देवगण है। इसी लिये 'मरुतः' यह बहुवचन है। यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

मरुतो मितराविणो मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा ।

मितराविणः = मित = थोडा = मन्द मन्द शब्द करने वाले, वा = अथवा, मितरोचिनः = थोड़ा प्रकाश करने वाले, मरुतः = मरुत् कहे जाते हैं। कोई भाष्य के पाठ में अकार छेद करके 'अमितराविणः' कहते हैं। उनके मत में, अमितराविणः = बहुत शब्द करने वाले, तथा, अमितरोचिनः = बहुत प्रकाश करने वाले, मरुतः = मरुत् कहलाते हैं। वा = अथवा, महद् द्रवन्ति = महद् द्रवण करते हैं = बड़ी दौड़ लगाते हैं, इति = इस लिये, मरुतः = वायु मरुत् कहे जाते हैं। अर्थात् 'मितं रुवन्ति स्तनयन्ति इति मारुतः' इस विग्रह में मित शब्द उपपद 'रु शब्दे' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र से तुक् (त्) आगम, मित रु त्, पृषोदरादित्वात् मित को म भाव होने पर 'मरुत्' शब्द बना है। 'मरुतः' यह जस् का रूप है। 'मितं रोचन्ते इति मरुतः' इस विग्रह में मित उपपद 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय (०), पृषोदरादित्वात् मित को मभाव और च् को त् होने पर मरुत शब्द बना है। अथवा 'महद् द्रवन्ति इति मरुतः' इस विग्रह में महद् उपपद 'द्रुगतौ' धातु से क्विप् (०) महद् द्रु, पृषोदरादित्वात् महद् को मभाव द्रु को वर्ण व्यत्यय, मरुद्, द् को त् होने पर मरुत् शब्द बना है।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ ११-१३ ॥

तेषाम् = उन मरुतों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।

आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥

ऋ सं. १-६-१४-१ ॥

इस मन्त्र का गोतम ऋषि, प्रस्तारपङ्क्ति छन्द और मरुत् देवता है। मन्त्रार्थ—मरुतः = हे मरुद्देवो! तुम सब, विद्युन्मद्भिः = विशिष्ट प्रकाश वाले, स्वर्कैः = सुन्दर गमन वाले वा सुन्दर पूजन वाले या सुन्दर किरणों वाले, ऋष्टिमद्भिः = आयुधों वाले वा दुष्काल के नाश करने वाले, अश्वपर्णैः = अश्वरूप वाहनों वाले वा वज्र गिराने वाले, रथेभिः = रथों के द्वारा वा मेघों के द्वारा,

आयात = आओ । सुमायाः = सुन्दर कर्मों वाले वा सुन्दर बुद्धि वाले मरुद्देवो !, वर्षिष्ठया = बड़े श्रेष्ठ, नः = हमें देने योग्य, इषा = अन्न के साथ, वयः न = पक्षियों के समान, आपप्तन = आओ । इस ऋचा में मरुद्देवताओं का आवाहन है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः स्वञ्चनैरिति वा स्वर्चनैरिति वा स्वर्चिभिरिति वा । रथैरायात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैरश्वपतनैः । वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इवापतत । सुमायाः कल्याण कर्माणो वा कल्याणप्रज्ञा वा ॥

मरुतः = हे मरुद्देवो ! तुम सब, विद्युन्मद्भिर्मरुतः = विशिष्ट प्रकाश वाले, स्वर्कैः स्वञ्चनैः = सुन्दर गमन करने वाले, स्वर्चनैः = सुन्दर पूजन वाले, इति वा = अथवा, स्वर्चिभिः = सुन्दर किरणो वाले, ऋष्टिमद्भिः = आयुधो वाले वा दुष्कालके नाश करने वाले, अश्वपर्णैः = अश्व रूप वाहनोवाले वा, अश्वपतनैः = वज्र गिरानेवाले, रथैः = रथो के द्वारा, आयात = आओ । च = और, वर्षिष्ठेन = बहुत श्रेष्ठ, नः = हमारे लिये, अन्नेन = अन्न के साथ, वयः इव = पक्षियो के समान, आपतत = आओ । सुमायाः = कल्याणकर्मणिः = सुन्दर कर्मो वाले, वा = अथवा, कल्याणप्रज्ञाः = सुन्दर प्रज्ञावाले हे मरुद्गण ! ।

९ – रुद्राः ।

रुद्र शब्द का निर्वचन दशम अध्याय के पञ्चम् खण्ड में कर आये हैं । वहाँ भी मध्यदेव अर्थ है और यहाँ भी । वहाँ एक वचनान्त और यहाँ बहुवचनान्त है । इतना ही विशेष है । वहा ३२ पदों मे रुद्र तीसरा पद है । इसी को कहते हैं—

रुद्रा व्याख्याताः ।

रुद्राः = रुद्र शब्द, व्याख्याताः = व्याख्यात है । अर्थात् इसकी व्याख्या नि. अ. १० खं. ५ मे हो चुकी है ।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ ११–१४ ॥

तेषाम् = उन रुद्रों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ।

आरुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

ऋ सं. ४-३-२१-१ ॥

इस मन्त्र का श्यावाश्व ऋषि, जगती छन्द और मरुद्गण देवता है। मन्त्रार्थ—रुद्रासः = रुद्रदेवो। तुम लोग, इन्द्रवन्तः सजोषसः = इन्द्र के साथ समान प्रीति वाले होते हुए वा इन्द्र नाम ऐश्वर्य से युक्त होते हुए, हिरण्यरथाः = सुवर्ण रथ वाले, सुविताय = सुन्दर कर्म के लिये, आगन्तन = आओ। इयम् = यह, अस्मत् = हमारी, मतिः = स्तुति, वः प्रति = तुम्हारे पास, हर्यते = जाती है। अतः, उदन्यवे तृष्णजे = जल की इच्छा करने वाले गोतम के लिये, दिवः = द्युलोक से, उत्साः न = मेघ के समान तुम आओ।

इस मन्त्र का भाष्य—

आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण सह जोषणाः। सुविताय कर्मण इयं वो अस्मदपि प्रति कामयते मतिः। तृष्णज इव उत्सा उदन्यव इति।

रुद्राः = हे रुद्रदेवो! तुम लोग, इन्द्रेन सह = इन्द्र के साथ, जोषणाः = प्रीति युक्त होते हुए, आगच्छत = आओ। सुविताय कर्मणे = सुन्दर कर्म के लिये आओ। पूर्वान्वयी। इयम् अस्मद् मतिः = यह हमारी स्तुति, अपि = भी, वः प्रति = तुम्हारे पास जाने के लिये, कामयते = कामना करती है। तुमको चाहती है। उदन्यवे तृष्णजे = जल की इच्छा करने वाले गोतम के लिये, उत्साः इव = मेघ के समान, आओ। इति = इत्यर्थः।

मन्त्रप्रसक्त तृष्णज् और उदन्यु शब्दों का निर्वचन करते हैं—

तृष्णक् – तृष्यतेः, उदन्युरुदन्यतेः।

तृष्यतेः = तृष धातु से, तृष्णक् = तृष्णज् शब्द बना है। अर्थात् 'तृष्यति पिपासयति इति तृष्णक्' इस विग्रह में 'ञितृषा पिपासायाम्' धातु से 'स्वपितृषोर्नजिङ्' इस सूत्र से नजिङ् (नज्) प्रत्यय, तृष् नज्, ङित्वात् गुणाभाव, 'रषाभ्यां नोणः समान पदे' इस सूत्र से नकार को णकार होने पर तृष्णज् शब्द बना है। मन्त्र में तृष्णजे यह चतुर्थ्यन्त पद है।

उदन्यतेः = उदन्य क्यच् प्रत्ययान्त नाम धातु से, उदन्युः = उदन्यु शब्द बना है। अर्थात् 'आत्मनः उदकमिच्छति इति उदन्यति, उदन्यति इति उदन्युः' इस विग्रह में 'सुप आत्मनः क्यच्' इस सूत्र से उदक शब्द से क्यच् (य) प्रत्यय, उदक य, 'अशनायोदन्यधना...' इत्यादि सूत्र के निपातन से, उदन्य, 'क्याच्छन्दसि' इस सूत्र से उ प्रत्यय होने पर उदन्यु शब्द बना है। उदक अर्थात् जल की इच्छा करनेवाला अर्थ है।

१० – ऋभवः।

मध्यमस्थान देवताओं के बहुत गण हैं। जैसे मरुद्गण एक देवताओं का गण है वैसे ही ऋभुगण भी एक देवताओं का गण है। गण में बहुत देवता होने से 'ऋभवः' यह बहुवचन है। ऋभु शब्द मेधावी नामों में आया है। वहां एकवचन है और यहां बहुवचन इतना ही भेद है। इसका निर्वचन भाष्यकार करते हैं—

ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा ।

उरु = बहुत, भान्ति = चमकते हैं, इति = इस लिये, ऋभवः = ऋभु कहलाते है । वा = अथवा, ऋतेन = सत्य से वा यज्ञ से, भान्ति = चमकते हैं, इति = इस लिये, ऋभवः = ऋभु कहे जाते हैं । वा = अथवा, ऋतेन = सत्य से वा यज्ञ से, भवन्ति = होते हैं, इति = इस लिये, ऋभवः = ऋभु नाम से प्रसिद्ध है ।

अर्थात् 'उरु बहु भान्ति दीप्यन्ते इति ऋभवः' इस विग्रह में उरु शब्द उपपद 'भा दीप्तौ' धातु से 'मृगय्वादयश्च' इति उणादि सूत्र के निपातन से कु (उ) प्रत्यय, उरु भा उ, पूर्वपद उरु के आदि लोप, रु भा उ, र को संप्रसारण ऋ, ऋ उ भा उ, उ का पूर्वरूप, ऋ भा उ, भा के अन्त लोप, ऋ भ् उ, ऋभु शब्द बना है । ऋभु बहुत होने से 'ऋभवः' यह बहुवचनान्त है। अथवा 'ऋतेन सत्येन यज्ञेन भान्ति दीप्यन्ते इति ऋभवः' इस विग्रह मे ऋत शब्द उपपद 'भा दीप्तौ' धातु से पूर्ववत् मृगय्वादित्वात् कु प्रत्यय, ऋत भा उ, ऋत के त का और भा के आ का लोप होने पर, ऋ भ् उ, 'ऋभु' शब्द बना है । अथवा, 'ऋतेन सत्येन भवन्ति इति ऋभवः' इस विग्रह में पूर्ववत् ऋत शब्द उपपद 'भू सत्तायाम्' धातु से उक्त उणादि सूत्र के निपातन से कु प्रत्यय, ऋत भू उ, ऋ के त का और भू के ऊ का लोप, ऋ भ् उ, 'ऋभु' शब्द बना है ।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः । ११-१५ ॥

तेषाम् = उन ऋभुओं की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षोडशः खण्डः ।

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥

ऋ. सं. १-७-३०-४ ॥

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि, जगती छन्द और ऋभुगण देवता है । मन्त्रार्थ—वाघतः = मेधावी ऋभुओं ने ऋत्विजों के साथ मिल कर, शमी = याग दान होम रूप कर्मानुष्ठान, तरणित्वेन = शीघ्रता से, विष्ट्वी = करके, मर्तासः = मरणधर्मा मनुष्य, सन्तः=हो कर भी, अमृतत्वम् = अमरत्व, आनशुः = प्राप्त किया था और देवत्व को प्राप्त हो कर, सौधन्वनाः = सुधन्वा के पुत्र वे, ऋभवः = ऋभुगण, सूरचक्षसः = सूर्य के समान दीप्तिमान् होकर, संवत्सरे = संवत्सर में होने वाले वसन्तादि कालिक अनुष्ठेय यज्ञों में, धीतिभिः = अग्निष्टोमादि कर्मों के साथ, समपृच्यन्त = संयुक्त हुए, हविर्भाग के योग्य हुए, अर्थात् हव्य के अधिकारी हुए । इस ऋचा में ऋभुओं की स्तुति है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन वोळ्हारो मेधाविनो वा मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानशिरे सौधन्वना ऋभवः सूरख्यानाः सूरप्रज्ञा वा संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः ।

मेधाविनः वोळ्हारः = मेधावी वा यज्ञ वहन करने वाले ऋभुओं ने ऋत्विजों के साथ मिल कर, कर्माणि = कर्म अनुष्ठान, क्षिप्रत्वेन = शीघ्रता से, कृत्वा = करके, मर्तासः सन्तः = मनुष्य होते हुए भी, अमृतत्वम् आनशिरे = अमरत्व प्राप्त किया था और देवत्व को प्राप्त हो कर, सौधन्वनाः = सुधन्वा के पुत्र वे, ऋभवः = ऋभुगण, सूरख्यानाः = सूर्य के समान दीप्तिमान् होते हुए, वा = अथवा = सूरप्रज्ञा = सूर्य के समान बुद्धि वाले होते हुए, संवत्सरे = संवत्सर में होने वाले वसन्तादि कालिक अनुष्ठेय यज्ञों में, धीतिभिः कर्मभिः = अग्निष्टोमादि कर्मों के साथ, समपृच्यन्त = संयुक्त हुए ।

मन्त्र में आया हुआ 'सौधन्वनाः' पद के अर्थ बताते हैं—

ऋभु – विभ्वा – वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः ।

ऋभु विभ्वा वाज = ऋभु, विभ्वा और वाज, इति = ये, आङ्गिरसस्य सुधन्वन = आङ्गिरस सुधन्वा के, त्रयः पुत्राः = तीन पुत्र, बभूवु = हुए थे ।

तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन ।

तेषाम् = उन में, प्रथमोत्तमाभ्याम् = प्रथम (ऋभु) और उत्तम अर्थात् तीसरे (वाज) से, बहुवत् = बहुतों के समान, निगमाः = मन्त्र, भवन्ति = हैं । अर्थात् इन दोनों के नाम मन्त्रों में बहुवचनान्त आते हैं । किन्तु, न मध्यमेन = मध्यम (विभ्वा) के नहीं । विभ्वा के नाम बहुवचनान्त नहीं आते हैं ।

तदेतद् ऋभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति ।

तदेतत् = सो यह, ऋभोः च बहुवचनेन = ऋभु के बहुवचन के साथ, च = और, चमसस्य संस्तवेन = चमस के संस्तव के साथ अर्थात् एक साथ स्तुति के साथ, दशतयीषु = दश मण्डल के ऋग्वेद में, बहूनि सूक्तानि = बहुत सूक्त, भवन्ति = हैं ।

आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते

आदित्यरश्मयः = आदित्य की रश्मियाँ, अपि = भी, ऋभवः = ऋभु, उच्यन्ते = कही जाती हैं—

"आगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानुगच्छथ"

ऋभवः = हे ऋभुओ !, यद् = जब तक, अगोह्यस्य = सूर्य के, गृहे = मण्डल में, असस्तनाः = तुम सोते हो, तद् = तब तक, अद्य = आज, इदम् = इस जगत को, न अनु गच्छथ = अनुसरण नहीं करते हो । सम्पूर्ण मन्त्र—

उद्वत्स्वंस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः ।
अगोह्यस्य यदसंस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ ॥

ऋ सं. २-३-६-११ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, जगती छन्द और ऋभु देवता है। मन्त्रार्थ—ऋभव. = हे प्रभूत दीप्तिशाली आदित्य रश्मियो ! तुम, नरः = नेता हो । अस्मै = इन प्राणियों के लिये, उद्वत्सु = ऊँचे स्थान पर, तृणम् = व्रीहियव आदि तृण, अकृणोतन = उत्पन्न करते हो। स्वपस्यया = सत्कर्म करने की इच्छा से, निवत्सु = नीचे के प्रदेशों मे, अपः = जल, अकृणोतन = उत्पन्न करते हो । यद् = जब तक तुम, अगोह्यस्य गृहे = सूर्य मण्डल मे सोते हो, तत् = तब तक, अद्य इदम् = आज यह, न अनुगच्छथ = नही करना किन्तु अपना कार्य सिद्ध करना । इस मन्त्र में ऋभु का अर्थ आदित्य की रश्मियां है ।

अगोह्य आदित्योऽगूहनीयः, तस्य यदस्वपथ गृहे यावत्तत्र भवथ न तावदिह भवथेति ।

अगोह्यः = अगोह्य, आदित्यः = आदित्य होता है। क्योकि, वह, अगूहनीयः = अगूहनीय होता है। आदित्य किसी के छिपाने से छिपता नही है । इस लिये वह अगोह्य कहा जाता है । तस्य = उस आदित्य की रश्मियां, यद् = तब तक, अस्वपथ = सोती रहती हैं अर्थात्, तत्र गृहे = उस आदित्य मण्डल में, यावत् = जब तक, भवथ = होती हैं, तावत् = तब तक, इह = यहाँ पृथिवी पर, न भवथ = नही होती हैं । इति = इत्यर्थः ।

११ – अङ्गिरसः ।

अङ्गिरस् यह ऋषि का नाम है । वे मध्यस्थान हैं । क्योंकि, ऋषियों के रहने का स्थान स्वर्ग है । स्वर्ग मध्यम लोक है । भाष्यकार कहते हैं—

अङ्गिरसो व्याख्याताः ।

अङ्गिरसः = अङ्गिरस्, गण, व्याख्याता. = व्याख्यात हैं । अर्थात् इन की व्याख्या निरु. अ. ३ खं. १७ मे हो चुकी है । 'अङ्गयन्ते अन्विष्यन्ते इति अङ्गिरसः' इस विग्रह मे 'अगि गतौ' धातु से 'इदितो नुम् धातोः' इस सूत्र से नुम् आगम, बाहुलकात् औणादिक इरसुन् (इरस्) प्रत्यय होने पर अङ्गिरस् शब्द बना है। ऋषि गण का नाम है। क्योंकि, ज्वाला के शान्त होने पर अङ्गार में से ऋषियो ने अन्वेषणकर के अङ्गिरा को प्राप्त किया था। यह कथा अनुपद उद्धृत है—"ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे" (ऋ म. ८-२-१-५) इस मन्त्र में प्रसिद्ध है ।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षोडशः खण्डः । ११-१६ ॥

तेषाम् = उन अङ्गिराओं की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥ ऋ सं ८-२-१-५ ॥

इस मन्त्र का नाभानेदिष्ट ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और आङ्गिरस देवता है । मन्त्रार्थ—ऋषयः = कर्मद्रष्टा तथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग, विरूपास. इत् = नानारूप वाले हैं । ते इत् = वे ही अङ्गिरा लोग, गम्भीरवेपसः = गम्भीर कर्म वाले है । ते अङ्गिरसः = वे अङ्गिरा लोग, अग्नेः = अग्नि के, सूनवः = पुत्र है । ते = वे अङ्गिरा लोग, अग्नेः = अग्नि के, परि = चारो ओर, जज्ञिरे = *प्रादुर्भूत हुए हैं । इस मन्त्र मे अङ्गिराओकी स्तुति है । इस मन्त्र का भाष्य—*

विरूपा ऋषयस्ते गम्भीर कर्मणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा । ते अङ्गिरसः पुत्रास्ते अग्नेरधि जज्ञिरे इत्यग्निजन्म ।

ते ऋषयः = वे अङ्गिरा ऋषिगण, विरूपाः = नाना रूप वाले, गम्भीरकर्माणः = गम्भीर कर्म वाले, वा = अथवा, गम्भीर प्रज्ञाः = गम्भीर बुद्धि वाले है । ते = वे, अङ्गिरसः = अङ्गिरागण, अग्नेः = अग्नि के, पुत्राः = पुत्र है । ते = वे, अङ्गिरागण, अग्ने = अग्नि के, अधि = बीच मे से, जज्ञिरे = प्रादुर्भूत हुए हैं । इति = यह इन का, अग्निजन्म = अग्नि जन्म है । अग्नि में से प्रगट हुए हैं इस लिये अग्नि जन्म कहे जाते हैं ।

१२ – पितरः ।

यहां से देहत्याग करके स्वर्ग गये हुए पूर्वजों का नाम 'पितरः' है । जो पितृदेव कहे जाते हैं । स्वर्ग मध्यम लोक है । अतः ये मध्यमस्थान देव कहे जाते है । देवभाव को प्राप्त स्वर्गस्थ पितृदेव बहुत हैं । अतः 'पितरः' यह बहुवचनान्त हैं । भाष्यकार कहते हैं—

पितरो व्याख्याताः ।

पितरः = पितृदेवो की, व्याख्याताः = व्याख्या हो चुकी है । *(नि. अ. ४, खं० २१)* । वहां पिता का नाम है और यहां पितरो का, इतना भेद है । 'पान्ति रक्षन्ति इति पितरः' इस विग्रह मे 'पा रक्षणे' धातु से 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ मातृ पितृ दुहितृ' इस उणादि सूत्र के निपातन से तृच् (तृ) प्रत्यय और पा के आकार को इकार होने पर पितृ शब्द बना है । पितरः जस् का रूप है । पितृदेवो का नाम है । क्योंकि, वे रक्षण करते हैं ।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः । ११ – १७ ॥

तेषाम् = उन पितरो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

ऋ म ७-६-१७-१ ॥

इस मन्त्र का यमपुत्र शंख ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और पितृदेव देवता है। मन्त्रार्थ—तीन प्रकार के पितृदेव होते हैं। उत्तम मध्यम और अधम। उन में जो विधिवत् श्रौतकर्मका अनुष्ठान कर के पितृदेवत्व को प्राप्त हुए हैं वे उत्तम और जो विधिवत् स्मार्तकर्ममात्र का अनुष्ठान कर के पितृ-देवत्व को प्राप्त हुए हैं वे मध्यम एवं जो इन मे संस्कार विकल होते हैं वे अधम कहे जाते हैं। उन में, अवरे पितरः = अधमश्रेणी के पितृदेव, परासः पितरः = उत्तम श्रेणी के पितृदेव और, मध्यमाः पितरः = मध्यम श्रेणी के पितृदेव, सब कोई उदीरताम् = उत् ईरताम् = उत्तम हवि को प्राप्त करें। वे सब हमारे विषय में, सोम्यासः = सोम्य अर्थात् अनुग्रह परायण होवें। ये = जो, अवृकाः = भेड़िया के समान वा, अवृकाः = अशत्रु = मित्र के समान हमारी हिंसा न करते हुए, ऋतज्ञाः = हमारे से अनुष्ठित यज्ञ को जानते हुए, असुम् = हमारे प्राणों की रक्षा करने के लिये, ईयुः = यहां आये हैं, ते पितरः = वे सब पितृदेव, हवेषु = हमारे बुलाने पर, नः = हमारी, अवन्तु = रक्षा करें। इस मन्त्र में रक्षा के लिये पितृदेवों से प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

उदीरतामवर उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्यासः सोमसंपादिनस्तेऽसुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरोह्वानेषु ।

ते सोम्यासः = सोमसंपादिन = वे सोम के सम्पादन करने वाले, अवरे पितरः = अधम कोटिके पितृदेव, उदीरताम् = उत्तम हवि को प्राप्त करें। परे पितरः = उत्तम कोटि के पितृदेव, उदीरताम् = उत्तम हवि प्राप्त करें। मध्यमाः पितरः = मध्यम कोटि के पितृदेव, उदीरताम् = उत्तम हवि प्राप्त करें। अवृकाः = अनमित्राः = अशत्रु, सत्यज्ञाः = सत्य को जानने वाले, वा = अथवा, यज्ञज्ञाः = यज्ञ को जानने वाले, ये = जो, असुम् = प्राणम् = प्राणों की रक्षा करने के लिये, अन्वीयुः = यहां आये हुए हैं, ते पितरः = वे पितृदेवों, नः ह्वानेषु = हमारे बुलाने पर हमारी रक्षा करने के लिये, आगच्छन्तु = आवें।

माध्यमिको यम इत्याहुः । तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते ।

माध्यमिकः = मध्यम लोक का देव, यमः = यमराज है, इति = यह, आहुः = निरुक्त शास्त्र के जानने वाले नैरुक्त लोग कहते हैं। तस्मात् = इस लिये वे लोग (नैरुक्त लोग) पितॄन् = पितृदेवों को, माध्यमिकान् = माध्यमिक, मन्यन्ते = मानते है।

भाव यह है कि, तीन लोक हैं। पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक। अन्तरिक्ष लोक को मध्यलोक कहते हैं। मध्यलोक में अवान्तर लोक भी बहुत हैं। जैसे इन्द्र लोक, बृहस्पति

लोक, चन्द्र लोक और पितृलोक आदि। इन्द्रलोक के इन्द्र, बृहस्पति लोक के बृहस्पति, चन्द्रलोक के चन्द्र और पितृलोक के यम राजा है। यमराज माध्यमिक पितृदेव कहलाते है। उनके लोक में जाकर पितृदेवत्व को प्राप्त पूर्व जो भी माध्यमिक पितृदेव कहलाते है। अतः पितृदेव के लोक में जाने से पूर्वज भी पितृदेव कहलाते है या पितृदेवों के राजा होने से यमराज भी पितृदेव कहलाते है।

'पितरः' के बाद 'अथर्वाणः' का क्रम आता है। परन्तु 'अथर्वाणः' का जो उदाहरण मन्त्र आगे आने वाला है उसके चार देवता है। अङ्गिरा पितृ, भृगु और अथर्वा। अतः उक्त अङ्गिरस् पितृ और भृगु के निर्वचन हो गये है तो भी उनका स्मरण कराते हुए अथर्वन् का निर्वचन करते है—

अङ्गिरसो व्याख्यातः ।

अङ्गिरसः = अङ्गिराओं की, व्याख्यातः = व्याख्या हो चुकी है। (नि. ३-१७)।

पितरो व्याख्यातः ।

पितरः = पितरों की, व्याख्यातः = व्याख्या हो चुकी है। (नि. ४-२१)।

भृगवो व्याख्याताः ।

भृगवः = भृगुओं की, व्याख्यातः = व्याख्या हो चुकी है (नि. ३-१७)।

अब क्रम प्राप्त अथर्वाणः की व्याख्या करते हैं—

१३ – अथर्वाणः ।

'अथर्वाणः' यह मध्यस्थ पितृदेवो का नाम है। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ।

अथर्वणवन्तः = अगति अर्थात् स्थिरस्वभाव वाले, अथर्वाणः = अथर्वा कहे जाते हैं। क्योंकि, चरति कर्मा = गत्यर्थक, थर्वतिः = नैरुक्त थर्व धातु है। उस से थर्वन् शब्द बना है। तत्प्रतिषेधः = उसका निषेध अथर्वन् है। अर्थात् 'थर्वन्ति इति थर्वाणः' इस विग्रह में गत्यर्थक नैरुक्त थर्व धातु से 'कनिन् युवृषितक्षिराजि....' इत्यादि उणादि सूत्र से कनिन् (अन्) प्रत्यय होने पर थर्वन् शब्द बना है। 'न थर्वाणः इति अथर्वाणः' इस विग्रह में नञ् शब्द और थर्वन् शब्द का 'नञ्' इस सूत्र से नञ् तत्पुरुष समास 'न लोपो नञः' इस सूत्र से नञ् के नकार का लोप होने पर अथर्वन् शब्द बना है। 'अथर्वाणः' यह प्रथमा बहुवचन का रूप है। जो गमन न करे किन्तु सदा स्थिर स्वभाव वाले हों वे अथर्वा कहे जाते हैं।

तेषामेषा साधारणा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टादशः खण्डः । ११-१८ ॥

तेषाम् = उन अङ्गिरसः आदि चार देवताओ की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, साधारणा = साधारण, भवति = है। अर्थात् अङ्गिरसः पितरः भृगवः और अथर्वाणः इन चार देवताओं की एक ही ऋचा है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

ऋ. सं. ७-६-१५-६ ॥

इस मन्त्र के विवस्वत् के पुत्र यम ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अङ्गिरा पितृ अथर्वा और भृगु ये चार देवता हैं । मन्त्रार्थ—अङ्गिरसः = अङ्गिरा, अथर्वाणः = अथर्वा और, भृगवः = भृगु नामक देव, नः = हमारे, पितरः = पितृदेव हैं, नवग्वाः = नूतन गमन वाले हैं अर्थात् वे अभी अभी पधारे हैं । और वे, सोम्यासः = सोम के अधिकारी हैं । यज्ञियानाम् तेषाम् = यज्ञ के योग्य उन पितरों की, सुमतौ = अनुग्रह बुद्धि में, वयम् = हम, स्याम = रहें । अपिच = और, हम उन की, सौमनसे भद्रे = प्रसन्नता के कारण कल्याण मे, स्याम = रहे । इस मन्त्र में अङ्गिरा, अथर्वा, भृगु और पितृदेव की स्तुति है । अतः चारों की यह साधारण ऋचा है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयोवाऽथर्वाणो भृगवः सौम्याः सोमसंपादिनस्तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानाम् अपिचैषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति ।

अङ्गिरसः = अङ्गिराओं, नः = हमारे, पितरः = पितृदेव हैं । नवगतयः = नवीन गति वाले हैं । वा = अथवा, नवनीतगतयः = मक्खन के समान कोमल गति वाले हैं । अथर्वाण. भृगवः = अथर्वा और भृगु, सौम्याः = सोमसंपादिनः = सोम के संपादन करने वाले हैं । तेषाम् = यज्ञियानाम् = उन यज्ञ के योग्य पितरों की, सुमतौ = कल्याण्यामतौ = अनुग्रह बुद्धि में, वयम् = हम, स्याम = होवें = रहे । अपि च = और, यज्ञियानाम् तेषाम् = यज्ञ के योग्य उनकी, भद्रे = भन्दनीये = कल्याण के योग्य, वा = अथवा, भाजनवति कल्याणे = यजमानों को अभीष्ट अर्थों से सन्तुष्ट कराने वाले, मनसि स्याम = शुभ मन में रहें । इति = इत्यर्थः ।

माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः ।

ये ऋभु अङ्गिरस् भृगु और अथर्वा, माध्यमिकः = मध्यम लोक के, देवगण. = स्वतन्त्र स्वतन्त्र देव समूह हैं, इति = यह, नैरुक्ता. = निरुक्त शास्त्र के जानने वाले आचार्य लोग मानते हैं । और—

पितर इत्याख्यानम् ।

पितरः = ये सब पितर हैं, इति = इस प्रकार, आख्यानम् = आख्यान है । अर्थात् ये देवगण नहीं किन्तु पितर हैं ऐसा इतिहास आदि में कहा है ।

अथाप्यृषयः स्तूयन्ते ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः । ११ – १९ ॥

अथ अपि = और भी, ऋषयः = ऋषिगण, स्तूयन्ते = स्तुत होते हैं। अतः ये ऋषि हैं। इस प्रकार ऋभु आदि के विषय में तीन मत हैं। कोई कहते है ये देवगण हैं, कोई कहते हैं ये पितर हैं और कोई कहते है ये ऋषि है। इन में देवगण हैं यह मत सिद्धान्त हैं। क्योंकि, यह नैरुक्त मत है।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य विंशः खण्डः ॥

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गंभीरः ।

वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥

ऋ. सं. ५-३-२३-८ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वसिष्ठ ही देवता भी है। मन्त्रार्थ—एषाम् = इन ऋषियों का, ज्योतिः = तेज, सूर्यस्य ज्योतिः इव = सूर्य के तेज के समान होता है। एषाम् महिमा = इन ऋषियों की महिमा, समुद्रस्य इव = समुद्र के समान, गभीरः = गम्भीर होती है। एषाम् प्रजवः = इन का वेग अर्थात् बल, वातस्य इव = पवन के वेग के समान होता है। वसिष्ठाः = हे वसिष्ठ पुत्रो !, वः = आप का स्तोमः = स्तोत्र, अन्येन = अन्य किसी से, अन्वेतवे = अन्वेतुम् = अनुगमन करने के योग्य, न = नही है।

भाव यह है कि, जो ऋभु तथा अङ्गिरा आदि को मध्यमदेव मानते हैं उनका कहना था कि, ऋभु अङ्गिरा आदि देव है, ऋषि नही, क्योंकि, इन की मन्त्रो में स्तुति है। और जिन की मन्त्रों में स्तुति होती है वह देव ही होता है ऋषि नही यह नियम है। इस का उत्तर यह दिया गया कि, यह नियम नही कि, जिनकी मन्त्रों में स्तुति होती है वे देव ही होते है किन्तु ऋषियों की भी मन्त्रो में स्तुति देखी जाती है। जैसे उक्त मन्त्र मे ऋषियों की भी स्तुति है। अतः भृगु आदि ऋषि हैं यह सिद्ध हुआ।

१४ – भृगवः ।

भृगु के मतभेद से तीन अर्थ हैं। मध्यदेव, पितर और ऋषि यह पूर्व कहा गया है और यह भी पास मे ही कहा गया है कि 'भृगवो व्याख्याताः' अर्थात् नि. तृ. अ. १७ खं. में 'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव' इत्यादि पंक्ति से भृगु शब्द का निर्वचन हो चुका है। 'भृज्जन्ति तपसा इति भृगवः' इस विग्रह में 'भ्रस्ज पाके' धातु से 'प्रथिम्रदिभ्रस्जा संप्रसारणं सलोपश्च' इस उणादि सूत्र से उप्रत्यय, संप्रसारण सलोप और न्यङ्क्वादीनाच' इस सूत्र से कुत्वेन जकार को गकार होने पर भृगु शब्द बना है। भृगवः यह प्रथमाबहुवचन का रूप है। इस का उदाहरण मन्त्र पीछे पास मे ही 'अङ्गिरसो नः' इत्यादि दिया गया है।

१५ – आप्त्याः ।

इन्द्र के सहचारी देवगण का नाम आप्त्य है । 'आप्त्याः' यह बहुवचनान्त है । निर्वचन करते हैं—

आप्त्या आप्नोतेः ।

आप्नोतेः = आप् धातु से, आप्त्याः = आप्त्य शब्द बना है । अर्थात् 'आप्नुवन्ति स्तुतिभिः स्तुत्यान् प्राप्नुवन्ति इति आप्त्याः' इस विग्रह में 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र के निपातन से यत्प्रत्यय और तुक् (त्) आगम होने पर आप्त्य शब्द बना है । इन्द्र के सहचारी मध्यम देवगण का नाम है ।

तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य विंशः खण्डः । ११–२० ॥

तेषाम् = उन देवों का, ऐन्द्र्याम् ऋचि = इन्द्र देवता के ऋचा में, एषः निपातः = यह प्रयोग, भवति = है ।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥

ऋ. सं. ८–७–१–६ ॥

इस मन्त्र का अथर्वणपुत्र बृहद्दिव ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है । मन्त्रार्थ—स्तुषेय्यम् = स्तुत्य, पुरुवर्पसम् = नाना मूर्तियोवाला, ऋभ्वम् = विलक्षण दिप्तियुक्त, इनतमम् = अनुपम प्रभु (समर्थ) आप्त्यानाम् = आप्त्य देवों में, आप्त्यम् = श्रेष्ठ प्राप्तव्य, इन्द्र की मैं स्तुति करता हूँ । जो इन्द्र, शवसा = अपने बल से, सप्त दानून् = सात दानवों का, आदर्षते = विनाश करने वाला और, प्रतिमानानि = असुरों के प्रतिरूप, भूरि = अन्य बहुत असुरों को, प्रसाक्षते = हराने वाला है । इस ऋचा में 'आप्त्यानाम्' इस पद का निपात अर्थात् पाठ है । जो आप्त्य देवों का वाचक है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

स्तोतव्यं बहुरूपमुरुभूतमीश्वरतम माप्तव्य माप्तव्यानामादृणाति यः शवसा बलेन सप्त दातॄनिति वा सप्त दानवानिति वा प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि ।

स्तोतव्यम् = स्तुति करने योग्य, बहुरूपम् उरुभूतम् = बहुत रूप वाला, ईश्वरतमम् = अतिशय प्रभु, आप्तव्यानाम् = आप्त्य मध्य देवों में, आप्तव्यम् = श्रेष्ठ आप्त्य मध्यमदेव, इन्द्र की मैं स्तुति

करता हूं। यः = जो इन्द्र, शवसा = बलेन = अपने बल से, सप्त दानून् = सात मेघों को, इति वा = अथवा, सप्त दानवान् = सात दानवों को, आदृणाति = विदीर्ण करता है और, बहूनि प्रतिमानानि = उन के प्रतिरूप अन्य बहुत असुरों को, प्रसाक्षते = हराता है।

साक्षतिराप्नोतिकर्मा ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकविंश: खण्डः ।। ११-२१ ।।

आप्नोतिकर्मा = आप्नोति के समानार्थक अर्थात् व्याप्ति अर्थक, साक्षतिः = साक्ष धातु नैरुक्त है। जिस का रूप मन्त्र में 'साक्षते' है। धातूनामनेकार्थत्वात् यहां परीभव अर्थ है। इन्द्र असुरों का परिभव करता है = हराता है।

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ।

अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः ।

अथ = अब, अतः = यहां से. मध्यस्थानाः = मध्यस्थान, स्त्रियः = स्त्रियों की व्याख्या की जाती है। अर्थात् 'मरुतः' से लेकर 'आप्याः तक मध्यस्थान देवता वाचक बहुवचनान्त आठ शब्दों की व्याख्या करने के अनन्तर अब यहां से मध्यस्थान स्त्रीलिङ्ग देवता वाचक अदिति आदि शब्दों की व्याख्या की जाती है।

तासामदितिः प्रथमा गामिनी भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः । ११-२२ ।।

तासाम् = उन में, अदितिः = अदिति, प्रथमागामिनी = प्रथम आने वाली, भवति = है।

१६ – अदितिः ।

अदिति मध्यस्थान देवमाता का नाम है। दिति नाम असुर माता का और जो दिति न हो वह अदिति कही जाती है। अर्थात् "दीयते-क्षयति इति दितिः" इस विग्रह में 'दीङ् क्षये' धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र मे पठित बहुल से कर्ता में 'स्त्रियाम् क्तिन्' इस सूत्र से क्तिन् (ति) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् दी को ह्रस्व होने पर दिति शब्द बना है। और 'न दितिः इति अदितिः' इस विग्रह में 'नञ्' इस सूत्र से नञ् तत्पुरुष समास एवं 'नलोपो नञः' इस सूत्र से नञ् के नकार का लोप होने पर 'अदिति' शब्द बना है। देव-माता का नाम है। क्योंकि, उसका कभी क्षय नहीं होता है। भाष्यकार कहते हैं—

अदितिर्व्याख्याता ।

अदितिः = अदिति, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या नि. अ. ४ खं १३ में हो चुकी है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः । ११-२२ ॥

तस्याः = उस अदिति की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ।

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि ।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥

ऋ सं. ८-२-६-५ ॥

इस मन्त्र का गय ऋषि, जगती छन्द और विश्वदेव देवता है। मन्त्रार्थ—अदिते = हे अदिति देवी! तू, दक्षस्य = आदित्य के, जन्मनि व्रते = उदय रूप व्रत मे, राजाना मित्रावरुणा = राजा मित्र वरुण देवो का, विवाससि = सेवन करती है। अर्यमा = वह-शत्रु रूप अन्धकार को नियमन करने वाला-सूर्य, विषुरूपेषु = नाना रूपो मे और, जन्मसु = कर्मों मे, सप्तहोता = सात रश्मियों का होम करनेवाला, प्रक्षेप = फेकने वाला है। अतूर्तपन्थाः = अत्वरमाण = वेग रहित है। पुरुरथः = बहुत गमन करने वाले रथवाला है। इस मन्त्र मे अदिति की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते कर्मणि राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि । विवासतिः परिचर्यायाम् । "हविष्माँ आविवासति" इति । आशास्तेर्वा । अतूर्तपन्था अत्वरमाण पन्थाः । बहुरथोऽर्यमाऽऽदित्योऽरीन्नियच्छति । सप्तहोता—सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति । सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा । विषमरूपेषु जन्मसु कर्म सूदयेषु ।

अदिते = हे अदिति देवी! तुम, दक्षस्य = आदित्य के, जन्मनि व्रते = कर्मणि = उदय व्रत रूप कर्म मे, राजानौ मित्रावरुणौ = राजा मित्र और वरुण की, परिचरसि = परिचर्या (सेवा) करती हो। विवासतिः = विपूर्वक वास धातु, परिचर्यायाम् = परिचर्या (सेवा) अर्थ मे है। जैसे—'हविष्मां आवि वासति' अर्थात् हे अग्नि देव!, हविष्मान् = हविषु वाला यजमान, आविवासति = तुम्हारी सेवा करता है। अत. तुम भी उस की रक्षा करो। इस मन्त्र में आविवासति का अर्थ परिचर्या है। वा = अथवा, आशास्तेः = उक्त आशिर्वाद से यह प्रतीत होता है कि, विवास धातु का अर्थ परिचर्या है। अतूर्तपन्था = अत्वरमाणपन्थाः = वेग रहित मार्ग वाला आदित्य है। अर्यमा = आदित्य = सूर्य, बहुरथ. = शीघ्रगामीरथ वाला, अरीन् = शत्रुओं को, नियच्छति = नियमन करता है = वश करता है। यह आदित्य, सप्तहोता = सप्तहोता है अर्थात्, अस्मै = इस के लिये, सप्त रश्मयः = सात रश्मियां, रसान् = रसों को, अभिसन्नामयन्ति = लाती

हैं। इस लिये आदित्य सप्तहोता कहा जाता है। वा = अथवा, सप्त ऋषयः = सप्त ऋषि गण, एनम् = इस की, स्तुवन्ति = स्तुति करते हैं, इति = इस लिये यह आदित्य सप्तहोता कहा जाता है। विषमरूपेषु = विषम रूपों में और, जन्मसु = कर्मसु = उदयेषु = जन्म अर्थात् उदयरूप कर्मों में आदित्य यथोक्त सर्व कार्यों को करता है।

आदित्यो दक्ष इत्याहुरादित्यमध्ये च स्तुतः ।

यथोक्त मन्त्र में आया हुआ, दक्षः = दक्ष शब्द, आदित्यः = आदित्य वाचक है। दक्ष का अर्थ आदित्य है। इति = यह देवतातत्त्व के जानने वाले विद्वान् लोग, आहुः = कहते हैं। च = क्योंकि, वह, आदित्यमध्ये = आदित्य के मध्य में, स्तुतः = स्तुति किया गया है। भाव यह है कि, देवता के निर्णय के लिये स्तुति ही प्रमाण है। जिस की स्तुति जिस देवता के मध्य में है वहां वही देवता है। दक्ष की स्तुति आदित्य के मध्य में है। अतः दक्ष आदित्य ही है।

इस पर आक्षेप करते हैं—

अदितिर्दाक्षायणी । "अदि॑ते॒र्दक्षो॑ अजायत॒ दक्षा॒द्वदि॑तिः॒ परि॑" इति च । तत्कथमुपपद्येत ।

अदितिः = अदिति, दाक्षायणी = दक्ष की पुत्री है। अदितेः = अदिति से, दक्षः = दक्ष, अजायत = उत्पन्न हुआ है, उ = और, दक्षात् = दक्ष से, अदितिः परि = अदिति उत्पन्न हुई है। इति च = यह भी कहा जाता है। अर्थात् दक्ष की पुत्री अदिति और अदिति का पुत्र दक्ष है यह भी कहा जाता है। तत् = सो, कथम् = कैसे, उपपद्येत = उपपन्न होगा ? । परस्पर जन्य जनकभाव कहीं देखा नहीं गया है।

उक्त आक्षेप का समाधान—

समानजन्मानौ स्याताम् इति ।

समान जन्मानौ = समान जन्मा वा समनन्तर जन्मा, स्याताम् = हो सकता है। अर्थात् एक के पीछे एक का जन्म हो सकता है। इति = इस लिये ऐसा कहा गया है।

इस से असन्तुष्ट देख कर दूसरा उत्तर देते हैं—

अपि वा—देव धर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतर प्रकृती ।

अपि वा = अथवा, देवधर्मेण = देवधर्म से, वे दोनों (अदिति और दक्ष), इतरेतरजन्मानौ = परस्पर जन्मा, अर्थात्, इतरेतरप्रकृती = परस्पर कारण, स्याताम् = हो सकते हैं। अर्थात् देवता महाभाग्य होते हैं। दक्ष महत् रूप से अदिति का पिता और पुत्र भी हो सकते हैं। जन्म कार्य और प्रकृति कारण समझना चाहिये। अदिति दक्ष की माता और पुत्र भी है एवं दक्ष अदिति का पिता और पुत्र भी है। देवता होने से कोई दोष नहीं।

अग्निरप्य दितिरुच्यते ।

अग्नि. अपि = अग्नि भी, अदितिः = अदिति, उच्यते = कहा जाता है । अर्थात् जैसे अदिति का अर्थ देव माता तथा दाक्षायणी है वैसे ही अग्नि भी है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयोविंश खण्ड ।। ११-२३ ।।

तस्य = अदिति का अग्नि अर्थ है इसकी, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्विंश खण्ड ।।

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता ।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ॥

ऋ स १-६-३२-१५ ।।

इस मन्त्र का आङ्गिरस कुत्स ऋषि जगती छन्द और अग्नि देवता है । मन्त्रार्थ—सुद्रविण अदिते = हे शोभन धन से युक्त अखण्डनीय अग्नि देव !, सर्वताता = सर्व यज्ञो मे वर्तमान, यस्मै = जिस यजमान को, त्वम् = तुम, अनागास्त्वम् = पापरहितता का, ददाश = प्रदान करते हो, पाप रहित करते हो और, यम् = जिस यजमान को, भद्रेण = कल्याण से एव, शवसा = बल से, चोदयासि = सयोजित करते हो । वह समृद्धशाली हो जाता है । हम भी तुम्हारे स्तोता हैं । अत हम भी, प्रजावता = पुत्र पौत्र आदि प्रजा से युक्त और, ते राधसा = तुम्हारे दिये हुए धन से युक्त होवें । इस ऋचा मे अदिति शब्द क्षय रहित अग्निवाचक है । अत. अग्नि भी अदिति कहा जाता है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददास्यनागस्त्वमनपराधत्वमदिते सर्वासु कर्मततिषु । आग आङ्पूर्वाद् गमेरेन एतेः । किल्बिषं किल्भिदं सुकृतकर्मणोभयं, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति वा । यं भद्रेण शवसा बलेन चोदयसि प्रजावता च राधसा धनेन । ते वयमिहस्यामेति ।

सुद्रविण अदिते = हे सुन्दर धनवाला अग्निदेव !, त्वम् = तुम, सर्वासु कर्मततिषु = सर्व कर्मों मे = यज्ञो मे, उपस्थित रहने वाले, यस्मै = जिस यजमान को, अनागस्त्वम् = अनपराधत्वम् = पाप रूप अपराध रहितत्व, ददासि = देते हो वह समृद्धशाली हो जाता है । आङ्पूर्वात् गमे = आङ्पूर्वक गम् धातु से, आग = आगस् शब्द बना है । अर्थात् 'आगच्छति कर्तारम् अवश्य फल रूपेण प्राप्नोति इति आग पापम्' इस विग्रह मे आङ्पूर्वक 'गम्लृ गतौ' धातुसे 'सर्वधातुभ्योऽसुन्'

इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, बाहुलकात् डित्, डित्त्वात् टिलोप, होने पर आगस् शब्द बना है। पाप का नाम है। क्योंकि, पाप अवश्य कर्ता को फल देने के लिये प्राप्त होता है। आगस् नाम पाप का है। उसका पर्याय एनस् है। प्रसङ्गवश उसका भी निर्वचन करते हैं— 'एन एतेः' अर्थात्, एतेः = इण् धातुसे, एन. = एनस् शब्द बना है। 'ऐति अवश्यम् कर्तारम् आगच्छति इति एनः पापम्' इस विग्रह मे 'इण् गतौ' धातु से 'इण आगसि' इस उणादि सूत्र से असुन् प्रत्यय और नुट् आगम, इ न् अस्, गुण, ए न् अस्, एनस् शब्द बना है।

एनस् के समान पर्याय प्रसक्त 'किल्विष' शब्द का निर्वचन करते हैं—किल्विषम् = किल्भिदम्= सुकृतकर्मणः भयम् = किल्विष (पाप) किल्भिद को कहते है। इस को, सुकृतकर्मण. = सुकृतकर्म (पुण्य) से, भयम् = भय होता है। क्योकि 'धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् धर्म से पाप दूर होता है। वा = अथवा, पाप, अस्य = इसकी (कर्ताकी), कीर्त्तिम् = कीर्ति का, भिनत्ति = भेदन (नाश) करता है।

हे देव !, यम् = जिसको तुम, भद्रेण = कल्याण से और शवसा = बलेन = बल से, चोदयसि= संयोजित करते हो वह, प्रजावता = प्रजासे, च = और, राधसा = धनेन = धन से सम्पन्न होता है। इह = यहा, वयम् = हम भी, ते = तुम्हारा स्तोता हैं। हम भी पुत्र पौत्र आदि प्रजा तथा धन से सम्पन्न, स्याम = होवें। इति = इत्यर्थः।

१७ – सरमा ।

मध्यलोक वासिनी देवो की कुतिया देवशुनी का अथवा माध्यमिका वाणी का नाम सरमा है। भाष्यकार कहते हैं—

सरमा सरणात् ।

सरणात् = गमन करने से, सरमा = देवशुनी और माध्यमिका वाक् सरमा कही जाती है। ऐतिहासिक पक्ष से सरमा देवशुनी और नैरुक्त पक्ष से माध्यमिका वाक् कही जाती है। अर्थात् 'सरति गच्छति इति सरमा' इस विग्रह मे 'सृ गतौ' धातु से 'कलिकर्योरमः' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् अम् प्रत्यय, छन्दसत्वात् मकार की इत्संज्ञा का अभाव, रपर गुण और टाप् होने पर सरमा शब्द बना है। देवशुनी और माध्यमिका वाक् का नाम है। क्योकि, ये दोनों सरण = गमन करती हैं।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥ ११-२४ ॥

तस्या. = सरमा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ।

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥

ऋ. सं. ८-६-५-१ ॥

इस मन्त्र का पणिगण ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सरमा देवता है। इस सूक्त में बहुत मनोरञ्जनप्रद कथा है। उस को सायण भाष्य में देखना चाहिये। मन्त्रार्थ—आती हुई सरमा नाम की देवशुनी (कुतिया) को देख कर पणिनाम के असुरगण कहते हैं—सरमा = सरणशीला देवशुनी तुम, किमिच्छन्ती = किस वस्तु की इच्छा करती हुई, इदम् = हमारे इस स्थान पर, प्र आनट् = व्याप्त हुई हो = आई हो। हि = क्योंकि, अध्वा = यह मार्ग, पराचैः = प्राङ्मुख अर्थात् आवृत्ति वर्जित (पीछे लौटने योग्य नहीं), जगुरिः = उद्गूर्ण अर्थात् बहुत प्रयत्न करने पर भी गमन करने योग्य नहीं और, दूरे = बहुत दूर है। अस्मेहितिः = हमारे पास तेरा अपेक्षित अर्थ, का = क्या रखा है? जिस के लिये तुम यहां आई हो?। का = किस प्रकार की, परितक्म्या = रात्रि, आसीत् = थी?। अर्थात् कितनी रात्रि में तुम यहां आई हो?। अथवा, का = किस कारण तुम्हारा यहां परितक्म्या = आना, आसीत् = हुआ है? और, कथम् = किस प्रकार, रसायाः = शब्दायमान सौ योजन विस्तीर्ण अन्तरिक्ष नदी के, पयांसि = जलों को तुम ने, अतरः = तरा है।

पूरी कथा ऋ. सं. म. १० सू. १०८ (जो सरमा पणिसूक्त कहा जाता है) में देखना चाहिये। इस ऋचा में सरमा शब्द आया है। सरमा देवशुनी से असुर पणि पूछ रहा है। अतः यह ऋचा सरमा की है।

किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट् दूरे ह्यध्वा जगुरिर्जङ्गम्यतेः पराञ्चैरञ्चितः का ते अस्मासु अर्थहितिरासीत् किं परितकनम्। परितक्म्या रात्रिः परित एनां तक्म। तक्मेत्युष्णनाम तकत इति सतः। "कथं रसाया अतरः पयांसि" इति। रसा नदी रसतेः शब्दकर्मणः। कथं रसानि तान्युदकानीति वा।

सरमा = देवों की कुतिया, किमिच्छन्ती = किस वस्तु की इच्छा करती हुई, इदम् = हमारे इस स्थान पर, प्रानट् = प्राप्त हुई हो। हि = क्योंकि, अध्वा = यह मार्ग, दूरे = बहुत दूर है और, जगुरिः = उद्गूर्ण अर्थात् बहुत प्रयत्न करने पर भी आने में सुलभ नहीं है। जङ्गम्यते = यङ्लुगन्त गम धातु से, जगुरिः = जगुरि शब्द बना है। अर्थात् 'पुनः पुनः अतिशयेन वा गच्छति प्राप्नोति इति जगुरिः' इस विग्रह में 'गम्लृ गतौ' धातु से 'धातोरेकाचः' इत्यादि सूत्र से यङ् (य) प्रत्यय, 'यङोऽचि च' इस सूत्र से यङ् का लुक्, द्वित्वादि, अभ्यास कार्य जगम्, धातु संज्ञा, 'जसिसहोरुरिन्' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् उरिन् (उरि) प्रत्यय डित्, डित्वात् टिलोप, जग् उरि, जगुरि बना है। यह मार्ग, पराञ्चैः अञ्चितः = प्राङ्मुख अर्थात् गमन करने में दुष्कर है।

अस्मासु = हमारे यहां, ते = तेरा, का = क्या, अर्थहितिः = स्वार्थ, आसीत् = था । किम् परितकनम् = परितकन क्या था अर्थात् कितनी रात्रि में तुम यहां आई हो ? । परितक्म्या रात्रिः = परितक्म्या रात्रि कहलाती है । क्योंकि, परितः = दोनों तरफ (आगे पीछे), एनाम् = इस के, तक्म = उष्ण दिन है । रात्रि के पहले भी दिन है और बाद भी । तक्म इति = तक्म यह, उष्णनाम = उष्ण का नाम है । तकते इति सतः = 'तकते' इस से बना हुआ होने से । परि पूर्वक 'तक हसने' धातु से उणादि कल्पित मक् (म्) प्रत्यय, परि तक् म्, परितक्म, पृषोदरादित्वात् य का आगम और टाप् होने पर परितक्म्या शब्द बना है । रात्रि का नाम है । जिस के दोनों ओर उष्ण दिन हो और वह स्वयं शीत (ठंढी) हो वह परितक्म्या रात्रि कही जाती है । रसायाः पयांसि = अन्तरिक्ष नदी के जल को, कथम् = किस प्रकार तुमने, अतरः = तरा । रसा नदी = रसा यह नदी है । अर्थात् रसा नदी का नाम है । क्योंकि, वह, शब्दकर्मणः = शब्दार्थक, रसतेः = रस धातु से बना है । अर्थात् 'रसति शब्दं करोति इति रसा' इस विग्रह में 'रस शब्दे' धातु से पचाद्यच् और टाप् होने पर रसा शब्द बना है । नदी का नाम है । क्योंकि, नदी शब्द करती है । वा = अथवा, रसा का अर्थ नदी नहीं किन्तु जल है । इस पक्ष में, तानि रसानि = उदकानि = उन जलों को तुमने, कथम् = किस प्रकार, अतरः = तरा ।

मन्त्रार्थ स्पष्ट करने के लिये कारण बताते हैं—

देवशुनीन्द्रेण प्रहिता । पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम् ।

इन्द्रेण = इन्द्र ने, देवशुनी = देवों की कुतिया को, प्रहिता = भेजा । उसने, पणिभिः असुरैः = पणि नामक असुरों के साथ, समूदे = सम्वाद किया । इति = यह, आख्यानम् = आख्यान है । भाव यह कि, ऋग्वेद के १० वें मण्डल का १०८ वां सूक्त सरमा-पणि सूक्त कहलाता है । इस में असुर पणियों और सरमा देवशुनी का सम्वाद है । और वह इस प्रकार है—पणि नामक असुरगण देवों की गायों को चुरा ले गये । और किसी दूर स्थान में उन्हें छिपा कर रख दिया । इन्द्र ने सरमा नाम की कुतिया को कहाकि, तू जा, गौओं का पता लगा कर आ कि वे कहां हैं । सरमा ने कहा कि, यदि मेरे बच्चों को उन गौओं का दूध दोगे तो मैं जाऊंगी । इन्द्र ने हां कहा । तब सरमा नदी को पार करके उन असुरों के पास पहुँच गई और गायों का पता लगा कर आई एवं इन्द्र को उसने कह दिया । इन्द्र ने उन असुरों को दण्ड दिया और गायों को छीन लिया ।

१८ – सरस्वती ।

मध्यस्थान वाग्देवी का नाम सरस्वती है । यास्क कहते हैं—

सरस्वती व्याख्याता ।

सरस्वती = सरस्वती, व्याख्याता = व्याख्यात है । अर्थात् नि. अ. २, खं. २३, ५७ वाङ्नामों में २२ वां सरस्वती शब्द है । अ. १० खं. १३ में सरस्वान् शब्द आया है । वहां भी इस की व्याख्या हुई है । पाठकों को वही देखना चाहिये ।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ।। ११-२५ ।।

तस्याः = उस सरस्वती की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ऋ स १-१-६-१० ॥

इस मन्त्र का मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और सरस्वती देवता है । मन्त्रार्थ—पावका = पवित्र करने वाली, वाजेभिः वाजिनीवती = हविरूप अन्न से अन्न वाली, धियावसु = कर्मरूप धनवाली, सरस्वती = माध्यमिका सरस्वती देवी, न = हमारे, यज्ञम् = यज्ञ की, वष्टु = कामना करें, यज्ञ को चाहे ।

इस मन्त्र का भाष्य—

पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती यज्ञं वष्टु धिया वसुः, कर्मवसुः ।

पावका = पवित्र करने वाली, अन्नैः अन्नवती = अन्नो से अन्नवाली, धियावसुः = कर्मवसु = कर्मरूप धनवाली, सरस्वती = सरस्वती देवी, नः = हमारे, यज्ञम् = यज्ञ की, वष्टु = कामना करें हमारे यज्ञ को चाहे । अर्थात् हमारे यज्ञ मे पधारें ।

तस्या एषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ।। ११-२६ ।।

तस्याः = उस सरस्वती की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तविंश खण्डः ।

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।

धियो विश्वा वि राजति ॥ ऋ स १-१-६-१२ ॥

इस मन्त्र का भी मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और सरस्वती देवता है । मन्त्रार्थ—सरस्वती के दो रूप हैं । एक करचरणादि विग्रहवती देवता रूप और दूसरा नदी रूप । उन मे पूर्व ऋचा से विग्रहवती का प्रतिपादन किया गया । अब इस ऋचा से नदी रूपा सरस्वती ने, केतुना = प्रवाह

रूप कर्म से, महो अर्णः = जलराशी को, प्रचेतयति = प्रगट किया है और इस के सिवाय अपने देवता रूप से, विश्वा धियः = समस्त ज्ञानों का भी, विराजति = विशेष रूप से प्रकाश किया है। इस ऋचा में दोनों रूपा सरस्वती की स्तुति है।

इस ऋचा का भाष्य—

महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वेमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभि विराजति।

सरस्वती = सरस्वती ने, केतुना = कर्मणा = प्रवाह रूप कर्म से, वा = अथवा, प्रज्ञया = ज्ञान से, महदर्णः = महान् जलराशी को, प्रचेतयति = प्रगट किया है। च = और, इमानि सर्वाणि प्रज्ञानानि = इन सर्व ज्ञानों का भी, अभि विराजति = अधिक प्रकाश किया है।

निरुक्त मत में सरस्वती का अर्थ वाग्देवता है। इस में युक्ति देते हैं—

वागर्थेषु विधीयते। तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते।

वाग् = वाणी, अर्थेषु = अर्थों में, विधीयते = विधान की गई है और सरस्वती भी। तस्मात् = इस लिये, माध्यमिकाम् वाचम् = मध्यलोक की देवता वाणी को, मन्यन्ते = नैरुक्तलोग मानते हैं। अर्थात् सरस्वती देववाणी होने से मध्यम लोक की देवी है।

१९ – वाक्।

माध्यमिका देववाणी का नाम वाच् है। अर्थात् 'उच्यते अर्थः अनया इति वाक्' इस विग्रह में 'वच परिभाषणे' धातु से 'क्विब्वचि' इत्यादि वार्तिक से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, दीर्घ, और सम्प्रसारण का अभाव होने पर वाच् शब्द बना है। मध्यस्थान देववाणी का नाम है। क्योंकि, वाणी से अर्थ कहा जाता है। भाष्यकार कहते हैं—

वाग् व्याख्याता।

वाग् = वाच् शब्द, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या (नि. अ. ५ खं. २१) में हो चुकी है।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः। ११-२७॥

तस्याः = उस वाग् देवता की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टादशः खण्डः।

यद्वाग्वद॑न्त्यविचेत॒नानि॒ राष्ट्री॑ दे॒वानां॑ निष॒साद॑ म॒न्द्रा।
चत॑स्र॒ ऊर्जं॑ दुदुहे॒ पयां॑सि॒ क्व॑ स्विदस्याः प॒र॒मं ज॑गाम॥

ऋ. सं. ६-७-५-१०॥

इस मन्त्र का भार्गव नेम ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वाग्देवता है। मन्त्रार्थ—राष्ट्री = दीप्ति रूप ऐश्वर्यशील और देवानाम् मन्द्रा = देवों को आनन्द देने वाली, वाक् = वाणी यत् = जिस समय, अविचेतनानि = अज्ञानियों को ज्ञान देती हुई एवं, वदन्ती = ज्ञापन करती हुई, निषसाद = यज्ञ में बैठती है, उस समय, चतस्रः = चारो ओर के लिये, ऊर्जम् = अन्न और, पयांसि = जल का, दुदुहे = दोहन करती है। अस्याः = इस माध्यमिका वाग्देवी का जो, परमम् = श्रेष्ठत्व है वह, क स्विद् जगाम = कहाँ गया ? । अर्थात् कही नही। इस ऋचा मे वाग्देवी की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

यद्वाग्वदन्त्य विचेतनान्यवि ज्ञातानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा मदना। चतस्रोऽनु दिश ऊर्जे दुदुहे पयांसि। "क स्विदस्याः परमं जगाम" इति। यत्पृथिवीं गच्छतीति वा यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा।

राष्ट्री = दीप्तिरूप ऐश्वर्यशील, देवानाम् = देवो को, मन्द्रा = मदना = आनन्द देने वाली, वाक् = वाणी, यत् = जिस समय, अविचेतनानि = अविज्ञातानि = अज्ञानियों को ज्ञान देती हुई एवं, वदन्ति = ज्ञापन करती हुई, निषसाद = यज्ञ में बैठती है उस समय, चतस्रः दिशः = चारो ओर के लिये, ऊर्जम् = अन्न और, पयांसि = जल का, अनुदुदुहे = दोहन करती है। अस्याः = इस माध्यमिका वाग्देवी का जो, परमम् = जलरूप श्रेष्ठत्व है वह, जो क्वस्विद् जगाम = कहा गया? अर्थात् कही नही। यत् पृथिवीम् = जो पृथिवी मे, गच्छति = जाता है, इति वा = अथवा, यत् = जिस को, आदित्यरश्मयः = सूर्य की रश्मियां, हरन्ति = हर ले जाती हैं। फलतः वाग्देवी के अन्न और जल कभी नष्ट नही होते हैं।

तस्या एषाऽपरा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः ।। ११–२८ ।।

तस्याः = उस वाग्देवी को, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः ।

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥

ऋ. सं. ६–७–५–११ ।।

इस मन्त्र का पूर्ववत् भार्गव नेम ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वाग् देवता है। *मन्त्रार्थ—देवाः* = मध्यम लोक के देवताओंने देवीम् = द्योतमान, वाचम् = जिस वाग्देवी को, अजनयन्त = उत्पन्न किया था, ताम् = उस, विश्वरूपाः = व्यक्ताव्यक्त सर्वरूपा वाणी को, पशवः = गो आदि पशु भी, वदन्ति = बोलते हैं। सा = वह नः = हमे मन्द्रा = हर्ष देनेवाली, धेनुः = धेनुरूपा = वाग् =

वाग्देवी, इषम् ऊर्जम् = अन्न और पयोघृतादि रस को, दुहाना = झरती हुई, सुष्टुता = सुन्दर स्तुति की गई, उप एतु = हमारे यहां आवें। इस मन्त्र में वाग्देवी की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च। सा नोमदनाऽन्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मानुपैतु सुष्टुता।

देवाः = देवों ने, देवीम् = द्योतमान, वाचम् = वाणी को, अजनयन्त = उत्पन्न किया था। ताम् = उस वाणी को, सर्वरूपाः पशवः = सर्व जाति के पशुगण, व्यक्तवाचः = व्यक्त वाणी, च = और, अव्यक्त वाचः = अव्यक्त वाणी को, वदन्ति = बोलते है। सा = वह, नः = हमें, मदना = हर्ष देनेवाली, धेनुः = धेनुरूपा, वाग् = वाणी, अन्नम् रसम् च दुहाना = अन्न और रस को झरती हुई, सुष्टुता = सुन्दर स्तुति की गई, अस्मान् = हमारे यहां, उपैतु = आवें।

२० – अनुमतिः। २१ – राका।

अनुमति और राका ये दोनो देवों की स्त्रियों के नाम हैं। भाष्यकार निर्वचन करते हैं—

अनुमतिराकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः। "या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमतिः, योत्तरा सा राका" (ऐ. ब्रा. ७–२–१०) इति विज्ञायते।

अनुमतिराका इति = अनुमति और राका ये दोनों, देवपत्न्यौ = देवपत्नियें हैं, इति = यह, नैरुक्ताः = निरुक्त शास्त्र के आचार्य लोग मानते हैं। पौर्णमास्यौ = पौर्णमासी हैं, इति = यह, याज्ञिकाः = याज्ञिक अर्थात् मीमासक लोग मानते हैं। इस में ब्राह्मण वाक्य प्रमाण देते हैं—या = जो, पूर्वा = पहली, पौर्णमासी = पौर्णमासी है, सा = वह, अनुमतिः = अनुमति है और, या = जो, उत्तरा = पिछली पौर्णमासी है, सा = वह, राका = राका है, इति = यह विज्ञायते = ब्राह्मण वाक्य से जाना जाता है। भाव यह है कि, पूर्णिमा के दो भाग हैं। पहला और पिछला। उन में पहला भाग अनुमति और पिछला भाग राका है।

अनुमतिरनुमननात्।

अनुमननात् = अनुमनन से = ऋषि और देवताओं के 'यह पौर्णमासी है' ऐसा मानने से, अनुमतिः = पौर्णमासी 'अनुमति' कहलाती है। अर्थात् 'अनुमन्यते इति अनुमतिः' इस विग्रह में, अनु पूर्वक 'मन ज्ञाने' धातु से बाहुलकात् कर्ता में क्तिन् (ति) प्रत्यय, अनु मन् ति, 'अनुदात्तोपदेश....' इत्यादि सूत्र से नकार लोप होने पर 'अनुमति' शब्द बना है।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः। ११–२९॥

तस्याः = उस अनुमति की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ।

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि ।

क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः ॥ य. वा. सं. ३४-८ ॥

इस मन्त्र का याज्ञवल्क्य ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और अनुमति देवता है। मन्त्रार्थ—अनुमते = हे चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमा की अधिष्ठातृदेवि !, त्वम् = तुम, इत् = ही, अनुमन्यासै = हमारे कथन को जानो, च = और, नः = हमारा, शम् = कल्याण, कृधि = करो अर्थात् सुख दो और, क्रत्वे = संकल्प के, दक्षाय = सिद्धि के लिये, नः = हम को, हिनु = प्राप्त कराओ, नः = हमारी, आयूंषि = आयुष्य को, प्रतारिषः = बढाओ। इस मन्त्र में अनुमति से स्तुति पूर्वक प्रार्थना है।

राका रातेर्दानकर्मणः ।

दानकर्मणः = दानार्थक, रातेः = रा धातु से, राका = राका शब्द बना है। अर्थात् 'राति हविः ददाति अस्मिन् इति राका' इस विग्रह मे 'रा दाने' धातु से 'कृदाधाराचिकलिभ्यः कः' इस उणादि सूत्र से क प्रत्यय, बाहुलकात् ककार की इत्संज्ञा का अभाव होने पर 'राका' शब्द बना है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रिंशः खण्ड. ॥ ११-३० ॥

तस्याः = उस राका की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरंशतदायमुक्थ्यम् ॥

ऋ. सं. २-७-१५-४ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, जगती छन्द और राका देवता है। मन्त्रार्थ—अहम् = मैं, सुहवाम् = सुन्दर आह्वानवाली, सुष्टुती = सुन्दर स्तुति वाली, राकाम् = संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी को, हुवे = बुलाता हूं। सुभगा = सुन्दर धनवाली, नः = हमारे आह्वान को, शृणोतु = सुनें और सुन कर, त्मना = आत्मना = अपने आप से, बोधतु = जानें। अपः = सन्तान उत्पादन रूप कर्म को, सूच्या = सूचि स्थानीय, अच्छिद्यमानया = नया अविच्छिन्न, सीव्यतु = सीवें। वीरम् = पराक्रमी, शतदायम् = बहुत दान करनेवाला, उक्थ्यम् = प्रशंसनीय पुत्र, ददातु = देवें। इस मन्त्र में राका देवी की स्तुति है।

इस ऋचा का भाष्य—

राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्वाह्वये, शृणोतु नः सुभगा बोधत्वात्मना, अपः-प्रजननकर्म, सूच्याच्छिद्यमानया, सूची सीव्यतेः । ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् वक्तव्य प्रशंसम् ।

अयम् = मैं, सुह्वानाम् = सुन्दर आह्वान वाली, राकाम् = राका देवी को, सुष्टुत्या = सुन्दर स्तुति से, आह्वये = बुलाता हू । सुभगा = सुन्दर धन वाली राका, नः = हमारे आह्वान को, शृणोतु = सुनें और सुन कर, आत्मना = अपने आप से, बोधतु = जाने । अपः = प्रजनन कर्म = सन्तान उत्पादन रूप कर्म को, अच्छिद्यमानया = अविच्छन्न, सूच्या = सूची से, सीव्यतु = सीवें । सीव्यतेः = षिव् धातु से, सूची = सूची शब्द बना है । अर्थात् 'सीव्यति इति सूची' इस विग्रहमे—षिवु तन्तुसन्ताने धातु से 'सिवेष्टेरूच' इस उणादि सूत्र से चट् प्रत्यय (च), टि को ऊ भाव और टित्वात् ङीप् होने पर 'सूची' शब्द बना है । राका हमें, शतदायम् = बहुत दान करने वाला, उक्थ्यम् = वक्तव्यप्रशंसम् = प्रशंसनीय, वीरम् = पराक्रमी पुत्र, ददातु = देवें ।

२२ – सिनीवाली । २३ – कुहूः ।

सिनीवाली और कुहू ये दोनो भी अनुमति और राका के समान देवों की स्त्रियों के नाम हैं। भाष्यकार इन का निर्वचन करते हैं—

सिनीवाली-कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः। अमावास्ये इति याज्ञिकाः। "या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली। योत्तरा सा कुहूः" इति विज्ञायते।

सिनीवाली कुहूः इति = सिनीवाली और कुहू ये दोनो, देवपत्न्यौ = देवपत्नियाँ हैं, इति = यह, नैरुक्ताः = निरुक्त शास्त्र के आचार्य लोग मानते हैं। अमावास्ये इति = अमावास्या हैं यह, याज्ञिकाः = याज्ञिक लोग मानते हैं। इस मे ब्राह्मण वाक्य प्रमाण देते हैं—या = जो, पूर्वामावास्या = पहली अमावास्या है, सा = यह, सिनीवाली = सिनीवाली है और, या उत्तरा = जो पिछली अमावास्या है, सा = वह, कुहूः = कुहू है। इति - [illegible] उक्त ब्राह्मण वाक्य से, विज्ञायते = जाना जाता है। भाव यह है कि, अमावास्या के दो भाग [illegible] पहला और पिछला। उन मे पहला भाग सिनीवाली

धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय, रपर वृद्धि, वार, पृषोदरादित्वात् र को ल होने पर 'वाल' शब्द बना है। पर्व (उत्सव) का नाम है। क्योंकि, उत्सव में भोजन करने के लिये इतने लोग आते है कि, उन से दाता आवृत (ढक) हो जाते हैं। इस प्रकार 'सिन' शब्द और 'वाल' शब्द बन जाने के बाद, 'सिनम् अस्या अस्ति इति सिनी' इस विग्रह में सिन शब्द से मत्वर्थीय ई प्रत्यय अलोप होने पर 'सिनी' शब्द बना है। अन्न वाली अर्थ है। तस्मिन् = उस पर्व में, अन्नवती = जो अन्न वाली हो वह देवाङ्गना सिनीवाली कहलाती है। अर्थात् 'वाले सिनी इति सिनीवाली' इस विग्रह में 'सहसुपा' इस सूत्र से समास, 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र से सिनी शब्द का पूर्व प्रयोग, सिनीवाल, गौरादि के आकृतिगण होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय, अलोप होने पर 'सिनीवाली' शब्द बना है। पर्व में = उत्सव में अन्नवाली अर्थ है। देवताओं की स्त्रियाँ उत्सव के दिन अन्नवाली होती हैं। पर्व के दिन आये हुए सब को भोजन कराती हैं। अतः वे सिनीवाली कहलाती हैं।

वा = अथवा, वालिनी = जो वालों वाली (केश वाली) हो वह सिनीवाली कहलाती है। वा = अथवा, वालेन इव = वाल के समान, अणुत्वात् = छोटा होने से, चन्द्रमाः = चन्द्र, अस्याम् = इस में, सेवितव्यः = सेवनीय, भवति = होता है। जैसे चन्द्रमा अणु होने से सेवितव्य है वैसे ही वाल अणु होने से सेवितव्य है। 'वालेनैव सेव्यते इति सिनीवाली' इस विग्रह में पूर्ववत् समास और पूर्व निपात समझना चाहिये।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ॥ ११-३१ ॥

तस्याः = उस सिनीवाली की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः ।

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ ऋ सं. २-७-१५-६ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और सिनीवाली देवता है। मन्त्रार्थ—सिनीवालि = हे देवपत्नी रूप देवि! वा हे अमावास्या अभिमानिनी देवि!, पृथुष्टुके = हे मोटी जांघ वाली देवि!, या = जो तुम, देवानाम् = देवताओं की, स्वसा = स्वयं संचारिणी वा बहिन, असि = हो, सो तुम, आहुतम् = अभिमुख हो कर अग्नि में प्रक्षिप्त, हव्यम् = हमारे हवि को, जुषस्व = प्रेम से ग्रहण करो। और ग्रहण करके, नः = हमें, प्रजाम् = पुत्रादि सन्तान, दिदिड्ढि = दो। इस मन्त्र में सिनीवाली देवी से अर्थात् माध्यमिका देवी से सन्तान के लिये प्रार्थना है।

इस ऋचा का भाष्य—

राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्याह्वये, शृणोतु नः सुभगा बोधत्वात्मना, अपः—प्रजननकर्म, सूच्याच्छिद्यमानया, सूची सीव्यतेः । ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् वक्तव्य प्रशंसम् ।

अयम् = मैं, सुह्वानाम् = सुन्दर आह्वान वाली, राकाम् = राका देवी को, सुष्टुत्या = सुन्दर स्तुति से, आह्वये = बुलाता हूं । सुभगा = सुन्दर धन वाली राका, नः = हमारे आह्वान को, शृणोतु = सुनें और सुन कर, आत्मना = अपने आप से, बोधतु = जानें । अपः = प्रजनन कर्म = सन्तान उत्पादन रूप कर्म को, अच्छिद्यमानया = अविच्छन्न, सूच्या = सूची से, सीव्यतु = सीवें । सीव्यतेः = षिव् धातु से, सूची = सूची शब्द बना है । अर्थात् 'सीव्यति इति सूची' इस विग्रहमें— षिवु तन्तुसन्ताने धातु से 'सिवेष्टेरूच' इस उणादि सूत्र से चट् प्रत्यय (च), टि को ऊ भाव और टित्वात् ङीप् होने पर 'सूची' शब्द बना है । राका हमें, शतदायम् = बहुत दान करने वाला, उक्थ्यम् = वक्तव्यप्रशंसम् = प्रशंसनीय, वीरम् = पराक्रमी पुत्र, ददातु = देवें ।

२२ – सिनीवाली । २३ – कुहूः ।

सिनीवाली और कुहू ये दोनों भी अनुमति और राका के समान देवों की स्त्रियों के नाम हैं। भाष्यकार इन का निर्वचन करते हैं—

सिनीवाली-कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । अमावास्ये इति याज्ञिकाः । "या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली । योत्तरा सा कुहूः" इति विज्ञायते ।

सिनीवाली कुहूः इति = सिनीवाली और कुहू ये दोनों, देवपत्न्यौ = देवपत्न्यां हैं, इति = यह, नैरुक्ताः = निरुक्त शास्त्र के आचार्य लोग मानते हैं । अमावास्ये इति = अमावास्या हैं यह, याज्ञिकाः = याज्ञिक लोग मानते हैं । इस मे ब्राह्मण वाक्य प्रमाण देते है—या = जो, पूर्वामावास्या = पहली अमावास्या है, सा = वह, सिनीवाली = सिनीवाली है और, या उत्तरा = जो पिछली अमावास्या है, सा = वह, कुहूः = कुहू है । इति = यह उक्त ब्राह्मण वाक्य से, विज्ञायते = जाना जाता है। भाव यह है कि, अमावास्या के दो भाग हैं। पहला और पिछला । उन मे पहला भाग सिनीवाली और पिछला भाग कुहू है ।

सिनीवाली-सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि । वालंपर्ववृणोतेः, तस्मिन्नन्नवती । वालिनी वा । वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमा सेवितव्यो भवतीति वा ।

'सिनीवाली' यह समस्त पद है। इस में दो शब्द हैं—सिन और वाल । उन में प्रथम प्राप्त सिन शब्द का निर्वचन करते हैं—सिनम् अन्नम् भवति = सिन अन्न होता है । क्योंकि, अन्न, भूतानि = सब प्राणियों को, सिनाति = बांधता है । अर्थात् 'सिनाति बध्नाति इति सिनम् अन्नम्' इस विग्रह में 'षिञ् बन्धने' धातु से 'इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्योनक्' इस उणादि सूत्र से नक् (न) प्रत्यय होने पर 'सिन' शब्द बना है । अन्न का नाम है । क्योंकि, अन्न सब प्राणियों को बांधता है । अब वाल शब्द का निर्वचन करते हैं—पर्ववृणोतेः = पर्व = समय का वरण करने से, वालम् = वाल कहलाता है । 'व्रियते संव्रियते दाता अस्मिन् इति वारम्' इस विग्रह में 'वृञ् वरणे'

धातु से 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय, रपर वृद्धि, वार, पृषोदरादित्वात् र को ल होने पर 'वाल' शब्द बना है। पर्व (उत्सव) का नाम है। क्योंकि, उत्सव में भोजन करने के लिये इतने लोग आते हैं कि, उन से दाता आवृत (ढक) हो जाते हैं। इस प्रकार 'सिन' शब्द और 'वाल' शब्द बन जाने के बाद, 'सिनम् अस्या अस्ति इति सिनी' इस विग्रह में सिन शब्द से मत्त्वर्थीय ई प्रत्यय अलोप होने पर 'सिनी' शब्द बना है। अन्न वाली अर्थ है। तस्मिन् = उस पर्व में, अन्नवती = जो अन्न वाली हो वह देवाङ्गना सिनीवाली कहलाती है। अर्थात् 'वाले सिनी इति सिनीवाली' इस विग्रह में 'सहसुपा' इस सूत्र से समास, 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र से सिनी शब्द का पूर्व प्रयोग, सिनीवाल, गौरादि के आकृतिगण होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय, अलोप होने पर 'सिनीवाली' शब्द बना है। पर्व में = उत्सव में अन्नवाली अर्थ है। देवताओं की स्त्रियाँ उत्सव के दिन अन्नवाली होती हैं। पर्व के दिन आये हुए सब को भोजन कराती हैं। अतः वे सिनीवाली कहलाती हैं।

वा = अथवा, वालिनी = जो वालों वाली (केश वाली) हो वह सिनीवाली कहलाती है। वा = अथवा, वालेन इव = वाल के समान, अणुत्वात् = छोटा होने से, चन्द्रमाः = चन्द्र, अस्याम् = इस में, सेवितव्यः = सेवनीय, भवति = होता है। जैसे चन्द्रमा अणु होने से सेवितव्य है वैसे ही वाल अणु होने से सेवितव्य है। 'वालेनैव सीव्यते इति सिनीवाली' इस विग्रह में पूर्ववत् समास और पूर्व निपात समझना चाहिये।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ॥ ११-३१ ॥

तस्याः = उस सिनीवाली की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः ।

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ ऋ. सं. २-७-१५-६ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और सिनीवाली देवता है। मन्त्रार्थ—सिनीवालि = हे देवपत्नी रूप देवि ! वा हे अमावास्या अभिमानिनी देवि !, पृथुष्टुके = हे मोटी जांघ वाली देवि!, या = जो तुम, देवानाम् = देवताओं की, स्वसा = स्वयं संचारिणी वा बहिन, असि = हो, सो तुम, आहुतम् = अभिमुख हो कर अग्नि में प्रक्षिप्त, हव्यम् = हमारे हवि को, जुषस्व = प्रेम से ग्रहण करो। और ग्रहण करके, नः = हमें, प्रजाम् = पुत्रादि सन्तान, दिदिड्ढि = दो। इस मन्त्र में सिनीवाली देवी से अर्थात् माध्यमिका देवी से सन्तान के लिये प्रार्थना है।

इस ऋचा का भाष्य—

सिनीवालि पृथुजघने स्तुकः स्त्यायते संघातः। पृथुकेशस्तुके पृथुष्टुके वा। या त्वं देवानामसि स्वसा। स्वसासु असा स्वेषु सीदतीति वा। जुषस्व हव्यमदनं प्रजां च देवि दिश नः।

सिनीवालि = हे सिनीवाली देवि! । पृथुजघने = हे स्थूल जघने! । स्तुकः = स्तुक शब्द, स्त्यायतेः = स्त्या धातु से बना है और, संघातः = संघात उसका अर्थ है। अर्थात् 'स्त्यायति इति स्तुकः संघातः' इस विग्रह में 'स्त्यै ष्टयै शब्दसंघातयोः' धातु से उणादि परिकल्पित डुकक् (उक) प्रत्यय, स्त्या उक, डित्वात् टिलोप, स्त्य् उक, पृषोदरादित्वात् य् लोप, स्त् उक, स्तुक शब्द बना है। संघात का नाम है। क्योंकि, जघन प्रदेश अधिक मांसादिका संघात है। वा = अथवा, पृथुकेशस्तुके = विस्तीर्ण केश के संघातवाली, पृथुष्टुके = पृथुष्टुका कही जाती है। इस पक्ष में 'पृथु केश स्तुक' ये तीन पद हैं। उन केश शब्द का शाकपार्थिवादित्वात् लोप, 'पूर्वपदात्' इत्यादि सूत्र षत्व और 'ष्टुनाष्टुः' इस सूत्र से ष्टुत्व होने पर पृथुष्टुका शब्द बना है। विस्तीर्ण केश समुहवाली देवपत्नी अर्थ है। या त्वम् = जो तुम, देवानाम् = देवताओं की, स्वसा = स्वयं संचारिणी वा बहिन, असि = हो। सु = सुन्दर धन को, असा = असन = क्षेपण करती है इस लिये, स्वसा = स्वसा कही जाती है। 'सुष्ठु अस्यते क्षिप्यते इति स्वसा' इस विग्रह में सुपूर्वक 'असु क्षेपणे' धातु से 'सुव्यसेऽर्ऋन्' इस उणादि सूत्र से ऋन् (ऋ) प्रत्यय, सु अस् ऋ, यण् होने पर स्वसृ शब्द बना है। बहिन का नाम है। क्योंकि यह पितृ गृह से धन को अपने ससुरार को ले जाती है वा देवपत्नी यजमानो को सुख की तरफ ले जाती है। अतः वह स्वसा कही जाती है। वा = अथवा, स्वेषु = अपने पित्रादि स्वजनों के यहा, सीदति = बैठती है, इति = इस लिये, स्वसा = स्वसा कहलाती है। अर्थात् 'स्वेषु सीदति इति स्वसा' इस विग्रह में स्व उपपद 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से उणादि कल्पित ड्रन् (ऋ) प्रत्यय, स्व सद् ऋ, डित्वात् टिलोप होने पर स्वसृ शब्द बना है। बहिन का नाम है। क्योंकि वह पित्रादि के अधीन रहती है। देवि = हे देवि!, हव्यम् अदनम् = हमारे दिये हुए हव्यान्न को, जुषस्व = सेवन करो, च = और सेवन कर के, नः = हमें, प्रजाम् = सन्तान, दिश = दो।

कुहूर्गूहतेः। क्वाभूदिति वा, क्व सती हूयत इति वा, क्वाहुतं हविर्जोहोतीति वा।

गूहतेः = गुह धातु से, कुहूः = कुहू शब्द बना है। अर्थात् 'गूहति संवृणोति इति कुहूः देवपत्नी अमावास्या वा' इस विग्रह मे 'गुहू संवरणे' धातु से 'नृतिश्रृध्योः कूः' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् कू (ऊ) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् गकार को ककार होने पर कुहू शब्द बना है। देवपत्नी वा अमावास्या का नाम है। क्योंकि, देवपत्नी गुह्य बातों को गुप्त रखती हैं और अमावास्या चन्द्रमा आदि सब पदार्थो को अन्धकार द्वारा ढाकती है। दोनों पक्ष में।

वा = अथवा, क्व अभूत् = कहां था, इति = इस अर्थ में 'कुहू' शब्द बना है। अर्थात् क्व अभूत्' इस विग्रह में क्व शब्द उपपद 'भू सत्तायाम्' धातु से 'नृतिशृध्योः कूः' इस उणादि सूत्र से बाहुलकात् कू (ऊ) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् क्व और भू को कुह आदेश होने पर 'कुहू' शब्द बना है। देवपत्नी और अमावास्या का नाम है। देवपत्नी गम्भीर होते मे गुप्त बातों का

सम्वरण करती है (ढाकती है) और अमावास्या चन्द्र को। अमावास्या के बाद जब चन्द्र दिखाई देता है तब लोग पूछते हैं—यह चन्द्र, क अभूत् = कहा था ?। इस से अमावास्या कुहू कही जाती है। अमावास्या पक्ष में।

वा = अथवा, क्व = कहीं, सती = होती हुई, हूयते = आवाहन की जाती है, इति = इस से देवपत्नी 'कुहू' कही जाती है। भाव यह है कि, देवपत्नी अपने देवता रूप से अप्रत्यक्ष होने के कारण दिखाई नहीं देती है। अतः लोग कहते हैं—वह कहां है ?। परन्तु कहीं भी रहती हुई यज्ञ में आवाहन की जाती है। इसी से 'कुहू' कहलाती है। अर्थात् 'क्व सती हूयते इति कुहू' इस विग्रह में क्व उपपद 'हु दानादनयोः' धातु से उक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् कू प्रत्यय, क्व हु ऊ, पृषोदरादित्वात् क्वा और हु को कुह् भाव होने पर 'कुहू' शब्द बना है। देवपत्नी का नाम है। देवपत्नी पक्ष में।

वा = अथवा, क्व = कहा, आहुतम् = होम किये हुए, हविः = हवि को, जुहोति = ग्रहण करती है, इति = इस से, 'कुहू' कहलाती है। अर्थात् 'क्वाहुतं हविर्जुहोति' इस विग्रह में क्व उपपद 'हु दानादनयोः' धातु से पूर्ववत् कू प्रत्यय और क्व हु को कुह् भाव होने पर 'कुहू' शब्द बना है। यह अर्थ भी देवपत्नी पक्ष में।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः। ११-३२ ॥

तस्याः = उस कुहू की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः ॥

कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि ।
सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यैते देवि हविषा विधेम ॥

यह मन्त्र कहां का है पता नहीं। दुर्गाचार्य ने ऐ० ब्रा० और अथर्वसं० का पता दिया है किन्तु उन मन्त्रों में पाठ भेद बहुत हैं। आनुपूर्वी मन्त्र नहीं है। इस मन्त्र का अथर्वा ऋषि, जगती छन्द और कुहू देवता है। मन्त्रार्थ—अहम् = मैं, सुवृतम् = सुकृतम् = सुन्दर कर्म वाली, सुहवाम् = सुन्दर आवाहन वाली, कुहूम् = कुहू देवी को, अस्मिन् यज्ञे = इस यज्ञ में, जोहवीमि = बुलाता हूं। सा = वह, नो = हमें, पितॄणाम् = पितरों के, श्रवणम् = धन और यश को, ददातु = दे। देवि = हे देवि !, तस्यैते = ऐसे प्रभाव वाली तुझे हम, हविषा = हवि से, विधेम = परिचरेम = सेवन करते हैं। हवि प्रदान करते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

कुहूमहं सुकृतं विदित कर्माणमस्मिन् यज्ञे सुहवानामाह्वये। सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां, पित्र्यं धनमिति वा–पित्र्यं यश इति वा। तस्यै ते देवि हविषा विधेम। इति व्याख्यातम्।

अहम् = मैं, सुकृतम् = विदितकर्माणम् = विदित कर्मवाली, सुह्वानम् = सुन्दर आह्वानवाली, कुहूम् = कुहूदेवी को, अस्मिन् यज्ञे = इस यज्ञ में, आह्वये = आह्वान करता हूं, बुलाता हूं। सा = वह, नो = हमें, पितॄणाम् = पितरों के, श्रवणम् = धन और यश को, ददातु = दे। पित्र्यम् धनम् = पैतृकधन, इति वा = अथवा, पित्र्यम् यशः इति वा = पैतृक यश दे। देवि = हे देवि!, तस्यै ते = ऐसे प्रभावशाली तुझे, हम, हविषा = हवि द्वारा, विधेम = परिचरिया करते है। इति = यह मन्त्र, व्याख्यातम् = सुलभ होने से व्याख्यात प्रायः है।

२४ – यमी।

माध्यमिका देवता यमराज की भगिनी (वहिन) का नाम यमी है। अर्थात् 'यच्छति उपरमयति इति यमी' इस विग्रह में 'यम उपरमे' धातु से 'इन्सर्वधातुभ्यः' इस उणादि सूत्र से इन् (इ) प्रत्यय होने पर यमि शब्द बना है और 'कृदिकारादक्तिनः' इस वार्तिक से ङीप्, इलोप होने पर यमी शब्द बना है। यास्क कहते हैं—

यमी व्याख्याता।

यमी = यमी, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् नि. अ. १० ख. २० में यम शब्द का व्याख्यान हो चुका है। वहां पुल्लिङ्ग था और यहां स्त्रीलिङ्ग इतना ही भेद है।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः। ११–३३॥

तस्याः = उस यमी को, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः।

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥

ऋ. सं. ७-६-८-१४॥

इस मन्त्र का वैवस्वद यम ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और यमी देवता हैं। मन्त्रार्थ—यमि = हे यमि!, त्वम् = तू, लिबुजा वृक्षम् इव = लता वृक्ष के समान अर्थात जैसे लता (वेल) किसी पास वाले वृक्ष को आलिङ्गन करती है (लिपटती है) वैसे ही, अन्यम् उ = किसी अन्य पुरुष को ही, सु = सुष्ठु परिष्वज = मैथुन के अभिप्राय से आलिङ्गन कर। और, अन्य उ =

कोई अन्य पुरुष ही त्वाम् = तुम को भी, परिष्वजाते = आलिङ्गन करेगा। त्वम् = तू, तस्य = उसके, मन = मन की, इच्छ = कामना कर। स = और वह पुरुष भी, तव मन = तुम्हारे मन की कामना करे। अध = उस के पश्चात् अर्थात् परस्पर की कामना होने के बाद उसके साथ, सुभद्राम् = इस लोक तथा परलोक दोनों लोकों में कल्याण देने वाली, संविदम् = चर्चा, कृणुष्व = कर। इस प्रकार यमराज ने उसके साथ सभोग की प्रार्थना करने वाली अपनी बहिन यमी को उपदेश दिया। ऋ स १० वा मण्डल के १० वा सूक्त मे यह कथा है।

इस मन्त्र का भाष्य—

अन्यमेव हि त्वं यम्यन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छ स वा तवाधानेन कुरुष्व संविदं सुभद्रां कल्याणभद्राम्।

यमि = हे यमि!, त्वम् = तू, अन्यम् एव हि = किसी अन्य पुरुष को ही, और वह, अन्य = अन्य पुरुष भी, त्वाम् = तुम को ही, परिष्वङ्क्ष्यते = आलिङ्गन करेगा। लिबुजा वृक्षम् इव = लता वृक्ष के समान। त्वम् तस्य मन इच्छ = तू उसके मन की इच्छा कर और, स = वह, तव = तुम्हारे मन की कामना करे। अधानेन = उस के बाद, सुभद्राम् = कल्याणभद्राम् = कल्याण देने वाली, संविदम् = चर्चा को, कुरुष्व = कर।

यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्ष इत्याख्यानम्।

यमी = यमी ने, यमम् = यम को, चकमे = पतिभाव से चाहा। ताम् = उस को यमने, प्रत्याचचक्ष = प्रत्याख्यान किया = निषेध किया। इति = यह, आख्यानम् = आख्यान अर्थात् इतिहास है।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुस्त्रिंश खण्ड । ११-३४ ॥

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चत्रिंश खण्ड ।

२५ – उर्वशी ।

माध्यमिक देवता का नाम उर्वशी है। भाष्यकार कहते हैं—

उर्वशी व्याख्याता ।

(ई) प्रत्यय, इकार लोप होने पर 'उर्वशी' शब्द बना है। माध्यमिका देवता का नाम है। क्योंकि वह बहुत व्यापक होती है। अधिक वहीं देखना चाहिये।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः । ११-३५ ॥

तस्याः = उस उर्वशी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः ।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥

ऋ. सं. ८-५-२-१० ॥

इस मन्त्र का पुरुरवा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और उर्वशी देवता है। मन्त्रार्थ—या = जो, विद्युत् न = बिजली के समान, मेघ के भीतर, पतन्ती = पड़ती हुई, दविद्योत् = प्रकाश करती है। मे = मेरे लिये, काम्यानि = वाञ्छनीय, अप्या = जलों को, भरन्ती = हरन्ती = लाती हुई, अपः = जल से, नर्यः = मनुष्यों के लिये हित रूप, सुजातः = सुन्दर पुत्र, जनिष्टो = उत्पन्न करती है। उर्वशी = वह माध्यमिक देवी, दीर्घम् आयुः = लम्बी आयु, प्रतिरत = देती है। अर्थात् जल से अन्न उत्पन्न करके उसके द्वारा आयु बढाती है। इस ऋचा से उर्वशी (मध्यदेवी) की स्तुति की गई है।

इस मन्त्र का भाष्य—

विद्युदिव या पतन्त्यद्योतत हरन्ती मे अप्या काम्यान्युदकान्यन्तरिक्षलोकस्य। यदा नूनमयं जायेताद्भ्योऽध्यप इति नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितो नरापत्यमिति वा। सुजातः सुजाततरोऽथोर्वशी प्रवर्धयते दीर्घमायुः।

या = जो उर्वशी, विद्युत् इव = बिजली के समान, पतन्ती = पड़ती हुई, अद्योतत = प्रकाश करती है। मे = मेरे लिये, अन्तरिक्षलोकस्य = अन्तरिक्ष लोक के, काम्यानि = वाञ्छनीय, अप्या = उदकानि = जलों को, हरन्ती = लाती हुई, यदा = जब, नूनम् = निश्चय ही, अयम् = यह अद्भ्यः = अध्यपः = जलों से, नर्यः = मनुष्यः = नृभ्यः हितः = मनुष्यों के लिये हितरूप, इति वा = अथवा, नरापत्यम् = मनुष्य का पुत्र, जायेत = उत्पन्न होता है। सुजातः सुजाततरः = सुजात अर्थात् अतिशय सुन्दर पुत्र उत्पन्न होता है। अथ = तब, उर्वशी = मध्यदेवी, दीर्घम् आयुः = लम्बी आयु, प्रवर्धयते = बढाती है। अर्थात् उस पुत्र की आयु को दीर्घ कर देती है।

२६ – पृथिवी ।

माध्यमिका देवता का नाम पृथिवी है। 'प्रथते इति पृथिवी' इस विग्रह में 'प्रथ प्रख्याने' धातु से 'प्रथेः षिवन् सम्प्रसारणं च' इस उणादि सूत्र से षिवन् (इव) प्रत्यय, संप्रसारण, पृथ् इव,

पृथिव, 'पिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से ङीष् (ई) अलोप होने पर पृथिवी शब्द बना है। भाष्यकार कहते हैं—

पृथिवी व्याख्याता ।

पृथिवी = पृथिवी, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. २ खं. १२ अन्तरिक्ष नामों में की गई है। वहां अन्तरिक्ष वाचक और यहां माध्यमिका देवता वाचक है। इतना ही अन्तर है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः ॥ ११-३६ ॥

तस्याः = इस पृथिवी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः ।

ब॒ळित्था पर्व॑तानां खि॒द्रं बि॑भर्षि पृथिवि ।

प्र या भूमिं॑ प्रवत्वति म॒ह्ना जि॒नोषि॑ महिनि ॥ ऋ. ५-४-२९-१॥

इस मन्त्र का भौम अत्रि ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और पृथिवी देवता है। मन्त्रार्थ—पृथिवि = हे प्रथनवति माध्यमिक देवते ! तुम, इत्था = इस प्रकार यहां वा अन्तरिक्ष में, बट् = सत्यम् = सचमुच, पर्वतानाम् = मेघों के, खिद्रम् = छेदनम् = भेदनम् = छेदन करने वाले बल को, बिभर्षि = धारण करती हो। महिनि = हे महति !, प्रवत्वति = हे प्रकर्षवति !, या = जो तुम, भूमिम् = पृथिवी को, मह्ना = महत्त्व के कारण, प्रजिनोषि = जिलाती हो।

इस ऋचा का भाष्य—

सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनं छेदनं भेदनं बलमत्र धारयसि पृथिवि प्रजिन्वसि या भूमिं प्रवणवति महत्त्वेन, महतीत्युदकवतीति वा ।

पृथिवि = हे माध्यमिक देवते !, त्वम् = तुम, सत्यम् = सचमुच, पर्वतानाम् = मेघानाम् = मेघों के, खेदनम् = छेदनम् = भेदनम् = छेदन करने वाले, बलम् = बल को, अमुत्र = वहां अन्तरिक्ष में, धारयसि = धारण करती हो। प्रवणवती = हे प्रवर्षवति ! या = जो, तुम, भूमिम् = पृथिवी को, महत्त्वेन = महत्त्व के कारण, प्रजिन्वसि = जिलाती हो। वा = अथवा, महति इति = महति मह, उदकवति = जल वाली, महिनि = महति = महत्त्ववाली अथवा जल वाली।

२७ — इन्द्राणी ।

इन्द्र शब्द का निर्वचन नि. अ. १० खं. ८ में किया गया है। देवराज इन्द्र अर्थ है। उसी इन्द्र की पत्नी का नाम इन्द्राणी है। 'इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी' इस विग्रह में इन्द्र शब्द से पुंयोग में

'इन्द्रवरुणभव....' इत्यादि सूत्र से ङीप् प्रत्यय (ई) और आनुक् (आन्) आगम, एवं णत्व होने पर 'इन्द्राणी' शब्द बना है। माध्यमिका देवी अर्थ है। क्योंकि, वह इन्द्र की पत्नी है।

भाष्य—

इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी ।

इन्द्रस्य = इन्द्र की, पत्नी = स्त्री, इन्द्राणी = इन्द्राणी कहलाती है। कोई इन्द्राणी का अर्थ इन्द्र की पत्नी नहीं किन्तु स्वतन्त्र माध्यमिका देवता करते हैं। उनके मत में पत्नी शब्द का अर्थ स्त्री नहीं किन्तु विभूति है। इन्द्र की पत्नी अर्थात् इन्द्र की विभूति। स्वर्ग में जितने देव और देवियाँ रहती हैं वे सब इन्द्र की विभूतियाँ हैं।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः ॥ ११-३७ ॥

तस्याः = उस इन्द्राणी की, एषा = यह आगे की, ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टात्रिंशः खण्डः ।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋ. सं. ८-४-२-११ ॥

इस मन्त्र का इन्द्र ऋषि, पञ्चपदा पङ्क्ति छन्द और इन्द्र ही देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्रराजा इन्द्राणी की स्तुति करते हैं—अहम् = मैने, आसु नारिषु = इन नारियों में, इन्द्राणीम् = इन्द्राणी को, सुभगाम् = अधिक सौभाग्यवती, अश्रवम् = सुना है। अस्याः पतिः = इस इन्द्राणी का पति इन्द्र (मैं) विश्वस्मात् = अन्य सब स्त्रियों के पति से, उत्तरः = अधिक श्रेष्ठ है। इन्द्रः = इन्द्र (मै), अपरम् चन = अन्य प्राकृत पुरुषों के समान, जरसा = वृद्ध अवस्था से, मरते नहि = मरते नहीं है।

इस मन्त्र का भाष्य—

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामशृणवं न ह्यस्या अपरामपि समाम्। जरया म्रियते पतिः। सर्वस्माद् इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमः।

आसु नारिषु = इन स्त्रियों में, इन्द्राणीम् = इन्द्राणी को, सुभगाम् = अधिक सौभाग्यवती, अशृणवम् = सुना है। अपराम् अपि समाम् = दूसरी स्त्रियों के पति के समान, अस्याः पतिः = इसका पति, जरया = जरा अवस्था के कारण, नहि म्रियते = मरता नहीं है। यः इन्द्र = जो इन्द्र, सर्वस्मात् = सब से, उत्तरः = उत्कृष्ट है। तम् = उस इन्द्र को हम, एतत् = यह, ब्रूमः = कहते हैं।

तस्या एषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टात्रिंश: खण्ड: । ११-३८ ।।

तस्या: = उस इन्द्राणी की, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनचत्वारिंश: खण्ड: ।

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।

यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋ. सं. ८-४-२-१२ ।।

इस मन्त्र का भी ऋषि और देवता इन्द्र ही है। छन्दपञ्चपदापङ्क्ति। मन्त्रार्थ—इन्द्राणि = हे इन्द्राणि!, अहम् = मैं इन्द्र, सख्युः वृषाकपेः = अपने मित्र वृषाकपि के, ऋते = बिना, न ररण = नहीं रमता हूं। प्रसन्न नहीं रहता। अप्यम् = जल से संस्कृत, प्रियम् = प्रीतिकारक, इदम् हविः = यह हवि, देवेषु = देवों में अन्य देवों को छोड़कर, यस्य = जिस इन्द्र के पास ही, गच्छति = जाता है। क्योंकि, इन्द्रः = इन्द्र, (मैं), सर्वस्मात् = अन्य सर्व देवों से, उत्तरः = श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता रूप से इन्द्र का वर्णन होने से इसका इन्द्र ही देवता है। वृषाकपि नहीं।

इस मन्त्र का भाष्य—

नाहमिन्द्राणिरमे सख्युर्वृषाकपेर्ऋते यस्येदमप्यं हविरप्सु शृतमद्भिः संस्कृतमिति वा। प्रियं देवेषु निगच्छति। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमः।

इन्द्राणि = हे इन्द्राणि!, अहम् = मैं, सख्युः वृषाकपेः = अपने मित्र वृषाकपि, ऋते = बिना, न रेमे = रमता नहीं हूं। प्रसन्न नहीं रहता हूं। यस्य = जिसका, इदम् हविः = यह हवि, अप्सु शृतम् = जल में होने वाला, इति वा = अथवा, अद्भिः संस्कृतम् = जल से संस्कृत, देवेषु = देवों में, प्रियम् = अत्यन्त प्रिय, इन्द्र के पास, निगच्छति = जाता है। क्योंकि, यः इन्द्रः = जो इन्द्र, सर्वस्मात् = अन्य सब देवों से, उत्तरः = उत्कृष्ट है = श्रेष्ठ है। तम् एतद् ब्रूमः = उस इन्द्र को हम यह कहते हैं।

२८ — गौरी ।

माध्यमिका वाग्देवता का नाम गौरी है। भाष्यकार कहते हैं—

गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ।

ज्वलतिकर्मणः = दीप्त्यर्थे, रोचतेः = रुच धातु से, गौरी = गौरी शब्द बना है। अर्थात् 'रोचते वाग्देवतात्वात् स्वया दीप्त्या ज्वलति इति गौरी' इस विग्रह में 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च'

धातु से 'ऋज्रेन्द्रा ग्रवज्रविप्र....' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से रन् (र) प्रत्यय रुच् र, पृषोदरादित्वात् धातु को गौ आदेश होने पर गौर शब्द बना है। 'गौरत्व वर्णशिष्टा स्त्री गौरी' इस विग्रह मे 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय, अलोप होने पर 'गौरी' शब्द बना है। माध्यमिका वाग्देवता का नाम है। क्योंकि, वह दीप्तिवती है।

अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति ।

अयम् अपि = यह भी, इतर = दूसरा, वर्णः = गौरवर्ण वाची गौर शब्द, एतस्मात् एव = इसी रुच धातु से बना है। क्योंकि, वह, प्रशस्यो भवति = प्रशसनीय होता है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनचत्वारिंश खण्डः ॥ ११-३९ ॥

तस्याः = उस गौरी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चत्वारिंश खण्डः ।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥

ऋ. सं. २-३-२१-४१ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, जगती छन्द और गौरी देवता है। मन्त्रार्थ—सलिलानि तक्षती = वृष्टि के जलो का सम्यक् सम्पादन करने वाली, सहस्राक्षरा = हजारो व्याप्तियो से युक्त, सा = वह, एकपदी = एकपाद से युक्त, द्विपदी = दो पाद से युक्त, चतुष्पदी = चार पाद से युक्त, अष्टापदी = आठ पाद से युक्त, नवपदी = नौ पाद से युक्त, बभूवुषी = होती हुई, गौरीः = गरणशील माध्यमिका मेघ वाणी, परमे व्योमन् = उन्नत अन्तरिक्ष मे, मिमाय = शब्द करती है।

इस मन्त्र का भाष्य—

गौरीर्निर्मिमाय सलिलानि तक्षती कुर्वती । एकपदी–मध्यमेन । द्विपदी–मध्यमेन चादित्येन च । चतुष्पदी–दिग्भिरष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च । नवपदी–दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च । सहस्राक्षरा–बहूदका परमे व्यवने ।

सलिलानि तक्षती = कुर्वती = वृष्टि के जलो का सम्यक् सम्पादन करने वाली, गौरीः = माध्यमिका देवता, निर्मिमाय् = शब्द करती है। मध्यमेन एकपदी = मध्यम के साथ एक पाद वाली हो कर। मध्यमेन आदित्येन = मध्यम आदित्य के साथ, द्विपदी = दो पाद वाली हो कर। दिग्भि = चारो दिशाओ के साथ, चतुष्पदी = चार पाद वाली हो कर, दिग्भिः च = चारो दिशाओ और,

अवान्तरदिग्भिः च = चारो अवान्तर दिशाओं के साथ, अष्टापदी = आठ पाद वाली हो कर, दिग्भिश्च अवान्तरदिग्भिश्च = चार दिशा और चार अवान्तर दिशा के साथ, च = और, आदित्येन च = आदित्य के साथ, नवपदी = नौ पाद वाली हो कर। सहस्राक्षरा = बहुदका = बहुत जल वाली हो कर। परमे व्यवने = अनन्त अन्तरिक्ष में, शब्द करती है।

तस्या एषाऽपरा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः ॥ ११-४० ॥

तस्याः = उस गौरी की, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः।

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति॥ ऋ सं. २-३-२२-४२ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, प्रस्तार पङ्क्ति छन्द और प्रथमार्ध के वाग् एवं द्वितीयार्ध के अप् देवता हैं। मन्त्रार्थ—तस्याः = उस गौरी के पास से, समुद्राः = सारे मेघ, अधि = अधिक जल, विक्षरन्ति = वर्षा करते हैं। तेन = उस जल से, प्रदिशश्चतस्रः = चारो दिशा प्रदिशाओं में आश्रित प्राणी, जीवन्ति = जीते हैं। ततः = उस के पश्चात्, अक्षरम् = जल, सस्यादि को, क्षरति = उत्पन्न करता है। तद् = उस सस्यादि से, विश्वम् = सारा संसार, उपजीवति = जीवन धारण करता है। इस प्रकार इस मन्त्र में गौरी की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

'तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति' प्रवर्षन्ति मेघास्तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि। ततः क्षरत्यक्षरमुदकं तत्सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति।

तस्याः = उस गौरी के पास से, समुद्राः = मेघाः = सारे मेघ, अधि = अधिक जल, विक्षरन्ति = प्रवर्षन्ति = बरसते हैं। तेन = उस जल से, दिगाश्रयाणि भूतानि = सर्व दिशा विदिशाओं आश्रित प्राणी, जीवन्ति = जीवन धारण करते हैं। ततः = उसके पश्चात्, अक्षरम् = उदकम् = जल सस्यादि को, क्षरति = उत्पन्न करता है। तद् = उस सस्यादि से, सर्वाणि भूतानि = सब प्राणी, उपजीवन्ति = जीते हैं।

२९ – गौः।

माध्यमिक देवता का नाम गो है। 'गच्छतीति गौः' इस विग्रह में 'गम्लृ गतौ' धातु से 'गमेर्डोः' इस उणादि सूत्र से डो (ओ) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने पर, ग् ओ, 'गो' शब्द बना है। माध्यमिक देवता का नाम है। इसको कोई मेघवाणी भी कहते हैं। यास्क कहते हैं—

गोर्व्याख्याता ।

गो. = गोः देवता, व्याख्याता = व्याख्यात है अर्थात् गो शब्द की व्याख्या पृथिवी नामो मे सर्व प्रथम हो चुकी है। (निरु० अ० २ खं० ५)।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः ।। ११-४१ ।।

तस्याः = उस गो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वाचत्वारिंशः खण्डः ।

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥

ऋ स. २-३-१९-२८॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव देवता है। इस मन्त्र मे गो शब्द के दो अर्थ हैं। धेनु और माध्यमिका देवी। धेनु का वत्स (बछडा) प्रसिद्ध है। देवी पक्ष मे वत्स आदित्य है। वत्स दूध को खींचता है और आदित्य रसो को। और सब समान है। मन्त्रार्थ—गोः = वाग्देवतारूप धेनु, मिषन्तम् = नेत्र बंद किये एव, वत्सम् = आदित्य रूप बछडे को, अनु = प्राप्त कर, अमीमेत् = 'हम्बा' शब्द करती है। उस बछडे के, मूर्धानम् = मस्तक, मातवै = चाटने के लिये, हिङ्ङकृणोत् = हिंकार शब्द करती है। सृक्वाणम् = बछडे के ओठो पर फेन दे कर, घर्मम् = रसो के हरण करने वाले बछडे का, अभि = लक्ष्य कर, वावशाना = कामयमाना होती हुई, मायुम् = हम्बारव (शब्द), मिमाति = करती है।

इस मन्त्र का भाष्य—

गौरन्वमीमेद्वत्सं मिषन्तं निमिषन्तमनिमिषन्तमादित्यमिति वा। मूर्धानमस्याभिहिङ्ङ्करोन्मननाय। सृक्वाणं—सरणं, घर्मं—हरणमभिवावशाना मिमाति मायुं प्रप्यायते पयोभिः।

गोः = धेनु, मिषन्तम् = निमिषन्तम् = अनिमिषन्तम् = नेत्र बद किये या न किये एव, वत्सम् = बछडे को, अनु = प्राप्त कर, अमीमेत् = 'हम्बा' शब्द करती है। वा = अथवा, आदित्यम् = आदित्य को। अस्य = इस बछडे का, मूर्धानम् = मस्तक, मननाय = मनन या स्मरण करने के लिये, अभिहिङ्ङ्करोत् = हिंकार शब्द करती है। घर्मम् हरणम् = रसों को हरण करने वाले, सृक्वाणम् सरणम् = गमनशील बछडे को, अभि = अभिलक्ष्य = लक्ष्य करके, वावशाना = कामयमान होती हुई, मायुम् मिमाति = शब्द करती है। बछडे को, पयोभिः = दूध से, प्रप्यायते = बढाती है।

दूसरे प्रकार से मन्त्र का व्याख्यान करते हैं—

मायुमिवादित्यमिति वा । वागेषा माध्यमिका, घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

वा = अथवा, नैरुक्तों का कहना है कि, वत्स का अर्थ बछड़ा नहीं किन्तु, मायुम् इव = शब्द के समान सन्तत गमनशील, आदित्यम् = आदित्य को प्राप्त कर, इति = यह अर्थ है। और वाग् एषा = गौ का अर्थ वाग् यह गाय नहीं किन्तु, माध्यमिका = माध्यमिका देवता है। अर्थात् माध्यमिका देवता रूपी गाय आदित्य रूपी बछड़े को देख कर शब्द करती है। यह नैरुक्त अर्थ है। और गौ = वाग् का अर्थ माध्यमिक देवता नहीं किन्तु, घर्मधुक् = दूध दुहाने वाली प्रसिद्ध गाय अर्थ है। जिस के दुग्ध घृतादि से यज्ञ सम्पन्न होता है यह, याज्ञिका. = याज्ञिक कर्मकाण्डी लोग कहते हैं। अर्थात् गौ का अर्थ गाय और वत्स का अर्थ बछडा है। यह याज्ञिक लोग कहते हैं। इस प्रकार मतभेद से इस ऋचा के दो अर्थ हैं।

३० – धेनुः ।

माध्यमिका देवता का नाम धेनु है। कोई माध्यमिका देवता का अर्थ मेघ करते हैं। जैसे गौ से दूध निकलता है उस को वत्स पीता है वैसे ही मेघ रूपी गौ से जलरूप दूध निकलता है उस को पृथिवीरूप वत्स पीता है। भाष्यकार निर्वचन करते हैं—

धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा ।

धयते = धे धातु से, वा = अथवा, धिनोतेः = धि धातु से, धेनुः = धेनु शब्द बना है। अर्थात् 'धय्यते वत्से न पीयते इति धेनु.' इस विग्रह मे 'धेट् पाने' धातु से 'धेट इच्च' इस उणादि सूत्र से बाहुलकाद् नु प्रत्यय और धातु को इकारान्तादेश, धि नु, एवं गुण होने पर धेनु शब्द बना है। माध्यमिका देवता वा गाय अर्थ है। क्योंकि, जल रूपी दूध वाली माध्यमिका देवता रूप गाय पृथिवी रूप वत्स द्वारा पान की जाती है। अथवा 'धिनोति उदकेन पयसा वा तर्पयति इति धेनु. माध्यमिका देवता गौर्वा' इस विग्रह मे नैरुक्त स्वादि तर्पणार्थक 'धि' धातु से उणादि परिकल्पित नु प्रत्यय और गुण होने पर धेनु शब्द बना है। माध्यमिका देवता वा गाय अर्थ है। क्योंकि उक्त देवता जल द्वारा और गाय दूध द्वारा सब को तृप्त करती है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वाचत्वारिंशः खण्ड. ॥ ११-४२ ॥

तस्याः = उस धेनु की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः ।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॒ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम् ॥

ऋ सं. २-३-१९-२६ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव के अन्तर्गत धेनु देवता है। मन्त्रार्थ— मैं होता, एताम् = इस, सुदुघाम् = सुन्दर दुहने वाली माध्यमिका देवता रूप, धेनुम् = धेनु को, उप ह्वये = आह्वान करता हूं = बुलाता हूं। उत = और, सुहस्त = दोहन कुशल सुन्दर हाथ वाला, गोधुक् = गोदुहने वाला अध्वर्यु, एनाम् = इस माध्यमिका देवता रूप धेनु को, दोहत् = दुहता है। अभिद्ध = प्रज्वलित, सविता = सब को उत्पन्न करने वाला, घर्म. = मध्यमदेव नं. = हमारे, श्रेष्ठम् = प्रशसनीय, सवम् = सोम याग को, साविषत् = जानें वा ग्रहण करें, तत् = इस कारण से, सुप्रवोचम् = अच्छा कहता हूं। सुन्दर स्तुति से आह्वान करता हूं। इस मन्त्र मे प्रयुक्त धेनु शब्द का अर्थ मेघाधिष्ठातृदेवता है।

इस मन्त्र का भाष्य—

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेतां कल्याणहस्तो गोधुगपिच दोग्ध्येनां श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु न इति। एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम्। यद्वा पयो यजुष्मत्। अभीद्धो घर्मस्तं सुप्रब्रवीमि। वागेषा माध्यमिका। घर्मधुगिति याज्ञिकाः॥

मैं होता, एताम् सुदोहनाम् = इस सुन्दर दुहने वाली, धेनुम् = धेनु को, उपह्वये = आह्वान करता हूं। अपि च = और, कल्याण हस्तः = दोहन कुशल सुन्दर हाथ वाला, गोधुक = गोदुहने वाला अध्वर्यु, एनात् = इस धेनु को, दोग्धि = दुहता है। सविता = सब को उत्पन्न करने वाला मध्यमदेव, न = हमारे, श्रेष्ठम् = प्रशसनीय, सवम् = सोम याग को, सुनोतु = = जानें। हि = क्योंकि, एष = यही, सर्वेषाम् सवानाम् = सर्व सवो मे श्रेष्ठ = श्रेष्ठ सव है, यत् = जो, उदकम् = जल है। यद्वा = अथवा, पय = दूध, यजुष्मत् = यजुर्मन्त्रो से सस्कार किया हुआ है। अभीद्ध = प्रज्वलित, घर्मः = मध्यमदेव है तम् = उसको, सुप्रब्रवीमि = अच्छा कहता हूं। एषा वाक् = यह वाणी, माध्यमिका = मध्यम लोक की है यह नैरुक्त मत है। घर्मधुक् = घर्मधुक् धेनु है। इति = यह, याज्ञिका = कर्मकाण्डी लोग कहते हैं। भाव यह है कि मन्त्रगत धेनु पद का अर्थ मेघाधिष्ठातृ मध्यम देवता है यह नैरुक्त लोग कहते हैं और गाय है यह याज्ञिक लोग।

३१ – अघ्न्या।

मेघाधिष्ठातृमाध्यमिका देवता तथा गो का नाम अघ्न्या है। गोनामो मे (नि० अ० २, ख० ९) इसका निर्वचन हो चुका है। वहा इसका अर्थ गो और यहा माध्यमिका देवता है। अर्थात्—'हन्तु योग्या घ्नया, न घ्नया इति अघ्न्या अहन्तव्या माध्यमिका देवता मेघवाक्' इस विग्रह मे नञ् पूर्वक 'हन हिंसागत्यो' धातु से 'अघ्न्यादयश्च' इस उणादि सूत्र से निपातन से यत् (य) प्रत्यय, उपधा अकार लोप, हकार को घकार, नञ् के नकार का लोप, टाप् और सवर्ण दीर्घ होने पर 'अघ्न्या' शब्द बना है। माध्यमिका वाग् देवता का नाम है। क्योंकि, यह भी गाय के समान सर्वथा अहन्तव्या होती है। भाष्यकार कहते हैं—

अघ्न्या–अहन्तव्या भवति, अघघ्नीति वा।

अहन्तव्या = नही मारने योग्य, वा = अथवा, अघघ्नी = पाप तथा दुर्भिक्ष को नाश करने वाली मध्य वाणी, अघ्न्या = अघ्न्या, भवति = होती है। मध्य वाणी तथा गाय दोनो देवता होने

से अहन्तव्य है । माध्यमिका देवता के वर्षने से दुर्भिक्ष नष्ट होता है और गोदेवता के दर्शन से पाप नष्ट होता है । गोदुग्धघृतादि से यज्ञादि पुण्यकर्म होते हैं और पुण्य से वृष्टि द्वारा अन्न उत्पन्न होने से दुर्भिक्ष का नाश होता है ।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः । ११-४३ ॥

तस्याः = उस अघ्न्या की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः ।

सुयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

ऋ स २-३-२१-४० ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव अन्तर्गत अघ्न्या देवता है । मन्त्रार्थ—अघ्न्ये = हे अहिंस्ये ! वा हे पापनाशिनी ! देवि ! तुम, सुयवसात् = सुयव = जल को अपने अधीन करके, भगवती = जलरूप धन वाली, भूयाः = हो जाओ । अथो = अथ = उस के अनन्तर, वयम् = हम यजमान भी, भगवन्तः = अधिक धन से विशेष धनवान्, स्याम = होवें । हे अघ्न्ये !, विश्वदानीम् = सदा, तृणम् = मेघरूपी तृण को, अद्धि = भक्षण करो = विदारण करो । आचरन्ती = अन्तरिक्ष मे सर्वत्र विचरती हुई, शुद्धम् उदकम् = निर्मल जल, पिब = पीयो = पान करो । गोपक्ष मे तो अर्थ स्पष्ट ही है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

सुयवसादिनी भगवती हि भवाथेदानीं वयं भगवन्तः स्यामाद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा, पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती ।

अघ्न्ये = हे अहिंस्य देवि ! तुम, सुयवसादिनी = जल को अपने अधीन करके, भगवती = जलरूप धन वाली, भव = हो जाओ । अथ = इदानीम् = उस के बाद, वयम् = हम यजमान भी, भगवन्तः = अधिक धनवान्, स्याम = होवें । हे अघ्न्ये !, सर्वदा = सदा, तृणम् = मेघ रूपी तृण को, अद्धि = भक्षण करो, विदारण करो । च = और, आचरन्ती = अन्तरिक्ष मे विचरती हुई, शुद्धम् = निर्मल, उदकम् = जल, पिब = पीयो-पान करो ।

तस्या एषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः । ११-४४ ॥

तस्याः = उस अघ्न्या की, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः ।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं वर्धतां महते सौभगाय ॥

ऋ. सं. २-३-१९-२७ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव अन्तर्गत अघ्न्या देवता है। मन्त्रार्थ—हिङ्कृण्वती = बछड़े के प्रति हिंकार शब्द करती हुई, वसूनाम् वसुपत्नी = धन का पालन करती हुई, मनसा = मन से, वत्सम् = आदित्य रूप वा महत् रूप बछड़े की, इच्छन्ती = इच्छा करती हुई, अभ्यागात् = सम्मुख आती है। इयम् = यह, अघ्न्या = अहिंस्या मध्यमा वाक्, अश्विभ्याम् = अश्वियों के लिये, पयः = जल, दुहाम् = दुग्धाम् = प्रक्षरताम् = झरें। सा = वह मध्यमा वाक्, महते = बड़े, सौभाग्याय = सौभाग्य के लिये, वर्धताम् = वृद्धि को प्राप्त होवें।

यह ऋचा सुगम होने से कहते हैं—

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = सो यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठ मात्र से व्याख्यात है। अर्थात् सुलभ होने से इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

३२ – पथ्या । ३३ – स्वस्ति ।

अन्तरिक्ष में रहने वाली माध्यमिका देवता का नाम पथ्या है। अर्थात् 'पद्यते तरस्यानिभिः गम्यते इति पन्थाः अन्तरिक्षम्' इस विग्रह में 'पद गतौ' धातु से, 'पतस्थंच' इस सूत्र से बाहुलकात् इनि (इन्) प्रत्यय और थकारान्तादेश होने पर 'पथिन्' शब्द बना है। 'पथि भवा इति पथ्या माध्यमिका देवता' इस विग्रह में पथिन् शब्द से 'भवे छन्दसि' इस सूत्र से भव अर्थ में तद्धित यत् (य) प्रत्यय, पथिन् य, 'नस्तद्धिते' इस सूत्र से टिलोप, पथ् य, पथ्य, और 'अजाद्यतष्टाप्' इस सूत्र से टाप् (आ) एवं सवर्णदीर्घ होने पर 'पथ्या' शब्द बना है। अन्तरिक्ष में रहने वाली माध्यमिका देवी का नाम है। क्योंकि, वह अन्तरिक्ष में रहती है।

स्वस्ति शब्द का निर्वचन भाष्यकार ने नि० अ० ३ खं० २१ में 'स्वस्तीत्यविनाशि नाम, अस्तिरभिपूजितः, सु अस्तीति' इत्यादि पंक्ति से किया है। अर्थात् स्वस्ति इति = स्वस्ति यह, अविनाशिनाम = अविनाशी = कल्याण का नाम है। अस्ति = अस्ति यह निपात सत्ता अर्थ का द्योतक और सु यह उपसर्ग, अभिपूजितः = अभिपूजित अर्थ का द्योतक है। अर्थात् सु अस्ति इति = 'सु अस्ति' इस अवस्था में 'इको यणचि' इस सूत्र से यण् होने पर 'स्वस्ति' शब्द बना है। कल्याण वाचक अव्यय है। सुखी होना वा सुखी रहना स्वस्ति का अर्थ है। प्रकृत में स्वस्ति का अर्थ माध्यमिका मेघाधिष्ठातृ देवी है। क्योंकि, वह स्वयं सुखी है और भक्तों को सुखी करती है।

भाष्यकार कहते हैं—

पथ्या स्वस्ति। पन्था अन्तरिक्षं तन्निवासात्।

पथ्या स्वस्ति = पथ्या और स्वस्ति ये दोनों एक ही माध्यमिका देवता के वाचक हैं। पन्थाः = पथिन् शब्द, अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष वाचक है, तन्निवासात् = उस अन्तरिक्ष में, निवास करने से मध्य देवी पथ्या कही जाती है। नोट—इस निरुक्त को देखने से प्रतीत होता है कि—पथ्या और स्वस्ति ये दोनों एक ही देवता का नाम है। परन्तु निघण्टु मे दोनो देवता भिन्न भिन्न हैं।

तस्या एषा भवति।

इति नि. एकादशाध्यायस्य पञ्चचत्वरिंशः खण्डः। ११ – ४५ ॥

तस्याः = इस पथ्यास्वस्ति की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ नि. एकादशाध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः।

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥

ऋ. सं. ८-२-५-१६॥

इस मन्त्र का प्लति के पुत्र गय ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और पथ्यास्वस्ति देवता है। मन्त्रार्थ-या = जो, पथ्यास्वस्ति मध्यदेवी, प्रपथे = उत्तम मार्ग के लिये, स्वस्तिरित् = कल्याणकारिणी होती है वह, श्रेष्ठा = प्रशंसनीया, रेक्णस्वती = धन वाली वामम् = वननीय = वरणीय यज्ञ में, अभि एतु = आवें। सा = वह पथ्यास्वस्ति, अमा = घर में और सो = सा = वही पथ्यास्वस्ति, अरणे = अरण्य में, नः = हमारी, निपातु = रक्षा करें। देवगोपा = देवों से रक्षित वह पथ्यास्वस्ति, हमारे यहा आकर, स्वावेशा = शोभन निवास वाली, भवतु = होवें।

३४ – उषाः।

उषस् शब्द का निर्वचन नि. अ. २ खं. १८ में किया गया है। वहां उषस् का अर्थ उषःकाल और यहाँ माध्यमिका देवता है। कोई उषस् का अर्थ विद्युत् करते हैं। 'उच्छति तमः नाशयति इति उषाः मध्यदेवो' इस विग्रह में 'उच्छी विवासे' धातु से 'सर्वधातुभ्य असुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् छकार को षकार 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस नियम के अनुसार चकार की निवृत्ति होने पर उषस् शब्द बना है। अन्तरिक्ष देवी का नाम है। क्योंकि, वह प्रकाशक होने से अन्धकार को दूर करती है।

भाष्यकार स्मरण कराते हैं—

उषा व्याख्याता ।

उषा = उषा, व्याख्याता = व्याख्यात है अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. २ खं. २८ में की गई है ।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः । ११-४६ ॥

तस्याः = उस उषा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तचत्वारिंशः खण्डः ।

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह विभ्युषी ।

नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ ऋ. सं. ३-६-२१-१० ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, गायत्री छन्द और उषा देवता है। मन्त्रार्थ—वृषा = अभीष्टवर्षी इन्द्र ने, यत् = जब, सीम् = उषा के शकट (रथ) को, निशिश्नथत् = भग्न कर दिया था (तोड़ दिया था) तब, उषाः = उषा देवता, विभ्युषी = इन्द्र से भयभीत होती हुई, संपिष्टात् = भग्न, अनसः = शकट के ऊपर से, अपसरत् = नीचे गिर पड़ी थी । इस ऋचा में यद्यपि इन्द्र की स्तुति है तथापि 'अपसरत्' क्रिया के कर्ता उषा है। अतः यह ऋचा उषाकी कही जाती है। यह सायणभाष्यानुसारी अर्थ है। यास्क मत से वृषा का अर्थ वायु और अनस् का मेघ रूपी शकट है।

इस मन्त्र का भाष्य—

अपसरदुषा अनसः संपिष्टान्मेघात् विभ्युषी ।

उषाः = माध्यमिका देवी उषा, विभ्युषी = इन्द्र से डरती हुई, संपिष्टात् = इन्द्र के द्वारा सञ्चूर्ण, मेघात् अनसः = मेघ रूपी शकट के ऊपर से, अपसरत् = नीचे उतर गई थी ।

निगमप्रसक्त अनस् शब्द का निर्वचन करते हैं—

अनो वायुः, अनितेः ।

अनः = अनस् शब्द का अर्थ, वायुः = वायु है। क्योंकि, अनितेः = अन धातु से बनने से । अर्थात् 'अनति प्राणिवर्गः प्राणति अनेन इति अनः वायुः' इस विग्रह में 'अन प्राणने' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय होने पर अनस् शब्द बना है। वायु का नाम है। क्योंकि, वायु के द्वारा सभी प्रणिवर्ग प्राण वाले होते हैं। इस पक्ष में मेघरूपी शकट से नहीं किन्तु वायु रूपी शकट से मध्यदेवी उषा नीचे गिरी थी यह अर्थ समझना चाहिये ।

अपि वोपमार्थे स्यादनस इव शकटादिव ।

अपि वा = अथवा, उपमार्थे = उपमा के अर्थ मे अनस् शब्द का प्रयोग, स्यात् = हो सकता है। जैसे, अनसः इव = शकटात् इव = शकट से जैसे पडती हो वैसे मेघ रूप वा वायु रूप शकट से उषा नीचे पड़ी ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

शकट अर्थ मे अनस् शब्द का निर्वचन करते हैं—

अनः शकटमानद्धमस्मिंश्चीवरम् । अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः, उपजीवन्त्येनत् ।

अनः शकटम् = अनस् का अर्थ शकट (गाडा) है। क्योंकि, अस्मिन् = इस मे, चीवरम् = रज्जु वल्कल तथा पत्थर आदि, आनद्धम् = बँधा हुआ होता है। वा = अथवा, जीवनकर्मण॰ = जीवनार्थक, अनिते. = अन धातु से, स्यात् = अनस् शब्द बना हो यह हो सकता है। क्योंकि, एनत् = इस को जीवनार्थी, उपजीवन्ति = उपजीवन करते हैं। गाडी से जीविका चलाते हैं।

मेघोऽप्यन एतस्मादेव ।

मेघः अपि = मेघ भी, अनः = अनस् कहा जाता है। इति = और, वह भी, एतस्मात् एव = इसी जीवन के आधार होने से। मेघ वृष्टि द्वारा सब को जीवन दान करता है।

यन्निरशिश्नथद् वृषा वर्षिता मध्यमः ।

यत् = जब, वृषा = वर्षिता = अभीष्टवर्षी, मध्यमः = मध्यम देव इन्द्र ने, शकट को, निरशिश्नथत् = नष्ट कर दिया था।

मन्त्र मे वृषा पद आया है। जो तृतीयान्त है। जिसका अर्थ इन्द्र किया गया है। और यहा यास्क वृषा का अर्थ 'वृषा वर्षिता मध्यमः' इस वाक्य से मध्यम देवता वायु कर रहे हैं। इस से यह भ्रम न होना चाहिये कि, इन्द्र और वायु दो हैं। क्योंकि, निरुक्त मत में तीन ही देवता हैं। 'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः' पृथिवीस्थान अग्नि, मध्यमस्थान वायु और द्युस्थान आदित्य। उन मे वायु और इन्द्र एक ही देवता के दो नाम हैं।

तस्या एषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य सप्तचत्वारिंशः खण्डः ॥ ११ – ४७ ॥

तस्याः = उस उषा की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टाचत्वारिंशः खण्डः ।

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या ।

ससारं सीं परावतः ॥ ऋ. स. ३-६-२१-११ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, गायत्री छन्द और उषा देवता है। मन्त्रार्थ—सुसंपिष्टम् = इन्द्र के द्वारा विचूर्णित (भग्न), अस्याः = इस माध्यमिका देवी उषा के, एतद् अनः = यह शकट, विपाशि = विपाशा नदी के, आशये = तीर पर गिर पड़ा। शकट के टूट जाने पर, सीम् = यह उषा देवी, परावतः = दूर देश में, ससार = अपसृत हो गई = दूर चली गई।

इस मन्त्र का भाष्य—

एतदस्या अन आशेते सुसंपिष्टमितर दिव विपाशि–विमुक्तपाशि। ससारोषाः प्रेरितवतः परागताद्वा।

एतद् = यह, अस्याः = इस उषा का, अनः = मेघ रूप शकट, सुसंपिष्टम् = वायु से भली प्रकार चूर्ण किया हुआ, इतरत् इव = इतर शकट के समान, विपाशि = विमुक्त पाशि = मुक्त बन्धन हो कर, आशेते = भूमि पर पड़े हुए को देख कर, उषाः = माध्यमिका उषा देवी, प्रेरितवतः = फेंका हुआ, वा = अथवा, परागतात् = दूर से पड़ा हुआ शकट से उतर कर, ससार = भग गई।

३५ – इळा।

माध्यमिका वाग् देवता का नाम 'इळा' है। 'ईडस्तुतौ' धातु से इळा शब्द बना है। अर्थात् 'ईड्यते स्तुयते इति इळा मध्यमा वाक्' इस विग्रह मे 'ईड स्तुतौ' धातु से 'अकर्तरिच कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् धातु के ईकार का ह्रस्व, टाप्, सवर्ण दीर्घ, इडा, 'द्वयोश्चास्यस्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स् डकारो ळकार' अर्थात् दो स्वरों के मध्य मे डकार को ळकार होता है, इस ऋक्प्रातिशाख्य से डकार को ळकार होने पर 'इळा' शब्द बना है। माध्यमिका वाक् का नाम है। क्योंकि, इसकी स्तुति की जाती है।

अथवा 'इल्यते प्रेर्यते क्षिप्यते उच्चारणकाले प्राणेन इति इळा' इस विग्रह में 'इल प्रेरणे' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, कित्त्वात् गुणाभाव टाप, सवर्ण दीर्घ और उक्त प्रातिशाख्य सूत्र से लकार को ळकार होने पर 'इळा' शब्द बना है। माध्यमिका वाक् का नाम है। क्योंकि, यह उच्चारण काल में प्राण के द्वारा नाभि के ऊपर फेंकी जाती है। भाष्यकार कहते हैं—

इळा व्याख्याता।

इळा = इळा यह, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या याह्नानों मे तथा नि. अ. ८ खं. ८ में 'ईळ ईट्टे स्तुतिकर्मणः' इत्यादि पंक्ति से हो चुकी है।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्याष्टाचत्वारिंशः खण्डः। ११-४८ ॥

तस्याः = उस इळा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनपञ्चाशः खण्डः ।

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः ॥
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥ ऋ. सं. ४-२-१६-१९ ॥

इस मन्त्र का अत्रि ऋषि, शक्वरी छन्द और विश्वदेवों में इळा देवता है । मन्त्रार्थ—यूथस्य = गोसंघ की, माता = निर्मात्री, इळा = इळा रूप माध्यमिका वाग्देवी, वा = अथवा, उर्वशी = उर्वशी रूप माध्यमिका वाक्, नदीभिः = गङ्गा यमुना आदि नदियों के साथ, नः = हम लोगों के प्रति, अभिगृणातु = अनुकूल हो । वा = अथवा, बृहद्दिवा = निरतिशय दीप्तिशालिनी, उर्वशी = उर्वशी देवी, गृणाना = हमारे कर्मों की प्रशंसा करती हुई और. आयोः = यजमानों को, प्रभृथस्य = तेज के द्वारा, अभ्यूर्वाना = आच्छादित करती हुई यज्ञ में उपस्थित हो और, पुष्टेः ऊर्जव्यस्य = पोषक ऊर्जव्य राजा के देवसंघ, नः = हम लोगों का, सिषक्तु = सेवन करे। अथवा उर्वशी हम लोगों का सेवन करे ।

इस मन्त्र का भाष्य—

अभि गृणातु न इळा यूथस्य माता सर्वस्य माताऽस्मदभिनदीभिरुर्वशी वा गृणातूर्वशी वा बृहद्दिवा महद्दिवा गृणानाऽभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य प्रभृतस्यायोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वोदकस्य वा सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः ।

यूथस्य माता = सर्वस्य माता = सब की माता वा निर्माण करने वाली, इळा = इळा देवी, नः = हमारे प्रति, अभिगृणातु = अनुकूल हो । वा = अथवा, उर्वशी = उर्वशी देवी, नदीभिः = गङ्गा आदि नदियों के साथ, अस्मद् = हमारे प्रति, अभिगृणातु = अनुकूल हो । वा = अथवा, बृहद्दिवा = महद्दिवा = निरतिशय दीप्ति वाली, उर्वशी = उर्वशी देवी, गृणाना = हमारे कर्मों की प्रशंसा करती हुई, प्रभृथस्य = प्रभृतस्य आयोः अयनस्य मनुष्यस्य = गमनस्वभाव मनुष्य के समूह से, अभ्यूर्ण्वाना = आच्छादन करती हुई, ज्योतिषः वा उदकस्य वा = ज्योति वा जल से, पुष्टेः अन्नस्य = पोषक अन्न के द्वारा, नः = हमारी, सेवताम् = सेवा करें । अर्थात् जल द्वारा अन्न उत्पन्न कर के हमारी रक्षा करें ।

रुद्र ई, पृषोदरादित्वात् रुद्र के स्थान में रोदस् आदेश होने पर रोदसी शब्द बना है । मध्यम देव की विभूति माध्यमिका देवता का नाम है । इसी को कहते हैं—

रोदसी-रुद्रस्य पत्नी ।

रुद्रस्य = रुद्र की, पत्नी = भार्या, रोदसी = रोदसी कहलाती है ।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्यैकोनपञ्चाशः खण्डः । ११-४९ ॥

तस्याः = उस रोदसी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चाशः खण्डः ।

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे ।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥

ऋ. सं. ४-३-२०-८ ॥

इस मन्त्र का श्यावाश्व ऋषि, जगती छन्द और मरुद्गण देवता है । मन्त्रार्थ—वयम् = हम आत्रेय लोग, मारुतम् = मरुद्गण के उस, श्रवस्युम् = अन्नपूर्ण, रथम् = रथ का, नु = आज, आहुवामहे = आह्वान करते हैं । यस्मिन् = जिस रथ के ऊपर, सुरणानि = सुरमणीय जल को, बिभ्रती = धारण करती हुई, रोदसी = रुद्र अर्थात् वायु की पत्नी माध्यमिका देवी, मरुत्सु सचा = मरुतों के साथ, आतस्थौ = अवस्थित हैं । इस मन्त्र में प्रयुक्त रोदसी पद का अर्थ माध्यमिका देवी है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमाह्वयामहेआयस्मिंस्तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी रोदसी ।

इति निरुक्ते एकादशाध्यायस्य पञ्चाशः खण्डः ॥ ११-५० ॥

वयम् = हम आत्रेय लोग, श्रवणीयम् = श्रवण करने योग्य, क्षिप्रम् = शीघ्रगामी, मारुतम् = मरुद्गण के, मेघम् रथम् = मेघ रूप रथ का, आह्वयामहे = आह्वान करते हैं । यस्मिन् = जिस रथ के ऊपर, सुरमणीयानि उदकानि बिभ्रती = सुरमणीय जल को धारण करती हुई, सचा = मरुद्भिः सह = मरुतों के साथ, रोदसी = रुद्रपत्नी माध्यमिका देवी, आतस्थौ = अवस्थित हैं । रोदसी का अभ्यास (दो बार पाठ) अध्याय समाप्ति का सूचक है ।

इति निरुक्तव्याख्यायामेकादशाध्यायस्य पञ्चाशः खण्डः ॥ ११-५० ॥

निरुक्त के एकादशअध्याय का खण्ड सूत्र—

[1]श्येनो व्याख्यात [2]आदायस्वादिष्ठया[3]सोम [4]मन्यते [5]यत्वा [6]देवनयोनव [7]परमृत्योत्येपमि[8]रथा [9]प्रधीमहउदुज्योति[10]र्धाता[11]ददातु [12]सोमस्या [13]थातोमध्यस्थानादेगणा अविद्रन्मद्भि[14][15]राकद्रासोविद्वी[16]शमी [17]विरूपास[18]उदीरतामवरेर[19]ङ्गिरसोनः [20]सूर्यस्ये[21]यस्तुपेयमथातो मध्यस्थाना[22] स्त्रियोदक्षस्य वा [23][24]यस्मैत्व किमिच्छन्ती [25]पावकाना[26]मेह्रो [27]अर्णोयद्वाग्[28]वदन्ती देवी [29]वाचमान्वदनुमते [30]राका [31]महं सिनीवाली [32]कुहू[33]महमन्य [34]भूपुर्व[35]शी[36]चिचन्न [37]वलित्थेन्द्राणी[38]नाहमिन्द्राणि [39]गौरीर्मिमाय[40]तस्या [41]समुद्रा [42]गौरमीमे[43]दूपध्येसु [44]यवसाद्धि [45]कृण्वतीस्वस्ति [46]रि[47]द्धयपोया [48]पतदस्या [49]अभिनो[50]रथनुमारुतमितिपञ्चशत् ॥

इति निरुक्त एकादशोऽध्यायः समाप्त ॥ ११ ॥

इति निरुक्त उत्तरपट्के पञ्चमोऽध्यायः समाप्त ॥ ५ ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

निरुक्तम् ।

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः खण्डः

निघण्टुः—

अश्विनौ १ । उषाः २ । सूर्या ३ । वृषाकपायी ४ । सरण्यू ५ । त्वष्टा ६ । सविता ७ । भगं ८ । सूर्य्यः ९ । पूषा १० । विष्णुः ११ । विश्वानरः १२ । वरुणः १३ । केशी १४ । केशिनः १५ । वृषाकपिः १६ । यमः १७ । अजएकपात् १८ । पृथिवी १९ । समुद्रः २० । दध्यङ् २१ । अथर्वा २२ । मनुः २३ । आदित्याः २४ । सप्तऋषयः २५ । देवाः २६ । विश्वेदेवाः २७ । साध्याः २८ । वसवः २९ । वाजिनः ३० । देवपत्न्यः ३१ । इत्येकत्रिंशत्पदानि ।

इति निघन्टौ पञ्चमाध्यायः समाप्तः ।

अथातो द्युस्थाना देवताः ।

अथ = मध्यस्थान देवताओं के निर्वचन के अनन्तर, अतः = यहां से, द्युस्थानाः देवताः = द्युस्थान के देवताओं का निर्वचन किया जाता है।

तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः ।

तासाम् = उन में, अश्विनौ = दोनों अश्विनीकुमार, प्रथमागामिनौ = प्रथमागामी अर्थात् पहले आने वाले, भवतः = हैं।

अश्विनौ—यद्व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो, ज्योतिषाऽन्यः।

यद् = जो, सर्वम् = सब को, व्यश्नुवाते = व्यापन करते हैं वे, अश्विनौ = अश्विन् हैं। अन्यः = एक, रसेन = जल से और, अन्यः = एक, ज्योतिषा = ज्योति अर्थात् प्रकाश से, सब को व्यापन करता है। भाव यह है कि, अश्विनीकुमार दो हैं। एक मध्यस्थान और दूसरा द्युस्थान। उन में जो मध्यस्थान है वह जल के द्वारा और जो द्युस्थान है वह तेज के द्वारा सब को व्यापन

करता है। अर्थात् 'व्यश्नुवाते रसेन सर्वं व्याप्नुतः इति, अश्विनौ' इस विग्रह में 'अशु व्याप्तौ' धातु से उणादि परिकल्पित विनि (विन्) प्रत्यय होने से अश्विन् शब्द बना है। अश्विनीकुमारों का नाम है। क्योंकि, वे पूर्वोक्त प्रकार से सम्पूर्ण जगत् को व्यापन करते हैं।

अश्वैरश्विनावित्यौर्णनाभः ।

अश्वैः = अश्वों से, अश्विनौ = अश्विन् शब्द बना है, इति = यह, और्णनाभः = और्णनाभ नामक आचार्य मानते है। अर्थात् 'अश्नवते अध्वानं आप्नुवन्ति इति अश्वाः' इस विग्रह में 'अशू व्याप्तौ' धातु से 'अशूप्रुषिलटि' इत्यादि उणादि-सूत्र से क्वन् (व) प्रत्यय होने पर अश्व शब्द बना है। अथवा 'अश्नन्ति महाशनाः भवन्ति इति अश्वाः' इस विग्रह में 'अश भोजने' धातु से पूर्वोक्त उणादि सूत्र से बाहुलकात् क्वन् (व) प्रत्यय होने पर अश्व शब्द बना है। वह बहुत खाता है। और 'अश्वाः अनयोः सन्ति इति अश्विनौ' इस विग्रह में अश्व शब्द से 'अत इनिठनौ' इस सूत्र से मत्वर्थीय इनि (इन्) प्रत्यय, अलोप होने पर 'अश्विन्' शब्द बना है। 'अश्विनौ' यह प्रथमा द्विवचनान्त है। अश्विनीकुमारो का नाम है। क्योंकि वे अश्व वाले हैं। यह ऐतिहासिक अर्थ है।

तत्कावश्विनौ, द्यावापृथिव्यावित्येके।

प्रश्न—तत् = वह, अश्विनौ = अश्विन् को = कौन हैं? उत्तर—द्यावापृथिव्यौ = द्युलोक और पृथिवी लोक है। अर्थात् अश्विनौ का अर्थ द्युलोक और पृथिवी लोक है, इति = यह, एके = एक कोई आचार्य मानते हैं। क्योंकि, द्युलोक ज्योति से और पृथिवी लोक अन्न से व्यापन करते हैं।

अहोरात्रावित्येके ।

अश्विनौ का अर्थ, अहोरात्रौ = अहोरात्र अर्थात् दिन और रात्रि है। इति = ऐसा, एके = एक कोई आचार्य मानते हैं। दिन ज्योति से और रात्रि हिम से व्यापन करती है।

सूर्याचन्द्रमसावित्येके ।

एके = कोई एक आचार्य, इति = यह कहते हैं कि, अश्विनौ का अर्थ, सूर्याचन्द्रमसौ = सूर्य और चन्द्रमा हैं। क्योंकि, सूर्य ज्योति से और चन्द्रमा रस से जगत् को व्यापन करते हैं।

राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ।

अश्विनौ का अर्थ, पुण्यकृतौ राजानौ = पुण्य कर्म के करने वाले राजा है, इति = यह, ऐतिहासिकाः = ऐतिहासिक लोग मानते हैं। भाव यह है कि, 'अश्वैः अश्विनौ' इस वाक्य से यह कहा गया है कि, जो अश्व वाले होंवे अश्विन् कहलाते हैं। पुण्यकर्मा राजा लोग अश्व वाले होते हैं। अतः अश्विनौ का अर्थ दो राजा है। अब अपना मत दिखाते हैं—

तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु। अनुतमो भागो हि मध्यमः। ज्योतिर्भाग आदित्यः।

तयो = उन अश्विनो का, काल = काल, अर्धरात्रात् = आधी रात से, ऊर्ध्वम् = पीछे, प्रकाशीभावस्य = प्रकाश से, अनुविष्टम्भयम् अनु = भेदन किया हुआ है। अर्थात् यद्यपि 'अश्विनौ' शब्द सामान्य रूप से अहोरात्र के लिये प्रयुक्त होता है तथापि मुख्यतया वह शब्द अर्धरात्रि के पश्चात् से लेकर सूर्योदय पर्यन्त के अहोरात्र काल का नाम है। जिस के दो भाग हैं। अन्धकार और प्रकाश। उन मे जो, तमो भाग = अन्धकार भाग है वह, मध्यम = मध्यदेव और जो, ज्योतिर्भाग = प्रकाश भाग है वह, आदित्य = आदित्यदेव है। भाव यह है कि अर्धरात्रि से सूर्योदय पर्यन्त काल का नाम अश्विन् है। उस काल मे अन्धकार और प्रकाश दोनो मिश्रित हैं। इधर अश्विन् भी दो हैं। एक अन्धकार का अधिष्ठाता मध्यदेव और दूसरा प्रकाशकाल का अधिष्ठाता उत्तम = आदित्यदेव है।

तयोरेषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य प्रथम खण्ड ॥ १२-१ ॥

तयो = उन मध्यम और उत्तम अश्विनो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वितीय खण्ड ।

वसा॑तिषु॒ स्म॒ चर॑थोऽसि॑तौ पे॒त्वावि॑व ।

कदे॒दम॑श्विना यु॒वम॒भि दे॒वाँ अ॑गच्छतम् ॥

यह किसी शाखा का मन्त्र है। ऋषि को देवता के दर्शन की दृष्टि प्राप्त हुई। रात्रि बीतने पर दिन की सन्धि हुई। ऋषि सहसा अश्विन् देवताओ को देख कर कहने लगे—मन्त्रार्थ—अश्विना = हे अश्विद्वय!, युवम् = तुम दोनो, असितौ पेत्वौ इव = काले मेघो के समान, वसातिषु = रात्रियो मे, चरथ स्म = विचरते हो। युवम् = तुम, इदम् = इस यज्ञ मे कदा = कब, देवान् = देवताओ को, अभ्यगच्छतम् = प्राप्त हुए। इस मन्त्र मे अहोरात्र के रात्रि-भाग मे अश्विनो का काल बतलाया गया है।

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = यह ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठमात्र से व्याख्यात है। अर्थात् सरल होने से इसकी व्याख्या की अपेक्षा नही है।

तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राययोरसंस्तवेनैषोऽर्धर्चो भवति ।

तयो = उन दोनो, समानकालयो = समान काल वालो, समानकर्मणो = समान कर्म वालों, संस्तुतप्राययो = प्राय एक साथ स्तुति वालो अश्विनो की, असंस्तवेन = पृथक् पृथक् स्तुति से, एषा = यह, अर्धर्च = आधी ऋचा, भवति = है—

वासात्योऽन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्य इति ।

अन्यः = दोनों अश्विनों में, तव = तुम्हारा एक मध्यम देव, वासात्यः = रात्रि का पुत्र और अन्यः = दूसरा एक, उषः पुत्रः = उषा का पुत्र सूर्य देव, उच्यते = कहा जाता है।

तयोरेषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । १२ – २ ॥

तयोः = उन दोनों अश्विनों की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः ।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे ॥

ऋ. सं. २-४-२५-४ ॥

इस मन्त्र का अगस्त्य ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अश्विन् देवता है। मन्त्रार्थ—हे अश्विद्वय ! तुम दोनों समवावशीताम् = संस्तूयेते = संस्तूयेथे = साथ में स्तुति किये जाते हो। तुम दोनों में से एक ने, इह = मध्यमस्थान अन्तरिक्ष में चन्द्र रूप से और दूसरे ने, इह = उत्तमस्थान द्युलोक में आदित्य रूप से, जाता = जातौ = एक साथ जन्म ग्रहण किया था। तन्वा = तुम्हारे शरीर सौन्दर्य के कारण और, स्वैः नामभिः = तुम्हारे नाम महिमा के कारण में वार वार तुम्हारी स्तुति करता हूँ। वाम् = युवयोः = तुम दोनों में से, अन्यः = एक मध्यमस्थान अन्तरिक्ष के पुत्रस्थानीय, जिष्णुः = जयशील चन्द्र, सुमखस्य = शोभनयज्ञ का, सूरिः = प्रेरयिता होते हुए, ऊहे = जगत् का वहन = धारण करते हो और, अन्यः = एक दूसरा, दिवः = उत्तमस्थान द्युलोक के, पुत्रः = पुत्रस्थानीय आदित्य, शुभगः = शोभन रश्मि रूप धन का, ऊहे = वहन करते हो। इस प्रकार इस मन्त्र में मध्यम उत्तम दोनों अश्विनों की स्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

इह चेह च जातौ संस्तूयेते पापेनालिप्यमानया तन्वा नामभिश्च स्वैर्जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्येरयिता मध्यमो, दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊह्यते आदित्यः ।

हे अश्विद्वय !, वाम् = तुम दोनों में से, अन्यः = एक, इह च = यहां मध्यम लोक मे और दूसरा, इह च = वहां उत्तम लोक में, जातौ = उत्पन्न होते हुए, पापेन अलिप्यमानया = पाप से लिप्त न होने वाला, स्वैः तन्वा = अपने शरीर से, च = और, नामभिः = नाम महिमा से, जिष्णुः = जयशील होते हुए, संस्तूयेते = संस्तूयेथे = स्तुति किये जाते हो। अन्यः = एक, सुमहतः = सुमहान्, बलस्य = बल का, इरयिता = प्रेरक, मध्यमः = मध्यम है और, अन्यः = दूसरा, दिवः = द्युलोक का, सुभगः = सुन्दर, पुत्रः = पुत्र, आदित्यः = सूर्य, ऊह्यते = वहन किया जाता है। अर्थात् वायु के द्वारा चलाया जाता है।

तयोरेषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ १२-३ ॥

तयोः = उन अश्विनों की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

प्रा॒त॒र्युजा॒ वि बो॑धया॒श्विना॒वेह ग॑च्छताम् ।

अ॒स्य सोम॑स्य पी॒तये॑ ॥ ऋ स १-२-४-१ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और अश्विद्वय देवता है। मन्त्रार्थ—हे होता ! और हे अध्वर्यु ! आप लोग, प्रातर्युजा = प्रात. सवन सम्बन्ध से युक्त अश्वि देवो को, विबोधय = जगाओ। अश्विनौ = जगे हुए ये अश्वि देव, अस्य सोमस्य = इस अभिषव सस्कार से युक्त सोम के, पीतये = पान करने के लिये, इह = यहा हमारे यज्ञ मे, आगच्छताम् = आवें = पधारें।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विना विहागच्छतामस्य सोमस्य पानाय ।

प्रातर्योगिनौ = प्रात.सवन सम्बन्ध से युक्त, अश्विनौ = अश्वि देवो को, विबोधय = जगाओ। जग कर वे दोनो, अस्य सोमस्य पानाय = इस सोम के पान करने के लिये, इह = यहाँ हमारे याग मे, आगच्छताम् = आवें = पधारें।

तयोरेषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः खण्ड. ॥ १२-४ ॥

तयोः = उन अश्वि देवो की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

प्रा॒त॒र्य॑जध्वम॒श्विना॑ हि॒नोत॒ न सा॒यम॑स्ति देव॒या अजु॑ष्टम् ।

उ॒तान्यो अ॒स्मद्य॑जते॒ वि चाव॒: पूर्व॑: पूर्वो॒ यज॑मानो॒ वनी॑यान् ॥

ऋ स. ४-४-१८-२ ॥

इस मन्त्र का अत्रि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अश्विद्वय देवता है। मन्त्रार्थ—हे हमारे पुरुषो !, प्रातः = प्रात काल मे हो तुम लोग, अश्विना = अश्विनौ = अश्विदेवो का, यजध्वम् = यजन पूजन करो। हिनोत = उन्हे हव्य प्रदान करो। क्योकि, सायम् = सायकालिक हव्य, देवयाः = देवो के निकट जाने वाला, न अस्ति = नही होता है। अर्थात् देवगण उसे स्वीकार नही करते हैं। वह हव्य, अजुष्टम् भवति = असेव्य हो जाता है, उत = और, अस्मत् अन्यः = हम से अन्य कोई सोम द्वारा उन का, यजते = यजन करता है एव हव्य द्वारा, विचाव. = उन्हे तृप्त करता है। जो

यजमान हम लोगों से और दूसरों से, पूर्वः पूर्वो = प्रथम प्रथम उन का यजन करता है वह, वनीयान् = देवों का सम्भजनीय अर्थात् अभिमत होता है।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रातर्यजध्वमश्विनौ प्रहिणुत, न सायमस्ति देवेज्या अजुष्टमेतत्। अप्यन्यो अस्मद्यजते विचावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्वनयितृतमः।

हे हमारे आत्मीयजन ! आप लोग, प्रातः = प्रातःकाल मे ही, अश्विनौ = अश्वि देवों का, यजध्वम् = पूजन करो। प्रहिणुत = उन्हे हव्य प्रदान करो। क्योंकि, सायम् = सायंकालिक हव्य, देवेज्या = देवों के निकट जाने वाला, न अस्ति = नही होता है। अर्थात् देवगण उसे स्वीकार नही करते हैं। क्योंकि, एतत् = यह हव्य, अजुष्टम् = असेव्य होता है। अस्मद् अन्यः अपि = हम से अन्य कोई भी, सोम द्वारा उनका, यजते = यजन करता है और हव्य द्वारा, विचावः = उन्हे तृप्त करता है। यजमानः = जो यजमान हम लोगों से, पूर्वः पूर्वो = पूर्व पूर्व उनका यजन करता है वह, वनीयान् = वनयितृतमः = देवों का संभजनीय = अभिमत होता है।

तयोः कालः सूर्योदय पर्यन्तः।

तयोः = उन अश्विन् देवों का, सूर्योदय पर्यन्तः = सूर्योदय पर्यन्त, कालः = काल है। उसके बाद याग काल आता है।

तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते।

तस्मिन् = उस काल में, अन्याः देवताः = अन्य देवता, ओप्यन्ते = आवाप किये जाते हैं। अर्थात् उषा, सूर्या, सरण्यु, त्वष्टा, सविता, और भग ये छः देवता भी उसी अश्विकाल के अन्तर्गत हैं।

२ – उषाः ।

सूर्य उदय से पूर्व की प्रभातवेला की अभिमानिनी देवता का नाम उषस् है। भाष्यकार इसका निर्वचन करते हैं—

उषाः वष्टेः कान्तिकर्मणः। उच्छतेरितरा माध्यमिका।

कान्तिकर्मणः = कान्ति अर्थक, वष्टेः = वश धातु से, उषाः = उषस् शब्द बना है। और जो, इतरा = दूसरी, माध्यमिका = माध्यमिका देवी वाचक उषस् शब्द है वह, उच्छतेः = उच्छी धातु से बना है। अर्थात् 'वष्टि कमनोयाभवति इति उषाः द्युलोक देवी' इस विग्रह में 'वश कान्तौ' धातु से उणादि परिकल्पित कसुन् (अस्) प्रत्यय, 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टि...' इत्यादि सूत्र से सम्प्रसारण, पूर्वरूप और पृषोदरादित्वात् वर्णव्यत्यय शकार को षकार होने पर 'उषस्' शब्द बना है। 'उषाः' यह प्रथमा एकवचन का रूप है। द्युस्थान देवता का नाम है। क्योंकि, वह बहुत कमनीय होता है। अथवा 'उच्छति तमः मेघं वा नाशयति इति उषाः मध्यलोक देवी' इस विग्रह में

'उच्छी विवासे' धातु से 'सर्वधातुभ्य असुन्' इस उणादि सूत्र से असुन् (अस्) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् छकार को षकार, चकार की निवृत्ति होने पर उषस् शब्द बना है। माध्यमिका देवता का नाम है। क्योंकि, वह उषा तम को नाश और मेघ को छिन्न भिन्न करती है। इस प्रकार जो वश धातु से उषस् शब्द बना है वह द्युस्थान देवता वाची और जो उच्छी धातु से उषस शब्द बना है वह मध्यस्थान देवता वाची है ऐसा विवेक कर लेना चाहिये।

तस्या एषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः । १२-५ ॥

तस्याः = उस उषा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

उष॒स्तच्चि॒त्रमा भ॑रा॒स्मभ्यं॑ वाजिनीवति ।

येन॑ तो॒कं च॒ तन॑यं॒ च॒ धाम॑हे ॥ ऋ स. १-९-२६-१३ ॥

इस मन्त्र का गोतम ऋषि, उष्णिक छन्द और उषा देवता है। मन्त्रार्थ—वाजिनीवति उषः = हे अन्नवाली उषा देवी!, अस्मभ्यम = चित्रम् = वाञ्छनीय, तत् = वह धन, आभर = लाओ = प्रदान करो। येन = जिस धन से हम, तोकम् च तनयम् च = पुत्र और पौत्रादि परिवार का, धामहे = धारण अर्थात् पालन पोषण करे। इस मन्त्र मे उत्तमस्थान उषा देवी से अन्न के लिये प्रार्थना है।

इस मन्त्र का भाष्य—

उषस्तच्चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यमन्नवति येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि।

अन्नवति उषः = हे अन्न वाली उषा देवी!, अस्मभ्यम् = हमारे लिये, तत् = वह, चित्रम् = चायनीयम् = चाहने योग्य, मंहनीयम् = बहु मूल्य (महंगा), धनम् = धन, आहर = लाओ। येन = जिस धन से हम, पुत्रांश्च पौत्रांश्च = पुत्र और पौत्र आदि का, दधीमहि = धारण पोषण करें।

तस्याएषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षष्ठः खण्डः । १२-६ ॥

तस्याः = उस उषा की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

ए॒ता उ॒ त्या उ॒षसः॑ के॒तुम॑क्रत पू॒र्वे अर्धे॒ रज॑सो भा॒नुम॑ञ्जते ।

नि॒ष्कृ॒ण्वा॒ना आयु॑धानीव धृ॒ष्णवः॒ प्रति॒ गावोऽरु॑षीर्यन्ति मा॒तरः॑ ॥

ऋ सं. १-६-२४-१ ॥

इस मन्त्र का गोतम ऋषि, जगती छन्द और उषा देवता है। मन्त्रार्थ—'उ' पदपूरण मे है। त्याः = ताः = उस, एताः = इस, उषसः = उषा देवताओं ने, केतुम् = अन्धकाराच्छन्न समस्त जगत् का प्रकाश, अक्रत = किया। इस कारण वे, रजसः = अन्तरिक्ष के, पूर्वे अर्धे = पूर्व के अर्ध भाग में, भानुम् = प्रकाश का अञ्जते = व्यक्तीकरण करती हैं। धृष्णवः आयुधानि इव = योधा आयुधों के जैसा अर्थात् जैसे घर्षणशील योधा योग तलवार आदि आयुधों का संस्कार = परिमार्जन करते है वैसे ही उषा देवतायें, निष्कृण्वानाः = अपने प्रकाश से संसार का संस्कार करती हैं अर्थात् गावः = गमनशील, अरुषीः = दीप्तिमती, मातरः = माता उषा देवी, प्रतियन्ति = प्रतिदिन गमन करती हैं। प्रतिदिन सूर्य से प्रथम आती हैं। इस मन्त्र में उषा देवता की स्तुति है।

भाष्यकार कहते हैं—

एतास्ता उषसः केतुमक्रषत प्रज्ञानम्। एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्।

एताः ताः उषसः = ये वे अर्थात् उन उषा देवताओं ने, प्रज्ञानम् केतुम् = उज्वल ज्ञानरूप प्रकाश, अक्रषत = किया। उषस्काल आने पर सब जग जाते हैं। एकस्याः एव = उषा के एक होने पर भी सम्भव है, पूजनार्थे = पूजा के लिये, बहुवचनम् = 'उषसः' आदि बहुवचनम् = बहुवचनान्त प्रयोग, स्यात् = हो सकता है। अन्यथा एक अर्थ में बहुवचन प्रयोग कैसे उपपन्न हो सकता है ?।

पूर्वे अर्धे अन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना। "निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः"-

उषादेवी, अन्तरिक्षलोकस्य = अन्तरिक्ष लोक के, पूर्वे अर्धे = पूर्व के अर्ध भाग में, भानुना = प्रकाश से, समञ्जते = व्यक्तीकरण करती हैं। धृष्णवः = योधावो, आयुधानि इव = तलवार आदि आयुधों के जैसा अर्थात् योधा जैसे आयुधों का संस्कार करता है वैसे ही उषा, निष्कृण्वाना = अपने प्रकाश से संसार का संस्कार करती है।

निरित्येषः समित्येतस्य स्थाने।

मन्त्रगत 'निष्कृण्वाना' इस पद में, 'निर्' इति एषः = निर् यह पद, 'सम्' इति एतस्य = 'सम्' इस के, स्थाने = स्थान में है। जिससे इसका अर्थ 'संस्कुर्वाणा' संस्कार करनेवाला हो जाता है। संस्क्रियमाण आयुध और संस्क्रियमाण संसार।

जैसा उपसर्ग व्यत्यय करने पर अर्थ उपपन्न होता है वैसा निगम उदाहरण देते हैं—

"एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव" इत्यपि निगमो भवति।

जारणी इव = जार वाली व्यभिचारिणी स्त्री की तरह एषाम् = इन जुआरियों के, निष्कृतम् = संस्कृतम् = द्युत स्थान पर, एमि इत् = चला ही जाता हूँ। इति अपि = यह भी, निगमः = निगम, भवति = है। अर्थात् जैसे इस मन्त्र के 'निष्कृतम्' पद में 'सम्' के स्थान में नि का प्रयोग है

वैसे ही प्रकृत 'एत उ त्याः' इस मन्त्र के 'निष्कृण्वाना' पद में 'सम्' के स्थान में 'नि' का प्रयोग समझना चाहिये। सम्पूर्ण मन्त्र—

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥

ऋ. सं. ७-८-४-५ ॥

इस मन्त्र का कवष ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और द्यूतकारी (जुआरी) देवता है। मन्त्रार्थ—यत् = जब मैं, आदिध्ये = ध्यान अर्थात् संकल्प करता हूं कि, एभिः = इन जुआरियों के साथ अब, न दविषाणि = जुआ नहीं खेलूंगा तब, परायद्भ्यः सखिभ्यः = दुराचारी जुआरी मित्रों के पास से, अवहीये = हट जाता हूँ। परन्तु जब, बभ्रवः = बभ्रुवर्ण (पीले रंग) के, न्युप्ताः = जुआरियों द्वारा फेंके हुए पासे, वाचमक्रत = शब्द करते हैं अर्थात् जब जुआरी लोग कोलाहल करते हैं तब उक्त संकल्प को त्याग कर, एषाम् = इन पाशाओं के, निष्कृतम् = संस्कृतम् = संस्कार किया हुआ द्यूत स्थान पर, जारिणी इव = जार वाली (उपपति वाली) व्यभिचारिणी स्त्री की तरह अर्थात् जैसे व्यभिचारिणी स्त्री संकेत स्थान पर जाती है वैसे ही, एमी इत् = चला ही जाता हूं। इस मन्त्र में द्यूत निन्दा है।

प्रतियन्ति गावो गमनात्, अरुषीरारोचनान्मातरो भासो निर्मात्र्यः ।

उषा देवी, प्रतियन्ती = प्रतिदिन आती है। गमनात् = गमन करने से, गावः = गो कही जाती है। अर्थात् 'गच्छन्ति इति गावः' इस विग्रह में 'गम्लृ गतौ' धातु से, 'गमेर्डो वक्तव्यः' इस उणादि सूत्र से डो (ओ) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप होने से गो शब्द बना है। उत्तम स्थान उषा का नाम है। क्योंकि, वह प्रतिदिन, प्रतियन्ति = आती है।

आरोचनात् = आरोचन अर्थात् चारो ओर प्रकाश करने से, अरुषीः = उषा अरुषी कहलाती है। भासः = प्रकाश की, निर्मात्र्यः = निर्माण करने वाली होने से उषा, मातरः = माता कहलाती है।

३ – सूर्या

सूर्या शब्द की व्याख्या वाङ् नामों में हो चुकी है। वहां वाणी और द्युस्थान देवता अर्थ है। इतना ही अन्तर है। 'सरति गच्छति इति सूर्या' इस विग्रह में 'सृ गतौ' धातु से 'राजसूयसूर्य....' इत्यादि सूत्र के निपातन से क्यप् (य) प्रत्यय, सृ के ऋकार को ऊर् आदेश और टाप् (आ) एवं सवर्ण दीर्घ होने पर सूर्या शब्द बना है। उत्तम स्थान देवता का नाम है। अथवा 'सरति गच्छति इति सूर्यः आदित्यः' इस विग्रह में 'सृ गतौ' धातु से पूर्वोक्त सूत्र के निपातन से क्यप् प्रत्यय और धातु के ऋ को ऊर् होने पर सूर्य शब्द बना है। आदित्य का नाम है। 'सूर्यस्य स्त्री सूर्या' इस विग्रह में सूर्य शब्द से 'सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः' इस वार्त्तिक से पुंयोग में चाप् (आ) प्रत्यय

और सवर्ण दीर्घ होने पर 'सूर्या' शब्द बना है। सूर्य की प्रभा रूप स्त्री का नाम है। सूर्य उदय से पूर्व सूर्य की मन्द प्रभा का नाम उषा है और सूर्य उदय के पश्चात् वही उषा रूप प्रभा जब प्रकर्ष रूप धारण करती है तब सूर्या कहलाती है। यास्क कहते हैं—

सूर्या सूर्यस्य पत्नी, एषैवाऽभिसृष्टकालतमा ।

सूर्यस्य = सूर्य की, पत्नी = भार्या स्त्री, सूर्या = 'सूर्या' कही जाती है। एषा एव = यह उषा ही, अभिसृष्टकालतमा = सूर्योदय काल के प्रति जाती हुई, सूर्या = सूर्या हो जाती है। अर्थात् जैसे जैसे सूर्य के उदय के प्रति अधिक गई हुई होती है वैसे वैसे यही सूर्या हो जाती है।

स्मरण रहे कि, यह द्युस्थान देवता का प्रकरण चल रहा है। सूर्य द्युस्थान है। उसकी पत्नी सूर्या भी द्युस्थान है। ये दोनों द्युलोक में साथ ही रहा करते हैं। जब गमन करते हैं तब भी साथ ही। सूर्य प्रसिद्ध रूप से और उस की पत्नी सूर्या प्रभा रूप से गमन करती है। सूर्योदय से पूर्व प्रभा मन्द रहती है। क्योंकि, उस समय सूर्य बहुत दूर पीछे रहता है। वही मन्द प्रभा उषा कही जाती है। सूर्योदय के बाद वही उषा रूप प्रभा जब प्रचण्ड रूप धारण करती है तब सूर्या कही जाती है। इस प्रकार एक ही प्रभा के दो नाम हैं। उषा और सूर्या। जैसे पुरुष के सदा साथ रहने से स्त्री पुरुष की पत्नी कही जाती है। वैसे ही सूर्य के सदा साथ रहने से सूर्या सूर्य की पत्नी कही जाती है। यह वर्णन आलङ्कारिक समझना चाहिये।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तमः खण्डः । १२–७ ॥

तस्याः = उस सूर्या की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥

ऋ. सं. ८–३–२३–२० ॥

इस मन्त्र का सूर्या ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आशिष् देवता है। मन्त्रार्थ—सूर्ये = हे द्युस्थान देवी सूर्या ! तुम, अपने पतिगृह में जाते समय, सुकिंशुकम् = शोभन पलाश वृक्ष और, शल्मलिम् = शल्मलि (सेमल) वृक्ष से निर्मित, विश्वरूपम् = नाना रूप, हिरण्यवर्णम् = सुवर्णवर्ण, सुवृतम् = उत्तम, सुचक्रम् = सुन्दर चक्र वाले, रथ पर, आरोह = आरोहण करो = चढ़ो। अमृतस्य लोकम् = अमर स्थान में, वहतुम् = वहन अर्थात् विवाह को, पत्ये = पति के लिये, स्योनम् = सुखकर, कृणुष्व = कुरुष्व = करो = बनाओ। इस मन्त्र में सूर्या को आशीर्वाद दिया गया है।

इस मन्त्र का भाष्य—

सुकाशनं शन्नमलं सर्वरूपम् । अपि वोपमार्थे स्यात् । सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति ।

सुकाशनम् = शन्नमल निर्मल पलाश वृक्ष, शन्नमलम् = शल्मलि (सीमर) वृक्ष, सर्वरूपम् = नाना रूप वाला रथ । अपि वा = अथवा, उपमार्थे = उपमा अर्थ मे, स्यात् = हो सकता है । जैसे-सुकिंशुकम् = सुन्दर लाल पुष्पो वाले, शल्मलिम् इव = शल्मलि वृक्ष के समान रथ । इति = इस प्रकार ।

इस मन्त्र मे आया हुआ किंशुक शब्द का निर्वचन करते है—

किंशुकं-क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मण ।

प्रकाशयतिकर्मण = प्रकाशन अर्थक, क्रंशते = नैरुक्त क्रंश धातु से, किंशुकम् = किंशुक शब्द बना है । अर्थात् 'क्रंशति दीप्तिमद् भवति इति किंशुकम्' इस विग्रह मे नैरुक्त दीप्त्यर्थक क्रंश धातु से उणादि परिकल्पित उकञ् (उक) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् धातु को किंश् आदेश होने पर 'किंशुक' शब्द बना है । रथ चमकदार होता है ।

शल्मलि शब्द का निर्वचन करते हैं—

शल्मलिः – सुशरो भवति, शरवान्वा ।

सुशर = सुन्दर हिंस्य, वा = अथवा, शरवान् = हिंसा वाला, शल्मलि = शल्मलि = सीवल होता है । कोमल होने से सुहिंस्य और कण्टक वाला होने से चढने वाले को चूभ जाता है । अर्थात् 'श्रियते हिंस्यते इति शल्मलि ' इस विग्रह मे 'शॄ हिंसायाम्' धातु से कर्म मे उणादि परिकल्पित मलि प्रत्यय, रपर गुण, शर् मलि, और पृषोदरादित्वात् र् को ल् होने पर 'शल्मलि' शब्द बना है । सीमर का नाम है । क्योकि, वह कोमल होने से सुगमता से काटा जाता है । अथवा, 'शृणाति हिनस्ति इति शल्मलिः' इस विग्रह मे उसी शॄ धातु से कर्ता मे उणादि मलि प्रत्यय, गुण और लत्व होने पर शल्मलि शब्द बना है । उसी सीवल का नाम है । क्योकि वह कण्टक वाला होने से काटता है = हिंसा करता है ।

"आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्" उदकस्य सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व ।

सूर्ये = हे सूर्या, अमृतस्य = उदकस्य = जल के, लोकम् = स्थान सूर्यमण्डल को, आरोह = आरोहण कर = उस पर चढ जा । पत्ये = सूर्य रूप पति के लिये, सुखम् वहतुम् = सुख वहन, कुरुष्व = कर । सुख प्राप्त कर ।

इस अर्थ में कहीं का ब्राह्मण वचन प्रमाण देते है—

"सविता सूर्या प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा" इति च ब्राह्मणम् ।

सविता = सविता आदित्य ने, सूर्याम् = सूर्या = ज्योत्स्ना वा उषा को, सोमाय राज्ञे = सोम राजा चन्द्रमा के लिये, वा = अथवा, प्रजापतये = प्रजापति के लिये, प्रायच्छत् = दिया । इति च = यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वचन है । यह प्रमाण नैरुक्त अर्थ मे समझना चाहिये ।

४ – वृषाकपायी ।

वृषाकपायी भी पूर्वोक्त सूर्या का ही नाम है। इस का निर्वचन यास्क स्वयं करते हैं—

वृषाकपायी – वृषाकपेः पत्नी । एषैवाभिसृष्टकालतमा ।

वृषाकपेः = वृषाकपि आदित्य की जो, पत्नी = स्त्री विभूति वह, वृषाकपायी = वृषाकपायी कहलाती है। एषा एव = ये ही सूर्या, अभिसृष्टकालतमा = अतिशय निकट काल वाली होने से वृषाकपायी कहलाती है। यही सूर्या जब आदित्य के उदय काल के अधिक निकट में आ जाती है तब वृषाकपायी कहलाती है। इस प्रकार उषा, सूर्या और वृषाकपायी ये तीनों एक ही देवता के नाम हैं। अर्थात् 'वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी' इस विग्रह में वृषाकपि शब्द से पुंयोग में 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः' इस सूत्र से ऐ आदेश और ङीप् (ई) प्रत्यय, वृषाकपै ई, 'एचोऽयवायावः' इस सूत्र से आय् आदेश, वृषाकपाय् ई, वृषाकपायी शब्द बना है। वृषाकपि = आदित्य की पत्नी का नाम वृषाकपायी है।

विभिन्न विद्वानों ने वृषाकपि का अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार का किया है। सायण ने 'इन्द्रो वृषाकपिः' अर्थात् इन्द्र का नाम वृषाकपि है यह कहा है। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में 'वृषाकप्यग्नि' इत्यादि सूत्र पर 'हरविष्णू वृषाकपी इत्यमरः' अर्थात् हर और विष्णु वृषाकपि कहे जाते हैं। यह अमर कोश कहता है। ऐसी स्थिति में—'वृषाकपायी श्रीगौर्योरिति च' अर्थात् वृषाकपायी का अर्थ विष्णु की स्त्री श्री और हर की स्त्री गौरी हुआ—यह अर्थ किया है। महाभाष्य में 'वृषाकप्यग्नि' इत्यादि सूत्र का भाष्य नहीं मिलता है। लोग कहते हैं कि 'बकरी खा गई।' यह प्रकरण द्युस्थान देवता का चल रहा है। इन्द्र मध्यमस्थान देवता है यह कहा गया है। 'हरविष्णू' का तो प्रकरण ही नहीं है। परिशेषात् वृषाकपि आदित्य और वृषाकपायी आदित्य पत्नी प्रभा ही लेना समुचित समझा गया है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टमः खण्डः । १२-८ ॥

तस्याः = उस वृषाकपायी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।

घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋ. सं. ८-४-३-१३ ॥

इस मन्त्र का इन्द्र ऋषि, पञ्चपदा पंक्ति छन्द और इन्द्र ही देवता भी है। मन्त्रार्थ—वृषाकपायि = हे वृषाकपि अर्थात् आदित्य की पत्नी वृषाकपायी देवी !, रेवति = हे धनवाली

देवी !, सुपुत्रे = हे मध्यम देव रूप शोभन पुत्र वाली !, सुस्नुषे = हे मध्यम लोक की वाक् रूप सुन्दर पुत्रवधू वाली देवी !, ते = तुम्हारे, प्रियम् = प्रिय, काचित्करम् = सुखकर, उक्षणः = ओस को, इन्द्रः = आदित्य, आदु = शीघ्र, वसत् = चाट जायं। क्योंकि इन्द्रः = आदित्य, विश्वस्मात् = सर्व से, उत्तरः = श्रेष्ठ है।

इस ऋचा का भाष्य—

वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे–मध्यमेन, सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा।

वृषाकपायि = हे वृषाकपायि !, रेवति = हे रेवति !, मध्यमेन सुपुत्रे = हे मध्यम देव से सुन्दर पुत्र वाली !, माध्यमिकया वाचा सुस्नुषे = हे माध्यमिका वाणी से सुन्दर पुत्रवधू वाली।

मन्त्र प्रसक्त स्नुषा शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं—

स्नुषा साधु सादिनीति वा–साधु सानिनीति वा। सु–अपत्यं तत् सनोतीति वा।

साधु सादिनी इति वा = सुन्दर कर्म मे बैठती है, अथवा, साधु सानिनी इति वा = शुभ सन्तान को भलीभांति भजती है, अथवा, सु-अपत्यम् = सु नाम अपत्य का है, तत् = उस को = सन्तान भाव प्राप्त होती है, इति वा = इस लिये, स्नुषा = पुत्रवधू स्नुषा कही जाती है। सुष्ठु सीदति इति स्नुषा' इस विग्रह मे सु पूर्वक षद् धातु से ड(अ) प्रत्यय, डित्वात् टिलोप, सु स् अ, पृषोदरादित्वात् सु को स्नुभाव और षत्व एवं टाप् होने पर स्नुषा शब्द बना है। पुत्रवधू का नाम है। क्योंकि वह अच्छे अर्थ मे श्वसुर के सन्तान रूप अङ्गभाव को प्राप्त होती है।

अथवा 'सु-साधु सनोति इति स्नुषा' इस विग्रह मे सुपूर्वक सन धातु से ड प्रत्यय, टिलोप, सु स् अ, सु को स्नुभाव, षत्व और टाप् होने पर स्नुषा शब्द बना है। पुत्रवधू का नाम है। क्योंकि वह सन्तति को प्राप्त होती है।

अथवा 'सु = अपत्य प्रसूयते इति स्नुषा' इस विग्रह में—अपत्य वाचक सु शब्द उपपद प्रसवार्थक सू धातु से ड प्रत्यय, टिलोप, सु स् अ, सु को स्नुभाव, षत्व, टाप् होने पर स्नुषा शब्द बना है। पुत्रवधू का नाम है। क्योंकि वह श्वशुर के लिये सन्तान उत्पन्न करती है।

प्राश्नातु त इन्द्र उक्षण एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान्।

इन्द्रः = आदित्य, ते = तुम्हारे, एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान् उक्षण = ये माध्यमिक ओस समूह हो, प्राश्नातु = प्राशन करें = चाट जायं।

उक्षण उच्छतेर्वृद्धिकर्मणः। उक्षन्त्युदकेनेति वा।

वृद्धिकर्मणः = वृद्धयर्थक, उच्छतेः = उच्छ धातु से, उक्षणः = उक्षन् शब्द बना है, वा = अथवा, उदकेन = जल से, उक्षन्ति = सर्व ओषधियों को सेचन करते हैं। अतः ओस उक्षन् = उक्षन्— कहलाते हैं। अर्थात् 'उच्छन्ति ओषध्यादीन् वर्धयन्ति इति उक्षणः नोहाराः' इस विग्रह मे वृद्धयर्थक 'उच्छी विवासे' धातु से, उणादि कल्पित कनिन (अन्) प्रत्यय, पृषोदरादित्वात्

च्छ को क्ष होने पर उक्षन् शब्द बना है। उक्षणः यह जस् का रूप है। ओस का नाम है। क्योंकि वह ओषध्यादि को बढाता है। अथवा, 'उक्षन्ति ओषध्यादीन् सिञ्चन्ति इति उक्षणः नीहाराः' इस विग्रह में 'उक्ष सेचने' धातु से उणादि कल्पित कनिन् (अन्) प्रत्यय होने पर उक्षन् शब्द बना है। ओस का नाम है। क्योंकि, वह ओषध्यादि को जलसे सिञ्चन करता है।

प्रियं कुरुष्व सुखाचयकरं हविः सुखकरं हविः ।

सुखाचयकरं हविः = सुखकर हंविः = सुखकर हवि को प्रियम = प्रिय, कुरुष्व = करो।

सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ।

यः = जो, इन्द्रः = इन्द्र, सर्वस्मात् = सब से, उत्तरः = श्रेष्ठ है इसी लिये, तम् = उसको हम, एतद् ब्रूमः = यह कहते हैं कि वह, आदित्यम् = आदित्य है।

५ – सरण्यूः ।

सूर्यास्त के पश्चाद्भावी आदित्य प्रभा का नाम सरण्यू है। जो द्युस्थाना देवता है। अर्थात् सूर्योदय से पूर्वकालिक आदित्य प्रभा का नाम उषा, सूर्योदय से पश्चाद्भावी आदित्य प्रभा का नाम सूर्या, सूर्य अस्त से पूर्वकालिक आदित्य प्रभा का नाम वृषाकपायी और सूर्य अस्त से लेकर अग्रिम उषः काल से पूर्वकालिक आदित्य प्रभा का नाम सरण्यू है। इस प्रकार आदित्य की उषा, सूर्या, वृषाकपायी, और सरण्यू ये चारो प्रभायें द्युस्थान देवता है। जो सूर्य की विभूति होने से आदित्य पत्नी निरुक्त में कही गई हैं।

'सरणसरः' इस विग्रह मे 'सृगतौ' धातु से 'पुंसि संज्ञाया घः प्रायेण' इस सूत्र से घ (अ) प्रत्यय, रपर गुण होने पर सर शब्द बना है और सरेण सरणेन नयति इति सरण्यूः' इस विग्रह में सर उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से उणादि परिकल्पित ऊक् (ऊ) प्रत्यय, सर नी ऊ, 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इस सूत्र से यण् 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इस सूत्र से णत्व होने पर 'सरण्यू' शब्द बना है। उत्तम स्थान देवता का नाम है। क्योंकि, वह गमन द्वारा आदित्य को प्राप्त होती है। इसी को भाष्यकार कहते हैं—

सरण्यूः – सरणात् ।

सरणात् = सरण = गमन करने से, सरण्यूः = उत्तमस्थान देवता 'सरण्यू' कहलाती है। वही उषा आदित्य प्रभा जब सूर्य के प्रति अविभाग अर्थात् अभेद से गई हुई होती है तब वह सरण से = गमन से सरण्यू कहलाती है। सूर्यास्त काल में सर्वत्र फैली हुई सूर्य प्रभा सूर्य में जाकर मिल जाती है।

तस्या एषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य नवमः खण्डः । १२-९ ॥

तस्याः = उस सरण्यू की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य दशम खण्डः।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥

ऋ स ७-६-२३-२ ॥

इस मन्त्र का यमपुत्र देवश्रवा ऋषि;-त्रिष्टुप् छन्द और सरण्यू देवता है। मन्त्रार्थ— अमृताम् = अमर सरण्यू को मर्त्येभ्यः = मनुष्यो के पास, मनुष्यो की उत्पत्ति के लिये, अपागूहन् = छिपाया गया। सवर्णाम् = सरण्यू के समान एक स्त्री का निर्माण, कृत्वी = करके उसे, विवस्वते = विवस्वान् आदित्य को, अददु. = दिया गया। उत = और उस समय उस अश्वरूपिणी सरण्यू ने, अश्विना अभरत् = अश्विद्वय का अपने गर्भ मे धारण किया। यत् आसीत् = जो वह था, तत् = उसको, सरण्यू = सरण्यू ने, द्वा मिथुना = दो यमज सन्तानो को, अजहात् = त्याग किया अर्थात् उत्पन्न किया। यह ऐतिहासिक अर्थ है। नैरुक्त अर्थ भाष्यकार अनुपद मे ही करने वाले है। इस ऋचा मे सरण्यू शब्द आया है। इस लिये यह सरण्यू की ऋचा कही गई है।

अप्यगूहन्नमृतांमर्त्येभ्यः। कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ऽप्यश्विनावभरद्यत्तदासीदजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूर्मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमंच यमींचेत्यैतिहासिकाः।

अमृताम् = अमर सरण्यू को, मर्त्येभ्य = मनुष्यो के पास, अपि अगूहन् = छिपाया गया। सवर्णाम् कृत्वी = सरण्यू एक स्त्री का निर्माण करके उसे, विवस्वते = विवस्वान् आदित्य को, अददु = दिया गया। अपि अश्विनौ = अश्विद्वय का, अभरत् = अपने गर्भ मे उसने धारण किया। यत् तत् आसीत् = जो वह था उसे, सरण्यू = सरण्यू ने, द्वौ मिथुनौ = दो यमज सन्तानो को, अजहात् = उत्पन्न किया। मध्यमच = एक मध्यम ज्योति को और दूसरी माध्यमिकाम् च वाचम् = मध्यमलोक की वाणी को। इति = इस अर्थ को, नैरुक्ता = नैरुक्त आचार्य लोग करते हैं। मध्यम और माध्यमिका नही किन्तु, यम च यमीच = यम और यमी, इति = यह, ऐतिहासिका = ऐतिहासिक लोग कहते है। भाष्यकार कहते हैं—

अत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव स विवस्वानादित्य अश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य संबभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः।

अत्र = इस मन्त्र मे, इतिहासम् = इस प्रकार का इतिहास, आचक्षते = कहते हैं—त्वाष्ट्री सरण्यू = त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने, विवस्वत आदित्यात् = विवस्वान् आदित्य से, यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार = यमज = दो सन्तानो को उत्पन्न किये। सा = वह सरण्यू, सवर्णाम् अन्याम् = अपने समान दूसरी स्त्री को, प्रतिनिधाय = अपने स्थान पर प्रतिनिधि रूप से रख कर, अश्व रूप कृत्वा = घोड़ी का रूप बनाकर, प्रदुद्राव = वहा से भगी। स विवस्वान् आदित्य. = वह विवस्वान् आदित्य

भी, अश्वम् एव रूपम् कृत्वा = घोड़े का ही रूप बना कर, ताम् अनुसृत्य = उस के पीछे चल कर, संबभूव = उस से मिला। ततः = उस से, अश्विनौ = दो अश्विन् देवता, जज्ञाते = उत्पन्न हुए। सवर्णायाम् = समान वर्णा में अर्थात् और जो सवर्णा स्त्री, जिसे सरण्यु अपना दूसरा रूप बना कर छोड़ गई थी, उस मे, मनुः = मनुः उत्पन्न हुआ। इसी को वैवस्वत मनु कहते हैं। क्योंकि, वह विवस्वान् का पुत्र है।

६ – त्वष्टा।

द्युस्थान देवता विशेष का नाम त्वष्टा है। जिस को पौराणिक लोग विश्वकर्मा कहते हैं। इसकी व्याख्या निरुक्त अध्याय ८ खण्ड १३ में अनेक प्रकार से एवं विस्तार से की गई है। वहां इसका अर्थ मतभेद से वायु वा अग्नि है और यहां विश्वकर्मा। भाष्यकार कहते हैं—

तदभिवादिन्येषर्ग्भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १२–१० ॥

तद् = इस अर्थ को, अभिवादिनी = कहने वाली, एषा ऋक् = यह अग्रिम ऋचा भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकादशः खण्डः।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

ऋ सं. ७–६–२२–१॥

इस मन्त्र का यमपुत्र देवश्रवा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सरण्यू देवता है। मन्त्रार्थ—त्वष्टा = त्वष्टा नामक देव, दुहित्रे = अपनी दुहिता (कन्या) सरण्यू का, वहतुम् = विवाह, कृणोति = करोति = कर रहे हैं, इति = इस उपलक्ष में, इदम् विश्वम् भुवनम् = यह सारा संसार, समेति = सम्मिलित हुआ। पर्युह्यमाना = विवाहित होती हुई, यमस्य माता = यम यमी की माता सरण्यू, महः विवस्वतः = जो महान् विवस्वान् की, जाया = स्त्री थी वह, ननाश = वहां से अदृश्य हो गई। उत्तर कुरु को चली गई। इस मन्त्र में त्वष्टा पद आया है। अतः यह त्वष्टा की ऋचा कही जाती है।

इसका भाष्य—

त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीदं विश्वं भुवनं समेतीमानि च सर्वाणि भूतान्यभि समागच्छन्ति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश।

त्वष्टा = त्वष्टा नामक देव, दुहितुः = अपनी दुहिता सरण्यू का, वहनम् करोति = विवाह कर रहे हैं। इति = इस उपलक्ष में, इदम् विश्वम् भुवनम् समेति = इमानि च सर्वाणि भूतानि

अभिसमागच्छन्ति = संसार के सभी लोग सम्मिलित हुए। पर्युह्यमाना = विवाहित होती हुई, यमस्य माता = यम की माता सरण्यू जो, महतः विवस्वतः = महान् विवस्वान् की, जाया = स्त्री थी वह, ननाश = वहा से अदृश्य हो गई। उत्तर कुरु को चली गई। यह अर्थ अन्तरिक्ष पक्ष में है।

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकादशः खण्डः । १२-११ ॥

रात्रिः = रात्रि अर्थात् उषा जो, आदित्यस्य = सूर्य की जाया = प्रभा है वह, आदित्योदये = सूर्य के उदय होने पर, अन्तर्धीयते = अन्तर्धान हो जाती है। सूर्योदय होने पर रात्रि सरण्यू रूप प्रभा नष्ट हो जाती है। इतिहास पक्ष मे सरण्यू त्वष्टा देव की पुत्री और विवस्वान् सूर्य देव की पत्नी है और निरुक्त पक्ष मे सरण्यू त्वष्टा की पुत्री और आदित्य की पत्नी है। जो सूर्योदय होने पर छिप जाती है। और अर्थ समान है।

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ।

७ – सविता।

सविता उत्तमस्थान देवता आदित्य का नाम है। इसका निर्वचन नि. अ १० ख ३१ में 'सविता सर्वस्य प्रसविता' इत्यादि वाक्य से किया गया है। अर्थात् 'सवति इति सविता' इस विग्रह मे 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से कर्ता मे तृच (तृ) प्रत्यय, सु तृ, इडागम, गुण, अवादेश होने पर सवितृ शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, वह सब को उत्पन्न करता है। इसीको स्मरण कराते हैं—

सविता व्याख्यातः।

सविता = सवितृदेव, व्याख्यातः = व्याख्यात है अर्थात् इसकी व्याख्या नि अ १० खं ३१ में हो चुकी है। वहाँ मध्यमस्थान देव और यहाँ उत्तमस्थान देव अर्थ है।

तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का कीर्णरश्मिर्भवति।

तस्य कालः = उस सविता का काल वह होता है, यदा = जिस समय, द्यौः = द्युलोक, अपहततमस्का = अन्धकार रहित, कीर्णरश्मिः = कीर्ण वाला, भवति = होता है। अर्थात् जिस काल मे आकाश देश में ही प्रकाश होता है। पृथिवी मे नही। क्योंकि, उदय होते हुए सूर्य की कीर्णें प्रथम आकाश मे जाती हैं। अतः वहीं प्रकाश रहता है। पृथिवी में नहीं। पृथिवी में अन्धकार ही रहता है। वह सविता का काल है। उस काल मे आदित्य सविता कहा जाता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वादशः खण्डः । १२-१२ ॥

तस्य = उस सविता की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥

ऋ सं. ४-४-२४-२॥

इस मन्त्र का श्यावाश्व ऋषि, जगती छन्द और सविता देवता है। मन्त्रार्थ—कविः = मेधावी सविता देव, विश्वानि रूपाणि = स्वय सब रूपो को, प्रतिमुञ्चते = धारण करते हैं। द्विपदे चतुष्पदे = दो पैर वाले मनुष्यादि और चार पैर वाले गो अश्व आदि पशु आदि के गमनादि विषयक, भद्रम् असावीद् = कल्याण को जानते है। वरेण्य = वरणीय, सविता = सर्व प्रेरक सविता देव, नाकम् = स्वर्ग को, वि अख्यत् = प्रकाश करते हैं अर्थात् यजमान के लिये स्वर्ग दिखाते हैं। ये, उषसः = उषा के, प्रयाणम् = उदित होने के, अनु = पश्चात्, विराजति = विराजते हैं। प्रकाशित होते हैं। इस मन्त्र मे सविता की स्तुति है। इस लिये यह सविता की ऋचा कहलाती है।

इस मन्त्र का भाष्य—

सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते। मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति। कवतेर्वा। प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च, व्यचिख्यापयन्नाकं सविता वरणीयः प्रयाणमनूष सो विराजति।

सविता देव, सर्वाणि प्रज्ञानानि = सर्वविषयक ज्ञान को, प्रतिमुञ्चते = छोड़ते हैं। क्योंकि, वे, मेधावी = कविः = क्रान्तदर्शन. = बड़े बुद्धिमान और क्रान्तदर्शी, भवति = हैं। इस लिये कवि कहे जाते हैं। वा = अथवा, कवतेः = नैघण्टुक 'कव' धातु से कवि शब्द बना है। अर्थात् 'कवति गच्छति इति कविः' इस विग्रह मे नैघण्टुक गत्यर्थक कव धातु से उणादि कल्पित इ प्रत्यय होने से कवि शब्द बना है। सविता का नाम है। क्योंकि, वह नित्य प्रति गमन करता है। द्विपाद्भ्यश्च = दो पैर वाले मनुष्यो के लिये और चतुष्पादभ्यश्च = चार पैर वाले पशुओ के लिये, भद्रम् प्रसुवति = कल्याण उत्पन्न करते, कल्याण करते हैं। वरणीय. = वर्णनीय, सविता = सविता देव, नाकम् = स्वर्ग को, व्यचिख्यापयन् = प्रकाश करते हैं। उषस. = उषा के, प्रयाणम् = उदय होने के, अनु = पश्चात्, वे, विराजति = प्रकाशित होते हैं। अन्य प्रमाण से सविता के काल का निर्णय करते हैं—

'अधोरामः सवित्रः' इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते।

पशुसमाम्नाये = यजर्वेद (अ० २४ मन्त्र २९, ५८, ५९) के वैदिक पशु प्रकरण में, "अधोरामः सवित्रः" अर्थात् अधोराम नामक पक्षी—जिसको भाषा में कालची कहते हैं—सवित्र है। अर्थात् जैसे अधोराम नामक पक्षी नीचे (पाद प्रदेश) काला और ऊपर (देह प्रदेश) सफेद होता है वैसे ही सविता भी उदय काल मे नीचे (पृथिवी प्रदेश) अन्धकार होने से काला और ऊपर (आकाश प्रदेश) प्रकाश होने से सफेद होता है। इति = यह विज्ञायते = जाना जाता है। इस से सविता के काल का निर्णय होता है। अर्थात् [illegible] अधोर[illegible] का अधोभाग काला

और ऊर्ध्व भाग सफेद होता है वैसे ही जिस काल मे सविता का अधोभाग काला और ऊर्ध्व भाग सफेद होता हो वह काल सविता का काल समझना चाहिये।

प्रश्न—कस्मात् सामान्याद् इति।

कस्मात् सामान्यात् = किस गुण के समानता से अघोराम नामक पक्षी को सवित्र कहा गया है ?।

उत्तर—अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवति, एतस्मात् सामान्यात्।

तद् वेलायाम् = उस समय = सूर्योदय काल में वहपक्षी अधस्तात् = नीचे, तम = काला, भवति = होता है। एतस्मात् = इस गुण की, सामान्यात् = समानता से अघोराम पक्षी को सवित्र कहा गया है। जैसे सविता उदय काल मे नीचे पृथिवी लोक मे काला और आकाश मे सफेद होता है वैसे ही अघोराम नामक पक्षी भी नीचे पैर मे काला और ऊपर देह मे सफेद होता है। इस लिये इस को सवित्र कहते हैं।

इसी को स्पष्ट करते हैं—

अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः।

अधस्तात् राम = अधस्तात् कृष्ण = नीचे का भाग काला होता है।

प्रश्न—कस्मात् सामान्यात्।

कस्मात् = किस गुण, सामान्यात् = सामान्य से, अघोराम पद घटक राम शब्द का अर्थ कृष्ण (काला) किया गया है ?।

उत्तर—'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्'। रामा—रमणायोपेयते, न धर्माय, कृष्णजातीया। एतस्मात् सामान्यात्।

अग्नि चित्वा = अग्नि चयन करके अर्थात् अग्न्याधान करके, रामाम् = कृष्णवर्णा शूद्रा से, न उपेयात् = विवाह न करे। (यह किसी शाखा का मन्त्र है)। इस में 'रामा' शब्द का अर्थ कृष्ण (काला) देखा गया है। रामा = काला रंगवाली शूद्रा स्त्री से, रमणाय = रमण के लिये, रामत उपेयते = विवाह (सम्बन्ध) किया जाता है, न धर्माय = यज्ञादि धर्म कार्य करने के लिये नहीं क्योंकि वह, कृष्ण जातीया = काली जाति की होती है। एतस्मात् सामान्यात् = इस गुण सामान्य से (तुल्यता से) राम शब्द का अर्थ कृष्ण (काला) किया गया है। पक्षी और शूद्रा का काला गुण साम्य है।

अन्य प्रमाण से सविता के काल का निर्णय करते हैं—

'कृकवाकुः सावित्रः' इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते।

पशुसमाम्नाये = यजुर्वेद (अ २४ मन्त्र ३५ मे) के पशुप्रकरण मे, "कृकवाकु सावित्र" अर्थात् कृकवाकु नामक पक्षी जिस को मुरगा कहते है यह सावित्र है। इति = यह, विज्ञायते = जाना जाता है। इस मन्त्र मे कृकवाकु (कुक्कुट) पक्षी को सावित्र कहा गया है।

प्रश्न—कस्मात् सामान्यात् ।

कस्मात् सामान्यात् = किस गुण सामान्य से कृकवाकु को सावित्र कहा गया है ? ।

उत्तर—कालानुवादंपरीत्य ।

कालानुवादम् = काल के अनुवाद को, परीत्य = जान कर कृकवाकु को सावित्र कहा है। अर्थात् कुक्कुट प्रातःकाल जिस समय बोलता है वह सविता आदित्य का काल है। कृकवाकु नामक पक्षी उस समय बोलता हुआ सवितृकाल का ही अनुवाद करता है। क्योंकि सविता के उदय काल और कुक्कुट (मुरगा) के बोलने का काल एक ही है। इसी लिये कृकवाकु को सावित्र उक्त श्रुति मे कहा गया है।

कृकवाकु शब्द का निर्वचन करते हैं—

कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम् वचेरुत्तरपदम् ।

कृकवाकोः = कृकवाकु शब्द का, पूर्वम् = पूर्व भाग (कृक) शब्दानुकरणम् = शब्द का अनुकरण है अर्थात् वह कुक्कुट पक्षी 'कृक कृक' ऐसा बोलता है। उसी का अनुकरण 'कृक' शब्द है। जैसा वह बोलता है उसी शब्द को जनानेवाला है। और, उत्तरपदम् = 'कृकवाकु' के उत्तर पद (भाग) जो वाकु भाग है वह, वचेः = 'वच' धातु से बना है। अर्थात् 'कृक इत्येवं वक्तीति कृकवाकुः कुक्कुटः' इस विग्रह में कृक शब्द उपपद 'वच परिभाषणे' धातु से 'कृके वचः कश्च' इस उणादि सूत्र से उण् (उ) प्रत्यय, उपधा वृद्धि, और चकार को ककार होने पर 'कृकवाकु' शब्द बना है। मुरगा का नाम है। क्योंकि वह 'कृक कृक' ऐसा शब्द करता है। यहाँ शब्दानुकरण 'कृक' पद पूर्व और 'वच' धातु का बना हुआ 'वाकु' पद उत्तर है।

८ – भगः ।

अपने अपने कार्य में प्रवृत्त प्राणियों के द्वारा जो भजनीय = सेवनीय हो उस आदित्य का नाम भग है। अर्थात् 'भज्यते सर्वप्राणिभिः सेव्यते इति भगः आदित्यः' इस विग्रह में 'भज सेवायाम्' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इस सूत्र से घ (अ) प्रत्यय 'चजोः कु घिण्यतोः' इस सूत्र से कुत्वेन जकार को गकार होने पर 'भग' शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, वह सर्वप्राणी द्वारा संभजनीय है। भाष्यकार कहते हैं—

भगो व्याख्यातः। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात् ।

भगः = भग का, व्याख्यातः = व्याख्यान हो चुका है। अर्थात् अन्न नामो में निरुक्त अध्याय ३ खण्ड १६ में 'भगो भजते:' इत्यादि पंक्तियों से इस का निर्वचन किया गया है। वहाँ इस का अर्थ अन्न और यहा आदित्य ज्योति है। इतना ही अन्तर है। तस्य = उस आदित्य का, कालः = काल, उत्सर्पणात् = उत्सर्पण से अर्थात् ऊपर आकाश देश में गमन करने से, प्राक् = पूर्व है। अर्थात् उदय होने के बाद जब सूर्य गमन करता है उस के पूर्व का जो काल है वह भग का काल है। तत्कालिक आदित्य 'भग' कहा जाता है। जो ज्योति स्वरूप है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १२-१३ ॥

तस्य = उस भग की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥

ऋ सं. ५-४-८-२ ॥

इस मन्त्र का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और भग देवता है । मन्त्रार्थ—यः = जो भग देव, विधर्ता = ससार के धारक, जितम् = जयशील, उग्रम् = उग्र और, अदितेः पुत्रम् = अदिति के पुत्र हैं उन्ही, भगम् = भग देव को, वयम् = हम, प्रातः = प्रातकाल, हवेम = बुलाते हैं । आध्रश्चित् = दरिद्र स्तोता, तुरश्चित् = न्यायाधीश यमराज और, राजाचित् = प्राप्तधन राजा भी, यम् = जिन भग देव की, मन्यमानः = स्तुति करते हुए 'भगम् भक्षि' 'मुझे भोग योग्य धन दो' इति आह = इस प्रकार की याचना करते हैं ।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रमदितेर्योविधारयिता सर्वस्याध्रश्चिद्यं मन्यमान आढ्यालुर्दरिद्रस्तुरश्चित् । तुर इति यमनाम, तरतेर्वा, त्वरतेर्वा, त्वरया तूर्णगतिर्यमः । राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ।

यः = जो भगदेव, सर्वस्य विधारयिता = सर्व ससार के धारक, जितम् = जयशील, उग्रम् = उग्र और, अदितेः पुत्रम् = अदिति के पुत्र हैं । उन्ही, भगम् = भगदेव को, वयम् = हम, प्रातः = प्रात काल, ह्वयेम = बुलाते हैं । आढ्यालुः = धनाढ्य, राजाचित् = राजा, दरिद्रः = दरिद्र स्तोता, तुरश्चित् = यमराज, यम् = जिन भगदेव को, मन्यमानः = स्तुति करते हुए, 'भगम् भक्षि' = 'मुझे भोग योग्य धन दो' इति = इस प्रकार की, आह = याचना करते हैं । तुर इति = 'तुर' यह, यमनाम = यमराज का नाम है । तरतेः = तृ धातु से बना है । वा = अथवा, त्वरतेः = 'त्वर' धातु से बना है । वा = अथवा, त्वरया = त्वरा = वेग = शीघ्र गति से, चलता है इस लिये यम 'तुर' कहा जाता है । क्योंकि, तूर्णगतिः = शीघ्रगामी, यमः = यम होता है । अर्थात् 'तरति इति तुरः यमः' इस विग्रह में 'तृ प्लवनतरणयोः' धातु से 'पुंसि सज्ञायां घ प्रायेण' इस सूत्र से घ (अ) प्रत्यय, तृ अ, पृषोदरादित्वात् धातु को उपर उत्व, तु उर् अ, 'तुर' शब्द बना है । एव 'त्वरते इति तुरः यमः' इस विग्रह में 'ञित्वरा संभ्रमे' धातु से पूर्ववत् घ प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् सम्प्रसारण, पूर्व रूप होने पर 'तुर' शब्द बना है । यम का नाम है । क्योंकि, न्याय करने में शीघ्रता के कारण यमराज त्वरित गति वाला है ।

अन्धो भग इत्याहुः । अनुत्सृप्टो न दृश्यते ।

भगः = भगदेव = अनुदित आदित्य, अन्धः = अन्ध । अर्थात् प्रकाश रहित है, इति = ऐसा विद्वान् लोग, आहुः = कहते हैं । क्योंकि, वह, अनुत्सृष्टः = अनुदित होने के कारण, न दृश्यते = दिखाई नहीं देता है । उदय से पूर्वकाल में अज्ञात रहता है ।

'भग देव अन्धा है' इस कथन में प्रमाण देते हैं—

"प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान" इति च ब्राह्मणम् ।

प्राशित्रम् = प्राशित्र ने, अस्य = इस (भग) की, अक्षिणी = आंखों को, निर्जघान = फोड दिया था, इति च = यह भी, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य भग देव को अन्धा होने मे प्रमाण है। प्राशित्र देवता विशेष का नाम है। इसकी ऐतिहासिक कथा इस प्रकार है—प्राशित्र अग्नि के, पुरोडाश में से ब्रह्मा का भाग निकाला जाता है और वह भक्षण से पूर्व ढंका हुआ रखा रहता है। उसे देखने का निषेध है। उसी को भगदेव ने देखा था। इस कारण प्राशित्र ने भग देवता के नेत्र फोड दिये थे। इसी से वह अन्धा है। इसी से आज भी याग में प्राशित्र भाग को लोग नहीं देखते हैं। उसको ढाक रखते हैं। यह कथा प्राशित्र की स्तुति होने से अर्थवाद समझना चाहिये। अत एव—

"जनं भगो गच्छति" इति वा विज्ञायते ।

भगः = उनुदित भगदेव = आदित्य उदय होते हुए, जनम् = लोक जन के प्रति, गच्छति = जाता है, इति = यह इस लौकिक वाक्य से, विज्ञायते = जाना जाता है। प्रतिदिन आदित्य उदय हो हो कर जनो के प्रति जाता है यह ज्ञात होता है कि—

जनं गच्छति – आदित्य उदयेन ।

आदित्यः = आदित्य, उदयेन = प्रतिदिन उदय हो हो कर, जनम् = जनो के प्रति, गच्छति = जाता है।

९ – सूर्यः ।

द्युलोक के प्रधान देवता का नाम सूर्य है। उदय काल से पूर्व कालिक आदित्य भग और उदय काल से उत्तर कालिक आदित्य सूर्य कहलाता है। फलतः उदय से पूर्व भग का और उत्तर सूर्य का काल समझना चाहिये। सूर्य शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—'सरति गच्छतीति सूर्य' इस विग्रह मे 'सृ गतौ' धातु से 'राजसूयसूर्य....' इत्यादि सूत्र के निपातन से क्यप् (य) प्रत्यय, धातु के ऋकार को ऊर् आदेश होने पर 'सूर्य' शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य आकाश मे गमन करता है। यास्क निर्वचन करते हैं—

सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा ।

सर्तेः वा = 'सृ गतौ' धातु से अथवा, सुवतेः वा = 'षू प्रेरणे' धातु से अथवा, स्वीर्यतेः = सु पूर्वक 'ईर गतौ' धातु से सूर्यः = सूर्य शब्द बना है। उन में अभी ही सृ धातु से सूर्य की

सिद्धि की गई है। 'सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति इति सूर्यः' इस विग्रह मे 'षू प्रेरणे' धातु से 'राजसूयसूर्य...' इत्यादि सूत्र के निपातन से क्यप् (य) प्रत्यय और धातु के ऊकार को ऊर् आदेश होने पर सूर्य शब्द बना है। सूर्य का नाम है। क्योकि, सूर्योदय होने पर सब कोई अपने अपने कार्य मे लग जाते है। एवं 'सुष्ठु ईर्यते वायुना प्रेर्यते इति सूर्यः' इस विग्रह मे सुपूर्वक 'ईर गतौ' धातु से 'राजसूयसूर्य...' इत्यादि सूत्र के निपातन से कर्म में क्यप् (य) प्रत्यय, सु ईर् य, सु और ई का लोप होने पर सूर्य शब्द बना है। सूर्य का ही नाम है। क्योकि सूर्य अन्तरिक्ष मे वायु से प्रेरित हो कर गमन करता है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः। १२—१४॥

तस्य = उस सूर्य की, एषा = यह आगे की ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।

दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ ऋ सं. १-४-७-१॥

इस मन्त्र का प्रस्कण्व ऋषि, गायत्री छन्द और सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—केतवः = सारे संसार के प्रकाशक सूर्य के अश्व, त्यम् = प्रसिद्ध, जातवेदसम् = सर्व उत्पन्न प्राणियो को जानने वाला वा जातप्रज्ञ वा जातधन, देवम् = द्योतमान, सूर्यम् = आदित्य को, विश्वाय = विश्वस्मै = समस्त भुवनों को, दृशे = देख ने के लिये, उद्वहन्ति = ऊपर ले जाते हैं। इस मन्त्र में सूर्य की स्तुति है। अतः यह मन्त्र सूर्य का है।

इस मन्त्र का भाष्य—

उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः। सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति। कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत्।

केतवः = सर्वप्रकाशक सूर्य के अश्व या, रश्मयः = सूर्य की रश्मियाँ, जातवेदसम् = नित्य ज्ञानवान्, तम् = सर्वप्रसिद्ध उस, सूर्यम् = सूर्य को, सर्वेषाम् भूतानाम् दर्शनाय = सर्व प्राणियों को दर्शन के लिये, उद्वहन्ति = ऊपर ले जाती है। आदित्यात् = आदित्य से, अन्यम् कम् = अन्य किस को, एवम् = इस प्रकार, अवक्ष्यत् = कहा जाता? अर्थात् किसी को नहीं। इस प्रकार इस ऋचा में सूर्य की स्तुति है।

तस्यैषाऽपरा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः। १२-१५॥

तस्य = उस सूर्य की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षोडशः खण्डः

चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

ऋ. सं. १-८-७-१ ॥

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः = मित्र, वरुण और अग्नि के, चक्षुः = चक्षु स्वरूप, देवानाम् अनीकम् = दीव्य रश्मियों के तेजः पुञ्ज स्वरूप, चित्रम् = आश्चर्यकारक कार्य करनेवाले सूर्य देव, उदगात् = उदित हुए हैं। उदित होकर उन्हों ने, द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् = द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्षलोक को, आप्राः = अपनी किरणों से, आ = सर्व ओर से परिपूर्ण किया है। क्योंकि, सूर्यः = सूर्यदेव, जगतस्तस्थुषश्च = जङ्गम और स्थावर दोनों की, आत्मा = आत्मा है। इस प्रकार इस मन्त्र में सूर्य की स्तुति की गई है। अतः यह मन्त्र सूर्य का है।

इस मन्त्र का भाष्य—

चायनीयान्देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च। अपूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च।

मित्रस्य = मित्र, वरुणस्य = वरुण और, अग्नेः = अग्नि के, ख्यानम् = चक्षुस्वरूप, देवानाम् अनीकम् = दीव्यरश्मियों के तेजःपुञ्जस्वरूप, चायनीयान् = आश्चर्यजनक सूर्य देव, उदगमत् = उदय को प्राप्त हुए हैं। और उदय हो कर, द्यावापृथिव्यौ च = द्युलोक पृथिवीलोक और, अन्तरिक्षं च = अन्तरिक्षलोक को, महत्त्वेन = अपनी महत्त्वपूर्ण किरणों से, अपूपुरत् = परिपूर्ण किया है। तेन = इसी से, सूर्यः = सूर्य देव, जङ्गमस्य स्थावरस्य च = जङ्गम और स्थावर आत्मक समस्त संसार की, आत्मा = आत्मा है।

१० — पूषा ।

आदित्य का नाम पूषा है। भाष्यकार स्वयं निर्वचन करते हैं—

अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति ।

अथ = और, यत् = जब यह आदित्य, रश्मिपोषम् = अपनी रश्मियों को, पुष्यति = पुष्ट करता है, तत् = तब यह, पूषा भवति = पूषा नामक देव, भवति = हो जाता है। यही आदित्य अनुदित अवस्था में मग उदित अवस्था में सूर्य और रश्मियों को पुष्ट करते समय पूषा कहा जाता है। अर्थात् 'पुष्यति रश्मीन् बिभर्ति इति पूषा आदित्यः' इस विग्रह में 'पुष पुष्टौ' धातु से 'श्वन्नुक्षन्पूषन्....' इत्यादि उणादि सूत्र के निपातन से कनिन् (अन्) प्रत्यय और उपधा दीर्घ होने पर 'पूषन्' शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, वह अपनी रश्मियों को पुष्ट करता है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १२-१६ ॥

तस्य = उस पूषा की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥

ऋ. सं. ४-८-२४-१ ॥

इस मन्त्र का भारद्वाज ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और पूषा देवता है। मन्त्रार्थ—हे पूषन् !, ते = तुम्हारा, अन्यत् = अन्य एक दिनात्मक रूप, शुक्रम् = शुक्ल वर्ण है और, अन्यत् = अन्य एक, ते = तुम्हारा रात्र्यात्मक रूप, यजतम् = केवल यजनीय कृष्णवर्ण है। इस प्रकार, अहनी = दिन रात्री स्वरूप तुम्हारे रूप, विषुरूपे = विभिन्न प्रकार के हैं। द्यौः इव असि = तुम द्युलोक के समान आवर्त्तक हो। स्वधवः = हे अन्नवाले ! और, पूषन् = हे पूषन् !, हि = क्योंकि, तुम = विश्वाः प्रज्ञाः = सब प्रकार के ज्ञान धारण करते हो। तुम, अवसि = रक्षा करते हो। ते = तुम्हारा, भद्रा = कल्याण वाही, रातिः = दान, इह = इस यज्ञ मे प्रकाशित, अस्तु = हो। इस में पूषा की स्तुति है। अतः यह ऋचा पूषा की है।

इस मन्त्र का भाष्य—

शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यद्विषमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि सर्वाणि प्रज्ञानान्यवस्यन्नवन् भाजनवती ते पूषन्निहदत्तिरस्तु।

हे पूषन् !, ते = तुम्हारा, अन्यत् = अन्य एक, शुक्रम् लोहितम् = दिनात्मक शुक्लमिश्रित लोहित रूप और, अन्यत् यजतम् ते = अन्यत् यज्ञियम् ते = अन्य एक तुम्हारा रात्र्यात्मक ,केवल यजनीय कृष्ण रूप है। अन्यत् = अन्य एक, ते = तुम्हारा, विषमरूपे = विषम रूप है जो, अहनी, कर्म = दिन रात्रि के कर्म रूप है। द्यौः इव असि = द्युलोक के समान आच्छादक हो। सर्वाणि प्रज्ञानानि = सर्व प्रकार के ज्ञान धारण करते हो। अवसि = रक्षा करते हो। अन्नवन् = हे अन्न वाले ! और, पूषन् = हे पूषन् !, ते = तुम्हारा, भाजनवती = कल्याणवाही, दत्तिः = दान, इह = यहां यज्ञ में, अस्तु = हो।

तस्यैषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १२-१७ ॥

तस्य = उस पूषा की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ।

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम् ।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा ॥

ऋ सं ४-८-६-८ ॥

इस मन्त्र का भरद्वाज के पुत्र ऋजिश्वा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेवगण देवता है। मन्त्रार्थ—पथस्पथः=मार्ग मार्ग के अर्थात् सारे मार्ग के, परिपतिम् = अधिपति, अर्कम् = अर्चनीय = पूजनीय उपा देव के पास, कामेन = वाञ्छित फल के, कृतः = वश मे आ कर स्तोतागण, वचस्या = स्तुति के साथ, अभ्यानट् = उपस्थित होवे = प्राप्त होवें और, सः पूषा = वह पूषा देव, नः = हमे, चन्द्राग्राः शुरुधः = सुवर्ण के सीग वाली गायें और धन, रासत् = प्रदान करें = देवें। सः पूषा = वह पूषा देव, हमारे, धियम् धियम् = सारे कार्य को प्रसीषधाति = प्रसाधन करें = पूर्ण करे।

इस मन्त्र का भाष्य—

पथस्पथोऽधिपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानडर्कमभ्यापन्नोऽर्कमिति वा स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि कर्म कर्म च नः प्रसाधयतु पूषेति।

पथः पथः = सारे मार्ग के, अधिपतिम् = अधिपति, अर्कम् = पूजनीय पूषा के पास, कामेन = वाञ्छित फल के, कृतः = वश मे आ कर स्तोतृगण, वचनेन = स्तुति रूप वचन के साथ, अभ्यानट् = उपस्थित होवे। वा = अथवा, अर्कम् अभ्यापन्नः = पूजनीय पूषा की शरण मे प्राप्त होवें। सः = वह पूषादेव, नः = हमे, चायनीयाग्राणि = सोने के सीग वाली गाये और, धनानि = धन, ददातु = देवें, च = और, पूषा = वह पूषा देव, कर्म कर्म = हमारे सर्व शुभ कर्मों को, प्रसाधयतु = सिद्ध करें। इति।

११ – विष्णुः ।

विष्णु नाम आदित्य का है। अर्थात् जब वही आदित्य रश्मियो के द्वारा सर्वत्र व्याप्त होता है तब विष्णु कहा जाता है। भाष्यकार स्वय इसका निर्वचन करते हैं—

अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।

अथ = और, यद् = जब वही सूर्य, विषित = व्याप्त, भवति = होता है, तद् = तब, विष्णुः = विष्णु, भवति = हो जाता है। अर्थात् सूर्य ही विशेष अवस्था मे जा कर विष्णु हो जाता है। विशतेः = 'विश प्रवेशने' धातु से, वा = अथवा, व्यश्नोतेः विपूर्वक 'अशू व्याप्तौ संघाते च' धातु से, विष्णुः = विष्णु शब्द बना है। अर्थात् 'विशति तीव्र रश्मि द्वारा सर्वत्र प्रविशति इति विष्णुः सूर्यः' इस विग्रह मे 'विश प्रवेशने' धातु से 'उणादयो बहुलम्' इस सूत्र से बाहुलकात् नु प्रत्यय, विश् नु, 'व्रश्चभ्रस्जसृज....' इत्यादि सूत्र से षत्व और 'रषाभ्यां णो नः' इस सूत्र से णत्व

होने पर विष्णु शब्द बना है । सूर्य का नाम है । क्योंकि सूर्य अपनी तीव्र रश्मियों के द्वारा सर्वत्र प्रवेश करता है । अथवा 'व्यश्नुते सर्वत्र व्याप्तो भवति इति विष्णुः सूर्यः' इस विग्रह में विपूर्वक 'अशूव्याप्तौ संघाते च' धातु से पूर्ववत् नु प्रत्यय, षत्व और णत्व होने पर विष्णु शब्द बना है । सूर्य का नाम है । क्योकि, सूर्य व्यापक होने से सर्वत्र व्याप्त है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ १२-१८ ॥

तस्य = उस विष्णु की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् ।

समू॑ळहमस्य पांसु॒रे ॥ ऋ. सं. १-२-७-१७ ॥

इस मन्त्र का मेधातिथि ऋषि, गायत्री छन्द और विष्णु देवता है । मन्त्रार्थ—इस मन्त्र के दो अर्थ हैं । एक ऐतिहासिक और दूसरा नैरुक्त । उन में ऐतिहासिक अर्थ इस प्रकार है—विष्णु = त्रिविक्रमावतारधारी विष्णु ने, अर्थात् वामनावतारधारी विष्णु ने, इदम् = इस जगत् को, विचक्रमे = परिक्रमा की थी । उस समय उन्होने, त्रिधा = तीन प्रकार से, पदम् = अपने पैर, निदधे = रखे थे । उस समय, अस्य = उन के, पांसुरे = धूलियुक्त पैर से, समूळहम् = यह सम्पूर्ण जगत् छिप सा गया था । निरुक्तार्थ—विष्णुः = आदित्य देव, इदम् = इस नाना विभाग से अवस्थित जगत् को, विचक्रमे = अधितिष्ठति = अधिष्ठितहोता है । अर्थात् दबा कर स्थित होता है । त्रिधा = तीन प्रकार से, पदम् = पैर को, निदधे = रखता है । पृथिवी लोक में, अन्तरिक्षलोक में और द्युलोक में । अग्नि रूप से पृथिवी को, विद्युत् रूप से अन्तरिक्ष को और सूर्य रूप से द्युलोक को दबा कर स्थित है । अस्य = इन विष्णु देव के, पांसुरे = अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से, यह सम्पूर्ण जगत्, समूळहम् = छिपा सा रहता है । विष्णु अग्नि विद्युत और सूर्यरूप तीन पादों से जगत् को नाप रहे हैं ।

इस मन्त्र का भाष्य—

यदिदं किंच तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय, पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूळ्हमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते, अपिवोपमार्थे स्यात् समूळ्हमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति ।

विष्णुः = आदित्य देव, यद् इदम् किंच = संसार में जो कुछ वस्तु है, तद् = उन सब को, विक्रमते = आक्रमण करके स्थित है । वह, त्रिधा = तीन प्रकार से, पदम् = पैर को, निधत्ते = रखता है । त्रेधाभावाय = तीन प्रकार के होने के लिये । पृथिव्याम् = पृथिवी लोक में, अन्तरिक्षे =

अन्तरिक्षलोक में और, दिवि = द्युलोक में रहने के लिये, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं। समारोहणे = उदय काल में उदयाचल पर उदय होता हुआ, विष्णुपदे = विष्णुपद माध्यन्दिन में, गयशिरसि = अन्तरिक्ष में एक पैर रखता है, इति = यह, और्णवाभः = और्णवाभ नामक आचार्य कहते हैं। अर्थात् उदय काल में एक पैर उदय गिरि पर, मध्यन्दिन मे दूसरा पैर अन्तरिक्ष में और सायंकाल में तीसरा पर अस्ताचल पर विष्णु रखता है। समूहस्य = सब प्राणियों की, पांसुरेप्यायने = वृद्धि के लिये, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में, पदम् = विष्णु का जो पद है वह गुप्त है, न दृश्यते = दिखाई नहीं देता है। अपिवा = अथवा, उपमार्थे स्याद् = उपमा अर्थ मे हो सकता है। अस्य = इस विष्णु का, पदम् = पैर, अन्तरिक्ष में = पांसुल इव = धूलि से ढका हुआ के समान, समुल्लम् = ढका हुआ है। अतः, न दृश्यते = दिखाई नहीं देता है। इति।

निगमप्रसक्त पांसु शब्द का निर्वचन करते हैं—

पांसवः—पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पिंसनीया भवन्तीति वा।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।। १२-१९ ।।

पादैः = पैरों से, सूयन्ते = उत्पन्न होती हैं, इति वा = इस से, वा = अथवा, पन्नाः = पतित होती हुई, शेरते = सो जाती हैं, इति वा = इस से, वा = अथवा, पिंसनीयाः = पिंसनीय अर्थात् ध्वंसनीय, भवन्ति = होती हैं, इति वा = इस से, पासवः = धूलि कही जाती हैं। अर्थात् पृथिवी में पैरों के आघात लगने से चूर्ण = धूलिये पैदा होती हैं। वा उत्पन्न होकर पड़ी रहती है। वा झटक देने योग्य होती हैं इस लिये पांसु धूलि कहलाती हैं।

'पादैः सूयन्ते इति पांसवः' इस विग्रह में पाद शब्द उपपद 'षूङ् प्राणिप्रसवे' धातु से उणादि उ प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् पाद सू को पांस् भाव होने पर पांसु शब्द बना हैं। 'पासवः' यह जस का रूप है। धूलि का नाम है। क्योंकि, वह आने जाने वाले के पेरों से चूर्ण होकर उत्पन्न होती है।

अथवा, 'पन्नाः पतितः शेरते इति पांसवः' इस विग्रह में पन्न शब्द उपपद 'शीङ् स्वप्ने' धातु से उणादि उ प्रत्यय और पन्न शी को पृषोदरादित्वात् पांस् भाव होने पर पांसु शब्द बना है। 'पांसवः' यह जस् का रूप है। धूलि का नाम है। क्योकि, धूलि पद दलित होकर पड़ी हुई होती है। अथवा 'पिंश्यन्ते इति पांसवः' इस विग्रह में, 'पिशिअवयवे' धातु से उणादि उ प्रत्यय, पिश् उ, पृषोदरादित्वात् पिश् को पांस् भाव होने पर पांसु शब्द बना है। 'पांसवः' यह जस् का रूप है। धूलि का नाम है। क्योंकि धूलि आने जाने वाले लोगों के पैरों से पीसी जाती है।

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य विंशः खण्डः।

१२ – विश्वानरः।

मध्याह्न उत्तर कालिक आदित्य का नाम विश्वानर है। इसका निर्वचन निरुक्त अ० ७ खं० २१ मे हो चुका है। वहा इसका अर्थ अग्नि और यहां द्युस्थान देवता आदित्य है। इतना ही भेद है। इसी को भाष्यकार कहते हैं—

विश्वानरो व्याख्यातः।

विश्वानर = विश्वानर, व्याख्यात = व्याख्यात है। अर्थात् इसका निर्वचन नि० अ० ७ ख० २१ मे हो चुका है।

तस्यैष निगमो भवत्यैन्द्रयामृचि।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य विंश खण्ड ॥ १२-२० ॥

तस्य = उस विश्वानर का, एषः निगम = यह उदाहरण मन्त्र, ऐन्द्रयाम् ऋचि = इन्द्र देवताक ऋचा मे भवति = है। अर्थात् अन्य देवताक ऋचा मे गौण रूप से इसका पाठ इस प्रकार है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकविंश खण्ड।

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ ऋ स ६-५-२-४ ॥

इस मन्त्र का अङ्गिरोगोत्रोत्पन्न प्रियमेध ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ में, अनानतस्य = अन्य के तेज से अनभिभूत, विश्वानरस्य = आदित्य के, शवस = महा बल के, पतिम् = रक्षक इन्द्र को, व = तुम लोगो की, चर्षणीनाम् = सेनाओं के, एवै = गमन के साथ और, रथानाम् ऊती = रथो के गमन के साथ, हुवे = आह्वान करता हू = बुलाता हू। इस मन्त्र मे विश्वानर गौण है क्योंकि, इस का देवता इन्द्र है। अत यही मुख्य है।

इस मन्त्र का भाष्य—

विश्वानरस्यानानतस्य शवसो महतो बलस्यैवंच कामैरयनैर्वा चर्षणीनां मनुष्याणामूत्या च पथा रथानाम्। इन्द्रमस्मिन्यज्ञे ह्वयामि।

अनानतस्य = अनभिभूत प्रकाश, विश्वानरस्य = आदित्य के, शवस = महत बलस्य = महाबल के पालक, चर्षणीनाम् = मनुष्याणाम् = मनुष्यों के, एवै = कामै = कामों के लिये, वा = अथवा, अयनै = गमन (चलने फिरने) के लिये, रथानाम् = रथो के, ऊत्या = गमन के, पथा = मार्ग से, अस्मिन् यज्ञे = मैं इस यज्ञ में, इन्द्रम् = इन्द्र को, ह्वयामि = आह्वान करता हूँ। बुलाता हू।

१३ — वरुणः।

वरुण नाम द्युस्थान देवता आदित्य का है। इस का निर्वचन निरुक्त अध्याय १० ख० ३ में हो चुका है। वहां वरुणका अर्थ मध्यमस्थान देवता और यहां उत्तम स्थान देवता है। इतना भेद है। अर्थात् 'वृणोति रश्मिभि सर्वं आवृणोति इति वरुण' इस विग्रह में 'वृञ् वरणे' धातु से 'कृवृदारिभ्य उनन्' इस उणादि सूत्र से उनन् (उन) प्रत्यय वृ को रपर गुण और णत्व होने पर वरुण शब्द

बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य अपनी किरणों द्वारा सभी वस्तु को आच्छादन करता है। भाष्यकार करते हैं—

वरुणो व्याख्यातः ।

वरुणः = वरुण, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. १० खं. ३ में हो चुकी है।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥ १२-२१ ॥

तस्य = उस वरुण की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

त्वं वरुण पश्यसि ॥ ऋ. सं. १-४-८-६ ॥

इस मन्त्र का प्रस्कण्व ऋषि, गायत्री छन्द और सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—पावक = हे सर्वशोधक आदित्य ! और, वरुण = हे अनिष्टनिवारक आदित्य !, त्वम् = तुम, येन चक्षसा = जिस दीप्ति द्वारा, जनान् = प्राणियो के, भुरण्यन्तम् = धारक पोषक बन कर, अनुपश्यसि = जगत् को देखते हो, वयम् तम् स्तुमः = (इतिशेषः) हम उसी की प्रार्थना करते हैं। इस ऋचा में वरुण का अर्थ आदित्य है।

इस मन्त्र का भाष्य—

भुरण्युरिति क्षिप्रनाम। भुरण्युः शकुनिर्भूरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा तत्संपाती भुरण्युः ।

भुरण्युः इति = 'भुरण्यु' यह, क्षिप्रनाम = शीघ्र का नाम है। भुरण्युः = भुरण्यु, शकुनिः = पक्षी होता है। क्योंकि, वह, भूरिम् = बहुत, अध्वानम् = मार्ग को, नयति = ले जाता है। बहुत शीघ्रता से चला जाता है। स्वर्गस्य लोकस्य अपि = स्वर्ग लोक को भी, वोढा = ले जाने वाला, तत्संपाती = तत्सम्बन्धी, (अग्निः अपि) अग्नि भी, भुरण्युः = भुरण्यु कहा जाता है।

आकांक्षारहित मन्त्रार्थ के लिये कुछ पदो का अध्याहार करके व्याख्यान करते हैं—

अनेन पावकख्यानेन भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। 'तत्ते वयं स्तुमः' इति वाक्य शेषः।

पावक = हे सर्वशोधक आदित्य !, वरुण = हे अनिष्ट निवारक आदित्य !, त्वम् = तुम, अनेन ख्यानेन = इस दीप्ति के द्वारा, जनान् = प्राणियों के, भुरण्यन्तम् = धारक पोषक बनकर,

अनु पश्यसि = जगत् को देखते हो, तद् = इस लिये, ते = तुम से, वयम् = हम उसी की, स्तुमः = प्रार्थना करते हैं। इति = इतने पदों का, वाक्यशेष = अध्याहार कर लेना चाहिये।

अपिवोत्तरस्याम् ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ १२-२२ ॥

अपि वा = अथवा, उत्तरस्याम् = आगे आने वाली ऋचा में इस पूर्व ऋचा को मिला देने से पूर्वा पर दोनों ऋचाओं का निराकाङ्क्ष मन्त्रार्थ हो जाता है। 'तत्ते वय स्तुमः' इतने पदों का अध्याहार करने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण दोनों ऋचाओं को एक साथ मिलाकर पढ़ते हैं—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

त्वं वरुण पश्यसि ॥ ऋ. सं. १-४-८-६ ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।

पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ सं. १-४-८-७ ॥

मन्त्रार्थ = पावक = हे पावक !, वरुण = हे वरुण !, सूर्य = हे सूर्य !, त्वम् = तुम, येन चक्षसा = जिस दीप्ति के द्वारा, जनान् = प्राणियों के, भुरण्यन्तम् = धारक पोषक बन कर, अनुपश्यसि = जगत् को देखते हो उसी दीप्ति के द्वारा, अक्तुभिः अहा = रात्रि के साथ दिवस का, मिमानः = निर्माण करते हुए एवं, जन्मानि प्राणियों का, पश्यन् = अवलोकन करते हुए, द्याम् = द्युलोक में और, पृथु = विस्तीर्ण, रजः = अन्तरिक्ष लोक में, व्येषि = विविध प्रकार से भ्रमण करते हो। इस प्रकार दोनों मन्त्रों को मिलाकर अर्थ करने पर 'तत्ते वयं स्तुमः' इतने पदों का अध्याहार नहीं करना पड़ता है।

पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों में से अन्तिम मन्त्र का भाष्य—

व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकं अहानि च मिमानो अक्तुभी रात्रिभिः सह पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य ।

सूर्य = हे सूर्यदेव ! तुम, अक्तुभिः = रात्रिभिः सह = रात्रि के साथ, अहानि = दिन का, मिमानः = निर्माण करते हुए एवं, जन्मानि = जातानि = सर्व प्राणियों को, पश्यन् = देखते हुए, पृथु = विस्तीर्ण, महान्तम् = महान् द्याम् रजश्च लोकम् = द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में, व्येषि = भ्रमण करते हो।

जैसे 'येना पावक' इत्यादि ऋचा का 'विद्यामेषि' इत्यादि उत्तर ऋचा के साथ एक वाक्यता कर के अध्याहार के विना ही निराकांक्ष अर्थप्रतिपत्ति दिखाई गई वैसे ही 'प्रत्यङ् देवानाम्' इत्यादि पूर्व ऋचा के साथ इसकी एकवाक्यता कर के अध्याहार के विना ही निराकांक्ष अर्थप्रतिपत्ति दिखाते हैं—

अपि वा पूर्वस्याम् ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः । १२–२३ ॥

अपिवा = अथवा, पूर्वस्याम् = पूर्वोक्त ऋचा में इस ऋचा को मिला देने से दोनों ऋचाओं का आकांक्षा रहित अर्थ हो जाता है । अध्याहार करने की आवश्यकता नहीं । जैसे—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

त्वं वरुण पश्यसि ॥ ऋ सं. १–४–८–६ ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।

प्रत्यङ्विश्वं स्वर्दृशे ॥ ऋ सं. १–४–८–५ ॥

मन्त्रार्थ—पावक = हे पावक !, वरुण = हे वरुण !, सूर्य = हे सूर्य !, त्वम् = तुम, येन चक्षसा = जिस दीप्ति के द्वारा, जनान् = प्राणियों के, भुरण्यन्तम् = धारक पोषक बन कर, अनुपश्यसि = जगत् को देखते हो उसी दीप्ति के द्वारा, देवानाम् विशः = मरुत् देवों के, प्रत्यङ् = सामने, उदेषि = उदित हो । मानुषान् = मनुष्यों के, प्रत्यङ् = सामने, उदेषि = उदित हो एवं, विश्वम् स्वः = समस्त स्वर्ग लोक के, दृशे = दर्शन के लिये, प्रत्यङ् = सामने, उदेषि = उदित हो। इस प्रकार पूर्व मन्त्र के साथ मिला कर अर्थ करने पर भी अध्याहार करने की अपेक्षा नहीं रहती है।

इस मन्त्र का भाष्य—

प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभि विपश्यसीति ।

इदम् सर्वम् = इस समस्त जगत् के, प्रत्यङ् = सामने, उदेषि = उदित हो । इदम् सर्वम् = इस सर्व जगत को तुम, प्रत्यङ् = अभि सामने, अभि विपश्यसि = अभिमुख हो कर देखते हो ।

अपिवैतस्यामेव ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥ १२–२४ ॥

अपिवा = अथवा, एतस्याम् एव = इसी ऋचा में अध्याहार किये विना वा पूर्व तथा उत्तर ऋचाओं के साथ सम्बन्ध किये विना ही मन्त्र की निराकांक्ष प्रतिपत्ति हो सकती है । जैसे—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ।

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॒ जनाँ॒ अनु॑ ।

त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि ॥ ऋ. सं. १-४-८-६ ॥

तेन नो जनानभि पश्यसि ।

मन्त्रार्थ—पावक = हे पावक ! और, वरुण = हे वरुण !, त्वम् = तुम, येन चक्षसा = जिस दिप्ति के द्वारा, जनान् = अन्य प्राणियों के, भुरण्यन्तम् = धारक पोषक हो कर, अनुपश्यसि = अभिपश्यसि = उन को देखते हो, तेन = उसी दीप्ति के द्वारा, नः = हम लोगों को भी, पश्यसि = देखते हो ।

इस प्रकार 'येना॑ पावक॒' इस मन्त्र के व्याख्यान में चार पक्ष दिखाये गये हैं। एक स्तुति के लिये 'तत्ते वयं स्तुमः' इतने पदोंका अध्याहार, दूसरा उत्तर ऋचाके साथ इसका सम्बन्ध, तीसरा पूर्व ऋचा के साथ इसका सम्बन्ध और चौथा अध्याहार तथा सम्बन्ध के विना निराकाङ्क्ष बोध।

यद्यपि चौथा पक्ष में भी 'तेन नः जनान् अभि पश्यसि' इतने पदों का सम्बन्ध करना पड़ा है तथापि यह अध्याहार नहीं किन्तु आक्षेप है। क्योंकि, मन्त्र में 'येन' पद है उसका 'तेन' पद के साथ नित्य सम्बन्ध है। 'यत्तदोर्नित्य सम्बन्धः' (यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होता है) एवं यह स्तुतिका प्रकरण है। जो प्रार्थना रूप अपने प्रति आशीर्वाद है। 'तेन नः जनान् अभि पश्यसि' (इसी दृष्टि से हमें भी देखो) आशीर्वाद बोधक इन पदों के बिना प्रार्थना असिद्ध है। अतः 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' अर्थात् जिस के विना जो अनुपपन्न होता है उस से उसका आक्षेप होता है। इस नियम के अनुसार यहां उक्त पदों का आक्षेप है। अध्याहार नहीं। अतः पूर्व तीन पक्षों की अपेक्षा यह चतुर्थ पक्ष श्रेष्ठ है।

जहां मन्त्रार्थ करने में यथोक्त प्रकारकी कठिनता पड़ती हो वहां इसी प्रकार किसी न किसी पक्ष का आश्रय करके मन्त्रार्थ करना चाहिये, यहां इस बात को उपदेश यास्क मुनिने दिया है।

१४ — केशी।

मध्यन्दिन के आदित्य का नाम केशी है। इसका निर्वचन भाष्यकार स्वयं करते हैं—

केशी—केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा।

केशाः रश्मयः = केश नाम रश्मियों का है। तैः = उन से, तद्वान् = केशवान् होने से, केशी भवति = केशी होता है। अर्थात् आदित्य की रश्मियों का नाम केश है। और केश वाला (रश्मि वाला) होने से आदित्य केशी कहलाता है। वा = अथवा, काशनात् = काशन से, प्रकाश करने से,

वा = अथवा, प्रकाशनात् = विशेष प्रकाश करने से, केशी = आदित्य केशी कहा जाता है। अर्थात् 'काशन्ते इति केशाः रश्मयः' इस विग्रह में 'काशृ दीप्तौ' धातु से 'भावे' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् आ को एत्व होने पर केश शब्द बना है। रश्मि का नाम है। क्योंकि, रश्मियाँ प्रकाश करती हैं। 'केशाः रश्मयः सन्ति अस्य इति केशी आदित्यः' इस विग्रह में केश शब्द से 'अत इनिठनौ' इस सूत्र से मत्वर्थीय इनि (इन्) प्रत्यय और अलोप होने पर केशिन् शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य केश अर्थात् रश्मि वाला है। यद्यपि काशन और प्रकाशन एक ही अर्थ है तथापि अपना प्रकाश करना काशन और दूसरे का प्रकाश करना प्रकाशन इस प्रकार किसी प्रकार अर्थ भेद समझ लेना चाहिये।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ॥ १२-२५ ॥

तस्य उस केशी की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ॥

केश्य१ग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।

केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ ऋ सं. ८-७-२४-१ ॥

इस मन्त्र का जूति ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और केशी नामक सूर्य देवता है। मन्त्रार्थ—केशी = रश्मि युक्त सूर्य, अग्निम् = अग्नि को, बिभर्ति = धारण करते हैं। केशी = रश्मि युक्त सूर्य, विषम् = जल को, बिभर्ति = धारण करते हैं। केशी = रश्मियुक्त सूर्य, रोदसी = द्यावापृथिवी (द्युलोक और पृथिवी लोक) को, बिभर्ति = धारण करते है। केशी = रश्मियुक्त सूर्य, विश्वम् स्वः दृशे = व्याप्त समस्त संसार को प्राणियों के दर्शन के लिये प्रकाश करते है। इदम् ज्योतिः केशी उच्यते = यही सूर्य रूप ज्योति केशी कहा जाता है।

इस मन्त्र का भाष्य—

केश्यग्निं च विषं च, विषमित्युदकनाम, विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य, विपूर्वस्य वा सचतेः । द्यावापृथिव्यौ च धारयति । केशीदं सर्वमभि विपश्यति, केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह ।

केशी अग्निं च विषं च द्यावापृथिव्यौ च धारयति = सूर्य अग्नि जल और द्यावापृथिवी को, धारण करते हैं। केशी इदं सर्वं अभिविपश्यति = सूर्य इस व्याप्त समस्त संसार को प्रकाश करते हैं। केशी इदम् ज्योतिः उच्यते = यही सूर्य रूप ज्योति केशी कहा जाता है। इति आदित्यम् आह = इस प्रकार यह मन्त्र आदित्य को केशी कह रहा है। विषम् इति उदकनाम = 'विष' यह जल का नाम है। शुद्ध्यर्थस्य = शुद्ध्यर्थक, विष्णाति = विपूर्वस्य स्नातेः = विपूर्वक 'ष्णा' धातु से,

विषम् = विष शब्द बना है। अर्थात् 'वि = विशेषेण स्नाति अनेन इति विषम् जलम्' इस विग्रह मे 'ष्णा शौचे' धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से ड प्रत्यय (अ), वि स्ना अ, पृषोदरादित्वात् ना का लोप और षत्व होने पर 'विष' शब्द बना है। जल का नाम है। क्योंकि, जल विशेष करके सब को शुद्ध करता है। वा = अथवा, विपूर्वस्य = विपूर्वक, सचते = षच् धातु से विष शब्द बना है। अर्थात् 'विशेषेण सच्यते स्नानपानार्थिभि. सेव्यते इति विषम् जलम्' इस विग्रह मे 'षच सेचने सेवने च' धातु से उक्त सूत्र से ड प्रत्यय, वि सच अ, डित्वात् टिलोप, और षत्व होने पर 'विष' शब्द बना है। जल का नाम है। क्योंकि, स्नान पान आदि के अर्थी लोग जल का सेवन करते हैं।

१५ – केशिनः।

केश शब्द के तीन अर्थ हैं। पूर्वोक्त रश्मि, धूम (धूवाँ) और रजःकण। केश वाला केशिन् कहा जाता है। रश्मि रूप केश वाला सूर्य, धूम रूप केश वाला अग्नि और रजःकण रूप केश वाला वायु है। अतः ये तीनों देवता केशिन् कहे जाते हैं। अत एव इस 'केशिनः' पद के तीन अर्थ हुए अग्नि देवता, वायु देवता और पूर्वोक्त सूर्य देवता। भाष्यकार इसी को कहते हैं—

अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते।

अथ = और, एते इतरे ज्योतिषी = ये इतर ज्योतियें, अपि = भी, केशिनी = केशी, उच्येते = कही जाती हैं।

धूमेनाग्निः।

धूमेन = धूम से, अग्निः = अग्नि।

रजसा च मध्यमः।

च = और, रजसा = रजः कण से, मध्यमः = मध्यम स्थान देवता वायु। अर्थात् धूम रूप केश युक्त पृथिवीस्थान अग्नि देवता और रजःकण रूप केश युक्त अन्तरिक्षस्थान वायु देवता भी केशी कहे जाते हैं। उन मे अग्नि अमूर्त होने से धूम से, वायु रूप रहित होने से ऊपर उड़े हुए रजः कण से और सूर्य जल से जाने जाते हैं।

तेषामेषा साधारणी भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षड्विंशः खण्डः ॥ १२-२६ ॥

तेषाम् = उन सूर्य अग्नि और वायु की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, साधारणी अर्थात् तीनों देवों की एक ही ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

**त्रयः केशिनं ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥**

ऋ. सं. २-३-२२-४४ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और तीन देवता हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। मन्त्रार्थ—त्रयः = अग्नि, सूर्य और वायु ये तीनों केशी, ऋतुथा = प्रत्येक ऋतुओं में समय समय पर, विचक्षते = अनेक प्रकार से भूमि को देखते हैं। भूमि पर अनुग्रह-दृष्टि रखते हैं। कौन कौन किस किस प्रकार से ? इसको कहते हैं-तेषाम् एकः = उनमें से एक केशी अग्नि, संवत्सरे = वर्षभर, वपते = छेदन करते हैं अर्थात् दाह के द्वारा पृथिवीस्थ केशस्थानीय ओषधिवनस्पतियों को नापित के समान छेदन करते हैं। जलाते रहते हैं। एकः = एक दूसरी केशी आदित्य, शचीभिः = अपने प्रकाश वृष्टि आदि कर्मों के द्वारा वर्षभर, विश्वम् = सारे संसार को अभिचष्टे = सर्व तरफ से अनुग्रह-दृष्टि से देखते हैं। एकस्य = एक तीसरे केशी वायु की, ध्राजिः = गति तो, ददृशे = दिखलाई पड़ती है, परन्तु, न रूपम् = रूप दिखलाई नहीं पड़ता है। उड़ते हुए रजः कण तृणादि देखने से वायु का अनुमान होता है। परन्तु नीरूप होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस ऋचा में तीनों केशी की स्तुति है। अतः यह तीनों की साधारण ऋचा है।

इस मन्त्र का भाष्य—

'त्रयः केशिनं ऋतुथा विचक्षते' काले काले अभिविपश्यन्ति 'संवत्सरे वपत एक एषाम्' इत्यग्निः पृथिवीं दहति सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यो गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य ।

त्रयः केशिनः = अग्नि, आदित्य और वायु वे तीनों केशी, ऋतुथा = काले काले = प्रत्येक ऋतुओं में समय पर, विचक्षते = अभिविपश्यन्ति = अनेक प्रकार से भूमि को देखते हैं। एषाम् एकः अग्निः = उन में से अर्थात् तीन केशियों में से एक केशी जो अग्नि है वह, संवत्सरे = वर्षभर, पृथिवीम् = पृथिवी का, वपते = दहति = छेदन करता है। अर्थात् दाह के द्वारा पृथिवीस्थ केशस्थानीय ओषधिवनस्पतियों को नापित (नाई) के समान छेदन करता है। दग्ध करता है। एकः आदित्यः = एक केशी जो आदित्य है वह, कर्मभिः = अपने प्रकाश वृष्टि आदि कर्मों के द्वारा, वर्ष भर, सर्वम् = समस्त ससार को, अभिपश्यति = सर्व ओर से दयार्द्रदृष्टि से, देखता है। एकस्य मध्यस्य = एक जो तीसरा केशी मध्यमदेव वायु है, उसकी, गतिः दृश्यते = गति देखी जाती है, न रूपम् = रूप नहीं।

१६ – वृषाकपिः ।

वृषाकपिः = अस्त अवस्थाक आदित्य का नाम वृषाकपि है। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद्वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः।

अथ = और, यद् = जब, आदित्य रश्मिभिः = अपनी रश्मियों से, भूतों को, अभिकम्पयन् = कंपाता हुआ, एति = जाता है, तद् = तब, वही आदित्य वृषाकपि = वृषाकम्पनः = वृषाकपि, भवति = हो जाता है। अतः सूर्यका नाम वृषाकपि है यह सिद्ध हुआ। क्योंकि, 'वृषाकपि' शब्द में 'वृष'का अर्थ है वरसाना और 'कपि'का अर्थ है कंपाना। आदित्य अवश्याय अर्थात् ओसों को वरसाने वाला और भूतों को कंपाने वाला है।

तस्यैषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः। १२-२७॥

तस्य = उस वृषाकपि आदित्यकी, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टाविंश खण्डः।

पुनरेहिं वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।

य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषिं पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

ऋ. सं. ८-४-४-२१॥

इस मन्त्र का इन्द्र ऋषि, पञ्चपदा पंक्ति छन्द और वृषाकपि देवता है। मन्त्रार्थ—आ कर चले गये अर्थात् उदय हो कर अस्त को प्राप्त वृषाकपि अवस्थाक आदित्य से इन्द्र कहते हैं— वृषाकपे = हे वृषाकपि रूप आदित्य! त्वम् = तुम, पुनः एहि = फिर आओ। तुम्हारे आने पर तुम्हारे लिये हम इन्द्र और इन्द्राणी, सुविता = उत्तमोत्तम कर्म, कल्पयावहै = करते हैं। यः स्वप्ननंशनः = जो उदय कालिक आदित्य अत एव स्वप्न नाशक आदित्य है वही तुम, अस्तम् = अस्तकालिक वृषाकपि हो। अतः जिस मार्ग से तुम अस्त हुए हो। एषः पथा = उसी मार्ग से, पुनः एषि = फिर आओ। उत्तमोत्तम कर्म करने से, इन्द्रः = इन्द्र (मैं), विश्वस्मात् = अन्य सर्व देवों से, उत्तरः = उत्तम हूँ। श्रेष्ठ हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

पुनरेहि वृषकपे सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनः स्वप्नाशयत्यादित्य उदयेन सोऽस्तमेति पथा पुनः सर्वस्मादिन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्।

वृषाकपे = हे वृषाकपि आदित्य! तुम, पुनः एहि = फिर आओ। गत दिवस के समान आज फिर उदित होओ। वः = तुम्हारे लिये हम, सुप्रसूतानि कर्माणि = उत्तम से उत्तम कर्म, कल्पयावहै = करते हैं। यः एषः आदित्यः = जो यह आदित्य, उदयेन = उदय से, स्वप्ननंशनः = स्वप्नान् नाशयति = स्वप्नों को नाश करते हैं, सः = वे ही, अस्तम् एति = अस्त को प्राप्त होते हैं। जो

आदित्य है वे ही वृषाकपि हैं । पुनः पथा = जिस मार्ग से कल उदय हुए थे उसी मार्ग से आज भी उदित होओ । सर्वस्मात् = सब से, इन्द्रः उत्तरः = इन्द्र श्रेष्ठ है । इसी लिये, तम् = उस को, आदित्यम् = आदित्य, एतद् = यह, ब्रूमः = कहते हैं ।

१७ – यमः ।

अस्तमयावस्थ (अस्तंगत) आदित्य का नाम यम है । भाष्यकार कहते है—

यमो व्याख्यातः ।

यमः = यम, व्याख्यातः = व्याख्यात है । अर्थात् इस की व्याख्या निरुक्त अ. १० ख. १९ में कर आये हैं । वहाँ मध्यम देव का और यहाँ अस्तंगत आदित्य का नाम है । अर्थात् 'यच्छति रश्मिभिः संगच्छते इति यमः आदित्यः' इस विग्रह में संगमनार्थक 'यम उपरमे' धातु से पचाद्यच् होने पर यम शब्द बना है । अस्तमय अवस्थाक सूर्य का नाम है । क्योंकि सूर्य किरणो के साथ गमन करता है ।

तस्यैषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः । १२-२८ ॥

तस्य = उस यम रूप आदित्य की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः ।

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥ऋ. सं. ८-७-२३-१ ॥

इस मन्त्र का यम गोत्रीय कुमार ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और यम देवता है । मन्त्रार्थ—यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे = जिस निर्मल दीप्ति वाला आदित्यमण्डल रूप वृक्ष में अथवा, पलाश वृक्ष के समान प्रकाश वाला आदित्यमण्डल रूप वृक्ष में, देवैः = दीप्ति युत किरणों के साथ, यमः = अस्त अवस्थाक आदित्य, संपिबते = अस्त काल मे अस्त को प्राप्त होता हुआ एकीभाव को प्राप्त होता है । अर्थात् रश्मियों के साथ एक हो कर अस्त हो जाता है । द्युलोक में पहुंच जाता है । अत्र = तत्र = वहाँ आदित्य रूप वृक्ष में, नः = हमारा, पिता = पालक तथा, विश्पति = प्रजाओं का पालक आदित्य देव, पुराणान् = पुराने अर्थात् हम से पहले के गये हुए उपासकों को, अनुवेनति = संप्रीणयतु = कामयतु = प्रीतिपूर्वक रक्षा करने की इच्छा करे । यह व्याख्या नैरुक्त पक्ष मे समझना चाहिये । ऐतिहासिक पक्ष में—

सुपलाशे = सुन्दर पत्रों से सुशोभित, यस्मिन् वृक्षे = जिस वृक्ष पर, देवैः = द्युलोक के देवों के साथ, यमः = यमराज, संपिबते = द्युलोक मे अपने घर जा कर खाते पीते हैं । नः = हमारे, विश्पतिः = नरपति, पिता = पिता की इच्छा है कि, अत्र = तत्र = उसी यमराज के स्थान में,

पुराणात् = पुर्वजों का मैं भी, अनुवेनति = साथी वनू। भाव यह है कि नैरुक्त पक्ष में यम का अर्थ आदित्य और ऐतिहासिक पक्ष मे यमराज है।

इस मन्त्र का भाष्य—

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये वापि वोपमार्थे स्यात् वृक्ष इव सुपलाश इति। वृक्षो व्रश्चनात्। पलाशं पलाशनात्। देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यस्तत्रनः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणानतु कामयेत।

यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे = जिस सुन्दर पत्र वाला वृक्ष मे, वा = अथवा, वृतक्षये स्थाने = पुण्यकृत् पुरुषों के निवास स्थान मे, अपिवा = अथवा, उपमार्थे स्यात् = उपमा अर्थ मे हो सकता है, जैसे—वृक्ष इव सुपलाशे इति = सुन्दर पत्र वाला वृक्ष के समान अपने सुख निवास में। व्रश्चनात् = अपनी गति से प्राणियों की आयु को छेदन (क्षीण) करने से, वृक्षः = आदित्य वृक्ष कहा जाता है। अर्थात् 'वृश्चति इति वृक्ष' इस विग्रह मे 'ओव्रश्चू छेदने' धातु से 'स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्' इस उणादि सूत्र से सक् (स) प्रत्यय, व्रश्च् स, 'वचिस्वपियजादीनांकिति' इस सूत्र से संप्रसारण पूर्वरूप, वृ्च् स, पृषोदरादित्वात् वृ चस्, शकार लोप, वृ च् स् 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादि सूत्र से पत्व, वृष् स, 'षढोः कः सि' इस सूत्र से षकार को ककार, 'आदेशप्रत्यययोः' इस सूत्र से षत्व, कष संयोगे क्षः होने पर वृक्ष शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य अपनी गति से सब प्राणियो की आयु को काटता है। क्षीण करता है। पलाशनात् = पलाशन से = खाये जाने से, पलाशम् = पलाश (पत्ता) कहा जाता है। अर्थात् 'परा अश्यते पश्वादिभिः खाद्यते इति पलाशम् पर्णम्' इस विग्रह में परा पूर्वक 'अश भोजने' धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से कर्म में घञ् (अ) प्रत्यय परा अश् अ, उपधा वृद्धि, पर आश् अ, सवर्ण दीर्घ, पराश, पृषोदरादित्वात् रेफ को लकार होने पर पलाश शब्द बना है। पत्ता का नाम है। क्योंकि, वह पशु आदि प्राणियो के द्वारा खाया जाता है। यमः = आदित्यः = सूर्य, देवैः रश्मिभिः = अपनी रश्मियो के साथ, सङ्गच्छते = मिल जाता है। तत्र = वहा, नः सर्वस्य = हम सब का, पाता वा = पालन करने वाला, वा = अथवा, पालयिता = सर्व प्रजाओ का रक्षक आदित्य = पुराणात् अनु = पुराने उपासकों के बाद, कामयेत = हमारी रक्षा करने की कामना करे।

१८ — अज एकपात्।

अस्त अवस्था को प्राप्त आदित्य का नाम 'अज एकपात्' है। 'अज एकपात्' यह समस्त एकपद नहीं किन्तु दो पद पृथक् है-अज और एकपाद्। 'अजति गच्छति इति अजः आदित्यः' इस विग्रह मे 'अजगतिक्षेपणयोः' धातु से पचाद्यच्, अज् अ, 'अजेर्व्यघञपोः' इस सूत्र से प्राप्त 'वी' आदेश का बाहुलकात् अभाव होने पर अज शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य अन्तरिक्ष में गमन करता है। 'एकेन पादेन पाति रक्षति इति एकपाद्' इस विग्रह में एक शब्द और पाद शब्द उपपद "पा रक्षणे" धातु से "क्विप् च" इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, एक पाद पा, पृषोदरादित्वात् 'एक पाद पा' इतने के स्थान में एकपाद आदेश, 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास न होने पर भी छान्दसत्वात्

पाद के अकार का लोप होने पर 'एकपाद्' शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, आदित्य एक ही पाद से = ज्योति रूप अंश विशेष से प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करता है। 'अजश्चासौ एकपाच्च इति अजएकपात्' इस विग्रह मे अज शब्द का और एकपात् शब्द का कर्मधारय समास होने पर 'अजएकपात्' शब्द बना है। गमन करने वाला जो ज्योति रूप एक पाद से सर्वत्रप्रविष्ट हो कर सब की रक्षा करने वाला आदित्य वह अजएकपात् कहा जाता है। इसी अर्थ को कहते हैं—

अजएकपाद् अजन एकः पादः ।

अजः = अजनः = गमन करने वाला, एकपात् = एकः पादः = ब्रह्म का एक पाद आदित्य कहा जाता है। आदित्य ब्रह्म का एक पाद है इस को 'अग्निः पादो, वायुः पादः, आदित्यः पादो, दिशः पादः" इत्यादि श्रुतियां कहती है।

एकेन पादेन पातीति वा ।

वा = अथवा, एकेन पादेन = अंश रूप एक पाद के द्वारा, पाति = सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करता है, और अजन = चलने वाला है इति = इस लिये आदित्य अज एकपाद् कहा जाता है।

एकेन पादेन पिबतीति वा ।

वा = अथवा, एकेन पादेन = एक पाद से = ज्योति रूप एक अंश से सर्व रसों को पिबति = पीता है = किरणों के द्वारा खींच लेता है और अजन = चलने वाला है, इति = इस लिये भी अज एकपात् आदित्य कहा जाता है। अर्थात् 'एकेन पादेन पिबति इति एकपाद्' इस विग्रह में एक शब्द उपपद 'पा पाने' धातु से 'क्विप् च' इस सूत्र से कर्तरि क्विप्, सर्वापहारी लोप, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्र से बाहुलकात् तुक् आगम होने से 'एकपत्' शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योकि, वह एक अंश से सर्व रसों का पान करता है। रश्मि द्वारा सब रसों को खीच लेता है।

एकोऽस्य पाद इति वा ।

अस्य = इस आदित्य के, एकः पादः = एक पाद है और अजनः = चलने वाला है, इति = इस लिये आदित्य अजएकपाद् कहा जाता है। 'एकः पादो यस्य सः एकपात्' इस विग्रह में एक शब्द और पाद शब्द का बहुव्रीहि समास और आर्षत्वात् पाद के दकार के अकार का लोप होने पर एकपात् शब्द बना है। आदित्यरूप ब्रह्म जीव रूप एक पाद से सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट है।

उक्तार्थ में निगम प्रमाण देते हैं—

"एकं पादं नोत्खिदति" इत्यपि निगमो भवति ।

आदित्य, एकम् पादम् = एक पाद को, न उत्खिदति = उठाता नहीं है। अर्थात् आदित्य रूप ब्रह्म जीव रूप एक पाद से जो समस्त संसार में प्रविष्ट है उस को उखाड़ता नहीं है। इति अपि = यह भी, निगमः = वेद मन्त्र उक्तार्थ में प्रमाण, भवति = है।

सम्पूर्ण मन्त्र—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।

यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहःस्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥

अथर्व सं. ११-४-२१ ॥

मन्त्रार्थ—हंसः = गतिशील आदित्य, सलिलात् = अन्तरिक्ष जल से उच्चरन् = उदय होता हुआ, एकं पादम् = एक पाद को, न उत्खिदति = नहीं उठाता है। अङ्ग = हे अङ्ग! हे प्रिय!, यद् = यदि, स. = वह, तम् = उस एक पैर को, उत्खिदेद् = उठा ले, तो, न एव अद्य श्वः स्यात् = न आज हो न कल हो। न रात्रिः न अहः स्यात् = न रात्रि हो न दिन ही हो। न व्युच्छेत् कदाचन = और न कभी उषा हो। इस से यह सिद्ध हुआ कि, आदित्य एक पैर से सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट है।

तस्यैष निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः । १२-२९ ॥

तस्य = उस अजएकपात् का, एषः = यह, वैश्वदेव्याम् ऋचि = विश्वदेवों की ऋचा में, निपातः = निक्षेप, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ॥

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः ।

विश्वे देवासः शृणवन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या ॥

ऋ. सं ८-२-११-१३ ॥

इस मन्त्र का वसुकपुत्र वसुकर्ण ऋषि, जगती छन्द और विश्वदेव देवता है। मन्त्रार्थ—पावीरवी तन्यतुः = आयुधवाली स्तनयित्री माध्यमिकी मधुरा वाक्, दिवः धर्ता अजएकपात् = द्युलोक का धारक सतत अवस्थाक के आदित्य, सिन्धुः समुद्रियः आपः = सिन्धु आकाशीय जल, विश्वेदेवासः = विश्वदेव और, पुरन्ध्या सरस्वती = अनेक कर्मों तथा ज्ञानों से युक्त सरस्वती देवी, मे वचांसि शृणवन् = मेरे वचन (स्तुति) को सुनें। इस विश्वदेवों की ऋचा में अजएकपात् का निपात है। ऋचा में अकेला स्वतन्त्रदेवता न हो किन्तु अन्य देवों के बीच में पाठ हो = उस पाठ को निपात (प्रक्षेप) कहते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

पविः शल्यो भवति, यद्विपुनाति कायं, तद्वत्पवीरमायुधं, तद्वानिन्द्रः पवीरवान् ।

पविः = पवि, शल्यः = शल्य, भवति, = होता है। जिसे लोक भाषामें फल कहते है। अर्थात् जो लोहे का बना हुआ धारवाला बाण के अग्र में लगा हुआ होता है वह शल्य कहा जाता है। उसीका पर्याय पवि शब्द है। जिसको वज्र भी कहते हैं। यत् = जो पवि, कायम् = शरीर को, विपुनाति = विदारण कर देता है। शरीर में जिस जगह लगता है वहां फाड़ देता है। तत् वत् = उस पवि वाला जो, आयुधम् = आयुध (शस्त्र विशेष) वह, पवीरम् = पवीर कहा जाता है। तद्वान् = उस पवीर नामक आयुध वाला, इन्द्रः = इन्द्रः, पवीरवान् = पवीरवान् कहा जाता है। अर्थात् 'विपुनाति कायम् विदारयति इति पविः' इस विग्रह में धातूनामनेकार्थत्वात् विदारणार्थक 'पूञ् पवने' धातु से 'अच इः' इस उणादि सूत्र से इ प्रत्यय गुण पो इ अवादेश होने पर पवि शब्द बना है। शल्य का नाम है। क्योंकि वह शरीर को फ़ाड़ देता है। पविः अस्यास्मिन्नस्तीति पवीरम्' इस विग्रह में पवि शब्द से मत्वर्थीय र प्रत्यय और छान्दसत्वात् दीर्घ होने पर 'पवीर' शब्द बना है। पवि शल्य वाला आयुध विशेष का नाम है। और 'पवीरम् अस्यास्मिन् अस्तीति पवीरवान्' इस विग्रह में पवीर शब्द से भी 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्र से मतुप् (मत्) प्रत्यय, पवीरमत्, "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इस सूत्र से मतुप् के मकार को वकार होने पर पवीरवत् शब्द बना है। 'पवीरवान्' यह प्रथमा एकवचन का रूप है। इन्द्र का नाम है। क्योंकि वह पवीर नामक आयुध वाला है। इस अर्थ में प्रमाण देते हैं—

"अतितस्थौ पवीरवान्" इत्यपि निगमो भवति ।

पवीरवान् = पवीर नामक आयुध वाला। इन्द्र शत्रुओं को दबा कर, अतितस्थौ = खड़ा हुआ है। इति अपि = यह भी, निगमः = मन्त्र उक्तार्थ में प्रमाण, भवति है। सम्पूर्ण मन्त्र—

यो जनान् महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान् ।

उतापवीरवान् युधा ॥ ऋ. स. ८-१-२४-३ ॥

इस मन्त्र का विप्रबन्धु ऋषि, गायत्री छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—यः = वह इन्द्र, पवीरवान् उत अपवीरवान् = आयुध वाला हो वा आयुध वाला न हो, सिंहः महिषान् इव = सिंह भैंसों के समान अर्थात् जैसे सिंह भैंसो को मार गिराता है वैसे ही, जनान् = अपने विरोधी शत्रु जनों को, युधा = युध करके मार गिरता है। और मार कर, अतितस्थौ = खड़ा रहता है। इस में पवीरवान् का अर्थ आयुधारी इन्द्र है।

तद्देवता वाक् पावीरवी। पावीरवी च दिव्या वाक्। तन्यस्तुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः। अजश्चैकपादिवोधारयिता च सिन्धुश्चापश्च समुद्रियाश्च सर्वे च देवाः सरस्वती च सह पुरन्ध्या स्तुत्या प्रयुक्तानि धीभिः कर्मभिर्युक्तानि शृण्वन्तु वचनानीमानीति ॥

तद्देवता = इन्द्रदेवताक, वाक् = माध्यमिका वाणी, पावीरवी = पावीरवी = आयुधवाली कहलाती है। अर्थात् 'पवीरवान् देवता अस्य इति पावीरवी' इस विग्रह में पवीरवत् शब्द से 'साऽस्य देवता' इस सूत्र से अण् (अ) प्रत्यय, पवीरवत् अ, 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्र से आदि अच् वृद्धि, पावीरवत् अ, छान्दसत्वात् टि लोप, पावीरव् अ, पावीरव 'टिड्ढाणञ् । । ।' इत्यादि सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय. अलोप होने पर 'पावीरवी' शब्द बना है। माध्यमिका वाक् का नाम है। क्योंकि, उसका देवता पवीरवान् इन्द्र है। इसी को स्पष्ट करते हैं—दिव्या = द्युलोक की, वाक् = वाणी, पावीरवी च = पावीरवी कहलाती है। अन्यस्याः वाचः = अन्य मनुष्य आदि प्राणी की वाणी को, तन्यतु = तनित्री = विस्तार करनेवाली है। दिवः धारयिता अजएकपात् = द्युलोक का धारण करने वाला आदित्य, सिन्धुश्च = सिन्धु नद, आपश्च = जल, समुद्रियाश्च = समुद्र के जल, च = और, सर्वेदेवाः = सब देवता, च = एवं, सरस्वती = सरस्वती देवी, पुरन्ध्या = स्तुत्या = स्तुति से, प्रयुक्तानि = प्रेरित, धीभिः = कर्मभिः सह = कर्म के साथ, युक्तानि = युक्त, इमानि वचनानि = हमारे इन वचनों को, शृण्वन्तु = सुनें।

१९ – पृथिवी ।

द्युलोक का नाम पृथिवी है। भाष्यकार कहते हैं—

पृथिवी – व्याख्याता ।

पृथिवी = पृथिवी, व्याख्याता = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या निरुक्त अ. ११ खं ३७ पद २६में की गई है। वहां माध्यमिका देवता और यहाँ द्युलोक अर्थ है। इतना ही भेद है। अर्थात् 'प्रथते इति पृथिवी ? इस विग्रह में 'प्रथप्रख्याने' धातु से 'प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च' इस उणादि सूत्र से षिवन् (इव) प्रत्यय, सप्रसारण, पृथ् इव, पृथिव, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से ङीप् (ई), अलोप होने पर पृथिवी शब्द बना है। द्युलोक का नाम है। क्योंकि वह प्रख्यान किया हुआ होता है।

तस्या एष निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रिंशः खण्डः ।। १२–३० ।।

तस्याः = उस पृथिवीका, एषः = यह, ऐन्द्राग्न्याम् ऋचि = इन्द्राग्नी देवताक ऋचा में, निपातः = प्रक्षेप, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ।

यदि॑न्द्राग्नी पर॒मस्यां॑ पृथि॒व्यां म॑ध्य॒मस्या॑मव॒मस्या॑मु॒त स्थः ।
अतः॒ परि॑ वृषणा॒वा हि या॒तमथा॒ सोम॑स्य पिबतं सु॒तस्य॑ ॥

ऋ. सं. १–७–२७–१० ॥

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्राग्नी देवता है। मन्त्रार्थ—इन्द्राग्नी = हे इन्द्र ! और हे अग्नि !, एवं, वृषणावा = हे अभीष्ट वरसाने वाले इन्द्राग्नी !, तुम लोग, यत् = यदि, परमस्याम् पृथिव्याम् = द्युलोक रूप उच्च पृथिवी पर, मध्यमस्याम् पृथिव्याम् = अन्तरिक्ष रूप मध्य पृथिवी पर, उत = और, अवस्याम् पृथिव्याम् = भूलोक रूप पृथिवी पर, स्थः = अवस्थान करते हो = रहते हो, तो, अतः परि = उसके बाद उन सब स्थानों से, यातम् = आओ। अथ = और आकर, सुतस्य सोमस्य = अभिषुत = सोम को, पिवतम् = पीयो। सोम का पान करो। इस इन्द्राग्नी देवताक ऋचा में पृथिवीका निपात है।

इति सा निगदव्याख्याता ।

इति सा = यह उक्त ऋचा, निगदव्याख्याता = पाठमात्र से व्याख्यात है। सुगम है। अतः व्याख्या करने की आवश्यता नहीं।

२० – समुद्रः ।

उत्तमस्थान आदित्य का नाम समुद्र है। यास्क कहते है—

समुद्रो व्याख्यातः ।

समुद्रः = समुद्र, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. २ खं. २० में पांच प्रकार से की गई है। वही व्याख्या यहा भी समझना चाहिये। वहाँ सागर और अन्तरिक्ष दो अर्थ हैं और यहाँ आदित्य। इतना ही भेद है।

तस्यैष निपातो भवति पावमान्यामृचि ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकत्रिंशः खण्डः ॥ १२-३१ ॥

तस्य = उस समुद्र का, एषः = यह, पावमान्याम् ऋचि = पवमान देवताक ऋचा में, निपातः भवति = निपात है। पवमान देवताक ऋचा में समुद्र का भी पाठ है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः ।

प॒वित्र॑वन्तः॒ परि॒ वाच॑मासते पि॒तैषां॑ प्र॒त्नो अ॒भि र॑क्षति व्र॒तम् ।
म॒हः स॑मु॒द्रं वरु॑णस्ति॒रो द॑धे॒ धीरा॑ इच्छेकु॒र्धरु॑णेष्वा॒रभ॑म् ॥

ऋ. सं. ७-२-२९-३ ॥

इस मन्त्र का पवित्र ऋषि, जगती छन्द और पवमान सोम देवता है। मन्त्रार्थ—पवित्रवन्तः = रश्मियों वाले मध्यम लोक के देवगण, वाचम् = मध्यम लोक की वाणी को, परि = चारों ओर से घेर कर, आसते = स्थित हैं। प्रत्नः = पुराना, पिता = पिता, वरुणः = मध्यम देव वरुण, एषाम् = इनका, व्रतम् = अधिकार युक्त कर्म को, अभिरक्षति = रक्षा करता है। महः = महान्, वरुणः =

वरुण देव, समुद्रम् = आदित्य को मेघजाल से, तिरोदधे = आवृत कर देता है अर्थात् ढाक देता है। तभी, धीराः = बुद्धिमान् लोग, धरुणेषु = जलो मे कृषि कर्म वा यज्ञादि वैदिक कर्म को, आरभम् शेकुः = आरम्भ कर सकते हैं। इस पवमान सोम देवताक मन्त्र मे समुद्र का निपात (प्रक्षेप) है। जिसका अर्थ आदित्य है।

इस मन्त्र का भाष्य—

पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासन्ते माध्यमिकां वाचम्। मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म, महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधात्यथ धीराः शक्नुवन्ति धरुणेषूदकेषु कर्मण आरभमारब्धुम्।

पवित्रवन्तः = रश्मिवन्तः माध्यमिकाः देवगणाः = रश्मिवाले मध्यम लोक के देवगण, माध्यमिकाम् वचम् = मध्यम लोक की वाणी को, पर्यासन्ते = सर्व तरफ से घेर कर स्थित हैं। प्रत्नः = पुराणः = पुराना, पिता = पिता, मध्यमः = मध्यमदेव वरुण, एषाम् = इनका, व्रतम् = कर्म = अधिकार युक्त कर्म की, अभिरक्षति = रक्षा करता है। महः = महान्, वरुणः = वरुणदेव, समुद्रम् = आदित्य को मेघ जाल से, तिरः = अन्तर दधाति = ढाक देता है। अथ = उसके पश्चात्, धीराः = बुद्धिमान् लोग, धरुणेषु = उदकेषु = जलो मे, कर्मणः = कर्म को, आरभम् = आरब्धुम् शक्नुवन्ति = आरम्भ कर सकते हैं।

अजएकपाद् व्याख्यातः। पृथिवी व्याख्याता। समुद्रो व्याख्यातः। तेषामेष निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः । १२-३२ ॥

अजएकपात् व्याख्यात = अजएकपाद् को व्याख्या हो चुकी है। पृथिवी व्याख्याता = पृथिवी की व्याख्या भी हो चुकी है। समुद्रः व्याख्यात = समुद्र की व्याख्या भी हो चुकी है। तेषाम् = उनका, एषः = यह, अपरस्याम् बहुदेवतायाम् ऋचि = दूसरी बहुदेवताक ऋचा मे, निपातः भवति = निपात है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः ॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥

ऋ स ४-८-१०-१४ ॥

इस मन्त्र का ऋजिश्वा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और नाना देवता है। मन्त्रार्थ—उत = और भी, अहिर्बुध्न्यः = अहिर्बुध्न्य नामक देव, नः = हमारी स्तुति को, शृणोतु = सुनें। अजएकपात् = अजएकपात्, पृथिवी, समुद्रः = समुद्र और, विश्वेदेवा = अन्य सब देव, ऋतावृधः = सत्य वा यज्ञ के

बढाते हैं। मन्त्रा. हुवानाः = यजुर्मन्त्रों से आहूत, मन्त्राः स्तुताः = साम मन्त्रों से स्तुत, कविशस्ता = क्रान्तदर्शी एवं मेधावी पुरुषों से शस्त्र नामक मन्त्रों के द्वारा स्तुति किये गये देवगण, नः = हमारी, अवन्तु = रक्षा करें। इस बहुदेवताक ऋचा में यथोक्त अजएकपात् पृथिवी और समुद्र इन तीनों का निपात है।

इस मन्त्र का भाष्य—

: अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजश्चैकपात्पृथिवी च समुद्रश्च, सर्वे च देवाः सत्य वृधो वा यज्ञ वृधो वा हूयमाना मन्त्रैः स्तुता मन्त्राः, कविशस्ता अवन्तु मेधाविशस्ताः॥

अपिच = और भी, अहिर्बुध्न्यः = अहिर्बुध्न्य नामक देव, नः = हमारी स्तुति को, शृणोतु = सुनें। च = और, अजः एकपात् = अजएकपात् देव, पृथिवी = पृथिवी, समुद्र = समुद्र सर्वेच देवाः = और अन्य सब देव, सत्यवृधः वा यज्ञवृधः वा = सत्य वा = यज्ञ के बढाने वाले हैं। मन्त्रैः हूयमानाः = यजुर्मन्त्रों से आहूत और, मन्त्राःस्तुताः = साम मन्त्रों से स्तुत, कविशस्ताः = मेधाविशस्ताः = मेधावी पुरुषों से शस्त्र नामक मन्त्रों के द्वारा स्तुति किये गये देवगण, नः अवन्तु = हमारी रक्षा करें।

२१ – दध्यङ्।

द्युस्थान के प्रकरण में पाठ होने के कारण दध्यङ् द्युस्थान आदित्यका नाम है। भाष्यकार इस का निर्वचन करते हैं—

दध्यङ्–प्रत्यक्तोध्यानमितिवा, प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति वा।

ध्यानम् = ध्यान के प्रति, प्रत्यक्तः = गया हुआ होता है, इति वा = इस कारण से अथवा ध्यानम् = ध्यान, अस्मिन् = इस में, प्रत्यक्तम् = गया हुआ होता है, इति वा = इस कारण से, दध्यङ् = आदित्य दध्यङ् कहा जाता है। 'ध्यानं ज्ञानं अञ्चति इति दध्यङ् आदित्यः' इस विग्रह में ध्यान शब्द उपपद 'अञ्चु गतिपूजनयोः' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्' इत्यादि सूत्र से, कर्तरि क्विन्, सर्वापहारी लोप, ध्यान अञ्च्, पृषोदरादित्वात् ध्यानका दधिभाव, दधि अञ्च्, इको यणचि' इस सूत्र से यण्, दध्यञ्च्, 'नाञ्चेः पूजायाम्' इस सूत्र से नलोप निषेधे संयोगान्त लोप, दध्यन्, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इस सूत्र से कुत्वेन ङकार होने पर 'दध्यङ्' शब्द बना है। आदित्यका नाम है। क्योंकि, आदित्य प्राणिमात्र के कृत्याकृत्य का प्रकाशन करता है। अथवा 'ध्यानं प्रत्यक्तम् अस्मिन् इति दध्यङ् आदित्य इस विग्रह में पूर्ववत् ध्यान शब्द उपपद अञ्चु धातु से क्विन्, दधिभाव यण् संयोगान्त लोप और कुत्व होने पर दध्यङ् शब्द बना है। आदित्यका ही नाम है। क्योंकि, आदित्य में लोकपाल होने से सर्वविषयक ज्ञान होता है। उक्त निरुक्त व क्य में ध्या का अर्थ ज्ञान ही है। दध्यङ्, अथर्वा और मनु इन तीनों का एक ही 'याम‍थर्वा' इत्यादि अग्रिम मन्त्र है।

२२ – अथर्वा।

अथर्वा आदित्य का नाम है। इस का निर्वचन नि. अ. ११ खं. १८ पद १३ में हो चुका है। 'थर्वति इति थर्वा, न थर्वा इति अथर्वा' इस विग्रह में गत्यर्थक नैरुक्त थर्व धातु से

'कनिन् युवृषितक्षिराजि' इत्यादि उणादि सूत्र से कनिन् (अन्) प्रत्यय होने पर थर्वन् शब्द बना है। नञ् और थर्वन् का नञ् समास होने पर अथर्वन् शब्द बना है। आदित्य का नाम है। आदित्य अधिकारी देव है। यह अपने अधिकार से कभी भी थर्व = च्युत नहीं होता है। अतः अथर्वा कहा जाता है।

भाष्यकार कहते हैं—

अथर्वा व्याख्यातः ।

अथर्वा = अथर्वन् शब्द, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. ११ खं. १८ में हो चुकी है। वहाँ मध्यमदेव अर्थ है और यहाँ आदित्य। इतना ही अन्तर है।

२३ – मनुः ।

आदित्य का नाम मनु है। भाष्यकार निर्वचन करते हैं—

मनुर्मननात् ।

मननात् = मनन करने से = सब को जानने से आदित्य मनुः = मनु कहा जाता है। अर्थात् 'मन्यते इति मनुः आदित्यः' इस विग्रह में 'मन ज्ञाने' धातु से 'शृस्वृस्निहि त्रप्यासिवसिहनिक्लिदि-बन्धिमनिभ्यश्च' इस उणादि सूत्र से उ प्रत्यय होने पर 'मनु' शब्द बना है। आदित्य का नाम है। क्योंकि, वह सब को जानता है = प्रकाश करता है।

तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः ॥ १२-३३ ॥

तेषाम् = उन दध्यङ् अथर्वा और मनु का, एषः = यह, ऐन्द्र्याम् ऋचि = इन्द्र की ऋचा में, निपात. = निपात रूप से पाठ, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः ॥

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्रउक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

ऋ. सं. १-५-३१-१६ ॥

इस मन्त्र का गोतम ऋषि, पञ्चपदा पंक्ति छन्द और इन्द्र देवता है। मन्त्रार्थ—अथर्वा = अथर्वारूप आदित्य पिता = मनुष्यों का पिता, मनुः = मनुरूप आदित्य और, दध्यङ् = दध्यङ्रूप आदित्य, याम् = जिस, धियम् = कर्म को, अत्नत = करते हैं, तस्मिन् = उसके होने पर, इन्द्रे = इन्द्रदेव में, पूर्वथा = पूर्व के वसिष्ठादि ऋषियों के समान, ब्रह्माणि = अन्न और, उक्था = उक्थ नामक मन्त्रात्मक वाक्, समग्मत = प्राप्त हों। जिस से परमेश्वर का, अर्चन् = पूजन करते हुए,

स्वराज्यम् = अपने राज्य का, अनु = अनुष्ठान करे । शास्त्र की मर्यादा के अनुसार वर्तन करें। इस प्रकार इस इन्द्रदेवताक ऋचा में दध्यङ्, अथर्वा और मनु का निपात है।

इस मन्त्र का भाष्य—

यामथर्वा च मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियमनिपत। तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्तामर्चन्योनूपास्ते स्वराज्यम्।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः ।। १२-३४ ।।

अथर्वा च = अथर्वा मानवानाम् पिता मनुश्च = मनुष्यों का पिता मनु और, दध्यङ् च = दध्यङ्, याम् = धियम् = जिस कर्म को, अनिपत = करते हैं, तस्मिन् = उसके होने पर, ब्रह्माणि = कर्माणि = वेदोक्त कर्म, च = और उक्थानि = उक्थ शस्त्र, पूर्वेन्द्र = पूर्व इन्द्र के समान, सङ्गच्छन्ताम् = प्राप्त हों। जिस से परमात्मा का, अर्चन् = अर्चन करते हुए, यः = जो इन्द्र, स्वराज्यम् = अपने राज्य का, अनूपास्ते = अनुष्ठान करे।

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्ड ।।

अथातो द्युस्थाना देवगणाः।

अथ = द्युस्थान देवताओं के निर्वचन के अनन्तर, अतः = यहाँ से, द्युस्थानाः = द्युस्थान के, देवगणाः = देवसमूहों का निर्वचन किया जाता है। अर्थात् आरम्भ से लेकर यहां तक एक एक देवता का निर्वचन किया गया। इसी लिये वे सब एकवचनान्त थे। अब यहा मे जितने पद आने वाले हैं वे सब देवगण (समूह) वाचक आयेगे। अत एवं सब बहुवचनान्त आवेंगे। जैसे 'आदित्याः' यह पद बहुवचनान्त आयगा। वह एक आदित्य वाचक नही किन्तु मित्रादि आदित्य का एक गण उसका वाचक आयगा। वैसे ही अन्य पदों को भी समझना चाहिये।

तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति।

तेषाम् = उन में, आदित्याः = आदित्य देवगण, प्रथमागामिनः = प्रथम आने वाले, भवन्ति = हैं।

२४ – आदित्याः।

आदित्य गण अर्थात् आदित्य समूह का नाम आदित्य है। भाष्यकार कहते हैं—

आदित्या व्याख्याताः।

आदित्याः = आदित्य, व्याख्याताः = व्याख्यात है। अर्थात् इसकी व्याख्या नि. अ. २ ख. १३ में नीचे कर आये हैं। अर्थात् 'आदत्ते रसान् इति आदित्यः' इस विग्रह मे आङ् पूर्वक 'डुदाञ् दाने' धातु से उणादि अथवा नैरुक्त डित्य (इत्य) प्रत्यय और डित्वात् टिलोप होने पर आदित्य शब्द बना है। सूर्यका नाम है। इस के अतिरिक्त और भी निर्वचन वहां किये हैं। वहीं देखना चाहिये।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः ॥ १२-३५ ॥

तेषाम् = उन आदित्यों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः ।

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि ।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥

ऋ. सं. २-७-६-१ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद के पुत्र कूर्म ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आदित्य देवता है। मन्त्रार्थ— होता कहता है कि, मैं, राजभ्यः = बहुशोभमान, आदित्येभ्यः = आदित्य देवगण के लिये, घृतस्नूः = घृत को झरने वाली, इमाः गिरः = ये जो मन्त्र रूप वाणियें हैं उन से, सनात् = बहुत काल तक, जुह्वा = जुहू नामक पात्र से, जुहोमि = होम करता हूं। नः = हमारी स्तुति रूप वाणियों को, मित्रः = मित्र देव, अर्यमा = अर्यमा देव, भगः = भगदेव, वरुणः = वरुण देव, दक्षः = दक्षदेव तुविजातः = बहुरूपसे उत्पन्न विजात देव और, अंशः = अंशदेव, शृणोतु = सुनें। इस ऋचा में 'आदित्येभ्यः' यह बहुवचनान्त है। अतः इसका अर्थ एक आदित्य नहीं किन्तु आदित्यगण है। जो मन्त्रोक्त मित्रादि हैं। मित्रादि सब अदिति के पुत्र होने से आदित्य कहे जाते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

घृतस्नूर्घृतप्रस्नाविन्यो घृतप्रस्नविण्यो घृतसानिन्यो घृतसारिण्य इति वा, आहुतीरादित्येभ्यश्चिरं जुह्वा जुहोमि, चिरं जीवनाय राजभ्य इति वा, शृणोतु न इमा गिरो मित्रश्चार्यमाच भगश्च बहुजातश्च धाता, दक्षो वरुणोंऽशश्च ।

घृतस्नूः = घृतप्रस्नाविन्यः = घृत को झरने वाली, घृतप्रस्नविण्यः = घृत को बहाने वाली, घृतसानिन्यः = घृत को चलाने वाली, घृतसारिण्यः = घृत को बांटने वाली जो, आहुतीः = आहुतियों को, आदित्येभ्यः = आदित्यों के लिये, चिरम् = बहुकाल पर्यन्त, जुह्वा = जुहू नामक पात्र से, जुहोमि = होम करता हूँ। अथवा, चिरम् जीवनाय = बहुत काल तक जीने के लिये होम करता हूँ। इति वा = अथवा, राजभ्यः = शोभमान आदित्यों के लिये होम करता हूं। मित्रश्च = मित्र, अर्यमा च = अर्यमा, भगश्च = भग, बहुजातश्च धाता = बहुजात = बहुतरूप से उत्पन्न हुआ धाता, दक्षः = दक्ष, वरुणः = वरुण, अंशश्च = और अंश ये सब, नः = हमारी, इमाः गिरः = इन स्तुतियों को, शृणोतु = सुनें।

अंशः — अंशुना व्याख्यातः ।

अंशः = अंश शब्द, अंशुना = अंशु शब्द से, व्याख्यातः = व्याख्यात है। अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. २ खं. ५ में हो चुकी है।

२५ — सप्त ऋषयः ।

आदित्य की सात रश्मिगण का नाम सप्त ऋषि है। अथवा मन सहित छः इन्द्रिय और सप्तम विद्या इन सात इन्द्रियगण का नाम सप्त ऋषि है। भाष्यकार कहते हैं—

सप्त ऋषयो व्याख्याताः ।

सप्त ऋषयः = सप्त ऋषि, व्याख्याताः = व्याख्यात हैं। अर्थात् इन की व्याख्या नि. अ. १० खं. २९ में कर आये हैं। उन में सप्तन् शब्द का नि. ४–२६ में 'सप्त सप्ता संख्या' इस पंक्ति से और ऋषि शब्द नि. २–११ में 'ऋषिर्दर्शनात्' इस पंक्ति से निर्वचन किया गया है। वहीं देखना चाहिये।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याय षट्त्रिंशः खण्डः ॥ १२–३६ ॥

तेषाम् = उन सप्त ऋषियों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः ।

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

य. वा. सं. अ. ३४, मं. ५५ ॥

इस मन्त्र का कण्व ऋषि, बृहती छन्द और ब्रह्मणस्पति देवता है। मन्त्रार्थ—इस मन्त्र के भाष्यकार दो अर्थ करते हैं। अधिदेव और अध्यात्म। अधिदेव पक्ष में 'सप्त ऋषयः' का अर्थ आदित्य रश्मियां और अध्यात्म पक्ष में इन्द्रियां हैं। उन में अधिदेव अर्थ—सप्त ऋषयः = आदित्य की सात रश्मियां, शरीरे = आदित्य रूप शरीर में, प्रतिहिताः = एक एक करके निहित (रखी हुई) हैं। सप्त = वे ही सात (न अधिक न कम) सदम् = संवत्सर को, अप्रमादम् = प्रमाद न करते हुए अर्थात् अपने कर्म को न छोड़ते हुए, रक्षन्ति = रक्षा करती हैं और सप्त = सात ही, आप = व्यापन स्वभाव रश्मि मे, स्वपतः = सोते हुए से, लोकम् = लोक को, ईयुः = चली जाती हैं। तत्र = उस आदित्यमण्डल में, अस्वप्नजौ = नहीं सोने वाले, सत्रसदौ = यजमानों के सत्र में बैठने वाले, देवौ = वायु और आदित्य दो देव, जागृतः = जागते रहते हैं। अध्यात्म अर्थ—

सप्तऋषयः = बाह्य आभ्यन्तर मिलकर छ इन्द्रिय और सातवी विद्या, शरीरे = प्राणियो के शरीर रूप आत्मा मे, प्रतिहिताः = निहित (रखी हुई) हैं। सप्त = वे ही सात, सदम् = शरीर को, अप्रमादम् = प्रमाद न करते हुए, रक्षन्ति = रक्षा करती हैं। सप्त = सातो, आप = व्यापने वालो, स्वपत. = सोते हुए प्राणियो के, लोकम् = अस्त हुए आत्मारूपी लोक को ईयु. = प्राप्त होती हैं। तत्र = वहाँ इस शरीर मे, अस्वप्नजो = नहीं सोने वाले एव, सत्रसदौ = ज्ञान और यज्ञ मे बैठने वाले, देवौ = प्राज्ञ जीवात्मा और तैजस प्राण वायु, जागृत. = जागते रहते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मय आदित्ये। सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम्। संवत्सरमप्रमाद्यन्तः। सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्त्यत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यावित्यधिदैवतम्।

सप्तऋषय. = रश्मयः = सात रश्मियाँ, शरीरे = आदित्ये = आदित्य मे निहित हैं। सप्त = वे ही सात, सदम् = सवत्सरम् = सवत्सर को, अप्रमादम् = अप्रमाद्यन्त = प्रमाद न करते हुए। रक्षन्ति = रक्षा करती हैं। ते एव सप्त अपनाः = वे ही सात व्यापनशील रश्मियाँ, स्वपत = सोते हुए के जैसा, लोकम् = अस्तमितम्, आदित्यम् = अस्त को प्राप्त हुए आदित्य को, यन्ति = प्राप्त होती हैं। अत्र = इस आदित्य मण्डल मे, अस्वप्नजो = नही सोने वाले, च = और, सत्रसदौ = यजमानो के सत्र मे बैठने वाले, देवौ = वाय्वादित्यौ = वायु और आदित्य देव, जागृत. = जागते रहते हैं। इति = यह, अधिदैवतम् = अधिदैवत अर्थ है। अर्थात् इस मे देवता विषयक अर्थ है।

अथाध्यात्मम्—सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। षडिन्द्रियाणि विद्यासप्तमानि, आत्मनि। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। शरीरमप्रमाद्यन्ति, सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमित मात्मानं यन्त्यत्र जागृता अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे।

अथ अध्यात्मम् = अधिदेव अर्थ करने के पश्चात् अध्यात्म अर्थ किया जाता है—सप्त ऋषय. = श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाच बाह्य ज्ञान इन्द्रिय तथा मन और बुद्धि (विद्या) ये दो आन्तर ज्ञान इन्द्रिय ये सब मिला कर सात सप्तर्षि है। वे, शरीरे = प्राणियो के शरीर रूप आत्मा मे, प्रतिहिता = निहित हैं। इसीको कहते हैं—षड् इन्द्रियाणि = छह इन्द्रियाँ, विद्या सप्तमानि जो विद्या को लेकर सातवी हैं वे, आत्मनि = शरीर रूप आत्मा मे हैं। सप्त = वे सात, सदम् = शरीर को, अप्रमादम् = प्रमाद न करते हुए सावधानी से, रक्षन्ति = रक्षा करती हैं। अर्थात्, शरीरम् अप्रमाद्यन्ति = शरीर के प्रति प्रमाद नहीं करती हैं। सप्त = वे सात, अपनानि इमानि एव = व्यापने वाली ये ही, स्वपतः = सोते हुए प्राणियों के, लोकम् = अस्तमितम् आत्मानम् = अस्त हुए आत्मा रूपी लोक को, यन्ति = प्राप्त होती हैं। अत्र = यहा शरीर में, अस्वप्नजौ = नही सोने वाले, च = एव, सत्र सदौ यजमानो के ज्ञान और यज्ञ मे बैठने वाले, देवौ = दोनो देव, प्राज्ञ आत्मा = प्राज्ञ जीवात्मा, च = और, तैजसश्च = प्राण, जागृता. = जागते

रहते हैं। इति = यह मन्त्र, आत्मगतिम् = आत्म के रहने की स्थिति को, आचष्टे = कहता है। अर्थात् आत्म-अस्तित्व में प्रमाण है।

तेषामेषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः ॥ १२-३७ ॥

तेषाम् = उन सप्तऋषियों की, एषा = यह, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टात्रिंशः खण्डः ।

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

अथ० सं० का० १० । सू० ८ । मं० ९ ॥

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और आध्यात्म देवता है। मन्त्रार्थ—तिर्यग्बिलः = रश्मियों के तिरछे छिद्रोवाला, चमस = उदक को भजनेवाला, ऊर्ध्वबुधः = ऊपर आकाश में बंधा हुआ, यस्मिन् = जिस में, यशः = सर्व प्रकार का यश और, विश्वरूपम् = सर्वरूप वा सर्व प्रकार का जल, निहितम् = रखा हुआ है, ये = जो, अस्य महतः = इस महान जगत के, गोपाः = रक्षक, बभूवुः = हैं, अत्र = इस मे (आदित्य मण्डल मे), साकम् = एक साथ, सप्त ऋषयः = सात रश्मियें, आसते = स्थित हैं उस आदित्य की, हम स्तुति करते हैं। यह सात किरणरूप अधिदेव अर्थ है। अध्यात्म अर्थ इस प्रकार है—तिर्यग्बिलः = आदित्य मण्डल के समान यह शरीर है। जिस मे इन्द्रिय-गोलकरूप सात छिद्रवाला, चमसः = शिर है। जो, ऊर्ध्वबुध्नः = ऊपर ही अवस्थित रहता है अथवा सम्पूर्ण शरीर का बन्धन है। यस्मिन् = जिस में, यशः = यश और, विश्वरूपम् = सर्व विषयक ज्ञान, निहितम् = रखा हुआ है। ये = जो, अस्य = इस, महतः = महान् शरीर का, गोपाः = रक्षक है। अत्र = इस शरीर मे, सप्तऋषयः = उक्त सात इन्द्रिय रूप ऋषि, साकम् = एक साथ, आसते = रहते हैं। अधिदेव पक्ष में सप्तऋषि का अर्थ आदित्य रश्मि और अध्यात्म पक्ष मे सात इन्द्रिया हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपमत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयो ये अस्य गोपा महतो बभूवुः। इत्यधिदैवतम् ।

तिर्यग्बिलः = रश्मियों के तिरछे छिद्रों वाला, चमसः = चमस अर्थात् उदक वाला, ऊर्ध्व बन्धनः = ऊपर आकाश मे बंधा हुआ, वा = अथवा, ऊर्ध्वबोधनः = ऊपर रह कर सब प्राणियों को जगाने वाला, यस्मिन् = जिस मे, यशः = यश और, सर्वरूपम् = सर्वरूप वा सर्व प्रकार का जल, निहितम् = रखा है, अत्र = इस आदित्य मण्डल मे, सप्त ऋषयः = सहादित्यरश्मयः = सात ऋषि के

सहित अर्थात् सात ऋषि रूप सात रश्मियाँ रहती हैं, ये = जो, अस्य महतः = इस महान् जगत् के, गोपाः बभूवुः = रक्षक हैं। इति = यह अर्थ, अधिदैवतम् = अधिदैवत अर्थात् देवता परक है। यहां आदित्य रश्मि अधिदेव है।

अथाध्यात्मम्–तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन्यशो निहितं सर्वरूपमत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे।

अथ = अधिदेव अर्थ करने के बाद, अध्यात्मम् = आत्मपरक अर्थ किया जाता है— तिर्यग्बिलः = आदित्य मण्डल के समान यह शरीर है। जिस में इन्द्रिय गोलक रूप सात छिद्र वाला, चमसः = शिर है। जो, ऊर्ध्वबन्धनः = ऊपर ही अवस्थित रहता है। सम्पूर्ण शरीर का बन्ध है। वा = अथवा, ऊर्ध्वबोधनः उच्च ज्ञान वाला है। यस्मिन् = जिस में, यशः सर्वरूपम् = सर्व प्रकार का यश और ज्ञान, निहितम् = रखा रहता है। अत्र = इस शरीर मे, सप्त ऋषयः = पूर्वोक्त सात ऋषि, आसते = रहते हैं। यानि इन्द्रियाणि = जो सात इन्द्रियाँ हैं। जो, अस्य महतः = इस महान् शरीर के, गोप्तॄणि = रक्षक, बभूवुः = हैं। इति = यह मन्त्र, आत्मगतिम् = आत्मस्थिति को, आचष्टे = कहता है। यहा इन्द्रियाणि अध्यात्म हैं।

२६ – देवाः।

आदित्य की रश्मियो का नाम देव है। इस लिये बहुवचन है। क्योकि, रश्मियाँ बहुत हैं। दिव्य होने से देवगण हैं। द्युस्थान आदित्य की रश्मियाँ हैं। इस लिये ये भी द्युस्थान हैं। यास्क कहते हैं—

देवा व्याख्याताः।

देवाः = देव, व्याख्याताः = व्याख्यात हैं। अर्थात् इस की व्याख्या नि. अ. ७ ख. १५ में 'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा' इत्यादि पक्ति से कर आये हैं। 'ददाति ऐश्वर्यमिति देवः' इस विग्रह मे 'डुदाञ् दाने' धातु से उणादि व प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् एकार होने पर देव शब्द बना है। अथवा 'दीप्यते इति देवः' इस विग्रह मे 'दीपी दीप्तौ' धातु से पचाद्यच्, पृषोदरादित्वात् दी को एकार और प को व होने पर देव शब्द बना है। अथवा 'द्योतते इति देवः' इस विग्रह मे 'द्युत दीप्तौ' धातु मे पृषोदरादित्वात् एकार वकार हो कर देव शब्द बना है। रश्मि गण का नाम है। रश्मिया बहुत होने से बहुवचनान्त है।

तेषामेषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्याष्टात्रिंशः खण्डः ॥ १२-३८ ॥

तेषाम् = उन रश्मिरूप देवो की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकोनचत्वारिंशः खण्डः।

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ ऋ स १-१-५-७॥

इस मन्त्र का मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द और विश्वेदेवा देवता है। मन्त्रार्थ—विश्वेदेवास = हे विश्वदेवगण! तुम ओमास. = रक्षक हो। तुम, चर्षणीधृत = मनुष्यो को धारणपोषण करने वाले हो। तुम, दाश्वास = कर्म फल देने वाले हो। तुम, दाशुषः = हव्यदाता यजमानों के, सुतम् = अभिषुत सोम रस को पान करने के लिये, आगत = आवो। इस मन्त्र मे विश्वेदेवो की स्तुति है। इस लिये यह मन्त्र उन्ही का कहा जाता है।

इस मन्त्र का भाष्य—।

अवितारो वा अवनीया वा मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति।

अवितार = रक्षा करने वाले, वा = अथवा, अवनीया = तर्पण करने योग्य, मनुष्यधृत = मनुष्यो को पोषण करने वाले, दत्तवन्त = कर्म के फल देने वाले, सर्वे देवा = सभी देव, दत्तवत = हव्यदाता यजमानो के, सुतम् = अभिषुत (निचोड हुए) सोम रस पान करने के लिये, इह = यहाँ, आगच्छत = आवो। इति = यह हम चाहते हैं।

'विश्वे देवा सर्वे देवा' यह यास्क मत है। शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं। सभी देव 'विश्वे देवा' नही किन्तु देवविशेष का असाधारण नाम 'विश्वे देवा' है। इस पर आचार्य यास्क कुछ विचार-प्रारम्भ करते हैं—

तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते।

तत् एतत् = सो यह एकम् एव = एक ही, वैश्वदेवम् = विश्वदेवो का, गायत्रम् = गायत्री छन्द मे, तृचम् = तृच अर्थात् तीन ऋचाओ का एक समूह, दशतयीषु = मण्डलरूप दश अवयव वाला दश मण्डलरूप ऋग्वेद मे, विद्यते = है। अर्थात् सम्पूर्ण ऋक् सहिता मे गायत्री छन्द मे इस तृचा के सिवाय विश्वदेवो का तृच वा सूक्त नही है। एक यही है।

यत्तु किञ्चिद्बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।

यत्तु किञ्चित् = जो कुछ मन्त्र मात्र, बहुदेवतम् = बहुदेवताओ का गायत्र छन्दो से युक्त हो, तत् = वह वैश्वदेवानाम् = सब वैश्वदेव मन्त्रो के, स्थाने = स्थान में, युज्यते = लगाया जाता है वा लगाना चाहिये, यदेव = जो, विश्वलिङ्गम् = विश्वलिङ्ग है। इति शाकपूणि = यह आचार्य कहते हैं। अर्थात् देवताविशेष ही 'विश्वेदेवा' का अर्थ है। सामान्यतया सभी देव नहीं यह शाकपूणि की प्रतिज्ञा है।

यास्काचार्य इस का खण्डन करते हैं—

अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति । बभ्रुरेक इति दशद्विपदा अलिङ्गाः ।

इस वाक्य में 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है। अर्थात् पूर्व पक्ष को तुच्छ साबित करता है। एषः = यह शाकपूणि आचार्य की, उद्देशः = प्रतिज्ञा, अनत्यन्तगतः = अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचरित हेतु से युक्त है। यह अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। क्योंकि, 'बभ्रुरेकः' इति = बभ्रुरेकः इत्यादि, दशद्विपदा = दश ऋचाओं वाले द्विपदा सूक्त में, किसी भी मन्त्र में, अलिङ्गाः = 'विश्वेदेवाः' का लिङ्ग नहीं है। अर्थात् 'विश्वेदेवाः' शब्द पठित नहीं है। अत एव यह सूक्त विश्वदेव देवताक नहीं होना चाहिये और है तो सही। अतः यह नियम नहीं कि जहां जिसका लिङ्ग हो वही वह देवता होता है।

भूतांशः काश्यप आश्विनमेकलिङ्गम् ।

काश्यपः = कश्यप के पुत्र, भूतांशः = भूतांश नामक ऋषि ने, एकलिङ्गम् आश्विनम् = एक लिङ्ग आश्विन सूत्र को दर्शन किया है। अर्थात् जिस सूक्त को उक्त ऋषि ने देखा है वह (१०-१०६) ११ ऋचा वाला है। परन्तु उन में एक ही ऋचा में अश्विन् शब्द रूप लिङ्ग है। अन्य दश ऋचाओं में अश्विन् शब्द रूप लिङ्ग नहीं। फिर भी वह सम्पूर्ण सूक्त अश्विदेवताक माना जाता है। शाकपूणि मतानुसार दश मन्त्र अश्विदेवताक नहीं माना जाना चाहिये क्योंकि उन में अश्विपद रूप लिङ्ग नहीं है। और भी देखिये—

अभितष्टीयं सूक्तमेकलिङ्गम् ।

इसी प्रकार, अभितष्टीयम् सूक्तम् = ऋक् संहिता के अभितष्टीय सूक्त भी (३-३८), एकलिङ्गम् = एक लिङ्ग वाला है। अर्थात् वह सूक्त भी दश ऋचा का है। परन्तु दशवां ऋचा में इन्द्र पद रूप लिङ्ग है। अन्य ९ ऋचा में नहीं, फिरभी वह सम्पूर्ण सूक्त इन्द्रदेवताक माना जाता है। सो शाकपूणि के मतानुसार नहीं माना जाना चाहियें। क्योंकि, सभी ऋचा में इन्द्र पद रूप लिङ्ग नहीं है। अतः यह नियम नही कि जिस में जिस का लिङ्ग हो वही उस देवताक ऋचा मानी जाती है। इस से यह सिद्ध हुआ कि, बहुदेवताक सब ऋचायें विश्वदेव के लिङ्गवाली नहीं हैं तो भी वे विश्वदेवताक हैं। इसी लिये 'विश्वेदेवाः' का अर्थ 'सर्वदेवाः' है देवता विशेष नही। यह सिद्ध हुआ।

२८ — साध्याः ।

नैरुक्त पक्ष में साध्याः का अर्थ रश्मियां और ऐतिहासिक पक्ष में देवसमूह है। इस की व्याख्या रश्मिनामों में हो चुकी है। अर्थात् 'साध्नुवन्ति स्वव्यापारं रसाहरणादिकं संसिद्धं कुर्वन्ति इति साध्याः रश्मयः, इस विग्रह में 'राध साध संसिद्धौ' धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' इस सूत्र से बाहुलकात् कर्ता अर्थ में ण्यत् (य) प्रत्यय होने पर साध्य शब्द बना कर प्रथमा बहुवचन में 'साध्याः' रूप बना है। रश्मियों का नाम है। क्योंकि, रश्मियां रसादि के सींचनारूप कार्य करती हैं।

भाष्यकार इसका निर्वचन करते हैं—

साध्याः देवाः, साधनात्।

साधनात् = साधन करने से, देवाः = दीप्त रश्मियाँ वा, देवता, साध्याः = साध्य कहे जाते हैं। अर्थात् जो कार्य अन्य से सिद्ध नहीं किया जाता वह इन से सिद्ध होता है।

तेषामेषा भवति।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः ॥ १२-४० ॥

तेषाम् = उन साध्य देवों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

ऋ सं. २-३-२३-५० ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि त्रिष्टुप् छन्द और साध्या देवता है। मन्त्रार्थ—देवाः = यजमानों ने, यज्ञेन = निर्मन्थन से प्रगट की हुई अग्नि के द्वारा, यज्ञम् = होम के साधन आहवनीय अग्नि की, अयजन्त = पूजा की। तानि = वे ही, प्रथमानि धर्माणि = प्रथम धर्म, आसन् = थे। ते ह = उन, महिमानः = माहात्म्ययुक्त यजमानों ने, नाकम् = स्वर्ग, सचन्त = प्राप्त किया। यत्र = जिस स्वर्ग में, पूर्वे = प्राचीन, साध्याः = आदित्य रश्मियाँ, देवाः = दीप्तियुक्त होकर, सन्ति = विद्यमान हैं। अर्थात् स्वर्ग सदा रश्मियों के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। इस मन्त्र में 'साध्याः' पद रश्मियों के वाचक है।

इस मन्त्र का भाष्य—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः"। अग्निनाग्निमयजन्त देवाः ॥

देवाः = यजमानों ने, यज्ञेन = अग्नि के द्वारा, यज्ञम् = अग्नि की, अयजन्त = पूजा की। अर्थात्, देवाः = यजमानों ने, अग्निना = अग्नि के द्वारा, अग्निम् = अग्नि की, अयजन्त = पूजा की।

इस अर्थ में ब्राह्मण वाक्य-प्रमाण देते हैं—

"अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्। (तै. ब्राह्मण ५-७-२६)

अग्निः = अग्नि, पशुः = पुरोडाश रूप पशु, आसीत् = हुआ, तम् = उसको, देवताओं ने, आलभन्त = आलम्भन किया, च = और, तेन = उस पशु से, अयजन्त = यजन किया, इति च =

यह, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण वाक्य उक्तार्थ में प्रमाण है । तानि = वे, धर्माणि = कर्म, प्रथमानि = प्रथम (मुख्य), आसन् = हुए थे । ते ह = उन देवों ने, महिमानः = महिमा से युक्त हो कर, नाकम् = स्वर्ग को, समसेवनाः = सेवन किया । यत्र = जहां, पूर्वे = पूर्व कालिक, साध्याः साधनाः = साधनवाले, देवाः = देव, सन्ति = हैं अर्थात् थे । द्युस्थानः देवगणः = साध्य नाम से रश्मि नामक द्युस्थान देवगण हैं, इति = यह, नैरुक्ताः = नैरुक्त आचार्य मानते हैं । पूर्वम् = सब से प्रथम, देवयुगम् = देवयुग (सत्ययुग) है, अर्थात् प्रथम देवयुग के देवताओं का नाम 'साध्याः' है, इति = यह, आख्यानम् = ऐतिहासिक आचार्य मानते हैं । इस प्रकार 'साध्याः' पद के दो अर्थ हुए । एक रश्मियाँ और दूसरा सत्ययुग के देव समूह । यद्यपि यास्क ने 'साध्याः' पद का अर्थ 'द्युस्थान देवगण' यही किया है । तथापि इस का अर्थ रश्मि ही करना समुचित जान पड़ता है । क्योंकि ऐतिहासिक पक्ष में प्रथम युग के देवसमूह अर्थ तभी भिन्न हो सकता है ।

२९ – वसवः ।

अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र, इन अष्ट वसुओं का नाम वसु है । ये आठ हैं इस लिये 'वसवः' यह बहुवचनान्त है । रश्मियों के नामों में इस का निर्वचन किया गया है । 'वसते आच्छादयन्ति इति वसवः' इस विग्रह में 'वस आच्छादने' धातु से, 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' इस उणादि सूत्र से उ प्रत्यय होने पर 'वसु' शब्द बना है । अष्ट वसु का नाम है । क्योंकि, ये अष्ट वसु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान में रह कर सर्व पदार्थों को आच्छादन करते हैं । इस लिये ये वसु कहलाते हैं ।

यास्क इसका निर्वचन करते हैं—

वसवो यद्विवसते सर्वम् ।

यत् = जो, सर्वम् = सब को: विवसते = आच्छादन करते हैं वे, वसवः = वसु कहलाते हैं । अर्थात् जो पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक में अवस्थित रह कर विभक्त सम्पूर्ण जगत् को ढाक लेते हैं वे वसु कहे जाते हैं । कोई देवता पृथिवीस्थान, कोई मध्यम स्थान और कोई उत्तम स्थान हैं । ये अष्ट वसु तो त्रिस्थान हैं । तीनों स्थानों में रहकर सर्व पदार्थों को व्यापन कर लेते हैं ।

प्रश्न—ये त्रिस्थान कैसे हैं ?

उत्तर—अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मात्पृथिवीस्थानाः ।

अग्निः = अग्नि, वसुभिः = अष्ट वसुओं के साथ रहने से, वासवः = वासव है, इतिः = यह, समाख्या = समाख्या है, याजकों में यह कहावत प्रसिद्ध है, तस्मात् = इस से, पृथिवीस्थानाः = पृथिवीस्थान हैं । भाव यह है कि, अग्नि पृथिवी स्थान देवता है । वसुओं के साथ रहने से वासव कहलाता है । यदि वसुगण पृथिवीस्थान न होवें तो अग्नि का वसुओं के साथ होना असम्भव है । और साथ रहना कहा गया है । अतः अष्ट वसु भी पृथिवी स्थान हैं । यह सिद्ध हुआ ।

इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मान्मध्यस्थानाः ।

इन्द्रः = इन्द्र, वसुभिः = वसुओं के साथ रहने से, वासवः = वासव है, इति = यह, समाख्या = समाख्या है, प्रसिद्धि है, तस्मात् = इस से, मध्यस्थानाः = अष्टवसु मध्यस्थान हैं। भाव यह है कि, इन्द्र मध्यस्थान देवता है। वसुओं के साथ रहने से वासव कहलाता है। यदि अष्ट वसु मध्यस्थ न होवें तो इन्द्र का वसुओं के साथ रहना नही बन सकता है और साथ रहना कहा गया है। अतः वसु मध्यस्थान भी हैं यह सिद्ध हुआ।

वसव आदित्यरश्मयो विवसनात्तस्माद् द्युस्थानाः ।

विवसनात् = अन्धकार को दूर करने से, आदित्यरश्मयः = सूर्य की किरणे, वसवः = वसु कहलाती हैं, तस्मात् = इस कारण से, अष्ट वसु, द्युस्थानाः = द्युस्थान हैं। भाव यह है कि, अष्ट वसुओं में आदित्य एक वसु है। आदित्यरश्मियाँ आदित्य रूप हैं और आदित्य द्युस्थान है। इस प्रकार अष्ट वसु द्युस्थान हैं यह सिद्ध हुआ।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यैकचत्वारिंशः खण्डः ॥ १२-४१ ॥

तेषाम् = उक्त वसुओ की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वाचत्वारिंशः खण्डः ।

सुगावो देवाः सुपथा अकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः ।
जक्षिवांसश्च पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ॥

इसी प्रकार का आनुपूर्वी पाठ यास्क ने उद्धृत किया है। जो किसी शाखा का पाठ होना चाहिये। य. वा. सं. ८-१८ में कुछ मिलता जुलता पाठ है। उसी का पता कतिपय टीकाकारों ने दिया है। सो समीचीन नहीं। मन्त्र का पता न होने से ऋष्यादि का उपन्यास नहीं किया जाता है। यह मन्त्र वसुओ का है और इस में 'वसवः' ऐसा लिङ्ग भी है। अतः इस के वसुगण देवता हैं। मन्त्रार्थ—देवाः = हे देवो!, वः = तुम्हारे लिये, वयम् = हमने, सुगा = सुगम, सुपथा = सुन्दर मार्ग, अकर्म = कर दिया है। ये = जो तुम, जुषाणाः = हमारे साथ प्रीति करने वाले हो तो, इदम् = इस, सवनम् = यज्ञ मे, आजग्मुः = आओ। जक्षिवांसः = हवियो को भक्षण करते हुए और, पपिवांसः = सोम को पान करते हुए, विश्वे = तुम सब, वसवः = वसुगण, अस्मे = हमारे लिये, वसूनि = सर्व प्रकार के धन को, धत्त = धारण करो। अर्थात् हमे धन प्रदान करो।

इस मन्त्र का भाष्य—

स्वागमनानि वो देवाः सुपथानि अकर्म य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः, खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि ।

देवाः = हे देवो !, वः = तुम्हारे लिये हमने, स्वागमनानि = सुन्दर आगमन योग्य, सुपथानि = सुन्दर मार्ग, अकर्म = कर दिया है । ये = जो तुम, जुषाणाः = हमारे साथ प्रीति करने वाले हो तो, इमानि सवनानि = इन यज्ञों मे, आगच्छत = आओ । सर्वे वसवः = तुम सब वसुगण, खादितवन्तः = हवि भक्षण करते हुए च = और, पीतवन्तः = सोम पान करते हुए, अस्मासु = हमारे में, वसूनि = सर्व प्रकार के धन को, धत्त = धारण करो । हमें धन दो ।

तेषामेषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वाचत्वारिंशः खण्डः ।। १२-४२ ।।

तेषाम् = उन वसुओ की, एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः ।

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः ।
अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य ॥

ऋ. सं. ५-४-६-३ ।।

इस मन्त्रका वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और 'विश्वेदेवाः' मे वसु देवता है। मन्त्रार्थ— ज्मयाः = पृथिवी पर रहने वाले, वसवः = वसु नामक, देवाः = देवगण, अत्र = यहा अर्थात् इस यज्ञ में, रन्त = रमण करें । उरौ अन्तरिक्षे = विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक मे, शुभ्राः = शुभ्रवर्ण वसुगण, मर्जयन्त = विचरण करें । उरुज्रयः = बहुत = अतिशीघ्र गमन करने वाले वसुगण, पथः = अपने मार्ग को, अर्वाक् = हमारे अभिमुख, कृणुध्वम् = करें । जग्मुषः = उन के प्रति गये हुए, नः = हमारे, अस्य दूतस्य = इस अग्नि रूप, दूत के आह्वान को, श्रोता = सुनें ।

इस मन्त्र का भाष्य—

ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवाः । ज्मा पृथिवी तस्यां भवाः । उरौ चान्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त शुभ्राः शोभमाना अर्वाच एनान् पथो बहुजवाः कुरुध्वं, शृणुत दूतस्य जग्मुषो नो अस्याग्नेः ।

ज्मयाः = पृथिवी पर रहने वाले, वसवः = वसुनामक, देवाः = देवगण, अत्र = इस यज्ञ में अरमन्त = रमण किये थे या करें । ज्मा पृथिवी = ज्मा पृथिवी का नाम है, तस्याम् = उस मे, भवाः = होने वाले अर्थात् पृथिवी मे नित्य रहने वाले वसुओ का नाम ज्मयाः' है । च = और, उरौ = विस्तीर्ण, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष लोक में, मर्जयन्त = गमयन्त = गमन करते थे या करें । शुभ्राः = शोभमानाः = शोभायमान, बहुजवाः = बहुत गमन करने वाले वसुगण, एनान् पथः = अपने इन मार्गों को, अर्वाचः = हमारे अभिमुख, कुरुध्वम् = करें । जग्मुषः उनके, प्रति गये हुए, नः = हमारे, दूतस्य = दूत, अस्य अग्नेः = इस अग्नि के आह्वान को, शृणुत = सुनें ।"

३० – वाजिनः ।

वाजिन् शब्द का निर्वचन अश्वनामों मे (नि. २-२८) किया गया है। वहा एकवचन और यहां बहुवचन है। वहां अश्व का और यहां आदित्य-रश्मियो का नाम है। मतभेद से द्युस्थान देवता का भी नाम 'वाजिनः' है। 'वजनं वाज. वेगः' इस विग्रह मे 'वज गतौ' धातु से 'भावे' इस सूत्र से घञ् (अ) प्रत्यय और उपधावृद्धि होने पर बाज शब्द बना है। वेग का नाम है। 'वाजोऽस्यास्ति इति वाजी' इस विग्रह मे वाज् शब्द से 'अत इनिठनौ' इस सूत्र से तद्धित इनि (इन्) प्रत्यय और अ लोप होने पर वाजिन् शब्द बना है। 'वाजिनः' यह प्रथमा बहुवचन का रूप है। आदित्य रश्मि का नाम है। क्योकि, रश्मियाँ बहुत और वेग वाली हैं। भाष्यकार कहते है—

वाजिनो व्याख्याताः ।

वाजिनः = वाजिन की, व्याख्याताः = व्याख्या हो चूकी है।

तेषामेषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य त्रयश्चत्वारिंशः खण्डः ॥ १२-४३ ॥

तेषाम् = उन वाजिन् की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्ड. ।

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।

ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृक॒ं रक्षां॑सि॒ सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥

ऋ. सं. ५-४-५-७ ॥

इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वाजीदेवता है। मन्त्रार्थ—देवताता = यज्ञ के, हवेषु = स्तुति रूप आह्वानो मे, वाजिनः = रश्मियां वा देवगण, नः = हमारे लिये, शम् = सुखकारी, भवन्तु = हो। मितद्रवः = जो सुन्दर मिल कर चलने वाले हैं, स्वर्काः = जो सुन्दर गमन करने वाले हैं जो वा सुन्दर पूजा करने वाले हैं जो वा सुन्दर कान्ति वाले हैं अमीवाः = और जो निरोग हैं वे, अहिम् = हमे मारने वाले को, वृकम् = चोर को और, रक्षांसि = राक्षसो को, जम्भयन्तः मारते हुए, अस्मद् = हम से, सनेमि = शीघ्र, युयवन् = अलग कर दे। इस मन्त्र में 'वाजिनः' रश्मि वा देववाचक है।

इस मन्त्र का भाष्य—

सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे मितद्रवः सुमितद्रवः स्वर्काः स्वञ्चना इति वा स्वर्चना इति वा स्वर्चिष इति वा, जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च क्षिप्रमस्मद्यावयन्त्वमीवाः देवाश्वा इति वा ।

देवतातौ = यज्ञे = यज्ञ के, ह्वानेषु = स्तुति रूप आह्वान मे, वाजिनः = आदित्य की रश्मियां वा देवगण, नः = हमारे लिये, सुखाः सुखकारी, भवन्तु = होवें। मितद्रवः = सुमितद्रवः = जो

सुन्दर मिलकर चलने वाले हैं, स्वर्काः = स्वञ्चनाः = जो सुन्दर गमन करने वाले हैं, इति वा = अथवा, स्वर्चनाः = जो सुन्दर पूजा करने वाले हैं, इति वा = अथवा, स्वर्चिषः इति वा = जो सुन्दर कान्ति वाले हैं, अमीवाः = और जो निरोग हैं, इति वा = अथवा, देवाश्वाः = जो देवों के अश्व हैं वे, अहिं च = हमें मारने वाले, वृकम् = तस्कर, च = और, रक्षांसि = राक्षसों को, जम्भयन्तः = मारते हुए, क्षिप्रम् = शीघ्र, अस्मद् = हमारे यहाँ से, यावयन्तु = अलग (दूर) कर दें।

३१ – देवपत्न्यः ।

इत्येकत्रिंशत् पदानि ॥ ३१ ॥

अग्निर्द्रविणोदा अथो वायुः श्यनोऽश्विनौ षट् ॥ ६ ॥

इति निघण्टौ पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति निघण्टुः समाप्तः ।

देवों की पत्नियों का नाम देवपत्नी है। देव बहुत हैं। अतः उनकी पत्नियाँ भी बहुत हैं। अत एव बहुवचनान्त 'देवपत्न्यः' है। देव शब्द का निर्वचन इसी अध्याय के ३१वां खण्ड पर २६वां पद के निर्वचन में किया गया है। देवाः पतयो यासाम् ताः देवपत्न्यः' इस विग्रह मे देव उपपद 'पा रक्षणे' धातु से 'पातेर्डतिः' इस उणादि सूत्र से डति प्रत्यय, डित्वाद् टि लोप, देवपति, 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' इस सूत्र से नकार आदेश, देवपत्न्, 'ऋन्नेभ्योङीप्' इस सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय होने पर, देवपत्नी शब्द बना है। 'देवपत्न्यः' प्रथमा बहुवचनान्त है। भाष्यकार निर्वचन करते हैं—

देवपत्न्यो–देवानां पत्न्यः ।

देवानाम् = देवताओं की, पत्न्यः = पत्नियाँ है इसलिये, देवपत्न्यः = देवपत्नियाँ कहलाती है। देव उत्तमस्थान हैं। इस लिये देवपत्नियाँ भी उत्तमस्थान हैं।

तासामेषा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः ।। १२–४४ ।।

तासाम् = उन देवपत्नियों की, एषा = यह अग्रिम ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्यपञ्चचत्वारिंशः खण्डः ।

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत ॥

ऋ. सं. ४–२–२८–७ ॥

इस मन्त्र का प्रतिक्षत्र ऋषि, जगती छन्द और देवपत्नियाँ देवता है। मन्त्रार्थ—देवानाम् = इन्द्रादि देवों की, पत्नीः = पत्नियाँ, उशतीः = हम लोगों के स्तोत्र तथा होम की कामना करती हुई, नः = हम लोगो की, अवन्तु = रक्षा करें। वे हम लोगों की इस प्रकार रक्षा करें कि, नः = हम लोगों को, तुजये = बलवान् पुत्र उत्पन्न करने के लिये और, वाजसातये = प्रभूत धन लाभ

करने के लिये, प्रावन्तु = समर्थ बनावें । याः = जो, पार्थिवासः = पृथिवी पर निवास करती हैं और, याः = जो, अपाम् = अन्तरिक्ष में जलवर्षण रूप, व्रते = कर्म में निरत रहती हैं, ताः = वे, सुहवाः = सुन्दर आह्वान योग्य, देवीः = देवियाँ, नः = हम लोगों को, शर्म = कल्याण, यच्छन्त = प्रदान करें ।

इस मन्त्र का भाष्य—

देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः प्रावन्तु नोऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च । याः पार्थिवासो या अपामपि कर्मणि व्रते ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम् ॥

देवानाम् = इन्द्रादि देवों को, पत्न्यः = पत्नियाँ, उशत्यः = हमारे स्तोत्र तथा होम की कामना करती हुई, नः = हमारी, अवन्तु = रक्षा करें । नः = हमें, अपत्यजननाय = बलवान् पुत्रादि सन्तान उत्पन्न करने के लिये, च = और, अन्नसंसननाय = प्रभूत अन्न अर्थात धन लाभ करने के लिये, नः = हमें, प्रावन्तु = समर्थ बना कर रक्षा करें । याः = जो, पार्थिवासः = पृथिवी पर निवास करती हैं और, याः = जो, अपाम् अपि कर्मणि व्रते = अन्तरिक्ष में जलवर्षण आदि कार्य में निरत रहती हैं, ताः = वे, सुहवाः = सुन्दर आह्वान योग्य, देव्यः = देवियाँ, नः = हमें, शर्म = शरणम् = शरण, यच्छन्तु = प्रदान करें ।

तासामेषाऽपरा भवति ।

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः ॥ १२-४५ ॥

तासाम् = उन देवपत्नियों की एषा = यह अग्रिम, अपरा = दूसरी ऋचा, भवति = है—

अथ निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य पट्चत्वारिंशः खण्डः ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥

ऋ॰ सं. ४-२-२८-८ ॥

इस मन्त्र का प्रतिक्षत्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और देवपत्नियाँ देवता हैं । मन्त्रार्थ—उत = और देवपत्नी = देवपत्नी, ग्नाः = स्त्रियाँ, व्यन्तु = हव्य भक्षण करें । राट = राजमान, इन्द्राणी = इन्द्रपत्नी, अग्नायी = अग्निपत्नी, अश्विनी = अश्विनीकुमार पत्नी, रोदसी = रुद्र पत्नी, वरुणानी = वरुण पत्नी, आदि प्रत्येक देवियाँ हमारी स्तुतियों को, आशृणोतु = श्रवण करें । देवीः = देवियाँ, व्यन्तु = हव्य भक्षण करें और, याः = देवपत्नियों में जो, ऋतुः = ऋतुओं की अधिष्ठात्री देवी, जनीनाम् = देवजाया हैं वे भी, स्तोत्र श्रवण और हव्य भक्षण करें ।

इस मन्त्र का भाष्य—

अपि ग्ना व्यन्तु देवपत्न्य इन्द्राणीन्द्रस्य पत्न्यग्नाय्यग्नेः पत्न्यश्विन्यश्विनोः पत्नी । राट् राजतेः, रोदसी रुद्रस्य पत्नी । वरुणानी च वरुणस्य पत्नी व्यन्तु दिव्यः कामयन्तां य ऋतुः कालो जायानां य ऋतुः कालो जायानाम् ।

इति श्रीमद्यास्कमुनिप्रणीते निरुक्तशास्त्रे दैवतकाण्डे द्वादशाध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः ॥ १२-४६ ॥

अपि = और. देवपत्न्यः = देवपत्नी, ग्नाः = स्त्रियाँ, व्यन्तु = हव्य भक्षण करें। इन्द्रस्य = इन्द्र की, पत्नी = स्त्री. इन्द्राणी = इन्द्राणी, अग्नेः पत्नी = अग्नि की स्त्री. अग्नायी = अग्नायी, अश्विनोः पत्नी = अश्विनों की स्त्री. अश्विनी = अश्विनी, राट् = राजमान राजतेः = राज धातु से, राट = राट् शब्द बना है, रुद्रस्य = पत्नी = रुद्र की स्त्री. रोदसी = रोदसी, च = और, वरुणस्य पत्नी = वरुण की स्त्री, वरुणानी = वरुणानी, आदिप्रत्येक, देव्यः = देवियाँ हव्य की, कामयन्ताम् = कामना करें। और देवपत्नियों में, यः = जो, जायानाम = स्त्रियों का, ऋतुः कालः = ऋतु काल है उसी में कामना करें अर्थात् पत्नियों का भवन काल है उसी में भोजन करें। अथवा ऋतु काल में ही स्त्रियाँ विषय कामना करें अन्य काल में नहीं।

नोट-सर्वत्र 'रोदसी' द्यावापृथिवी वाचक स्त्रीलिङ्ग द्विवचनान्त पाया जाता है। परन्तु यहाँ एकवचनान्त अत एव रुद्रपत्नी वाचक समझना चाहिये। क्योंकि, भाष्यकार इसका अर्थ 'रुद्रस्य पत्नी' करते हैं और आथर्वण में प्रगृह्य संज्ञा नहीं की है। यदि द्विवचनान्त पद होता तो 'ईदूदेद्द्विवचनंप्रगृह्यम्' इस सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होनी थी। शुभमिति ॥

एवं प्रपूर्य विवृतिं किल दैवतस्य काण्डस्य तां गुरुपदाब्जयुगे समर्प्य।
जानातु दैवतवचोऽल्पमतिर्जनोऽपि श्री ब्रह्मलीनमुनिरेतदहं प्रयाचे ॥

इति श्रीमद्यास्कमुनिप्रणीतनिरुक्तशास्त्रस्य ब्रह्मलीनमुनिकृतदेवनागरीव्याख्या सम्पूर्णा।

इति निरुक्ते द्वादशोऽध्यायः।
इति निरुक्त उत्तरषट्के षष्ठोऽध्यायः।
इति निरुक्त उत्तरार्द्धः समाप्तः।
अयं ग्रन्थः समाप्तः।

निरुक्त के द्वादश अध्याय का खण्ड सूत्र—

अथातोद्युस्थानाश्वमातिपुरुमेहेहजाताप्रानयुजाप्रानयंत्रन्दमृवस्तच्चित्रमेना उरयाः सुकिंशुकं वृषाकपायथागूहस्त्वष्टादृहिते सवितावि·वाहमानिप्रातर्जितमुदृत्याचित्रमृशुकन्तेपथस्पथ इदं विष्णु विश्वानरोव्याख्यातो विश्वानरस्यवेनापावकेनिचतुष्कंकेश्यग्नि त्रयः केशिनः पुनरेहियस्मिन्वृक्षेपार्थीर-धीयदीन्द्राग्नीपवित्रवन्त उतनोहिर्यामथर्वाथातोद्युस्थानादेवगणा इमागिरः सप्तऋषयस्तिर्यग्बिलो देवानाम्भ द्रौमासोयज्ञन सुगाश्चोजमया अग्रहान्नोभवन्तुदेवानां पत्नी देवग्नाव्यन्त्वितिषट्चत्वारिंशत् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

卐

श्रीगणेशाय नमः ।

यः सर्वभूतेषु निगूढरूपश्चरन् सदात्मा विनिवृत्तकामः ।
तमेव नत्वा परिशिष्टकाण्ड-व्याख्यां तनोम्यार्यमुखोक्तोक्तिः ॥

निरुक्तशास्त्रम्

अथ परिशिष्टम् ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः खण्डः ।

अथ निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते ।

अथ = निघण्टु के भाष्य निरुक्त के समाप्ति के अनन्तर, इमाः = जो आने वाली स्तुतियाँ हैं, उनको विद्वान् लोग, अतिस्तुतयः = अतिस्तुतियाँ, इति = यह, आचक्षते = कहते हैं। क्योंकि इन में यह संज्ञा प्रसिद्ध है।

अपिवा संप्रत्यय एव स्यान्माहाभाग्याद् देवतायाः ।

अपिवा = अथवा, देवतायाः = देवताओं के, माहाभाग्यात् = महान् ऐश्वर्य के होने से, संप्रत्ययः एव स्यात् = समात ज्ञान ही हो सकता है। अर्थात् पूर्ण प्रतीति ही होती है। देवताओं के विषय में जितना अतिशय कहा जाए सब संगत है।

सोऽग्निमेव प्रथममाह ।

सः = वह देवस्तोता, प्रथमम् = सब से पहले, अग्निम् एव = अग्निदेवता को ही, आह = कहता है। जैसे—

"त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः"

अग्ने = हे अग्निदेव !, त्वम् = तुम, द्युभिः = यज्ञ दिन में और, त्वम् = तुम, आशुशुक्षणिः = सर्वतः दीप्तिमान् हो कर उत्पन्न होते हो। इस मन्त्र में सर्व प्रथम अग्नि देवता की अतिस्तुति की गई है। सम्पूर्ण मन्त्र—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि

त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥

ऋ. सं. २-५-१७-१ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, जगती छन्द और अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—अग्ने = हे अग्निदेव ! और, नृणामनृपते = हे मनुष्यों के स्वामिन् !, त्वम् = तुम, द्युभिः = यज्ञ दिन में,

जायसे = उत्पन्न होते हो । त्वम् = तुम, आशुशुक्षणिः = सर्वतः दीप्तिमान् हो कर, जायसे = उत्पन्न होते हो । त्वम् = तुम, अद्भ्यः = जलों से वड़वानल के रूप में, जायसे = उत्पन्न होते हो। त्वम् = तुम, अश्मनः = पाषाण से, परिजायसे = उत्पन्न होते हो । त्वम् = तुम, वनेभ्यः = वृक्षादि समूह से दावानल के रूप में, जायसे = उत्पन्न होते हो । त्वम् = तुम, ओषधीभ्यः = ओषधियों से वैश्वानर के रूप में, जायसे = उत्पन्न होते हो और, त्वम् = तुम, शुचिः = पवित्र आदित्य रूप से, जायसे = उत्पन्न होते हो । इस ऋचा में बहुत प्रकार से पृथिवी स्थान अग्नि की स्तुति होने से उस की अतिस्तुति है ।

यथैतस्मिन्सूक्ते ।

यथा = जैसे, एतस्मिन् = इस पूर्वोक्त गृत्समद ऋषि से दृष्ट अग्नि देवताक 'त्वमग्ने' इत्यादि १६ ऋचा वाले, सूक्ते = सूक्त में पृथिवी स्थान अग्नि का प्रतिपादन किया गया है ।

मध्यस्थान में जैसे—

"नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे" इति वरुणस्य ।

त्वदारे = तुम से अन्य को, निमिषश्चन = एक पल (निमेष) भी, नहि ईशे = आधिपत्य नहीं कर सकता है । इति = यह, वरुणस्य = मध्यस्थान वरुण देवता का प्रतिपादन किया गया है। सम्पूर्ण मन्त्र निम्नलिखित है—

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय ।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे ॥

ऋ. सं. २-७-१०-६ ॥

इस मन्त्र का गृत्समद ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वरुण देवता है । मन्त्रार्थ = वरुण = हे वरुणदेव!. मत = मेरे पास से, भियसम् = भय को, सु अपःम्यक्ष = भलीभांति दूर कर दो। सम्राट् = हे सम्राट्! ऋतावः = हे सत्यवान्!, मा = मुझ पर, अनुगृभाय = अनुग्रह करो। वत्सात् दाम इव = बछड़े से रस्सी जैसा अर्थात् जैसे बछड़े से रस्सी को पृथक किया जाता है वैसे ही, अंहः = हम से पाप को, विमुमुग्धि = पृथक् कर दो। मुझे पाप से मुक्त करो। त्वदारे = तुम से अन्य कोई, निमिषश्चन = एक निमेष (पल) भी, नहि ईशे = आधिपत्य नहीं कर सकता है। इस ऋचा से मध्यस्थान वरुण देवता की अतिस्तुति की गई है।

इति प्रथमस्य प्रथमः खण्डः ॥ १-१ ॥

अथ – ऐन्द्रस्य ।

अथ प्रथमस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ = वरुण की अतिस्तुति के अनन्तर, एषा = यह अग्रिम ऋचा, इन्द्रस्य = मध्यमस्थान इन्द्र की अति स्तुति है—

यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।

न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

ऋ स. ६-५-९-५ ॥

इस मन्त्र का पुरुहन्मा ऋषि, बृहती छन्द और इन्द्र देवता है । मन्त्रार्थ—इन्द्र = हे इन्द्र !, वज्रिन् = हे वज्रधारिन् ! यत् = यदि, शतम् द्यावः = सैकडों द्युलोक, उत = और, शतम् भूमीः = सैकडो पृथिवीलोक, ते = तुम्हारी प्रतिमा हो तो भी, त्वा = तुमको, न = न पा सकते, सहस्रम् सूर्याः = हजारों सूर्य भी, त्वा = तुमको, न = न पा सकते और जातम् = पूर्व उत्पन्न, रोदसी = द्यावापृथिवी भी, त्वा = तुम को, न अन्वष्ट = न पा सकते ।

इस मन्त्र का भाष्य—

यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युर्नत्वा वज्रिन् सहस्रमपि सूर्या न द्यावापृथिव्यावप्यश्नुवीतमिति ।

इन्द्र = हे इन्द्र !, यदि = यदि, शतम् दिव. = सैकडो द्युलोक और, शतम् भूमयः = सैकडो भूमिलोक, ते = तुम्हारी, प्रतिमानानि = प्रतिमा, स्युः = हो तोभी, त्वा = तुम को, न = नही पा सकते हैं । वज्रिन् = हे वज्रधारिन् !, सहस्रमपि = हजारो भी, सूर्याः = सूर्य क्यो न हो तो भी, त्वा न = तुम को प्रकाश नही कर सकते हैं । एवं, द्यावापृथिव्यौ अपि = द्युलोक तथा पृथिवी लोक भी, त्वा न = तुमको नही, अश्नुवीतम् = पा सकते हैं । इति = इत्यर्थः ।

इति प्रथमस्य द्वितीयः खण्डः ॥ १-२ ॥

अथ – एषाऽऽदित्यस्य ।

अथ प्रथमस्य तृतीय. खण्डः ।

अथ = इन्द्र की अतिस्तुति के पश्चात्, एषा = यह अग्रिम ऋचा, आदित्यस्य = उत्तमस्थान आदित्य की अतिस्तुति है—

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।

क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋ स. ८-४-४-२२ ॥

इस मन्त्र का इन्द्राणी ऋषि, पञ्चपदा पंक्ति छन्द और आदित्य देवता है । मन्त्रार्थ—इन्द्राणी कहती है कि, इन्द्र = हे इन्द्र ! और, वृषाकपे = हे वृषाकपे आदित्य ! तुम दोनो, उदञ्चः = ऊपर मुख किये हुए मेरे गृह में, अजगन्तन = आओ । पुल्वघः = वह भोक्ता और, जनयोपनः = जन हर्ष दाता, स्यः = वह, मृगः = मृग, क्व = कहा और, कम् = किस देश मे अगन् = गया । इन्द्रः = इन्द्र, विश्वस्मात् = सर्व से, उत्तरः = श्रेष्ठ है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्रा जगमतकस्य पुल्वघो मृगः । क स बह्वादी । मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः । कमगमद् देशं जनयोपनः । सर्वस्माद् य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ।

वृषाकपे = हे वृषाकपे आदित्य ! और, इन्द्र = हे इन्द्र ! तुम दोनो, उदञ्चनः = ऊपर मुख करते हुए, गृहम् = हमारे घर, आओ । स्यः = वह, पुल्वघः = बहुभोक्ता, मृगः = मृग (स्वरूप), क = कहा, अजगमत = गया । अर्थात्, सः = वह, बह्वादी = बहुभोक्ता, क = कहा गया । गतिकर्मणः = गत्यर्थक, मार्ष्टेः = मृज धातु से, मृगः = मृग शब्द बना है । अर्थात् ' मार्ष्टि इति-मृगः ' इस विग्रह मे धातूनामनेकार्थत्वात् गत्यर्थक ' मृजू शुद्धौ ' धातु से इगुपध लक्षण क (अ) प्रत्यय और कुत्व होने पर मृग शब्द बना है । जनयोपनः = जनहर्षदाता, कम् देशम् अगमत् = किस देश को गया । यः इन्द्रः = जो इन्द्र, सर्वस्मात् = सब से, उत्तरः = श्रेष्ठ है । इसी लिये हम, तम् = उसको, एतद् = यह, ब्रूमः = कहते हैं कि वह, आदित्यम् = आदित्य है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

अथ – एषाऽऽदित्यरश्मीनाम् ।

अथ चतुर्थः खण्ड. ।

अथ = आदित्य की अतिस्तुति दिखाने के अनन्तर, एषा = यह अग्रिम ऋचा, आदित्यरश्मीनाम् = आदित्य की रश्मियो की अतिस्तुति है—

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।

यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋ सं. ८-४-१-१ ॥

इस मन्त्र का भी पूर्ववत् ऋष्यादि है । मन्त्रार्थ—जब आदित्य ने अपनी रश्मियो को, सोतोः = प्रकाश द्वारा सर्व प्राणियो को ज्ञान देने के लिये, वि असृक्षत = उत्पन्न किया तब उन रश्मियों ने, इन्द्रम् = आदित्य को, देवम् = देव, न अमंसत = नही माना । किन्तु हम स्वयं स्वतन्त्र सब को प्रकाशित करती हैं ऐसा उन्होने अभिमान किया । तो भी, पुष्टेषु = आदित्य से पुष्ट, यत्र = जिन रश्मियो मे, वृषाकपिः = आदित्य, अर्यः = स्वामी, मत्सखा = सब का सखा हो कर, अमदत् = हृष्ट है । इसी लिये, इन्द्रः = आदित्य, विश्वस्मात् = सर्व से, उत्तरः = श्रेष्ठ है । इस प्रकार इस ऋचा मे आदित्य रश्मियो की अतिस्तुति है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

व्यसृक्षत हि प्रसवाय, न चेन्द्रं देवममंसत, यत्रामदद् वृषाकपिरर्य ईश्वरः पुष्टेषु पोषेषु मत्सखा मम सखा, मदनसखा, ये नः सखायस्तैः सहेति वा, सर्वस्माद् य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ।

जब आदित्य ने अपनी रश्मियो को, प्रसवाय = सब को ज्ञान देने के लिये, व्यसृक्षत = उत्पन्न किया तब उन रश्मियों ने, इन्द्रम् = आदित्य को, देवम् = देव, न अमंसत = नहो माना। पुष्टेषु = पोषेषु = आदित्य से परिपुष्ट, यत्र = जिन रश्मियों में, वृषाकपिः = आदित्य, अर्यः = ईश्वरः = स्वामी होता हुआ, मत्सखा = मम सखा = मेरा सखा वा सब का सखा वा = अथवा, मदनसखा = हर्ष सखा, वा = अथवा, ये = जो रश्मियां, नः = हमारी, सखायः = मित्र हैं, तैः सह = उन के साथ। इसी लिये, सर्वस्मात् = सब से, यः इन्द्र. = जो आदित्य, उत्तरः = श्रेष्ठ है, तम् = उस को, आदित्यम् = आदित्य है, एतद् = यह हम, ब्रूमः = कहते हैं।

इति चतुर्थः खण्डः।

अथैपाऽश्विनोः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

अथ = अब, एषा = यह अग्रिम ऋचा, अश्विनोः = अश्विनों की अतिस्तुति है—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।

उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥

ऋ. स. ८-६-१-६॥

इस मन्त्र का कश्यप ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अश्वि देवता है। मन्त्रार्थ—हे अश्विद्वय! तुम, सृण्या इव = अङ्कुश के समान, जभरो = भरता और, तुर्फरीतू = शत्रुओं के हन्ता हो। तुम, नैतोशा इव = शत्रुहन्ता राजपुत्र के समान, तुर्फरो = दुष्टों को शीघ्र नष्ट करने वाले और उनको पर्फरीका = फाड़ने वाले हो। तुम, उदन्यजा इव = सामुद्र अथवा चान्द्रमस रत्न के समान, जेमना = मन को जीतने वाले तथा, मदेरू = हर्ष प्रदान करने वाले हो। ता = वे तुम, मे = मेरे, मरायु = मरणधर्मा, जरायु = शरीर को, अजरम् = जरावस्था रहित अर्थात् जरामरण रहित अमर, कुरुतम् = करो।

इस मन्त्र का भाष्य—

सृण्येवेति द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च। तथा—अश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थ स्तुर्फरीतू हन्तारौ। "नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका"। नितोशस्यापत्यं नैतोशं, नैतोशे व तुर्फरीतू क्षिप्रहन्तारौ। "उदन्यजेव जेमना मदेरू" उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे इति वा जेमने जयमाने "ता मे जराय्वजरं मरायु" एतज्ज-रायुजं शरीरं शरदमजीर्णम्॥

'सृण्येवेति' इतना अश मूल का प्रतीक है। सृणिः = अङ्कुश [वा दात्री] द्विविधा = दो प्रकार का, भवति = होता है। भर्ता च हन्ता च = एक भर्ता और दूसरा हन्ता। तथा = वैसे ही, अश्विनौ च अभि = अश्विन् भी, भर्तारौ = भर्ता है। जर्भरी भर्तारौ इत्यर्थः = जर्भरी का भर्ता यह अर्थ है और, तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः = तुर्फरीतु का हन्ता यह अर्थ है। नैतोशे व = शत्रुहन्ता राजपुत्र के समान, तुर्फरी = दुष्टो को शीघ्र नष्ट करने वाले और उनको पर्फरीका = फाडने वाले हो। नितोशस्य अपत्यम् = नितोश की सन्तान, नैतोशम् = नैतोश कहा जाता है। नैतोशे व = नितोश राजा के पुत्र के समान, तुर्फरीतू = क्षिप्रहन्तारौ = शीघ्र नष्ट करने वाले। 'उदन्यजेव जेमना मदेरू' इतना अश मन्त्र का प्रतीक है। उदन्यजेव = उदकजे इव = जलमय, सामुद्रेच = सामुद्र, इति वा = अथवा, चान्द्रमसे = चान्द्रमस, रत्ने इव = रत्न के समान, जेमने = जयमाने = मन को जीतनेवाले हो। ता एतन् = वे, मे = मेरे, मरायु = मरण धर्मा, जरायु = जरायुजम् = जरायु से जायमान, शरदम् शरीरम् = नाशप्रद शरीर को, अजरम् = अजीर्णम् = अरामरण रहित अमर, कुरुतम् = करो।

इति पञ्चम खण्ड.।

अथ–एषा सोमस्य ।

अथ षष्ठः खण्डः ।

अथ = अब, एषा = यह अग्रिम ऋचा, सोमस्य = सोम की अतिस्तुति है—

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ऋ स. ७-१-१५-१ ॥

इस मन्त्र का अवत्सार ऋषि, गायत्री छन्द और पवमान सोम देवता है। मन्त्रार्थ—य = जो सुतस्य = अभिषुत, अन्धसः = अदनीय (भक्षणीय) तथा मन्त्रपूत सोम की, धारा = धारा से स्तोत्र द्वारा देवो को, मन्दी = हर्ष प्रदान करता है, सः = वह, तरत् = तरति = सर्व पापो को तर जाता है। पाप से मुक्त हो जाता है और, धावति = ऊर्ध्वं गति को प्राप्त होता है। अत्यन्त आदरार्थ 'तरत्स मन्दी धावति' की पुनरुक्ति की गई है। इस ऋचा से सोम की अतिस्तुति की गई है।

इस मन्त्र का भाष्य—

तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति । धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिं "धारा सुतस्यान्धसः" धारयाऽभिषुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य ॥

यः = जो, मन्दी = देवो को स्तोत्र द्वारा हर्ष प्रदान करनेवाला, स्तौति = देवों की स्तुति करता है, सः = वह, सर्वम् पापम् = सर्व पाप को, तरति = तर जाता है और, धावति = ऊर्ध्वाम् गतिम्, गच्छति = ऊर्ध्वं गति को प्राप्त होता हैं। धारा सुतस्यान्धसः = धारयाऽभिषुतस्य सोमस्य = निचोडा हुआ सोमरस की धारा से, सोम कैसा है?, मन्त्रपूतस्य = वाचा स्तुतस्य = वेद वाणी से स्तुत।

इति षष्ठः खण्डः ।

अथ – एषा यज्ञस्य ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

अथ = इस के बाद, एषा = यह अग्रिम ऋचा, यज्ञस्य = यज्ञ की अतिस्तुति है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

ऋ. सं ३-८-१०-३ ॥

इस मन्त्र का वामदेव ऋषि, त्रिष्टुप छन्द और अग्नि आदि देवता हैं । इस मन्त्र से यज्ञ की स्तुति की जाती है और अग्नि यज्ञात्मा है । अतः यज्ञ की अतिस्तुति यह अग्नि की ही अतिस्तुति समझना चाहिये । मन्त्रार्थ—अस्य = इस यज्ञ आत्मा अग्नि के, चत्वारि शृङ्गा = ऋक् यजु साम् और अथर्व ये चार वेद चार सींग हैं । अस्य = इसके, त्रयः = प्रातःसवन मध्याह्नसवन और सायंसवन ये तीन सवन, पादाः = तीन पैर हैं । इसके, द्वे शीर्षे = प्रायणीय नामक और उदयनीय नामक ये दो सिर हैं । अस्य = इसके, सप्त = गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द, हस्तासः = सात हाथ हैं । वृषभः = सुख वर्षक यज्ञात्मा, त्रिधा = मन्त्र ब्राह्मण और कल्प सूत्र रूप तीन प्रकारो से, बद्धः = बंधा हुआ, रोरवीति = रोता है = गर्जना करता है । महः देवः = यह यज्ञ रूप महान् देव, मर्त्याम् = मनुष्यों में, आविवेश = प्रविष्ट होता है ।

इस मन्त्र का भाष्य—

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः । त्रयो अस्य पादा इति सवनानि त्रीणि । द्वे शीर्षे-प्रायणीयोदयनीये । सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि । त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्र-ब्राह्मण-कल्पैः । वृषभो रोरवीति । रोरवणमस्य सवनक्रमेण । ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः । यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति । महोदेव इति–एष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्या आविवेशेति–एष हि मनुष्यानाविवेशति यजनाय ।

चत्वारि शृङ्गा इति = इतना अंश प्रतीक है । एते उक्ताः वेदाः वा = ये उक्त ऋगादि चार वेद ही इस यज्ञात्मा के चार सींग हैं । त्रयो अस्य पादा इति = यह प्रतीक है । अस्य = इस यज्ञात्मा के, त्रयो = त्रीणि = तीन, सवनानि = यथोक्त सवन, पादाः = पाद स्थानीय पाद हैं । द्वे शीर्षे = प्रायणीय और उदयनीय ये दो सिर हैं । सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि = गायत्री आदि सात छन्द ही इस के सात हाथ हैं । त्रिधा बद्धः = त्रेधा बद्धः मन्त्र ब्राह्मण कल्पैः = मन्त्र संहिता, ब्राह्मण = ब्राह्मण, और कल्प सूत्र इन तीन प्रकार के ग्रन्थों से यह यज्ञ आत्मा रूप, वृषभः = कामवर्षीवृषभ, रोरवीति = रोता है अर्थात् शब्द करता है । अस्य = इसका, रोवणम् = रोना, सवनक्रमेण = प्रातः सवनादि क्रम से समझना चाहिये । ऋग्भिः = ऋग्वेद से, यजुर्भिः = यजुर्वेद,

सामभिः = सामवेद से। अर्थात् प्रातः सवन में ऋग्वेदका, मध्याह्न सवन में यजुर्वेद का और सायंसवन में सामवेद का उच्चारण रूपशब्द करना ही इस का रोना है। इसीको कहते हैं— यद् = जो एनम् = इस यज्ञात्मा को, प्रातःसवनमें, ऋग्भिः = ऋग्वेद के मन्त्र द्वारा, शंसन्ति = शंसन करते हैं, यजुर्भिः = यजुर्वेद के मन्त्र द्वारा, यजन्ति = यजन करते हैं और, सामभिः = सामवेद के मन्त्र द्वारा, स्तुवन्ति= स्तवन करते हैं। महोदेव इति यद् यज्ञः = जो यह यज्ञ है, एष हि = ये ही, महान् देवः = महान् देव है। मर्त्यान् आविवेश इति = एष हि यजनाये मनुष्यान् आविवेशः = यही यजन के लिये मनुष्यों में प्रवेश करता है। इस मन्त्र में यज्ञ की अतिस्तुति है।

इति सप्तमः खण्डः ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ।

अथाष्टमः खण्डः ।

तस्य = उस यज्ञात्मा अग्नि की, उत्तरा = अग्रिम ऋचा, भूयसे = अधिक, निर्वचनाय = निर्वचन के लिये है—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ यजु. १७. ६८ ॥

इस मन्त्र का विधृति, अनुष्टुप् छन्द और यज्ञात्मा अग्नि देवता है। मन्त्रार्थ—ये = जो, सुविद्वासः = विद्वान्, विश्वतोधारम् = सर्व तरफ से कामना फल रूप धारा के वर्षाने वाले, यज्ञम् = यज्ञ का, वितेनिरे = अनुष्ठान करते हैं वे, स्वर्यन्त. = स्वर्ग-को जाते हुए और, रोदसी = द्यावापृथिवी को जाते हुए पुरुष, नापेक्षन्ते = किसी स्त्रीपुत्र धनादि की अपेक्षा नहीं करते हैं किन्तु, द्याम् = द्युलोक रूपी स्वर्ग को, आरोहन्ति = आरोहण करते हैं। अर्थात् जो यज्ञ करते हैं वे ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं। यह यज्ञ की अतिस्तुति है।

इस मन्त्र का भाष्य—

स्वर्यन्त ईजाना वा नेक्षन्ते तेऽमुमेव लोकं गतवन्तमीक्षन्तमिति । आद्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं-सर्वतोधारम्। सुविद्वांसो वितेनिरे-इति ॥

स्वर्यन्तः = जो स्वर्ग को (ब्रह्मलोक को) जाते हुए, वा = अथवा, ईजानाः = यज्ञ को करते हुए पुरुष होते हैं, ते = वे, अमुम् एव लोकम् गतवन्तम् = उसी इन्द्रादि लोक को गये हुए को या, ईक्षन्तम् = देखनेवाले को, न ईक्षन्ते = नहीं देखते हैं किन्तु, रोदसी = जरामरणादि शोक को रोकने वाले, द्याम् = द्युलोक अर्थात् ब्रह्मलोक को, आरोहन्ति = आरोहण करते हैं। वे कौन हैं? इसका

उत्तर देते हैं—ये विद्वासः = जो विद्वान्, विश्वतोधारम् = सर्वतोधारम् = सर्व तरफ से मुख वर्षाने वाले, यज्ञम् वितेनिरे = यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् कर्म और उपासना दोनो को एक साथ अनुष्ठान करते हैं। भाव यह है कि जो यज्ञ करते हैं वे ब्रह्मलोक जाते हैं। मुक्त हो जाते हैं। यह यज्ञ की अतिस्तुति है।

इति अष्टमः खण्डः।

अथैषा वाचः प्रवल्हितेव।

अथ नवमः खण्डः।

अथ = इसके पश्चात्, एषा = यह अग्रिम ऋचा, वाच = वाग्देवता की अतिस्तुति है, जो, प्रवल्हिता इव = पहेली के समान अनभिव्यक्तिविशिष्ट कूट रूप है।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

ऋ स २-३-२२-४५॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और वाग्देवता है। मन्त्रार्थ—वाक् = वाचः = सम्पूर्ण वाणी के, पदानि = पद, चत्वारि = चार प्रकार से, परिमिता = परिमितानि = परिमित हैं। अर्थात् लोक मे जो वाणी बोली जाती है वह चार प्रकार से विभक्त है। तानि = उन चारो को, मनीषिण = मेधावी, ब्राह्मणा = वेदवित् ब्राह्मण लोक ही, विदुः = जानते हैं। दूसरे कोई अज्ञानी जन नहीं। उन चार पदो मे, त्रीणि = जो तीन प्रकार के पद हैं वे, गुहा = गुहायाम् = बुद्धि रूपी गुफा मे, निहिता = स्थापित हैं। न इङ्गयन्ति = वे चेष्टा नहीं करते हैं = अर्थ प्रकाश नही करते हैं। और जो, वाच = वाणी के, तुरीयम् = चतुर्थ पाद है उसको, मनुष्याः = ज्ञानी अज्ञानी सभी मनुष्य, वदन्ति = बोलते हैं। स्पष्ट उच्चारण करके सब व्यवहार करते हैं।

इस मन्त्र का भाष्य—

चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनो, गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः। तुरीयं त्वरतेः।

वाचः = वाणी के, चत्वारि पदानि = चार पद, परिमितानि = परिमित हैं। तानि = उन को, ये = जो, ब्राह्मणा मेधाविनः = ब्राह्मण मेधावी हैं वे ही, विदुः = जानते हैं, अन्य नहीं। उनमें, त्रीणि = तीन पद, गुहायाम् = बुद्धि रूपी गुफा मे, निहितानि = रखे हुए हैं। अर्थम् न वेदयन्ते = अर्थ प्रकाश नही करते हैं। गूहते = गुह धातु से, गुहा = गुहा शब्द बना है। अर्थात् 'गूहती इति गुहा' इस विग्रह में 'गुहू संवरणे' धातु से 'इगुपध ज्ञाप्रीकिर कः' इस सूत्र से क (अ) प्रत्यय, कित्वात् गुणाभाव और टाप् होने पर गुहा शब्द बना है। गुफा का नाम है। क्योंकि वह ढाकती

है । एवं, त्वरतेः = त्वर धातु से, तुरीयम् = तुरीय शब्द बना है । अर्थात् 'त्वरते शीघ्रतां कुरुते इति तुरीयम्' इस विग्रह मे 'ञित्वरा संभ्रमे' धातु से पृषोदरादित्वात् तुरीय शब्द बना है। लोक मे 'चतुर्णां पूरण तुरीयम्' इस विग्रह मे 'चतुरश्छयतौ' इत्यादि सूत्र से तुरीय शब्द सिद्ध हुआ है।

'चत्वारि पदानि' के मतभेद से सात अर्थ हैं उनको दिखाने के लिये भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं—

कतमानि तानि चत्वारि पदानि ? ।

उक्त मन्त्र में जो वाणी के चार पद कहे हैं, तानि = वे, चत्वारि पदानि = चार पद, कतमानि = कौन कौन है ?

उत्तर देते हैं—

ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् ।

ओंकारः = एक ओम्, च = और, महाव्याहृतयः = तीन महाव्याहृतियाँ भूर्भुवः स्वः = ये चार वाणी के पद हैं, इति = यह, आर्षम् = वेदवादी ऋषियों का मत है ।

नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः ।

नामाख्याते = नाम = सुबन्तपद, आख्यात = तिङन्तपद, च = और, उपसर्गनिपाताः = प्रादि उपसर्ग, च = और, स्वर् प्रातर् आदि निपात ये चार वाणी के पद हैं, इति = यह, वैयाकरणाः = वैयाकरण लोग कहते हैं ।

मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः ।

मन्त्रः = मन्त्र, कल्पः = कल्प, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण और, चतुर्थी = चौथी, व्यावहारिकी = व्यवहार साधक लौकिक वाक्य ये चार वाणी के पद हैं, इति = यह, याज्ञिकाः = कर्मकाण्डी याज्ञिक लोग कहते हैं । उनमें अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशक जो वेद का संहिता भाग है वह मन्त्र, कल्पसूत्रादि कल्प, मन्त्र के तात्पर्यार्थ प्रकाशक जो वेदभाग वह ब्राह्मण और 'गाम् आनय' इत्यादि जो लौकिक वाक्य वह, व्यावहारिकी वाणी कही जाती है । ये ही सर्वा वाक् नियमित है । इन में प्रथम के तीन को ब्राह्मण और चतुर्थी का ज्ञानी अज्ञानी सब जानते हैं ।

ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः ।

ऋचः = ऋग् वाक्य, यजूंषि = यजुर्वाक्य, सामानि = सामवाक्य और, चतुर्थी = चौथी, व्यावहारिकी = व्यवहारिक वाणी ये चार वाणी के पद हैं, इति = यह, नैरुक्ताः = नैरुक्त लोग कहते हैं ।

सर्पाणां वाक्, वयसाम्, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके ।

सर्पाणाम् वाक् = सर्पों की वाणी, वयसाम् वाक् = पक्षियों की वाणी, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य वाक् = क्षुद्र जाति के खिसक कर चलने वाले जन्तुओं (रींगने वाले) की वाणी और, चतुर्थी

व्यावहारिकी = चौथी मनुष्यों की व्यवहारिक वाणी ये चार वाणी के पद हैं, इति = यह, एके = ऐतिहासिक एक कोई अधिभूतविद् विद्वान् कहते हैं।

पशुषु-तूणवेषु-मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः ।

पशुषु = ग्राम्य पशुओं मे, तूणवेषु = वाद्यो मे, मृगेषु = अरण्य पशुओं मे, च = और, आत्मनि = आत्मा मे अर्थात् मनुष्यो मे जो वाणी हैं वे वाणी के चार पद है, इति = यह, आत्मप्रवादा = आत्मा को कहने वाले आचार्य लोग कहते हैं।

अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अथ = इस के बाद और, अपि = भी, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण ग्रन्थ, भवति = है—

सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे । यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये । या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु । या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे दधु तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां याच मनुष्याणामिति ।

सृष्टा = परमेश्वर से उत्पन्न हुई, सा वाक् = वह पूर्वोक्त वाणी, चतुर्धा = चार प्रकार से, व्यभवत् = हो गई है, फैली हुई है। एषु एव लोकेषु = पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु इन्हीं तीन लोको मे, त्रीणि = प्रथम की तीन प्रकार की वाणी हैं और, पशुषु तुरीयम् = मनुष्यों में चौथी व्यावहारिक वाणी है। चार में से पहली तीन वाणियें क्रमश. या पृथिव्याम् = जो वाणी पृथिवी मे है, सा अग्नौ = वह अग्नि मे है, सा रथन्तरे = वह रथन्तर साम में, या अन्तरिक्षे = जो वाणी अन्तरिक्ष मे है, सा वायौ = वह वायु मे, सा वामदेव्ये = वह वामदेव्य साम मे। या दिवि = जो वाणी द्युलोक मे है, सा आदित्ये = वह आदित्य मे, सा बृहति = वह बृहत्साम मे, स्तनयित्नौ = स्तनयित्नु रूप से निहित है, अथ = और जो चतुर्थ व्यावहारिक वाणी है वह, पशुषु = मनुष्यो मे रहती है। या वाक् = जो वाणी, अत्यरिच्यते = अधिक बढी हुई है, ताम् = उसको, ब्राह्मणे = वेदवित् ब्राह्मणो मे, दधु = स्थापित की गई है। तस्मात् = इसी से, ब्राह्मणाः = वेदज्ञ ब्राह्मण लोग, उभयीम् वाचम् = वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार की वाणी, वदन्ति = बोलते हैं। या च देवानाम् = जो देवों की और, मनुष्याणाम् = मनुष्यों की, वाचम् = वाणी हैं उन दोनों को बोलते हैं। वैदिक वाणी देवों की और लौकिक मनुष्यो की समझनी चाहिये।

इति नवम. खण्ड ।

अथेपाऽक्षरस्य ।

अथ दशम खण्ड.।

अथ = वाग्देवता की अतिस्तुति के अनन्तर, एषा = यह ऋचा, अक्षरस्य = ओंकार अक्षर की वा तद्वाच्य अक्षर ब्रह्म की अतिस्तुति है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ. सं. २-३-२१-३९ ॥

इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विश्वदेव अन्तर्गत अक्षर देवता है। मन्त्रार्थ— ऋचः = ऋग्वेदादि से प्रतिपादित, यस्मिन् = जिस, परमे = सर्वोत्कृष्ट, व्योमन् = आकाशवत् सर्वत्र व्यापक, अक्षरे = वाचक ओम् अक्षर के वाच्य विनाश रहित ब्रह्म में, विश्वे देवाः = सूर्यचन्द्रादि सर्व देव, अधिनिषेदुः = आधेय रूप से स्थित हैं, तत् = उस ब्रह्म को, यः = जो, न वेद = नहीं जानता है वह ऋचा = ऋगादि वेदों से, किम् करिष्यति = क्या करेगा ? अर्थात् उसका वेदाध्ययन सर्वथा निष्फल है । इस के विपरीत, ये = जो, तत् = उस ब्रह्म को, विदुः = जानते हैं, ते इमे इत् = वे ही ये, समासते = ब्रह्म में मिलते हैं । एकीभाव को प्राप्त होते है । जन्मादि संसार बन्धन से मुक्त होते हैं ।

इस मन्त्र का भाष्य—

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे । यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति । कतमत्तदेतदक्षरमोमित्येषा वागिति शाकपूणिः-"ऋचश्चह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेष्वेतद्धवा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति" इति च ब्राह्मणम् ।

इति निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

ऋचः = ऋचा से प्रतिपाद्य, परमे = सर्वोत्कृष्ट, व्यवने = व्योमवत् व्याप्त, अक्षरे = अक्षर ब्रह्म में, यस्मिन् = जिसमें, सर्वे देवाः = सूर्यादि सर्व देव, अधिनिषण्णाः = आधेय रूप से स्थित हैं । यः = जो, तत् = उस परमात्म तत्त्व को, न वेद = नही जानता है, सः = वह पुरुष, ऋचा = ऋगादि वेदों से, किं करिष्यति = क्या करेगा ? । उसका अध्ययन व्यर्थ है । इस के विपरीत, यः इत् तत् विदुः = जो उसको जानते हैं, ते इमे = वे ही, समासते = उस ब्रह्म में मिलते हैं । इति = यह वेद, विदुषः = विद्वानों को उपदेश करता है । विद्वानों को चाहिये कि वेद द्वारा ब्रह्म को जान कर परमपद प्राप्त करें ।

प्रश्न—तत् एतत् अक्षरम् कतमत् = वह यह अक्षर कौन है ! अर्थात् मन्त्र गत अक्षर पद का क्या अर्थ है ! । उत्तर—ओम् इति एषा वाक् = 'ओम्' यह इस प्रकार की वाणी है वही अक्षर है। अर्थात् अक्षर शब्द का अर्थ ओम् शब्द है, इति = यह, शाकपूणिः = शाकपूणि नामक आचार्य कहते हैं और ब्राह्मण वाक्य प्रमाण देते हैं—ऋचश्च = चारो वेद के ऋचायें, परमे = सर्वोत्कृष्ट, व्यवने = आकाशवत् सर्वत्र व्यापक, अक्षरे = ओम् अक्षर मे, धीयन्ते = रखे जाते हैं।

च = और, नानादेवतेषु मन्त्रेषु = अग्नि आदि नाना देवताक मन्त्रों में यही ओम् अक्षर रखा जाता है। एतद् ह्वा = यही, एतद् अक्षर = यह अक्षर है, यत् = जो, सर्वाम् त्रयीम् विद्याम् प्रति = सम्पूर्ण त्रयी विद्या के प्रति प्रतिनिधि है। इति ब्राह्मणम् च = यह ब्राह्मण वाक्य भी अक्षर के ओंकार अर्थ करने मे प्रमाण है। क्योंकि, 'ओम' प्रत्येक मन्त्र में संयुक्त रहता है।

अथ निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ १३-११ ॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेरेषर्भवति। यदेनमर्चन्तिप्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि। तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति। रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिषन्ना इत्यधिदैवतम्।

शाकपूणेः = शाकपूणि नामक आचार्य के, पुत्रः = पुत्र, मन्त्रगत 'ऋच.' पदका अर्थ, आदित्य. = आदित्य है, इति ऐसा कहता है और उसी का (आदित्यका), एषा = यह, ऋक् = ऋचा, भवति = है। यत् = यत. = क्योंकि, सर्वाणि भूतानि = सभी प्राणी, एनम् = इस आदित्य की, प्रत्यृच. = ऋक्प्रतिनिधि रूप से, अर्चन्ति = पूजा करते हैं। अर्थात् सभी प्राणी ऋचा के द्वारा आदित्यका पूजा करते हैं। ययाअर्चन्ति सा ऋक्' इस विग्रह मे 'ऋच स्तुतौ' धातु से 'क्विप्च' इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप होने पर 'ऋच्' शब्द बना है। मन्त्र का नाम है। क्योंकि मन्त्र बोल कर पूजा की जाती है। तस्य = उस आदित्यका, यत् = जो, मन्त्रेभ्यः अन्यत् = मन्त्रो से भिन्न सम्पूर्ण रूप है, तत् = वही, अक्षरम् भवति = अक्षर है। अत्र = इस पक्ष मे, रश्मयः = रश्मियाँ ही, देवाः = देव, उच्यन्ते = कही जाती है। यः = जो एतस्मिन् = इस आदित्य मण्डल में, अधिनिषन्नाः = आधेय रूप से स्थित हैं। इति = यह मन्त्र का, अधिदैवतम् = अधिदेव अर्थ है। क्योंकि, 'ऋच.' का अर्थ आदित्य और आदित्य देव है। अत. देवसम्बन्धी अर्थ होनेसे अधिदेव है।

अथाध्यात्मम्—शरीरमत्र ऋगुच्यते यदे नेनार्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि, तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवति। इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते यान्यस्मिन्नधिनिषण्णानी- त्यात्मप्रवादाः।

इति निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ १३-११ ॥

अथ = अधिदेव अर्थ करने के पश्चात्, अध्यात्मम् = अध्यात्म अर्थ इस प्रकार करते है— अत्र = इस अध्यात्म पक्ष मे, शरीरम् = शरीर ही, ऋग् = ऋचा, उच्यते = कहा जाता है। अर्थात् मन्त्रगत 'ऋच' पद का अर्थ मनुष्य शरीर है। यत् = क्योंकि, अनेन = ऋक् रूप शरीर से, सर्वाणि इन्द्रियाणि = सभी इन्द्रियाँ, प्रत्यृचः = पूजनीय जीवात्मा को उद्देश करके, अर्चन्ति = पूजन करती हैं अर्थात् विषयसुख प्रदान करती हैं। इस पक्ष मे 'ऋचन्ति अर्चन्ति अनेन इति ऋक् शरीरम्' इस विग्रह मे 'ऋच स्तुतौ' धातु से करण मे क्विप (०) होने पर ऋच् शब्द बना है। तस्य = उस शरीर सम्बन्धी, यत् = जो, अविनाशिधर्मं = अविनाशी धर्म वाला चेतन आत्मा है, तत् = वह, अक्षरम् = अक्षर नाश रहित, भवति = है। अत्र = इस पक्ष मे, इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ ही, देवाः = देव, उच्यन्ते = कही जाती हैं। यानि = जो, अस्मिन् = इस शरीर मे, अधिनिषन्नानी = आधेय रूप से स्थित हैं। इति = यह, आत्मप्रवादाः = आत्मवादियो का पक्ष है। जीव आत्मा और इन्द्रिया सब शरीर रूप आत्मा मे रहते हैं। इस लिये यह अध्यात्म अर्थ है।

मन्त्रगत अक्षर पद का निर्वचन करते है—

अथ निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्य द्वादश. खण्ड ॥ १३-१२ ॥

अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाक्षरं भवति, वाचोऽक्ष इति वा ।

न क्षरति = जो अन्यथा भाव = विकार को प्राप्त न हो वह, अक्षरम् = अक्षर कहलाता है। चेतन का नाश नही होता है। अत. चेतन अक्षर कहलाता है। 'न क्षरति इति अक्षरम्' इस विग्रह मे नञ् उपपद विनाशार्थ 'क्षर सचलने' धातु से पचाद्यच्, नञ् के नकार का लोप होने पर अक्षर शब्द बना है। चेतन का नाम है। क्योकि चेतन का नाश नही होता है। वा = अथवा, न क्षीयते = जो विनष्ट न होता हो वह, अक्षरम् = अक्षर कहलाता है। 'न क्षीयते इति अक्षरम्' इस विग्रह मे पूर्ववत् नञ् उपपद 'क्षि क्षये' धातु से उणादि डरन (अर) प्रत्यय, डित्वात् टि लोप, नञ् के नकार का लोप होने पर 'अक्षर' शब्द बना है। चेतन का ही नाम है। क्योकि वह कभी विनष्ट नही होता है। वा = अथवा, वाचः = वाणी का जो, अक्षः = धुरा है वह, अक्षरम् = अक्षर कहा जाता है। जैसे रथ की गति का अवलम्ब रथ की, अक्ष (धुरा) होती है वैसे ही सम्पूर्ण वेदवाणी का अवलम्ब वाणी का अक्ष (धुरा) ओम् शब्द है। अतः अक्षस्थानीय ओम् अक्षर का अर्थ है। 'अक्ष एव अक्षरम्' इस विग्रह मे अक्ष शब्द से आर्षत्वात् स्वार्थ मे र प्रत्यय तद्धित होने पर अक्षर शब्द बना है। ओम् अर्थ है। ओमित्येकाक्षरम्। (गीता)।

अक्षर शब्द के निर्वचन करने के बाद अब अक्ष शब्द का निर्वचन करते हैं—

अक्षो यानस्याञ्जनात् । तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात् इति ।

यानस्य = रथ की धुरा को नित्य, अञ्जनात् = तैलादि से म्रक्षण (लेप) करने से वह, अक्षः = अक्ष कही जाती है। वर्तनसामान्यात् = आवर्तन की समानता से, तत्प्रकृति = अक्ष के स्वभाव वाला, इतरत् = यह अन्य अक्षर है। अर्थात् जिस प्रकार अक्ष मे रथ का चक्र घुमता है उसी प्रकार ओंकार शब्द मे सर्व वेद घुमते है। इति = इस प्रकार—

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपिश्रुतितोऽपितर्कतः ।

अयम् = यह, मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहः = मन्त्र के अर्थ का चिन्तासमूह मेरे से, अभ्यूढः = ऊहापोह किया गया है। श्रुतितः अपि = ब्राह्मण श्रुति के आधार से भी और, तर्कत अपि = श्रुति अविरुद्ध तर्क से भी मन्त्रार्थ किया गया है। अर्थात् निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं कि, इस निरुक्तग्रन्थ मे मैंने जो मन्त्रार्थ किया है वह अच्छी तरह ऊहापोह करके मन्त्र के व्याख्यान स्वरूप ब्राह्मण श्रुति के आधार से एवं श्रुति अविरुद्ध तर्क से निश्चय करके मन्त्रार्थ किया है। इसी प्रकार सब को मन्त्रार्थ करना चाहिये।

नतु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः । प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः । नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा । पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तंपुरस्तात् ।

तु = किन्तु प्रकरण से, पृथक्त्वेन = पृथक, रूप से मन्त्रा = मन्त्रका, न निर्वक्तव्या = कभी निर्वचन नही करना चाहिये। तु = अपितु प्रकरणश एव = प्रकरणानुसार ही, निर्वक्तव्या = मन्त्र का निर्वचन करना चाहिये। हि = क्योकि, अनृषे = जो ऋषि नही हैं, वा = अथवा, अतपस = जो तपस्वी नही हैं, उनको मन्त्र के अर्थ का प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष, नहि अस्ति = नही है। अर्थात् ऋषि वा तपस्वी पुरुष के बिना सामान्य मनुष्य से मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष नही होता है। य = जो, पारोवर्यवित्सु = परोवर भावसे वेदितृषु = मन्त्रार्थ जानने वालो मे, भूयोवित् = बहुश्रुत है वही मन्त्रार्थ करने मे, प्रशस्य = प्रशसनीय, भवति = होता है। इति = यह पुरस्तात् = प्रथम ही, उक्तम् = कहा गया है। अर्थात् कौत्स मत खण्डन के प्रसग मे नि अ १ ख १६ मे "पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्य प्रशस्यो भवति" यही पक्ति आनुपूर्वी यहा भी है। इस से कहा गया है कि गुरुशिष्य परम्परा से ही जानने वाले विद्वानो मे जो अधिक विद्वान् है वह प्रशस्य है।

इस विषय मे एक प्राचीन इतिहास दिखाते हैं—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एत तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हम्, तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति।

इति निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्य द्वादश खण्ड । १३-१२ ॥

पूर्व काल मे पृथिवी पर से ऋषिषु उत्क्रामत्सु = मन्त्रार्थ करने वाले ऋषियो के स्वर्ग चले जाने पर मनुष्या = मनुष्यगण, देवान् = देवो से अब्रुवन् = बोले कि अब न = हमारा क = कौन, ऋषि = उपदेश करने वाला ऋषि भविष्यति इति = होगा ? जो हमे वेद के यथार्थ अर्थ दिखायगा ? । तब उन देवो ने तेभ्य = उन मनुष्यो को, एतम् तर्कम् ऋषिम् = इस तर्क रूप ऋषि को प्रायच्छन् = प्रदान किया, जो मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहम् = मन्त्र के अर्थ के चिन्तन विषयक ऊहापोहरूप है और अभ्यूळ्हम् = जिसे उन ऋषि तथा देवो ने प्राप्त किया हुआ था। तस्मात् = इस लिये, यद् एव = जो कोई भी, अनूचान = वेदपाठी, तर्क की सहायता से, किञ्च = जिस किसी तत्त्वज्ञान को, अभ्यूहति = तर्कणा करता है तत् = वह तत्त्वज्ञान आर्षम् - ऋषिदृष्ट ही भवति = होता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि मनमाना श्रुति विरुद्ध तर्क से वेदार्थ नही करना चाहिये। किन्तु ऋषि-प्रदिष्ट श्रुत्यनुसार तर्क मे वेद मन्त्र का अर्थ निश्चय करना चाहिये।

महर्षि यास्क कहते हैं कि यह मैं अपने मन से नही कह रहा हू किन्तु इस बात को स्वय वेद कह रहा है। जैसे—

अथ निरुक्ते त्रयोदशाध्यायस्य त्रयोदश खण्ड ॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥

ऋ स ८-२-२४-८ ॥

इस मन्त्र का बृहस्पति ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और ब्रह्मज्ञान देवता है । मन्त्रार्थ—यद् = जिस समय, सखायः = अनेक समान ख्याति वाले, ब्राह्मणाः = ब्राह्मण लोग, हृदा = हृदय से, तष्टेषु = निश्चित, मनसः जवेषु = मनोगम्य वेदार्थ के गुण दोष परिक्षण के लिये, सयजन्ते = एकत्र होते हैं उस समय, अत्र = इस ब्राह्मणसंघ में, त्वम् = किसी किसी पुरुष को कुछ ज्ञान नहीं होता है। कोई कोई, वेद्याभिः = वेदितव्य विद्या के द्वारा अह ओह ब्राह्मणाः = तर्क से वेदार्थ को निश्चय करने वाले ब्राह्मण लोग, उक्त अज्ञानियो को, वि जहुः = विशेष रूप से त्याग देते हैं और, विचरन्ति = विचरण करते हैं। इस ऋचा मे श्रुति अविरुद्ध सत्तर्क का महत्त्व बताया गया है। इसी तर्क के अनुसार वेद मन्त्र का अर्थ करना चाहिये।

इस मन्त्र का भाष्य—

हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते समानख्याना ऋत्विजोऽत्राहत्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदित व्याभिः प्रवृत्तिभिरोहवब्रह्माण ऊहब्रह्माण ऊह एषां ब्रह्मेति वा ।

यद् = जिस समय, समानख्यानाः = समान ज्ञानी, ऋत्विजः = ऋत्विक्, ब्राह्मणाः = ब्राह्मण लोग, हृदा = हृदय से, तष्टेषु = निश्चित, मनसाप्रजवेषु = वेदार्थ के गुण दोष की परीक्षा के लिये, संयजन्ते = एकत्र हुए थे, उस समय, अत्र = इस ब्राह्मण समूह मे, अह त्वम् = उस वेदार्थ चिन्तन में मूढ पुरुषों को वेद्याभिः वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः = वेदितव्य मनोवृत्ति के कारण, विजहुः = छोड दिये थे। ओहवब्रह्माणः = ऊहब्रह्माणः = वेदार्थ के विषय मे तर्क ब्राह्मण, वा = अथवा, एषाम् = इन के, ब्रह्म = वेद, ऊह = ऊहापोह किया हुआ। इस कारण इस निरुक्त शास्त्र को वेद ही समझना चाहिये।

उपसंहार करते है—

सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः ।

सा = वह, इयम् = यह इस निरुक्तशास्त्र के विज्ञान से उत्पन्न हुई, विद्या = वेदार्थविज्ञान रूपा विद्या, श्रुतिमतिबुद्धि. = श्रुति शब्द से, मति शब्द से और बुद्धि शब्द निरुक्तशास्त्र में व्यवहृत होती है। क्योंकि यह तर्क विद्या श्रुतिमतिबुद्धि प्राप्त होती है।

तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम् ।

तपसा = तप के द्वारा, तस्याः = उस तर्कविद्या का, पारम् = पार पाने की, ईप्सितव्यम् = इच्छा करने योग्य है। अर्थात् वेदमन्त्र के अर्थ करने की शक्ति तप से प्राप्त होती है।

तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम् ।

आयुः इच्छता = आयुष्य चाहने वाले अतपस्वी पुरुषों को, तत् = उस वैदिक शब्दो के निर्वचन करने वाला, इदम् = इस निरुक्त शास्त्र का, न निर्वक्तव्यम् = निर्वचन नहीं करना चाहिये।

अन्यथा आयु क्षीण हो जाती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वामी श्री दयानन्द हैं। क्योंकि, उनकी-नियोगादि अर्थ का अनर्थ करने से विष द्वारा-अकाल मृत्यु हुई थी।

तस्माच्छन्दःसु शेषा उपेक्षितव्याः ।

तस्मात् = इस लिये, यथोक्त श्रुतिमतिबुद्धि तथा तप आदि सर्वसाधन सम्पन्न भी विद्वान् हो तो भी अर्थ का अनर्थ न हो जाय इसके लिये, छन्दःसु = शाखान्तर वेदों मे, शेषा = मन्त्रशेष सूक्तशेष आदि, उपेक्षितव्यम् = देखना चाहिये। अविकृत शाखान्तर मे पाठ तथा अर्थ को देखकर मन्त्रार्थ करना चाहिये।

फलकथन करते हैं—

अथागमो यां यां देवतां निराहतस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनु भवति ।

इति श्रीमद्यास्कमुनि प्रणीते निरुक्तशास्त्रे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ = उस के बाद यथार्थ अर्थ करने वाले विद्वान को, आगम = यह फल मिलता है कि, याम् याम् देवताम् = जिस जिस देवता का वह, निराह = निर्वचन करता है, तस्या तस्याः = उस उस देवता के, ताद्भाव्यम् = ऐश्वर्य का, अनुभवति = अनुभव करता है, अनुभवति = अनुभव करता 'अनुमति' इस क्रियापदकी द्विरुक्ति ग्रन्थ समाप्तिका सूचक है।

खण्ड सूत्रम्—

१ अथेमा २ यथावोयं ३ दुवश्चोर्धिहिंसोतो ४ सप्त ५ ६ पेवतरस्तच्चरया ७ रिष्ट्र ८ गास्त्वर्यन्त ९ श्चवारि १० यागृचो अक्षर ११ आदित्यइत्य १२ क्षरन्तक्षरतिह्रदा १३ तप्टेपुत्रयोदश ।

इति निरुक्ते त्रयोदशोऽध्यायः ।

इति निरुक्तपरिशिष्टे प्रथमोऽध्यायः ।

टीकामिमां भारतभूमिवाचा विधाय मूर्द्ध्नी परिशिष्टकाण्डे ।

श्रीब्रह्मलीनो मुनिरर्पयित्वा भूम्नः पदाब्जेषु निशृचिमेति ॥

यद्यपि परिशिष्ट काण्ड के दो अध्याय हैं। तेरहवा और चौदहवा तथापि जान बूझ कर चौदहवा अध्याय की व्याख्या नहीं की जाती है। इस मे कारण यह है कि, इस के अनेक स्थलों पर पाठ बहुत अशुद्ध हैं। एव बहुत स्थल पर अप्रासगिक पाठ देखने मे आता है। प्रयत्न पूर्वक निरीक्षण करने पर भी उस का कोई अभिप्राय ही नही निकलता है। इस के पाठ सुलझाना और सगति बैठाना अत्यन्त कठिन है। अत एव दुर्गाचार्य ने इस अध्याय का भाष्य नही किया है। मूल ही रहने दिया है। इसी लिये इस अध्याय की व्याख्या करना छोड दिया गया है। और जब व्याख्या ही नही की गई है तो उस अध्याय का उल्लेख करना अकिञ्चित्कर (व्यर्थ) जान कर छोड दि । गया है। ऐसी स्थिति मे निरुक्त की समाप्ति यही होती है ऐसा समझना चाहिये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

शुभं भूयात् ।



पाठकों से नम्र प्रार्थना।

इस ग्रन्थ में मेरी अज्ञानता से, दृष्टि-दोष से और अक्षर-नियोजकों के प्रमाद से बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। जिन का शुद्धि-पत्र बनाने से ग्रन्थ के आकार बढ़ जाने की सम्भावना है। क्योंकि, अशुद्धियाँ बहुत हैं। अतः पाठकों से नम्र प्रार्थना है कि, वे सुधार कर वाँचे और अशुद्धियों को व्यवस्थित रूप से लिख कर भेजने की कृपा करें। ताकि दूसरी आवृत्ति में सुधार दी जा सके।

उपकार-स्मृति

जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहायता प्रदान की है उनको, हमारे प्रूफ संशोधक श्री अशर्फीदासजी आदि विद्यार्थियों को, अरुण प्रिन्टींग प्रेस के अध्यक्ष श्री डायाभाई कालीदासजी मोदी को और अक्षर संयोजक भाई श्री जयन्तीलालजी को आशीर्वाद पूर्वक धन्यवाद। वेदपुरुष सद्‌गुरु श्रीकबीर परमात्मा इन का सर्वप्रकार से कल्याण करें। मैं तो इन सब का चिर ऋणी अर्थात् आभारी रहूंगा ही।

अथ निघण्टुः ।

नैघण्टुक काण्डः ।

॥ अथ निघण्टौ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः खण्ड. ।

॥ गौः । ग्मा । ज्मा । क्ष्मा । क्षा । क्षमा । क्षोणीः । क्षितिः । अवनिः । उर्वी । पृथ्वी । मही । रिपः । अदितिः । इळा । निर्ऋतिः । भूः । भूमिः । पूषा । गातुः । गोत्रेत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः । १-१ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

हेम । चन्द्रम् । रुक्मम् । अयः । हिरण्यम् । पेशः । कृशनम् । लोहम् । कनकम् । काञ्चनम् । भर्म । अमृतम् । मरुत् । दत्रम् । जातरूपमिति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । १-२ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः । १-३ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

स्वः । पृश्निः । नाकः । गौः । विष्टप् । नभ इति षट् साधारणानि ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः खण्ड. । १-४ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

खेदयः। किरणाः। गावः। रश्मयः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः। वनम्।
उस्राः। वसवः। मरीचिपाः। मयूखाः। सप्त ऋषयः। साध्याः। सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः। १–५॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

आताः। आशाः। उपराः। आष्ठाः। काष्ठाः। व्योम। ककुभः। हरित इत्यष्टौ दिङ्नामानि॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः। १–६॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

श्यावी। क्षपा। शर्वरी। अक्तुः। ऊर्म्या। राम्या। यम्या। नम्या। दोषा। नक्ता।
तमः। रजः। असिक्नी। पयस्वती। तमस्वती। घृताची। शिरिणा। मोकी। शोकी। ऊधः।
पयः। हिमा। वस्वीति त्रयोविंशती रात्रिनामानि॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः। १–७॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्याष्टमः खण्डः।

विभावरी। सूनरी। भास्वती। ओदती। चित्रामघा। अर्जुनी। वाजिनी।
वाजिनीवती। सुम्नावरी। अहना। द्योतना। श्वेत्या। अरुषी। सूनृता। सूनृतावती।
सूनृतावरीति षोडशोषोनामानि॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्याष्टमः खण्डः। १–८॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य नवमः खण्डः।

वस्तोः। द्योः (द्युः)। भानुः। वासरम्। स्वसराणि। घ्रंसः। घर्मः। घृणः।
दिनम्। दिवा। दिवेदिवे। द्यविद्यवीति द्वादशाहर्नामानि॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य नवमः खण्डः। १–९॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य दशम खण्ड ।

अद्रिः । ग्रावा । गोत्रः । वलः । अश्नः । पुरुभोजाः । वलिशानः । अश्मा । पर्वतः । गिरिः । व्रजः । चरुः । वराहः । शम्बरः । रौहिणः । रैवतः । फलिगः । उपरः । उपल । चमसः । अहिः । अभ्रम् । बलाहकः । मेघः । दृतिः । ओदनः । वृषन्धिः । वृत्रः । असुरः । कोश इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य दशम खण्ड । १-१० ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्यैकादश खण्ड ।

श्लोकः । धारा । इळा । गौः । गौरी । गान्धर्वी । गभीरा । गम्भीरा । मन्द्रा । मन्द्राजनी । वाशी । वाणी । वाणीची । वाणः । पविः । भारती । धमनिः । नाळीः । मेना । मेळिः । सूर्या । सरस्वती । निवित् । स्वाहा । वग्नुः । उपब्दिः । मायुः । काकुत् । जिह्वा । घोषः । स्वरः । शब्दः । स्वनः । ऋक् । होत्रा । गी । गाथा । गणः । धेना । ग्नाः । विपा । नना । कशा । धिषणा । नौः । अक्षरम् । मही । अदितिः । शची । वाक् । अनुष्टुप् । धेनुः । वल्गुः । गल्दा । सरः । सुपर्णी । बेकुरेति सप्तपंचाशद्वाङ्नामानि ।

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्यैकादश खण्ड । १-११ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य द्वादश खण्ड ।

अर्णः । क्षोदः । क्षद्म । नभः । अम्भः । कबन्धम् । सलिलम् । वाः । वनम् । घृतम् । मधु । पुरीषम् । पिप्पलम् । क्षीरम् । विषम् । रेतः । कशः । जन्म । बृबूकम् । बुसम् । तुग्र्या । बुर्बुरम् । सुक्षेम । धरुणम् । सिरा । अररिन्दानि । ध्वस्मन्वत् । जामि । आयुधानि । क्षपः । अहिः । अक्षरम् । स्रोतः । तृप्ति । रसः । उदकम् । पयः । सरः ।

भेषजम् । सहः । शवः । यहः । ओजः । सुखम् । क्षत्रम् । आवयाः । शुभम् । यादुः । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । आपः । महत् । व्योम । यशः । महः । सर्णीकम् । स्वृतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गम्भरम् । ईम । अन्नम् । हविः । सद्म । सदनम् । ऋतम् । योनिः । ऋतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । रयिः । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । बर्हिः । नाम । सर्पिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेम । स्वः । सर्गाः । शम्बरम् । अम्बम् । वपुः । अम्बु । तोयम् । तूयम् । कृपीटम् । शुक्रम् । तेजः । स्वधा । वारि । जलम् । जलाषम् । इदमित्येकशतमुदकनामानि ।

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १-१२ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।

अवनयः । यह्व्यः । खाः । सीराः । स्रोत्याः । एन्यः । धुनयः । रुजानाः । वक्षणाः । खादो । अर्णाः । रोधचक्राः । हरितः । सरितः । अग्रुवः । नभन्वः । वध्वः । हिरण्यवर्णाः । रोहितः । सस्रुतः । अर्णाः । सिन्धवः । कुल्याः । वर्यः । उर्व्यः । इरावत्यः । पार्वत्यः । स्रवन्त्यः । ऊर्जस्वत्यः । पयस्वत्यः । तरस्वत्यः । सरस्वत्यः । हरस्वत्यः । रोधस्वत्यः । भास्वत्यः । अजिराः । मातरः । नद्य इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ।

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः । १-१३ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

अत्यः । हयः । अर्वा । वाजी । सप्तिः । वह्निः । दधिक्राः । दधिक्रावा । एतग्वा । एतशः । पैद्वः । दौर्गहः । औच्चैःश्रवसः । तार्क्ष्यः । आशुः । ब्रध्नः । अरुषः । मांश्चत्वः ।

अत्यथर्यः । श्येनासः । सुपर्णाः । पतङ्गाः । नरः । ह्वार्याणाम् । हंसासः । अश्वा इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः । १-१४ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ।

हरी इन्द्रस्य । रोहितोऽग्नेः । हरित आदित्यस्य । रासभावश्विनोः । अजाः पूष्णः । पृषत्यो मरुताम् । अरुण्यो गाव उषसाम् । श्यावाः सवितुः । विश्वरूपा बृहस्पतेः । नियुतो वायोरिति दश आदिष्टोपयोजनानि ।

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः । १-१५ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य षोडशः खण्डः ।

भ्राजते । भ्राशते । भ्राश्यति । दीदयति । शोचति । मन्दते । भन्दते । रोचते । ज्योतते । द्योतते । द्युमदिति एकादश ज्वलतिकर्माणः ।

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य षोडशः खण्डः । १-१६ ॥

अथ निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

जमत् । कल्मलीकिनम् । जञ्जणाभवन् । मल्मलाभवन् । अर्चिः । शोचिः । तपः । तेजः । हरः । घृणिः । शृङ्गाणि शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि ।

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः । १-१७ ॥

इति निघण्टौ प्रथमोऽध्यायः ।

गौर्हेमास्वरस्व खेदयमाता श्यावीविभावरीवस्तोरद्रिश्लोकोऽर्णोऽवनयोरयोहरीइन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ।

अथ निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अपः । अप्नः । दंसः । वेपः । वेपः । विष्ट्वी । व्रतम् । कर्वरम् । करणम् । शक्म । क्रतुः । करणानि । करांसि । करिक्रत् । करन्ती । चक्रत् । कर्त्वम् । कर्तोः । कर्तवै । कृत्वी । धीः । शची । शमी । शिमी । शक्तिः । शिल्पमिति षड्विंशतिः कर्मनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः । २-१ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

तुक् । तोकम् । तनयः । तोक्म । तक्म । शेषः । अप्नः । गयः । जाः । अपत्यम् । यहुः । सूनुः । नपात् । प्रजा । बीजमिति पञ्चदशापत्यनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । २-२ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

मनुष्याः । नरः । धवाः । जन्तवः । विशः । क्षितयः । कृष्टयः । चर्षणयः । नहुषः । हरयः । मर्याः । मर्त्याः । मर्ताः । व्राताः । तुर्वशाः । द्रुह्यवः । आयवः । यदवः । अनवः । पूरवः । जगतः । तस्थुषः । पञ्चजनाः । विवस्वन्तः । पृतना इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः । २-३ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

आयती । च्यवाना । अभीशू । अप्नवाना । विनङ्गृसौ । गभस्ती । कवस्नौ । बाहू । भुरिजौ । क्षिपस्ती । शक्वरी । भरित्रे इति द्वादश बाहुनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः । २-४ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

अग्रुवः । अण्व्यः । क्षिपः । विशः । शर्याः । रशनाः । धीतयः । अथर्यः । विपः । कक्ष्याः । अवनयः । हरितः । स्वसारः । जामयः । सनाभयः । योक्त्राणि । योजनानि । धुरः । शाखाः । अभीशवः । दीधितयः । गभस्तय इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः । २-५ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

वश्मि । उश्मसि । वेति । वेनति । वेसति । वाञ्छति । वष्टि । वनोति । जुषते । हर्यति । आचके । उशिक् । मन्यते । छन्त्सत् । चाकनत् । चकमानः । कनति । कानिषदिति अष्टादश कान्तिकर्माणि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः । २-६ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अन्धः । वाजः । पयः । प्रयः । पृक्षः । पितुः । वयः । सिनम् । अवः । क्षु । धासिः । इरा । इळा । इषम् । ऊर्क् । रसः । स्वधा । अर्कः । क्षद्म । नेमः । ससम् । नमः । आयुः । सूनृता । ब्रह्म । वर्चः । कीलालम् । यश इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः । २-७ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

आवयति । भर्वति । बभस्ति । वेति । वेवेष्टि । अविष्यन् । बप्सति । भसथः । बब्धाम् । ह्वरतीति दशात्तिकर्माणः ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्याष्टमः खण्डः । २-८ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

ओजः । पाजः । शवः । तरः । तवः । त्वक्षः । शर्द्धः । बाधः । नृम्णम् । तविषी । शुष्मम् । शुष्णम् । दक्षः । वीळु । च्यौत्नम् । शूषम् । सहः । यहः । वधः । वर्गः । वृजनम् । वृक् । मज्मना । पौंस्यानि । धर्णसिः । द्रविणम् । स्यन्द्रासः । शम्बरमित्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ २-९ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

मघम् । रेक्णः । रिक्थम् । वेदः । वरिवः । श्वात्रम् । रत्नम् । रयिः । क्षत्रम् । भगः । मीळ्हुम् । गयः । द्युम्नम् । इन्द्रियम् । वसु । रायः । राधः । भोजनम् । तना । नृम्णम् । बन्धुः । मेधा । यशः । ब्रह्म । द्रविणम् । श्रवः । वृत्रम् । घृतमित्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य दशमः खण्डः । २-१० ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्यैकादशः खण्डः ।

अघ्न्या । उस्रा । उस्रिया । अही । मही । अदितिः । इळा । जगती । शक्वरीति नव गोनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्यैकादशः खण्डः । २-११ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ।

रेळते । हेळते । मामते । भृणीयते । भ्रीणाति । अर्पति । दोधति । वनुष्यति । कम्पते । भोजत इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य द्वादशः खण्डः । २-१२ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।

हेळः । हरः । हृणिः । त्यजः । भामः । एहः । ह्वरः । तपुषी । जूर्णिः । मन्युः । व्यथिरित्येकादश क्रोधनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः । २-१३ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

वर्तते । अयते । लोटते । लोठते । स्यन्दते । कसति । सर्पति । स्यमति । स्रवति । स्रंसते । अवति । श्चोतति । ध्वंसति । वेनति । मार्ष्टि । भुरण्यति । शवति । कालयति । पेलयति । कण्टति । पिस्यति । विस्यति । मिस्यति । प्रवते । प्लवते । च्यवते । कवते । गवते । नवते । क्षोदति । नक्षति । सक्षति । म्यक्षति । सचति । ऋच्छति । तुरीयति । चतति । अतति । गाति । इयक्षति । सश्चति । त्सरति । रंहति । यतते । भ्रमति । ध्रजति । रजति । लजति । क्षियति । धमति । मिनाति । ऋण्वति । ऋणोति । स्वरति । सिसर्ति । विषिष्टि । योषिष्टि । रिणाति । रीयते । रेजति । दभ्यति । दभ्नोति । धुष्यति । धन्वति । अरुयति । आर्यति । सीयते । तकति । दीयति । ईषति । फणति । हनति । अर्दति । मर्दति । ससृते । नसते । हर्यति । इर्यति । ईर्ते । ईङ्खते । जयति । श्वात्रति । गन्ति । आगनीगन्ति । जङ्गन्ति । जिन्वति । जसति । गमति । ध्रति । ध्राति । ध्रयति । वहते । रथर्यति । जेहते । ष्वष्कति । क्षुम्पति । प्साति । वाति । याति । इषति । द्राति । द्रुलति । एजति । जमति । जरति । वञ्चति । अनिति । पवते । हन्ति । सेधति । अगन् । अजगन् । जिगाति । पतति । इन्वति । द्रमति । द्रवति । वेति । इन्वात् । एति । जगायात् । अयुयुरिति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः । २-१४ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः

तु । मक्षु । द्रवत् । ओषम् । जीराः । जूर्णिः । शूर्ताः । शूघनासः । शीभम् । तृषु । तूयम् । तूर्णिः । अजिरम् । भुरण्युः । शु । आशु । प्राशुः । तूतुजिः । तूतुजानः । तुज्यमानासः । अज्राः । साचीवित् । द्युगत् । ताजत् । तरणिः । वातरंहा इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्य पञ्चदश खण्ड । २-१५ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्य षोडश. खण्डः ।

तळित् । आसात् । अम्बरम् । तुर्वशे । अस्तमीके । आके । उपाके । अर्वाके । अन्तमानाम् । अवमे । उपम इत्येकादशान्तिकनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य षोडश. खण्डः । २-१६ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

--रणः । विवाक् । विखादः । नदनुः । भरे । आक्रन्दे । आहवे । आजौ । पृतनाज्यम् । अभीके । समीके । ममसत्यम् । नेमधिता । सङ्काः । समितिः । समनम् । मीळ्हे । पृतनाः । स्पृधः । मृधः । पृत्सु । समत्सु । समर्ये । समरणे । समोहे । समिथे । संख्ये । सङ्गे । संयुगे । सङ्गथे । सङ्गमे । वृत्रतूर्ये । पृक्षे । आणौ । शूरसातौ । वाजसातौ । समनीके । खले । खजे । पौंस्ये । महाधने । वाजे । अज्म । सद्म । संयत् । संवत इति षट्चत्वारिंशत्सङ्ग्रामनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य सप्तदश. खण्डः । २-१७ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्याष्टादश. खण्ड. ।

इन्वति । नक्षति । आक्षाणः । आनट् । आष्ट । आपानः । अशत् । नशत् । आनशे । अश्नुत इति दश व्याप्तिकर्माणः ।

इति निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्याष्टादशः खण्डः । २-१८ ॥

अथ निघण्टौ-द्वितीयाऽध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।

दभ्नोति । श्नथति । ध्वरति । धूर्वति । वृणक्ति । वृश्चति । कृण्वति । कृन्तति । श्वसिति । नर्मते । अर्दयति । स्तृणाति । स्नेहयति । यातयति । स्फुरति । स्फुलति । निर्वपन्तु । अवतिरति । वियातः । आतिरद् । तळ्हि । आखण्डल । दृणाति । रमणाति । शृणाति । शम्नाति । तृणेळ्हि । ताळ्हि । नितोशते । निर्बर्हयति । मिनाति । मिनोति । धर्मतीति त्रयस्त्रिंशद्वधकर्माणः ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः । २-१९ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्य विंशः खण्डः ।

दिद्युत् । नेमिः । हेतिः । नमः । पविः । सृकः । वृकः । वधः । वज्रः । अर्कः । कुत्सः । कुलिशः । तुञ्जः । तिग्मम् । मेनिः । स्वधितिः । सायकः । परशुरित्यष्टादश वज्रनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्य विंशः खण्डः । २-२० ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

इरज्यति । पत्यते । क्षयति । राजतीति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाऽध्यायस्यैकविंशः खण्डः । २-२१ ॥

अथ निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ।

राष्ट्री । अर्यः । नियुत्वान् । इन इन इति चत्वारीश्वरनामानि ॥

इति निघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः । २-२२ ॥

इति निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः

अपस्तुक् मनुष्या आमायप्रवो बदम्यग आवयश्योजो ममममया . रेळ्ते हेळो वर्तते नु दळ्दृरण इरवति दम्नोति दिद्युद् इरयति राष्ट्री-इति द्वाविंशतिः ।

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य दशमः खण्डः ।

बट् । श्रत् । सत्रा । अद्धा । इत्था । ऋतमिति षट् सत्यनामानि ।

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य दशमः खण्डः । ३-१० ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकादशः खण्डः ।

चिक्यत् । चाकनत् । आचक्ष्म । चष्टे । विचष्टे । विचर्षणिः । विश्वचर्षणिः । अवचाकशदित्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकादशः खण्डः । ३-११ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य द्वादशः खण्डः ।

हिकम् । नुकम् । सुकम् । आहिकम् । आकीम् । नकिः । माकिः । नकीम् । आकृतमिति नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाये ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य द्वादशः खण्डः । ३-१२ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।

इदमिव । इदं यथा । अग्निर्नये । चतुरश्चिद्ददमानात् । ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । जार आ भगम् । मेषो भूतोऽभि यन्नयः । तद्रूपः । तद्वर्णः । तद्वत् । तथा इत्युपमाः ॥

इति निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः । ३-१३ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

अर्चति । गायति । रेभति । स्तोभति । गूर्धयति । गृणाति । जरते । ह्वयते । नदति । पृच्छति । रिहति । धमति । कृपायति । कृपण्यति । पनस्यति । पनायते । वल्गूयति । मन्दते । मन्दते । छन्दति । छदयते । शशमानः । रञ्जयति । रजयति । शंसति । स्तौति ।

यौति । रौति । नौति । भनति । पणायति । पणते । सपति । पपृक्षाः । महयति । वाजयति । पूजयति । मन्यते । मदति । रसति । स्वरति । वेनति । मन्द्रयते । जल्पतीति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणि ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः । ३-१४ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ।

विप्रः । विग्रः । गृत्सः । धीरः । वेनः । वेधाः । कण्वः । ऋभुः । नवेदाः । कविः । मनीषी । मन्धाता । विधाता । विपः । मनश्चित् । विपश्चित् । विपन्यवः । आकेनिपः । उशिजः । कीस्तासः । अद्धातयः । मतयः । मतुथाः । वाघत इति चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः । ३-१५ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य षोडशः खण्डः ।

रेभः । जरिता । कारुः । नदः । स्तामुः । कीरिः । गौः । सूरिः । नादः । छन्दः । स्तुप् । रुद्रः । कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि.

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य षोडशः खण्डः । ३-१६ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

यज्ञः । वेनः । अध्वरः । मेधः । विदथः । नार्यः । सवनम् । होत्रा । इष्टि । देवताता । मखः । विष्णुः । इन्दुः । प्रजापतिः । घर्म इति पञ्चदश यज्ञनामानि.

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य सप्तदशः खण्डः । ३-१७ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्याष्टादशः खण्डः ।

भरताः । कुरवः । वाघतः । वृक्तबर्हिषः । यतस्रुचः । मरुतः । सबाधः । इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्याष्टादशः खण्डः । ३-१८ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ।

ईमहे । यामि । मन्महे । दद्धि । शग्धि । पूर्धि । मिमिड्ढि । मिमीहि । रिरिड्ढि । रिरीहि । पीपरत् । यन्तारः । यन्धि । इषुध्यति । मदेमहि । मनामहे । मायत इति सप्तदश याञ्चाकर्माणः ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः । ३-१९ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य विंशः खण्डः ।

दाति । दाशति । दासति । राति । रासति । पृणक्षि । पृणाति । शिक्षति । तुञ्जति । मंहत इति दश दानकर्माणः ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य विंशः खण्डः । ३-२० ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकविंशः खण्डः ।

परिस्रव । पवस्व । अभ्यर्ष । आशिष इति चत्वारः अध्येषणाकर्माणः ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकविंशः खण्डः । ३-२१ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ।

स्वपिति । सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥

इति निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः । ३-२२ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ।

कूपः । कातुः । कर्तः । वव्रः । काटः । खातः । अवतः । क्रिविः । सूदः । उत्सः । ऋश्यदात् । कारोतरात् । कुशयः । केवट इति चतुर्दश कूपनामानि ॥

इति निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः । ३-२३ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

तृपुः। तक्वा। रिम्वा। रिपुः। रिक्वा। रिहायाः। तायुः। तस्करः। वनर्गुः। हुरश्चित्। मुषीवान्। मलिम्लुचः। अघशंसः। वृक इति चतुर्दशैव स्तेननामानि॥

इति निघण्टौ तृतीयाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः। ३-२४॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

निण्यम्। सस्रः। सनुतः। हिरुक्। प्रतीच्यम्। अपीच्यमिति षट् निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः। ३-२५॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

आके। पराके। पराचैः। आरे। परावत इति पञ्च दूरनामानि॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य षड्विंशः खण्डः। ३-२६॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

प्रत्नम्। प्रदिवः। प्रवयाः। सनेमि। पूर्व्यम्। अह्नायेति षट् पुराणनामानि॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः। ३-२७॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः।

नवम्। नूत्नम्। नूतनम्। नव्यम्। इदा। इदानीमिति षळेव नवनामानि॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः। ३-२८॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः।

प्रपित्वे। अभीके। दभ्रम्। अर्भकम्। तिरः। सतः। त्वः। नेमः। ऋक्षाः। स्तृभिः। वम्रीभिः। उपजिह्विका। ऊर्दरम्। कृदरम्। रम्भः। पिनाकम्। मेना। ग्नाः। शेपः।

वैतसः । अया । एना । सिषक्तु । सचते । भ्यसते । रेजते । इति षड्विंशतिर्दिश उत्तराणि नामानि ॥

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्यैकोनत्रिंश खण्डः । ३-२९ ॥

अथ निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य त्रिंश खण्ड. ।

स्वधे । पुरन्धी । धिषणे । रोदसी । क्षोणी । अम्भसी । नभसी । रजसी । सदसी । सद्मनी । घृतवती । बहुले । गभीरे । गम्भीरे । ओण्यौ । चम्वौ । पार्श्वौ । मही । उर्वी । पृथ्वी । अदिती । अही । दूरे अन्ते । अपारे अपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिव्यौर्नामधेयानि

इति निघण्टौ तृतीयाऽध्यायस्य त्रिंश: खण्डः ॥ ३-३० ॥

इति निघण्टौ तृतीयोऽध्यायः ।

उर्वृहन्मरद्गय इरज्यसि शिम्वाता निर्णिग् अस्मेमाकेतुवंट् चिवयद्धिकम् इदमिवार्चति विप्रोरेभो यज्ञो भरता ईमहेदाति परिस्रवस्वश्रिति क्रुपस्तृपुनिण्यम् आ के प्रत्नप्नवम् प्रपित्वेस्वधे त्रिशद् ।

अथ निघण्टौ नैगम काण्डः ।

[ऐकपदिककाण्डः ।]

अथ निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः ।

जहा । निधा । शिताम । मेहना । दमूनाः । मूषः । इषिरेण । कुरुतन । जठरे । तितउ । शिप्रे । मध्या । मन्दू । ईर्मान्तासः । कायमानः । लोधम् । शीरम् । विद्रधे । द्रुपदे । तुग्वनि । नंसन्ते । नसन्त । आहनसः । अश्नसत् । इध्मिर्णः । वाहः । परितक्म्या । सुविते । दयते । नूचित् । नूच । दावने । अकूपारस्य । शिशीते । सुतुकः । सुप्रायणाः । अप्रायुव । च्यवनः । रजः । हरः । जुहुरे । व्यन्तः । क्राणाः । वाशी । विधुणः । जामिः । पिता । शंयोः । अदितिः । एरिरे । जसुरिः । जरते । मन्दिने । गौः । गातुः । दंसयः । तूताव । चयसे । वियुते । ऋधक् । अस्याः । अस्य । इति द्विषष्टिः पदानि ॥

इति निघण्टौ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः खण्डः । ४-१ ॥

अथ निघण्टौ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

सस्निम् । वाहिष्ठः । दूतः । वावशानः । वार्यम् । अन्धः । असश्चन्ती । वनुष्यति । तरुष्यति । भन्दनाः । आहनः । नदः । सोमो अक्षाः । श्वात्रम् । ऊतिः । हासमाने । पद्भिः । सुसम् । द्विता । व्राः । वराहः । स्वसराणि । शर्याः । अर्कः । पविः । वक्षः । धन्व । सिनम् । इत्था । सचा । चित् । आ । द्युम्नम् । पवित्रम् । तोदः । स्वञ्चाः । शिपिविष्टः । विष्णुः । आघृणिः । पृथुज्रयाः । अथर्युम् । काणुका । अध्रिगुः । आङ्गूषः । आपान्तमन्युः । श्मशा ।

उर्वशी । वयुनम् । वाजपस्त्यम् । वाजगन्ध्यम् । गध्यम् । गधिता । कौरयाणः । तौरयाणः । अह्रयाणः । हरयाणः । आरितः । व्रन्दी । निष्षपी । तूर्णाशम् । क्षुम्पम् । निचुम्पुणः । पदिम् । पादुः । वृकः । जोषवाकम् । कृत्ति । श्वघ्नी । समस्य । कुटस्य । चर्षणिः । शम्बः । केपयः । तूतुमाकृषे । अंसत्रम् । काकुदम् । बीरिटे । अच्छ । परि । ईम् । सीम् । एनम् । एनाम् । सृणिः । इति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि ॥

इति निघण्टौ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । ४-२ ॥

अथ निघण्टौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

आशुशुक्षणिः । आशाम्यः । काशिः । कुणारुम् । अलातृणः । सलल्लूकम् । कत्पयम् । विस्रुहः । वीरुधः । नक्षद्दाभम् । अस्कृधोयुः । निशृम्भाः । बृबदुक्थम् । ऋदूदरः । ऋदूपे । पुलुकामः । असिन्वती । कपना । भार्ऋजीकः । रुजानाः । जूर्णिः । ओमना । उपलप्रक्षिणी । उपसि । प्रकलवित् । अभ्यर्धयज्वा । ईक्षे । क्षोणस्य । अस्मे । पाथः । सवीमनि । सप्रथाः । विदथानि । श्रायन्तः । आशीः । अजीगः । अमूरः । शशमानः । देवो देवाच्या कृपा । विजामातुः । ओमासः । सोमानम् । अनवायम् । किमीदिने । अमवान् । अमीवा । दुरितम् । अप्वा । अमतिः । श्रुष्टी । पुरन्धिः । रुशत् । रिशादसः । सुदत्रः । सुविदत्रः । आनुषक् । तुर्वणिः । गिर्वणाः । असूर्ते सूर्ते । अम्यक् । यादृश्मिन् । जारयायि । अग्रिया । चनः । पचता । शुरुधः । अमिनः । जज्झतीः । अप्रतिष्कुतः । शाशदानः । सुमः । सुशिप्रः । रंसु । द्विबर्हाः । अक्रः । उराणः । स्तियानाम् । स्तिपाः । जबारु । जरूथम् । कुलिशः ।

तुञ्जः । बर्हणा । ततनुष्टिम् । इलीबिशः । कियेधाः । भृमिः । विष्पितः । तुरीपम् । रास्पिनः । ऋञ्जतिः । ऋजुनीती । प्रतद्वसू । हिनोत । चोष्कूयमाणः । चोष्कूयते । सुमत् । दिविष्टिषु । दूतः । जिन्वति । अमत्रः । ऋचीषमः । अनर्शरातिम् । अनर्वा । असामि । गल्दया । जल्हवः । बकुरः । बेकनाटान् । अभिधेतन । अंहुरः । बतः । वाताप्यम् । चाकन् । रथर्यति । असक्राम् । आधवः । अनवब्रवः । सदान्वे । शिरिम्बिठः । पराशरः । क्रिविर्दती । करूलती । दनः । शरारुः । इदंयुः । कीकटेषु । बुन्दः । बृन्दम् । किः । उल्बम् । ऋबीसमृबीसम् । इति द्वात्रिंशच्छतं पदानि ॥

इति निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः । ४-३ ॥

इति निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः ।

* जहा सस्निमाशुशुक्षणिखौणि ।

अथ निघण्टौ दैवतकाण्डः ।

अथ निघण्टौ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अग्निः । जातवेदाः । वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः । ५-१ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

द्रविणोदाः । इध्मः । तनूनपात् । नराशंसः । इळः । बर्हिः । द्वारः । उषासानक्ता । दैव्याहोतारा । तिस्रो देवीः । त्वष्टा । वनस्पतिः । स्वाहाकृतय इति त्रयोदश पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । ५-२ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

अश्वः । शकुनिः । मण्डूकाः । अक्षाः । ग्रावाणः । नाराशंसः । रथः । दुन्दुभिः । इषुधिः । हस्तघ्नः । अभीशवः । धनुः । ज्या । इषुः । अश्वाजनी । उलूखलम् । वृषभः । द्रुघणः । पितुः । नद्यः । आपः । ओषधयः । रात्रिः । अरण्यानी । श्रद्धा । पृथिवी । अप्वा । अग्नायी । उलूखलमुसले । हविर्धाने । द्यावापृथिवी । विपाट्छुतुद्री । आर्त्नी । शुनासीरौ । देवीजोष्ट्री । देवी उर्जाहुती इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः । ५-३ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

वायुः । वरुणः । रुद्रः । इन्द्रः । पर्जन्यः । बृहस्पतिः । ब्रह्मणस्पतिः । क्षेत्रस्य पतिः । वास्तोष्पतिः । वाचस्पतिः । अपां नपात् । यमः । मित्रः । कः । सरस्वान् । विश्वकर्मा । तार्क्ष्यः ।

मन्युः । दधिक्राः । सविता । त्वष्टा । वातः । अग्निः । वेनः । असुनीतिः । ऋतः । इन्दुः । प्रजापतिः । अहिः । अहिर्बुध्न्यः । सुपर्णः । पुरूरवा इति द्वात्रिंशत् पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः । ५-४ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

श्येनः । सोमः । चन्द्रमाः । मृत्युः । विश्वानरः । धाता । विधाता । मरुतः । रुद्राः । ऋभवः । अङ्गिरसः । पितरः । अथर्वाणः । भृगवः । आप्त्याः । अदितिः । सरमा । सरस्वती । वाक् । अनुमतिः । राका । सिनीवाली । कुहूः । यमी । उर्वशी । पृथिवी । इन्द्राणी । गौरी । गौः । धेनुः । अघ्न्या । पथ्या । स्वस्तिः । उषाः । इळा । रोदसी इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य पञ्चमः खण्डः । ५-५ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

अश्विनौ । उषाः । सूर्या । वृषाकपायी । सरण्यूः । त्वष्टा । सविता । भगः । सूर्यः । पूषा । विष्णुः । विश्वानरः । वरुणः । केशी । केशिनः । वृषाकपिः । यमः । अज एकपात् । पृथिवी । समुद्रः । अथर्वा । मनुः । दध्यङ् । आदित्याः । सप्त ऋषयः । देवाः । विश्वेदेवाः । साध्याः । वसवः । वाजिनः । देवपत्न्यो देवपत्न्यः इत्येकत्रिंशत् पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः । ५-६ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमोऽध्यायः ।

समाप्तश्च निघण्टुग्रन्थः ।

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुःश्येनोऽश्विनौपद् ॥

अथ निघण्टौ दैवतकाण्डः ।

अथ निघण्टौ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अग्निः । जातवेदाः । वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः । ५-१ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

द्रविणोदाः । इध्मः । तनूनपात् । नराशंसः । इळः । बर्हिः । द्वारः । उषासानक्ता । दैव्याहोतारा । तिस्रो देवीः । त्वष्टा । वनस्पतिः । स्वाहाकृतय इति त्रयोदश पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः । ५-२ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

अश्वः । शकुनिः । मण्डूकाः । अक्षाः । ग्रावाणः । नाराशंसः । रथः । दुन्दुभिः । इषुधिः । हस्तघ्नः । अभीशवः । धनुः । ज्या । इषुः । अश्वाजनी । उलूखलम् । वृषभः । द्रुघणः । पितुः । नद्यः । आपः । ओषधयः । रात्रिः । अरण्यानी । श्रद्धा । पृथिवी । अप्वा । अग्नायी । उलूखलमुसले । हविर्धाने । द्यावापृथिवी । विपाट्छुतुद्री । आर्त्नी । शुनासीरौ । देवीजोष्ट्री । देवी उर्जाहुती इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः । ५-३ ॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

वायुः । वरुणः । रुद्रः । इन्द्रः । पर्जन्यः । बृहस्पतिः । ब्रह्मणस्पतिः । क्षेत्रस्य पतिः । वास्तोष्पतिः । वाचस्पतिः । अपां नपात् । यमः । मित्रः । कः । सरस्वान् । विश्वकर्मा । तार्क्ष्यः ।

मन्युः। दधिक्राः। सविता। त्वष्टा। वातः। अग्निः। वेनः। असुनीतिः। ऋतः। इन्दुः। प्रजापतिः। अहिः। अहिर्बुध्न्यः। सुपर्णः। पुरूरवा इति द्वात्रिंशत् पदानि॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः। ५-४॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

श्येनः। सोमः। चन्द्रमाः। मृत्युः। विश्वानरः। धाता। विधाता। मरुतः। रुद्राः। ऋभवः। अङ्गिरसः। पितरः। अथर्वाणः। भृगवः। आप्त्याः। अदितिः। सरमा। सरस्वती। वाक्। अनुमतिः। राका। सिनीवाली। कुहूः। यमी। उर्वशी। पृथिवी। इन्द्राणी। गौरी। गौः। धेनुः। अघ्न्या। पथ्या। स्वस्तिः। उषाः। इळा। रोदसी इति षट्त्रिंशत् पदानि॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य पञ्चमः खण्डः। ५-५॥

अथ निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अश्विनौ। उषाः। सूर्या। वृषाकपायी। सरण्यूः। त्वष्टा। सविता। भगः। सूर्यः। पूषा। विष्णुः। विश्वानरः। वरुणः। केशी। केशिनः। वृषाकपिः। यमः। अज एकपात्। पृथिवी। समुद्रः। अथर्वा। मनुः। दध्यङ्। आदित्याः। सप्त ऋषयः। देवाः। विश्वेदेवाः। साध्याः। वसवः। वाजिनः। देवपत्न्यो देवपत्न्यः इत्येकत्रिंशत् पदानि॥

इति निघण्टौ पञ्चमाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः। ५-६॥

अथ निघण्टौ पञ्चमोऽध्यायः।

समाप्तश्च निघण्टुग्रन्थः।

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुःश्येनोऽश्विनौषट्॥

विविध – सूची – पत्रम्

निरुक्तोपलब्धनामकानामाचार्याणां नामानि ।

नामानि	पृष्ठ संख्या	नामानि	पृष्ठ संख्या
आग्रायण	५६	याज्ञिका:	१२१८
औदुम्बरायण	१०	नैदाना:	११०३
औपमन्यव:	२	कौत्स:	७९
और्णवाभ:	३४४	नैरुक्ता:	६७
कात्थक्य:	१३००	गालव:	८६६
क्रोष्टुकि:	१२८९	चर्मशिरस्	७२३
गार्ग्य	१८	तैटिकि.	८६६
वार्ष्यायणि:	१४	शतवलाक्ष:	१४६७
आचार्य:	१२६६	शाकपूणि:	१४५
एके	४०९	स्थौलाष्ठीवि:	१३९२
ऐतिहासिका:	२०९	शाकटायन:	१८

इन मे से किसी एक आचार्य का नाम मन्त्रों मे बहुत स्थल पर आया है, जो निरुक्त-पाठ करने से ज्ञात होगा। ये सब आचार्य निरुक्तकार हैं। इस से यह सिद्ध है कि, महर्षि यास्क मुनि से पूर्व भी निरुक्त के पूर्वोक्त आचार्य और उनकी बनाई हुई पुस्तकें थीं। जो इस समय अनुपलब्ध हैं।

निघण्टुपठितपाठक्रमेण नामसूची

इति वाङ्नामानि ।

अथोदकनामानि ।

निघण्टुपठितपाठक्रमेण पदसूची

इति चतुरुत्तरमशीति पदानि ।

अथ द्वात्रिंशच्छत पदानि ।

इति निघण्टु समाप्तः ।

इति विविधसूचीपत्र समाप्तम् ।